जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा

आगम-अनुसन्धान ग्रन्थमाला

ग्रन्थ : २

निग्गंथं पावयणं

आगम-अनुसंधान-ग्रन्थमाला
ग्रन्थ-३

उत्तरज्झयणाणि
(भाग २)

(उत्तराध्ययन-टिप्पण)

वाचना प्रमुख
आचार्य तुलसी

विवेचक सम्पादक
मुनि नथमल
(निकाय सचिव

प्रकाशक :
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
(आगम-साहित्य प्रकाशन समिति)
३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट,
कलकत्ता-१

प्रबन्ध-सम्पादक :
श्रीचन्द रामपुरिया, बी० कॉम०, बी० एल०

संकलक :
आदर्श साहित्य संघ
चूरू (राजस्थान)

आर्थिक-सहायक :
श्री रामलाल हँसराज गोलछा
विराटनगर (नेपाल)

प्रकाशन-तिथि :
१ दिसम्बर, १९६७

मुद्रित प्रति :
१५००

पृष्ठांक :
४०४

मुद्रक :
न्यू रोशन प्रिंटिंग वर्क्स
३१/१, लोअर चितपुर रोड
कलकत्ता-१

मूल्य : रु० १६

JAIN SWETAMBAR TERAPANTHI MAHASABHA AGAM-GRANTHAMALA
GRANTHA : 2

UTTARAJJHAYANANI

(THE UTTARADHYAYANA SUTRA)

PART II

Tippana, etymology of words and discussion on variant readings.

VACANA PRAMUKH
ACARYA TULASI

EDITED & ANNOTATED
BY
MUNI NATHMAL
Nikaya Saciva

PUBLISHER
JAIN SWETAMBAR TERAPANTHI MAHASABHA
AGAM-SAHITYA PRAKASHAN SAMITI
3 Portuguese Church Street
CALCUTTA-1 (INDIA)

First Edition : 1967
Copies Printed : 1500

Price : Rs. 16·00/-

Managing Editor :
Shreechand Rampuria, B. Com., B .L.

Manuscript compiled by :
Adarsha Sahitya Sangha
Churu (Rajasthan)

Financial Assistance :
Sri Ramlal Hanshraj Golchha
Biratnagar (Nepal)

Printer :
Raphael Art Press
31, Burtolla Street,
CALCUTTA-7.

स म र्प ण

विलोडियं आगम दुद्ध मेव,
लद्धं सुलद्धं णवणीय मच्छं।
सज्झाय सज्झाण रयस्स निच्चं,
जयस्स तस्स प्पणिहाण पुव्वं ॥

जिसने आगम-दोहन कर कर,
पाया प्रवर प्रचुर नवनीत।
श्रुत्-सद् ध्यान लीन चिर चिन्तन,
जयाचार्य को विमल भाव से ॥

विनयावनत :
आचार्य तुलसी

अन्तस्तोष

अन्तस्तोष अनिवर्चनीय होता है, उस माली का जो अपने हाथों से उप्त और सिञ्चित द्रुम-निकुञ्ज को पल्लवित, पुष्पित और फलित हुआ देखता है, उस कलाकार का जो अपनी तूलिका से निराकार को साकार हुआ देखता है और उस कल्पनाकार का जो अपनी कल्पना को अपने प्रयत्नों से प्राणवान् बना देखता है। चिरकाल से मेरा मन इस कल्पना से भरा था कि जैन-आगमों का शोध-पूर्ण सम्पादन हो और मेरे जीवन के बहुश्रमी क्षण उसमें लगें। संकल्प फलवान् बना और वैसा ही हुआ। मुझे केन्द्र मान मेरा धर्म-परिवार उस कार्य में संलग्न हो गया। अतः मेरे इस अन्तस्तोष में मैं उन सबको समभागी बनाना चाहता हूँ, जो इस प्रवृत्ति में संविभागी रहे हैं। संक्षेप में वह संविभाग इस प्रकार है :

विवेचक और सम्पादक : मुनि नथमल

सहयोगी : मुनि मीठालाल

: मुनि दुलहराज

संविभाग हमारा धर्म है। जिन-जिन ने इस गुरुतर प्रवृत्ति में उन्मुक्त भाव से अपना संविभाग समर्पित किया है, उन सबको मैं आशीर्वाद देता हूँ और कामना करता हूँ कि उनका भविष्य इस महान् कार्य का भविष्य बने।

—आचार्य तुलसी

ग्रन्थानुक्रम

प्रकाशकीय

'उत्तरज्झयणाणि' (उत्तराध्ययन सूत्र) मूलपाठ, संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद एवं टिप्पण अलंकृत होकर दो भागों में आपके हाथों में है।

वाचना प्रमुख आचार्य श्री तुलसी एवं उनके इंगित और आकार पर सब कुछ न्यौछावर कर देने वाले मुनि-वृन्द की यह समवेत कृति आगमिक कार्य-क्षेत्र में युगान्तरकारी है। इस कथन में अतिशयोक्ति नहीं, पर सत्य है। बहुमुखी प्रवृत्तियों के केन्द्र प्राणपुञ्ज आचार्य श्री तुलसी ज्ञान-क्षितिज के एक महान् तेजस्वी रवि हैं और उनका मण्डल भी शुभ्र नक्षत्रों का तपोपुञ्ज है। यह इस अत्यन्त श्रम-साध्य कृति से स्वयं फलीभूत है।

गुरुदेव के चरणों में मेरा विनम्र सुझाव रहा—आपके तत्त्वावधान में आगमों का सम्पादन और अनुवाद हो—यह भारत के सांस्कृतिक अभ्युदय की एक मूल्यवान् कड़ी के रूप में चिर-अपेक्षित है। यह अत्यन्त स्थायी कार्य होगा, जिसका लाभ एक-दो-तीन नहीं अपितु अचिन्त्य भावी पीढ़ियों को प्राप्त होता रहेगा। मुझे इस बात का अत्यन्त हर्ष है कि मेरी मनोभावना अंकुरित ही नहीं, पर फलवती और रसवती भी हुई है।

प्रस्तुत 'उत्तरज्झयणाणि' आगम-अनुसंधान ग्रन्थमाला का द्वितीय ग्रन्थ है। इससे पूर्व प्रकाशित 'दसवेआलियं' (मूल पाठ, संस्कृत-छाया, हिन्दी अनुवाद एवं टिप्पण युक्त) को अब अनुसन्धान ग्रन्थमाला का प्रथम ग्रन्थ समझना चाहिए।

'दसवेआलियं' एक जिल्द में प्रकाशित है। उसमें टिप्पण प्रत्येक अध्ययन के बाद में है। 'उत्तरज्झयणाणि' में टिप्पणों की अलग जिल्द इस द्वितीय भाग के रूप में प्रकाशित है।

टिप्पणों के प्रस्तुत करने में निर्युक्ति, चूर्णि, टीकाओं आदि के उपयोग के साथ-साथ अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का भी सहारा लिया गया है, जिनकी सूची परिशिष्ट-३ में दे दी गई है। प्रथम परिशिष्ट में शब्द-विमर्श और द्वितीय परिशिष्ट में पाठान्तर-विमर्श समाहित हैं। इस तरह टिप्पण भाग अपूर्व अध्ययन के साथ पाठकों के सामने उपस्थित हो रहा है। प्रयुक्त ग्रन्थों के सन्दर्भ सहित उद्धरण पाद-टिप्पणियों में दे दिये गये हैं, जिससे जिज्ञासु पाठक की तृप्ति हाथों हाथ हो जाती है और उसे संदर्भ देखने के लिए इधर-उधर दौड़ना नहीं पड़ता।

तेरापंथ के आचार्यों के बारे में यह कहा जाता है कि उन्होंने प्राचीन चूर्णि, टीका आदि ग्रन्थों का बहिष्कार कर दिया। वास्तव में इसके पीछे तथ्य नहीं था। सत्य जहाँ भी हो वह आदरणीय है, यही तेरापंथी आचार्यों की दृष्टि रही। चतुर्थ आचार्य जयाचार्य ने पुरानी टीकाओं का कितना उपयोग किया था, यह उनकी भगवती जोड़ आदि रचनाओं से प्रकट है। 'दसवेआलियं' तथा 'उत्तरज्झयणाणि' तो इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीकाओं आदि का जितना उपयोग प्रथम बार वाचना प्रमुख आचार्य श्री तुलसी एवं उनके चरणों में सम्पादन-कार्य में लगे हुए निकाय सचिव मुनि श्री नथमलजी तथा उनके सहयोगी साधुओं ने किया है, उतना किसी भी अद्यावधि प्रकाशित सानुवाद संस्करण में नहीं हुआ है। सारा अनुवाद एवं लेखन-कार्य अभिनव कल्पना को लिए हुए हैं। मौलिक चिन्तन भी उनमें कम नहीं है। बहुश्रुतता एवं गंभीर अन्वेषण प्रति पृष्ठ से झलकते हैं। यह भाग पाठकों को अनेक नई सामग्री प्रदान करेगा।

पाण्डुलिपि की प्रतिलिपि

आचार्य श्री के तत्त्वावधान में सन्तों द्वारा प्रस्तुत पाण्डुलिपि को नियमानुसार अवधार कर उसकी प्रतिलिपि करने का कार्य आदर्श साहित्य संघ (चूरू) द्वारा सम्पन्न हुआ है, जिसके लिए हम संघ के संचालकों के प्रति कृतज्ञ हैं।

अर्थ-व्यवस्था

इस ग्रन्थ के प्रकाशन का व्यय विराटनगर (नेपाल) निवासी श्री रामलालजी हँसराजजी गोलछा द्वारा श्री हँसराजजी हुलासचन्दजी गोलछा की स्वर्गीया माता श्री वापीदेवी (धर्मपत्नी श्री रामलालजी गोलछा) की स्मृति में प्रदत्त निधि से हुआ है। एतदर्थ इस अनुकरणीय अनुदान के लिए गोलछा-परिवार हार्दिक धन्यवाद का पात्र है।

आगम-साहित्य प्रकाशन समिति की ओर से उक्त निधि से होने वाले प्रकाशन-कार्य की देख-रेख के लिए निम्न सज्जनों की एक उपसमिति गठित की गई है :—

१—श्रीमान् हुलासचन्दजी गोलछा

२— ,, मोहनलालजी बाँठिया

३— ,, श्रीचन्द रामपुरिया

४— ,, गोपीचन्दजी चोपड़ा

५— ,, केवलचन्दजी नाहटा

सर्व श्री श्रीचन्द रामपुरिया एवं केवलचन्दजी नाहटा उक्त समिति के संयोजक चुने गये हैं।

आगम-साहित्य प्रकाशन-कार्य

महासभा के अन्तर्गत आगम-साहित्य प्रकाशन समिति का प्रकाशन-कार्य ज्यों-ज्यों आगे बढ़ रहा है, त्यों-त्यों हृदय में आनन्द का पारावार नहीं। मैं तो अपने जीवन की एक साध ही पूरी होते देख रहा हूँ। इस अवसर पर मैं अपने अनन्य बन्धु और साथी सर्व श्री गोविन्दरामजी सरावगी, मोहनलालजी बाँठिया एवं खेमचन्दजी सेठिया को उनकी मुक्त सेवाओं के लिए हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

आभार

आचार्य श्री की सुदीर्घ दृष्टि अत्यन्त भेदिनी है। जहाँ एक ओर जन-मानस को आध्यात्मिक और नैतिक चेतना की जागृति के व्यापक आन्दोलनों में उनके अमूल्य जीवन-क्षण लग रहे हैं, वहाँ दूसरी ओर आगम-साहित्य-गत जैन-संस्कृति के मूल सन्देश को जन-व्यापी बनाने का उनका उपक्रम भी अनन्य और स्तुत्य है। जैन-आगमों को अभिलषित रूप में भारतीय एवं विदेशी विद्वानों के सम्मुख ला देने की आकांक्षा में वाचना प्रमुख के रूप में आचार्य श्री तुलसी ने जो अथक परिश्रम अपने कन्धों पर लिया है, उसके लिए जैन ही नहीं अपितु सारी भारतीय जनता उनके प्रति कृतज्ञ रहेगी।

निकाय सचिव मुनि श्री नथमलजी का सम्पादन-कार्य एवं तेरापंथ-संघ के अन्य विद्वान् मुनि-वृन्द के सक्रिय सहयोग भी वस्तुत: अभिनन्दनीय है।

हम आचार्य श्री और उनके साधु-परिवार के प्रति इस जन-हितकारी पवित्र प्रवृत्ति के लिए नतमस्तक हैं।

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कलकत्ता-१

श्रीचन्द रामपुरिया
संयोजक
आगम-साहित्य प्रकाशन समिति

सम्पादकीय

प्रस्तुत ग्रन्थ आगम-अनुसन्धान ग्रन्थ-माला का दूसरा ग्रन्थ है। इसमें उत्तराध्ययन के शब्दों तथा शब्दगत हार्दों को स्पष्ट किया गया है। इस स्पष्टीकरण में उत्तराध्ययन के व्याख्या-ग्रन्थों के अतिरिक्त जैन, बौद्ध, वैदिक व लौकिक (अर्थशास्त्र, आयुर्वेद आदि) साहित्य का उपयोग किया गया है। साहित्य की सभी धाराओं में शब्द-प्रयोग व अर्थाभिव्यक्ति की एकरूपता रहती है। इसलिए किसी शताब्दी के ग्रन्थ को उसके समसामयिक ग्रन्थों के आलोक में ही आलोकित किया जा सकता है। एक युग था, जिसमें प्रत्येक दर्शन के विद्यार्थी की अध्ययन की सीमा संकुचित थी। वह अपनी परम्परा के शास्त्रों को पढ़ता था। दूसरी परम्परा के शास्त्रों को या तो पढ़ता नहीं था और पढ़ता था तो उनका खण्डन करने के लिए। तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि विकसित नहीं थी।

आज का युग तुलनात्मक अध्ययन का युग है। इसमें विद्यार्थी के अध्ययन की सीमा व्यापक हो गई है। अध्ययन की दृष्टि में खण्डन की प्रधानता नहीं, किन्तु समन्वय की प्रधानता है। इसलिए आज के विद्यार्थी को सभी धाराओं में सत्य की एक शृङ्खलात्मक अभिव्यक्ति दिखाई देती है। कोई भी और किसी भी विषय का ग्रन्थ हो समसामयिक भाषा-प्रयोगों और अर्थाभिव्यक्ति के प्रकारों का अपवाद नहीं हो सकता। धर्मशास्त्र भी इसी दृष्टि से व्याख्यातव्य होते हैं। हजार-दो हजार वर्ष की लम्बी अवधि में शब्दों के अर्थ में उत्कर्ष और अपकर्ष हो जाता है। इसलिए उस समय के साहित्य के संदर्भ में ही उनके मूल अर्थ का स्पर्श किया जा सकता है। उदाहरण के लिए यहाँ हम कुछेक शब्दों की चर्चा करेंगे।

जक्ख—तीसरे अध्ययन के चौदहवें श्लोक में आगत 'जक्ख' (यक्ष) शब्द का अर्थ आज के अर्थ-प्रवाह में करने पर वहाँ अर्थ की संगति नहीं होती। इसका मूल अर्थ समझने के लिए 'यज्' धातु के उस वातावरण में जाने की अपेक्षा होती है, जिसमें इसी धातु से निष्पन्न यक्ष की एकार्णव प्रतिष्ठा थी। वर्तमान में 'यक्ष' शब्द का अर्थ कुछ निम्न कोटि के असुरों की अभिव्यक्ति देता है और उक्त प्रकरण में इसका प्रयोग उत्तम जाति के देव के अर्थ में हुआ है।

धूमणेत्त—पन्द्रहवें अध्ययन के आठवें श्लोक में 'धूमणेत्त' (धूमनेत्र) शब्द आता है। इसे आयुर्वेदीय-साहित्य के संदर्भ में ही समझा जा सकता है। विशेष वर्णन के लिए देखिए—टिप्पण संख्या ८, पृ० १२६-१२७।

धर्म-शास्त्रों का मुख्य प्रतिपाद्य अध्यात्म के विविध स्तरों और धर्म सम्बन्धी विधि-निषेधों का विशदीकरण होता है। किन्तु किसी भी विषय की व्याख्या पारिपार्श्विक वातावरण को छोड़ कर नहीं की जा सकती। इसलिए धर्म-शास्त्रों में भी प्रसंगवश राजनीति, अर्थनीति, शिक्षा, स्वास्थ्य, मंत्र-विद्या, इतिहास, समाज-विज्ञान, मनोविज्ञान, भूगर्भ-विद्या, वास्तु-विद्या आदि सभी विद्या-शाखाओं की चर्चा आ जाती है। इन प्रासंगिक निरूपणों की व्याख्या तद्विषयक शास्त्रों के प्रकाश में ही की जा सकती है।

पन्द्रहवें अध्ययन के सातवें श्लोक (टिप्पण संख्या ७, पृ० १२५-१२६) में दण्ड-विद्या, वास्तु-विद्या और अष्टांग-निमित्त की सात शाखाओं का उल्लेख मिलता है।

कावोया वित्ती—उन्नीसवें अध्ययन के तेतीसवें श्लोक (टिप्पण संख्या १३, पृ० १४५) में कापोती-वृत्ति का उल्लेख मिलता है। जैन-साहित्य में अधिकांशत: भिक्षाचारी के लिए 'गोचरी' या 'माधुकरी' का प्रयोग हुआ है। कापोती की व्याख्या महाभारत में मिलती है।

पासण्ड—तेइसवें अध्ययन के उन्नीसवें श्लोक में 'पासण्ड' शब्द मिलता है। इसका हार्द हम तब तक नहीं पकड़ सके, जब तक वार्तमानिक अर्थ के आवरण को तोड़ कर अतीत के आलोक में नहीं पहुँच पाये थे। आवश्यक सूत्र में 'परपासण्ड' शब्द का प्रयोग है। वह सदा खटकता रहा। 'पासण्ड' के साथ 'पर' लगाने की आवश्यकता ही क्या ? वह 'स्व' कैसे होगा, 'पर' ही होगा। दशवैकालिक निर्युक्ति (गाथा १६४-१६५) में मुनि का एक नाम 'पाषण्ड' है। किन्तु उससे अर्थ की स्पष्टता नहीं हुई। अशोक के शिलालेखों में आत्म-पाषण्डी और

पर-पाषण्डी—ये दोनों प्रयोग हैं। वहाँ अपने धर्म-सम्प्रदाय के लिए आत्म-पाषण्ड और पर-धर्म-सम्प्रदाय के लिए पर-पाषण्ड का प्रयोग किया गया है। इस शिलालेख के संदर्भ में पाषण्ड शब्द का आशय स्पष्ट हो गया। विशेष विवरण के लिए देखिए—टिप्पण संख्या ६, पृ० १६८-१६६।

विभिन्न धर्म-शास्त्रों व अन्य शास्त्रों में समान शब्द-प्रयोग चलते थे। इसका तुलनात्मक अध्ययन बड़ा विस्मयकर होता है। 'युगमात्र' शब्द (टिप्पण संख्या ३, पृ० १७१-१७२) जैन-साहित्य, बौद्ध-साहित्य व आयुर्वेद-साहित्य में समान रूप से प्रयुक्त होता रहा है। इसी प्रकार 'धमनि-संतत' शब्द (टिप्पण संख्या ३, पृ० १६) भी अनेक धाराओं में संक्रान्त रहा है।

आयुर्वेद में भी इसका प्रयोग मिलता है—

शुष्कस्फिगुदरग्रीवो धमनीजालसंततः।
त्वगस्थिशेषोऽतिकृशः स्थूलपर्वानरोमतः॥ (चरक सूत्रस्थान, अ० २१)

यह हमें बाद में प्राप्त हुआ, इसलिए इसका टिप्पण में उपयोग नहीं किया जा सका।

शब्दों के अर्थानुसन्धान में हमारा यत्किञ्चित् प्रयत्न रहा है और हमने यथासंभव उनका आशय स्पष्ट करने की चेष्टा की है। फिर भी विशाल श्रुत-समुद्र की थाह पा लेना सहज-सरल कार्य नहीं है। पुनर्निरीक्षण से ज्ञात होता है कि अनेक अनुसन्धेय शब्द हमारी दृष्टि से बच कर रह गए हैं। उन्नीसवें अध्ययन के पैंतीसवें श्लोक में 'लोहभार' शब्द है। यहाँ 'भार' शब्द सामान्य बोझ का वाची नहीं है, किन्तु इसका विशेष अर्थ है। शार्ङ्गधर संहिता (अ० १, श्लो० ३१) के अनुसार "पलानां द्विसहस्रं च, भार एकः प्रकीर्तितः"—दो हजार पलों का एक भार होता है।

आचार्य श्री तुलसी ने हमें हर क्षण सत्य की परिधि में रहने को सजग रखा है। इसीलिए हमारा प्रयत्न किसी भी पूर्वाग्रह से लिप्त न हो कर सत्य की शोध करा रहा है। इस संस्करण में उत्तराध्ययन की निर्युक्ति, चूर्णि तथा वृत्तियों का प्रचुर उपयोग किया गया है। इनके उपयोग से केवल अर्थ की स्पष्टता ही नहीं हुई है, किन्तु कालक्रम के अनुसार अर्थ की एकरूपता या परिवर्तित दशा का इतिहास भी सामने आया है। हमने अनेक स्थानों पर अपने निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं। कहीं-कहीं केवल आचार्यों के अभिमत मात्र उल्लिखित किए हैं, हमारे अभिमत का कोई उल्लेख नहीं किया है। उस प्रकरण में हमारा अभिमत वही है, जो हमने अनुवाद में स्वीकृत किया है।

हम प्राचीन ग्रन्थ-राशि से बहुत ही लाभान्वित हुए हैं, इसलिए मैं उसके प्रणेता आचार्यों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना अपना पवित्र कर्त्तव्य मानता हूँ। इस अनुसन्धान-कार्य में मुनि मीठालालजी और मुनि दुलहराजजी ने मेरा पर्याप्त सहयोग किया है। मुनि मधुकरजी, मुनि सुखलालजी और मुनि श्रीचन्द्रजी 'कमल' ने भी यत्र-तत्र इस कार्य में योग दिया है। उनके प्रति भी आभार प्रदर्शित करने की अपेक्षा उनके सहयोग के सातत्य की कामना को अधिक कार्यकर मानता हूँ। मुनि मुनेन्द्रजी 'सुमन' और मुनि हीरालालजी ने प्रतिलिपि करने व उसका संशोधन करने में यथेष्ठ प्रयास किया है।

आचार्य श्री तुलसी हमारी आगम-वाचना के प्रमुख सूत्रधार हैं। उनके पथ-दर्शन, निर्देशन व प्रत्यक्ष सहयोग से हमारी कार्य दिशाएं सदा आलोकित रही हैं। उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने की क्षमता प्राप्त करने के लिए मुझे अभी और अधिक लम्बी तपस्या करनी होगी।

सागर-सदन,
शाहीबाग, अहमदाबाद-४
२३ अगस्त, १९६७

मुनि नथमल

उत्तराध्ययन-टिप्पण

अध्ययन १

विणय-सुयं

श्लोक १

१–संयोग से (संजोगा क) :

संयोग का अर्थ है—सम्बन्ध । वह दो प्रकार का होता है—बाह्य और आभ्यन्तर । माता-पिता आदि का पारिवारिक सम्बन्ध 'बाह्य संयोग' है और विषय, कषाय आदि का सम्बन्ध 'आभ्यन्तरिक-संयोग' । भिक्षु को इन दोनों संयोगों से मुक्त होना चाहिए ।[1]

२–अनगार है, भिक्षु है, उसके (अणगारस्स भिक्खुणो ख) :

वृक्ष चलते नहीं इसलिए उन्हें 'अग' कहा जाता है । प्रायः घर वृक्ष की लकड़ी (काठ) से बनाए जाते थे इसलिए घर का नाम 'अगार' हुआ । जिसके 'अगार' नहीं होता, वह 'अनगार' है ।[2]

प्रवृत्ति-लभ्य अर्थ की दृष्टि से 'अनगार और भिक्षु' दोनों एकार्थवाची शब्द हैं । शान्त्याचार्य ने बताया है कि यहाँ 'अनगार' का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ लेना चाहिए, अन्यथा दो शब्दों की सार्थकता सिद्ध नहीं होती । 'अगार' का अर्थ है 'घर' । जिसके 'घर' न हो वह 'अनगार' कहलाता है ।[3]

नेमिचन्द्र के अनुसार भिक्षु दूसरों के लिए बने हुए घरों में रहते हुए भी उन पर ममत्व नहीं करता इसलिए वह 'अनगार' है ।[4]

शान्त्याचार्य ने वैकल्पिक रूप में 'अणगार' और 'अस्सभिक्खु' ऐसा पदच्छेद किया है । जो भिक्षा लेने के लिए जाति, कुल आदि जता कर दूसरों को आत्मीय न बनाए, उसे 'अ-स्वभिक्षु' (मुधाजीवी) कहा जाता है ।[5]

३–विनय को (विणयं ग) :

शान्त्याचार्य ने इसके संस्कृत रूप दो किए है—विनय और विनत । विनय का अर्थ है आचार और विनत का अर्थ है नम्रता ।[6]

१–सुखबोधा, पत्र १ :

'संयोगात्' सम्बन्धाद् बाह्याभ्यन्तरभेदभिन्नात्, तत्र मात्रादिविषयाद् बाह्यात् कषायादिविषयाच्चान्तरात् ।

२–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २६ :

न गच्छंतीत्यगा–वृक्षा इत्यर्थः, अगैः कृतमगारं गृहमित्यर्थः नास्य अगारं विद्यत इत्यनगारः ।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र १९ :

'अनगारस्ये'ति अविद्यमानमगारमस्येत्यनगार इति व्युत्पन्नोऽनगारशब्दो गृह्यते, यस्त्वव्युत्पन्नो रूढिशब्दो यतिवाचकः, यथोक्तम्—

अनगारो मुनिर्मौनी, साधुः प्रव्रजितो व्रती ।
श्रमणः क्षपणश्चैव, यतिश्चैकार्थवाचकाः ॥१॥

इति, स इह न गृह्यते, भिक्षुशब्देनैव तदर्थस्य गतत्वात् ।

४–सुखबोधा पत्र, १ :

'अनगारस्य' परकृतगृहनिवासित्वात्तत्राऽपि ममत्वमुक्तत्वात् संगरहितस्य ।

५–बृहद् वृत्ति पत्र, १९ :

अथवा—'अणगारस्सभिक्खुणो' त्ति अस्वेषु भिक्षुरस्वभिक्षुः—जात्याद्याजीवनादनात्मीकृतांस्तानात्मीयानेव गृहिणोऽन्नादि भिक्षत इति कृत्वा स च यतिरेव, ततोऽनगारश्चासावस्वभिक्षुश्च अनगारास्वभिक्षुः ।

६–वही, पत्र १९ :

विशिष्टो विविधो वा नयो—नीतिर्विनयः—साधुजनासेवितः समाचारस्तं, विनमनं वा विनतम् ।

सुदर्शन सेठ ने थावच्चा पुत्र से पूछा—"भन्ते ! आपके धर्म का मूल क्या है ?" थावच्चा पुत्र ने कहा—"सुदर्शन ! हमारे धर्म का मूल—विनय है । वह दो प्रकार का है—अगार-विनय और अनगार-विनय । बारह व्रत और ग्यारह उपासक प्रतिमाएँ अगार-विनय है और पाँच महाव्रत, छठा रात्रिभोजन विरमण व्रत, अट्ठारह पापों का विरमण, दस प्रत्याख्यान और बारह भिक्षु प्रतिमाएँ यह 'अनगार-विनय' है ।"[1]

औपपातिक में विनय के सात प्रकार बताए हैं—ज्ञान-विनय, दर्शन-विनय, चरित्र-विनय, मन-विनय, वचन-विनय, काय-विनय और लोकोपचार-विनय ।[2] प्रस्तुत अध्ययन में विनय के दोनों अर्थों—आचार और नम्रता पर प्रकाश डाला गया है ।

श्लोक २

४–जो गुरु की आज्ञा और निर्देश का पालन करता है (आणानिद्देसकरे [क]) :

चूर्णि के अनुसार 'आज्ञा' और 'निर्देश' समान अर्थवाची हैं । वैकल्पिक रूप में वहाँ आज्ञा का अर्थ आगम का उपदेश और निर्देश का अर्थ आगम से अविरुद्ध गुरु-वचन किया गया है ।[3]

शान्त्याचार्य ने आज्ञा का मुख्य अर्थ—आगमोक्त विधि और निर्देश का अर्थ—प्रतिपादन किया है। गौण रूप में आज्ञा का अर्थ गुरुवचन और निर्देश का अर्थ—"मैं यह कार्य आपके आदेशानुसार ही करूँगा"—इस प्रकार का निश्चयात्मक विचार प्रगट करना है ।[4]

उनके सामने 'आणानिद्देसयरे' पाठ था । अतः उन्होंने 'यर' शब्द के 'कर' और 'तर' दोनों रूपों की व्याख्या की है—आज्ञा-निर्देश को करने वाला और आज्ञा-निर्देश के द्वारा संसार-समुद्र को तरने वाला । आगे लिखा है कि भगवद्-वाणी के अनन्त पर्याय होने के कारण अनेक व्याख्या-भेद संभव हो सकते हैं । किन्तु मन्दमतियों के लिए यह व्यामोह का हेतु न बन जाए इसलिए प्रत्येक सूत्र की व्याख्या में अनेक विकल्प करने का प्रयत्न नहीं किया गया है ।[5]

५–शुश्रूषा करता है (उववायकारए [ख]) :

चूर्णि में इसका अर्थ 'शुश्रूषा करने वाला'[6] और टीका में इसका अर्थ 'समीप रहनेवाला'[7]—जहाँ बैठा हुआ गुरु को दीखे और उनका

१–ज्ञाताधर्मकथा, १।५ । सू०६१ ।

२–औपपातिक, सूत्र २० ।

३–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २६ :

आज्ञाप्यतेऽनया यस्य आज्ञा, निर्देशनं निर्देशः, आज्ञैव निर्देशः, अथवा आज्ञा—सूत्रोपदेशः, तथा निर्देशस्तु तदविरुद्धं गुरुवचनं, आज्ञानिर्देशं करोतीति आणाणिद्देसकरो ।

४–बृहद् वृत्ति, पत्र ४४ :

आङिति स्वस्वभावावस्थानात्मिकया मर्यादयाऽभिव्याप्त्या वा ज्ञायन्तेऽर्था अनयेत्याज्ञा—भगवदभिहितागमरूपा तस्या निर्देश—उत्सर्गापवादाभ्यां प्रतिपादनमाज्ञानिर्देशः, इदमित्थं विधेयमिदमित्थं वेत्येवमात्मकः तत्करणशीलस्तदनुलोमानुष्ठानो वा आज्ञानिर्देशकरः, यद्वाऽऽज्ञा—सौम्य ! इदं कुरु इदं च मा कार्षीरिति गुरुवचनमेव, तस्या निर्देश—इदमित्थमेव करोमि इति निश्चयाभिधानं तत्करः ।

५–वही, पत्र ४४ :

आज्ञानिर्देशेन वा तरति भवाम्भोधिमित्याज्ञानिर्देशतर इत्यादयोऽनन्तगमपर्यायत्वाद् भगवद्वचनस्य व्याख्याभेदाः सम्भवन्तोऽपि मन्दमतीनां व्यामोहहेतुतया बालाबलादिबोधोत्पादनार्थत्वाच्चास्य प्रयासस्य न प्रतिसूत्रं प्रदर्शयिष्यन्ते ।

६–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २६ :

उपपतनमुपपातः, शुश्रूषाकरणमित्यर्थः ।

७–बृहद् वृत्ति, पत्र ४४ :

उप—समीपे पतनं—स्थानमुपपातः दृग्वचनविषयदेशावस्थानं तत्कारकः—तदनुष्ठाता, न तु गुर्वादेशादिभीत्या तद्व्यवहितदेशस्थायीति यावत् ।

शब्द सुन सके वहाँ रहने वाला अर्थात् आदेश के भय से दूर न बैठनेवाला' किया गया है। उपपात, निर्देश, आज्ञा और विनय इन्हें एकार्थक भी माना गया है।[१]

६—इंगित और आकार को (इंगियागार ग) :

इंगित और आकार—ये दोनों शब्द शरीर की चेष्टाओं के वाचक हैं। किसी कार्य की प्रवृत्ति और निवृत्ति के लिए शिर आदि को थोड़ा-सा हिलाना इंगित है। यह चेष्टा सूक्ष्म होती है। इसे निपुण-मति वाले लोग ही समझ सकते हैं।

आकार को स्थूल बुद्धिवाले लोग भी पकड़ सकते हैं। आसन को शिथिल करते हुए देख सहज ही यह जाना जा सकता है कि ये प्रस्थान करना चाहते हैं। इसी प्रकार दिशाओं को देखना, जम्भाई लेना और चादर ओढ़ना—ये सब प्रस्थान की सूचना देने वाले 'आकार' हैं।[२]

इंगित और आकार पर्यायवाची भी माने गए हैं।[३]

७—जानता है (संपन्ने ग) :

चूर्णि और सुखबोधा में इसका अर्थ 'युक्त' और बृहद् वृत्ति में 'सम्प्रज्ञ' (जाननेवाला) एवं 'युक्त' दोनों अर्थ किए गए हैं। यहाँ बृहद् वृत्ति का पहला (सम्प्रज्ञ) अर्थ अधिक उपयुक्त लगता है।[४]

श्लोक ५

८—चावलों की भूसी को (कण-कुण्डगं क) :

चूर्णि और टीका में इसके दो अर्थ किए गए हैं—चावलों की भूसी अथवा चावल मिश्रित भूसी। चूर्णिकार ने इसे पुष्टिकारक तथा सूअर का प्रिय भोजन कहा है।[५]

१—व्यवहारभाष्य, ४।३५४ :
उववाओ निद्देसो आणा विणओ य होंति एगट्ठा।

२—बृहद् वृत्ति, पत्र ४४ :
इंगितं—निपुणमतिगम्यं प्रवृत्ति-निवृत्तिसूचकमीषद्भ्रूशिरः कम्पादि आकारः स्थूलधीसंवेद्यः प्रस्थानादि भावाभिव्यंजको दिगवलोकनादिः आह च—''अवलोयणं दिसाणं वियंभणं साडयस्स संठवणं।
आसण-सिढिलीकरणं पट्ठियलिंगाइं एयाइं॥

३—(क) अभिधानप्पदीपिका, ७६४ :
आकारो इंगितं इंगो।
(ख) वही, ९८१ :
आकारो कारणे वुत्तो, सण्ठाने इंगितेपि च।

४—(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ २७ :
संपन्नवान् संपन्नः।
(ख) सुखबोधा, पत्र १ :
सम्पन्नः युक्तः।
(ग) बृहद् वृत्ति, पत्र ४४ :
सम्यक् प्रकर्षेण जानाति इंगिताकारसम्प्रज्ञः यद्वा-इंगिताकाराभ्यां गुरुगतभावपरिज्ञानमेव कारणे कार्योपचारादिङ्गिताकारशब्देनोक्तं, तेन सम्पन्नो—युक्तः।

५-(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २७ :
कणा नाम तंदुलाः, कुंडगा कुक्कसाः, कणानां कुंडगाः, कणकुंडगाः, कणमिस्सो वा कुंडकः कणकुंडकः, सो य बुद्धिकरो, सूयराणं प्रियश्च।
(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ४५ :
कणाः—तन्दुलास्तेषां तन्मिश्रो वा कुण्डकः—तत्क्षोदनोत्पन्नकुक्कुसः कणकुण्डकस्तम्।

श्रावक धर्म-विधि प्रकरण में एक कथा आई है, जिसका आशय है कि एक राजा को खाने की तीव्र इच्छा उत्पन्न हुई। उसने विविध प्रकार के भोजन बनवाए। वह सब कुछ खा गया। यहाँ तक कि 'कण-कुंडग, मंडक आदि भी खा गया।' इस कथानक से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'कण-कुंडग' चावलों का कुंडा नहीं पर कोई खाद्य विशेष था।[1]

कौटिल्य अर्थशास्त्र में कण-कुण्डक शब्द कई स्थानों में आया है (२।१५।५२,५६; २।२६।४३)। वहाँ कुण्डक का अर्थ—'लाल चूर्ण जो कि छिलके के अन्दर चावल से चिपटा रहता है'—किया है।[2] जातक में 'आचामकुण्डक' शब्द आया है। वहाँ आचाम का अर्थ 'चावल का मांड' है।[3] आयाम का अर्थ 'चावल से बना हुआ यूष' भी है।[4]

श्लोक ७

६–बुद्ध-पुत्र (आचार्य का प्रिय शिष्य) और मोक्ष का अर्थी (बुद्ध-पुत्त नियागट्ठी ग) :

आचार्य नेमिचन्द्र के अनुसार 'बुद्ध-पुत्त' का अर्थ है—आचार्य आदि का प्रीतिपात्र शिष्य और 'नियागट्ठी' का अर्थ है—मोक्षाभिलाषी।[5]

चूर्णि और बृहद् वृत्ति में 'बुद्धउत्त' पाठ है। 'बुद्धउत्त' और 'नियागट्ठी' इन दोनों शब्दों को एक मानकर इसका संस्कृत रूप—'बुद्धोक्त-निजकार्थी'—तीर्थङ्कर आदि द्वारा उपदिष्ट ज्ञान का अभिलाषी—किया गया है।[6]

बृहद् वृत्ति में ये दो पाठान्तर माने गए हैं[7]—

(१) 'बुद्धवुत्त'—बुद्धव्युक्त अर्थात् आगम।

(२) 'बुद्धपुत्त'—बुद्धपुत्र अर्थात् आचार्य आदि का प्रीतिपात्र शिष्य।

चूर्णिकार ने इस अध्ययन के बीसवें श्लोक में भी 'नियागट्ठी' का अर्थ—ज्ञान, दर्शन और चारित्र का अर्थी—किया है।[8]

आगम-साहित्य में 'बुद्ध' शब्द का प्रयोग अनेक स्थानों पर मिलता है। इसका अर्थ है—आचार्य, तीर्थङ्कर, वीतराग, ज्ञानी, गुरु आदि-आदि। बौद्ध-साहित्य में इन अर्थों के साथ-साथ 'शाक्यपुत्र' के अर्थ में भी इसका प्रयोग हुआ है। महात्मा शाक्य मुनि को जब बोधि-लाभ

१–श्रावक-धर्मविधि प्रकरण, पत्र २४, २५।

२—The red powder which adheres to the rice under the husk. (Childers)

३–Jatak 254, gg. 1-2.
Ācāma is scum of boiling rice.

४—Āyāma, "A thin rice porridge" (Leumann Āupapatik S.s.v.)

५–सुखबोधा, पत्र ३ :
बुद्धानाम्—आचार्यादीनां पुत्र इव पुत्रो बुद्धपुत्रः,—'पुत्ता य सीसा य समं विभत्ता' इतिवचनात्, स्वरूपविशेषणमेतत्, नियागार्थी मोक्षार्थी……।

६–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २८ :
बुद्धैरुक्तं बुद्धोक्तं ज्ञानमित्यर्थः तदेव च नियाकं निजकमात्मीयं शेषं शरीरादि सर्वं पराक्यं।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ४६ :
बुद्धैः—अवगततत्त्वैस्तीर्थकरादिभिरुक्तम्—अभिहितं, तच्च तन्निजमेव निजकं च—ज्ञानादि तस्यैव बुद्धैरात्मीयत्वेन तत्त्वत उक्तत्वात्, बुद्धोक्तनिजकं, तदर्थयते अभिलषतीत्येवंशीलः बुद्धोक्तनिजकार्थी।

७–बृहद् वृत्ति, पत्र ४६ :
पठन्ति च—'बुद्धवुत्ते णियागट्ठि त्ति' बुद्धैः—उक्तरूपैर्व्युक्तो—विशेषेणाभिहितः, स च द्वादशांगरूप आगमस्तस्मिन् स्थित इति गम्यते, यद्वा बुद्धानाम्—आचार्यादीनां पुत्र इव पुत्रो बुद्धपुत्रः।

८–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ३५ :
णियागं णिकाणं नियागमित्यर्थः णाणातितियं वा णियगं आत्मीयमित्यर्थः सेसं सरीरादि सव्वं परायगं, णियाएणट्ठो जस्स सो णियागट्ठी।

हुआ तब वे बुद्ध कहलाए[1] और उनका दर्शन भी इसी नाम से अभिहित होने लगा। परन्तु महात्मा बुद्ध बोलते समय अपने लिए विशेषतः 'तथागत' शब्द का ही प्रयोग करते थे।

श्लोक ८

१०—(निसन्ते [क]—अट्ठजुत्ताणि [ग]—निरट्ठाणि [घ]) :

निसन्ते—चूर्णि और वृत्ति के आधार पर इसके तीन अर्थ फलित होते हैं[2]—

(१) जिसका अन्तःकरण क्रोधयुक्त न हो।

(२) जिसका बाह्याकार प्रशान्त हो।

(३) जिसकी चेष्टाएँ अत्यन्त शान्त हों।

अट्ठजुत्ताणि—इसके तीन अर्थ प्राप्त हैं—

(१) आगम-वचन[3] (२) मोक्ष के उपाय[4] (३) अर्थ सहित[5]

निरट्ठाणि—चूर्णिकार ने निरर्थक शब्द के तीन उदाहरण दिए हैं—

(१) भारत, रामायण आदि। ये लोकोत्तर अर्थ से शून्य हैं।

(२) डित्थ, डवित्थ, पाखंड आदि। ये अर्थ या निरुक्त शून्य शब्द हैं।

(३) स्त्री-कथा आदि। ये मुनि के लिये अनर्थक या अप्रयोजनीय हैं।[6]

१—बुद्ध और बौद्ध साधक, पृ० १५।

२—(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २८ :

अहियं शान्तो निशान्तः अक्रोधवानित्यर्थः, अत्यन्तशान्तचेष्टो वा।

(ख) सुखबोधा, पत्र ३ :

निशान्तः नितरामुपशमवान् अन्तः क्रोधपरिहारेण बहिश्च प्रशान्ताकारतया।

३—(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २८ :

अर्थेन युक्तानि सूत्राण्युपदेशपदानि।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ४६, ४७ :

अर्यते—गम्यत इति अर्थः,......स च हेय उपादेयश्चोभयस्याप्यर्य्यमाणत्वात्, तेन युक्तानि—अन्वितानि अर्थयुक्तानि, तानि च हेयोपादेयाभिधायकानि, अर्थादागमवचांसि।

४—बृहद् वृत्ति, पत्र ४७ :

मुमुक्षुभिरर्य्यमानत्वादर्थो—मोक्षस्तत्र युक्तानि—उपायतया संगतानि।

५—बृहद् वृत्ति, पत्र ४७ :

अर्थं वा अभिधेयमाश्रित्य युक्तानि—प्रतिजनोचितानि।

६—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २८ :

न येषामर्थो विद्यत इति निरत्थाणि···'भारहरामायणादीणि' अथवा डित्थो डवित्थो पाखंड इति, अथवा इत्थि कहादीणि।

श्लोक ९

११–क्रीडा (कीडं [घ]) :

इसका सामान्य अर्थ है—खेल-कूद, किलोल आदि। शान्त्याचार्य और नेमिचन्द्र ने इसका अर्थ—अन्त्याक्षरी, प्रहेलिका आदि से उत्पन्न कुतूहल किया है।[1] चूर्णिकार ने विकल्प में दोनों शब्दों (हासंकीडं) का समुच्चयार्थ 'क्रीडापूर्वक हास्य' किया है।[2]

श्लोक १०

१२–चण्डालोचित कर्म (क्रूर-व्यवहार) (चण्डालिय [क]) :

चूर्णि में इसका मुख्य अर्थ क्रोध और अनृत दिया है।[3] बृहद् वृत्ति में इसका मुख्य अर्थ क्रोध के वशीभूत हो अनृत भाषण करना और विकल्प में क्रूर-कर्म किया है।[4] शान्त्याचार्य दूसरे विकल्प में 'मा अचण्डालिय' में अचण्ड को शिष्य का सम्बोधन मानकर 'अलीक' का अर्थ अनृत करते हैं।[5] नेमिचन्द्र ने केवल क्रोध के वशीभूत होकर 'अनृत भाषण करना' यही एक अर्थ माना है।[6] किन्तु चण्ड और अलीक इन दो शब्दों को भिन्न मानने की अपेक्षा चाण्डालिक एक शब्द मानना अधिक उपयुक्त है।

१३–अकेला रहकर ध्यान करे (झाएज्ज एगगो [घ]) :

इस शब्द से एक लौकिक प्रतिपत्ति का संकेत मिलता है कि ध्यान अकेला करे, अध्ययन दो व्यक्ति करें और ग्रामान्तर-गमन तीन आदि व्यक्ति करें।[7] भोजन, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय आदि प्रवृत्तियाँ मण्डली में की जाती हैं।[8] ध्यान मण्डली में नहीं किन्तु अकेले में किया जाता है। इस प्राचीन परम्परा का ही यहाँ निर्देश है।

१–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र ४७ :
क्रीडां च अन्ताक्षरिकाप्रहेलिकादाना विजनिताम्।
(ख) सुखबोधा, पत्र ३।

२—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २९ :
अहवा जं कीडपुव्वगं हास्यं तद्।

३–वही, पत्र २९—चंडो नाम क्रोधः, ऋतं सत्यं, न ऋतमनृतं, पागते तु तमेव अलियं, चंडं च अलियं च चंडालियं।

४–बृहद् वृत्ति, पत्र ४७
चण्डः—क्रोधस्तद्वशादलीकम्—अनृतभाषणं चण्डालीकम्। यद्वा—चण्डेनाऽऽलमस्य चण्डेन वा कलितश्चण्डालः, स चातिक्रूरत्वाच्चण्डालजातिस्तस्मिन् भवं चाण्डालिकं कर्मेति गम्यते।

५–वही, पत्र ४७ :
अथवा अचण्ड! सौम्य! अलीकम्–अन्यथात्वविधानादिभिरसत्यं।

६–सुखबोधा, पत्र ३ :
चण्डः क्रोधस्तद्वशाद् अलीकम्–अनृतभाषणं चण्डालिकं, लोभाद्यलीकोपलक्षणमेतत्।

७–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २९ :
उक्तं हि—'एकस्य ध्यानं द्वयोरध्ययनं त्रिप्रभृतिग्रामः', एवं लौकिकाः संप्रतिपन्नाः।

८–प्रवचन सारोद्धार, गा० ६९२ :
सुत्ते अत्थे भोयण काले आवस्सए य सज्झाए।
संथारे चेव तहा सत्तेया मंडली जइणो॥

श्लोक १२

१४–(गलियस्स क—आइण्णे ग) :

गलियस्स—इसका अर्थ है अविनीत घोड़ा।[1] गंडी, गली और मराली ये तीन शब्द दुष्ट घोड़े और बैल के पर्यायवाची हैं।[2] गंडी—उछल-कूद करने वाला—पेटू। मराली—वाहन में जोतने पर लात मारने वाला या जमीन पर लेटने वाला।

आइण्णे—इसका अर्थ है विनीत घोड़ा।[3] आकीर्ण, विनीत और भद्रक ये तीन शब्द विनीत घोड़े और बैल के पर्यायवाची हैं।[4]

श्लोक १८

१५–आचार्यों के (किच्चाण ख) :

कृति का अर्थ है—वन्दना। जो वन्दना के योग्य होते हैं उन्हें कृत्य—आचार्य कहा जाता है।[5]

श्लोक १६

१६–(पल्हत्थियं क–पक्खपिण्डं ख) :

पल्हत्थियं—घुटनों और जंघाओं को कपड़े से बांधकर बैठने को पर्यस्तिका कहा जाता है।[6]

कुषाणकालीन मूर्तियों मे, जो मथुरा से प्राप्त हुई हैं, यक्षकुबेर या साधु आदि अपनी टांग या पेट के चारों ओर वस्त्र बांधकर बैठे हुए दिखाए जाते हैं। उसे उस समय की भाषा में 'पल्हत्थिया' (पलौथी) कहते थे। ये दो प्रकार की होती थी समग्र पल्हत्थिया या पूरी पलथी और अर्ध पल्हत्थिया या आधी पलथी।

आधी पलथी दक्षिण और वाम अर्थात् दाहिना पैर या बांया पैर मोड़ने मे दो प्रकार की होती थी। पलथी लगाने के लिए साटक, बाहुपट्ट, चर्मपट्ट, वल्कलपट्ट, सूत्र, रज्जु आदि से बन्धन बाँधा जाता था।—ये पल्हत्थिका पट्ट रङ्गीन, चित्रित अथवा सुवर्ण—रत्न-मणि-मुक्ता खचित भी बनाए जाते थे।[7]

पक्खपिण्डं—दोनो बाहुओं से जंघाओ को वेष्टित कर बैठना, पक्ष-पिण्ड कहलाता है।[8]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ४८ :
गलिः—अविनीतः, स चासावश्वश्च गल्यश्वः।

२–उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गा० ६४ :
गंडी गली मराली अस्से गोणे य हुंति एगट्ठा।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र ४८
आकीर्णो—विनीत, स चेह प्रस्तावादश्वः।

४–उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ६४ ·
आइन्ने य विणीए भद्दए वावि एगट्ठा॥

५–बृहद् वृत्ति, पत्र ५४ :
कृतिः—वन्दनकं तदर्हन्ति कृत्याः 'दण्डादित्वाद् यप्रत्ययः' ते चार्थाचाचार्यादयः

६–वही, पत्र ५४ :
'पर्यस्तिका' जानुजङ्घोपरिवस्त्रवेष्टनाऽऽत्मिकाम्।

७–अंगविज्जा भूमिका, पृ० ५९।

८–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ३५ :
पक्खपिंडो दोहिंवि बाहाहिं उरुगजाणूणि घेत्तूण अच्छणं।

श्लोक २०

१७–समीप रहे (उवचिट्ठे घ) :

चूर्णिकार ने इसका अर्थ 'पास में बैठना' किया है।[१] टीकाओं में इसका अर्थ है—'मैं आपका अभिवादन करता हूँ'—ऐसा कहता हुआ सविनय गुरु के पास चला जाय।[२]

श्लोक २५

१८–दोनों के प्रयोजन के लिए अथवा अकारण ही (उभयस्सन्तरेण घ) :

टीकाओं में इसका अर्थ है—दोनों के प्रयोजन के लिए अथवा प्रयोजन के बिना।[३] चूर्णि में इसका अर्थ दो या बहुत व्यक्तियों के बीच में बोलना—किया है।[४]

श्लोक २६

१९–(समरेसु अगारेसु क सन्धीसु ख) :

'समरेसु'—चूर्णिकार के अनुसार इसका अर्थ 'लोहार की शाला' है।[५] शान्त्याचार्य इसका अर्थ नाई की दुकान, लोहार की शाला और अन्य नीच-स्थान करते हैं। उन्होंने समर का दूसरा अर्थ युद्ध भी किया है।[६] नेमिचन्द्र के अनुसार इसका अर्थ नाई की दुकान है।[७]

सर मोनियर विलियम्स ने समर का अर्थ 'समूह का एकत्रित होना' किया है।[८] यह भी अर्थ प्रकरण की दृष्टि से ग्राह्य हो सकता है। समर का संस्कृत रूप स्मर भी होता है। इसका अर्थ है कामदेव सम्बन्धी या कामदेव का मंदिर।[९] अनुवाद में हमने यही अर्थ किया है। इस शब्द के द्वारा सन्देहास्पद स्थान का ग्रहण इष्ट है।

१–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ३५ :
उपेत्य तिष्ठेत वा चिट्ठेज्जा।

२–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र ५५ :
'उपतिष्ठेत' मस्तकेनाभिवन्द इत्यादि वदन् सविनयमुपसर्प्पेत्।
(ख) सुखबोधा, पत्र ८।

३–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र ५७ :
'उभयस्स' त्ति आत्मन परस्य च, प्रयोजनमिति गम्यते 'अंतरेण व' त्ति विना वा प्रयोजनमित्युपस्कारः।
(ख) सुखबोधा, पत्र १०।

४–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ३६,३७।

५–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ३७ :
समरं नाम जत्थ हेट्ठा लोहयारा कम्मं करेंति।

६–बृहद् वृत्ति, पत्र ५७ :
समरेषु खरकुटीषु·········उपलक्षणत्वादस्यान्येष्वपि नीचास्पदेषु······अथवा सममरिभिर्वर्तन्त इति समराः।

७–सुखबोधा, पत्र १० :
समरेषु-खरकुटीषु।

८–Sanskrit-English Dictionary, 1170 : Samara—coming together, meeting, concourse, confluence.

९–(क) पाइअ सद्द-महण्णवो, पृ० १०८५।
(ख) अंगविज्जा भूमिका, पृ० ६३ :
समर-स्मर-गृह या कामदेव गृह।

'अगारेसु'—चूर्णिकार ने इसका अर्थ शून्यागार[1] और शान्त्याचार्य ने केवल गृह किया है।[2]

'संधीसु'—घरों के बीच की संधि। दो दीवारों के बीच का प्रच्छन्न स्थान।[3]

श्लोक २७

२०–(सीएण फरुसेण ख) :

'सीएण'—प्रकरणवश चूर्णिकार ने 'शीत' का अर्थ 'स्वादु' (मधुर), शान्त्याचार्य ने 'उपचार सहित' और नेमिचन्द्र ने 'आह्लादक' किया है।[4]

'फरुसेण'—चूर्णिकार ने 'परुष' का अर्थ स्नेह-वर्जित या निष्ठुर और बृहद् वृत्तिकार ने कर्कश किया है।[5] गच्छाचार की वृत्ति में सुई के तुल्य चुभने वाले वचन को खर, बाण तुल्य चुभने वाले वचन को परुष और भाले के समान चुभने वाले वचन को कर्कश कहा है।[6]

श्लोक ३०

२१–हाथ-पैर आदि से चपलता न करे (अप्पकुक्कुए घ) :

चूर्णि में 'अप्प' का अर्थ निषेध है।[7] शान्त्याचार्य ने 'अप्प' शब्द के अर्थ 'थोड़ा' और 'नहीं'—दोनों किए हैं।[8] नेमिचन्द्र ने केवल 'थोड़ा' किया है।[9]

१–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ३७ :
अगारं नाम सुण्णागारं।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र ७० :
अगारेसु–गृहेसु।

३–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ३७ :
संधाणं संधि, बहूण वा घराणं तिण्हं घराणं यवंतरा।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ५७ :
'गृहसन्धिषु च' गृहद्वयान्तरालेषु च।

४–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ३७ :
शीतेन स्वादुना इत्यर्थः।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ५७ :
'शीतेन' सोपचारवचसा।

(ग) सुखबोधा, पत्र १० :
शीतेन–उपचाराच्छीतलेनाऽऽह्लादकेनेत्यर्थ।

५–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ३७ :
परुषं–स्नेहवर्जितं यत्परोक्षं निष्ठुराभिधानम्।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ५७ :
'परुषेण' कर्कशेन।

६–गच्छाचार, पत्र ५६ :
खराः सूचीतुल्याः। परुषा बाणतुल्याः। कर्कशाः कुन्ततुल्याः।

७–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ३८ :
'अप्पकुक्कुए' त्ति न गात्राणी स्पंदयती ण वा अबद्धासणो भवति, अन्नत्थुसास-नीससितादी अत्थस्सेह मुक्त्वा शेषमकुक्कुचो।

८–बृहद् वृत्ति, पत्र ५८, ५९ :
'अप्पकुक्कुइ' त्ति अल्पस्पन्दन, करादिभिरल्पमेव चलन्, यद्वा—अल्पशब्दोऽभावाभिधायी, ततश्चाल्पम्—असत् कुक्कुयं त्ति कौत्कुचं—कर-चरण-भ्रूभ्रमणाद्यसच्चेष्टात्मकमस्यैत्यल्पकौत्कुच।

९–सुखबोधा, पत्र ११।

श्लोक ३२

२२–प्रति-रूप में (मुनि-वेष में) (पडिरूवेण [ग]) :

प्रस्तुत श्लोक में प्रतिरूप शब्द है और २९वें अध्ययन के ४३वें सूत्र में प्रतिरूपता।

इस श्लोक की व्याख्या में चूर्णिकार ने प्रतिरूप के तीन अर्थ किए हैं[1]—

(१) प्रतिरूप—शोभन रूप वाला।

(२) प्रतिरूप—उत्कृष्ट वेश वाला अर्थात् रजोहरण, गोच्छग और पात्रधारी।

(३) प्रतिरूप—जिन प्रतिरूपक—यानि तीर्थंकर की भाँति हाथ में भोजन करने वाला।

इनका प्रकरणगत अर्थ यह है कि मुनि—स्थविर कल्पी या जिन कल्पी—जिस वेश में हो उसी वेश में भिक्षा करे।

वृत्ति-काल में इसका अर्थ—'चिरंतन मुनियों के समान वेष वाला'—ही मुख्य रहा है।[2]

प्रतिरूप का अर्थ प्रतिबिम्ब है। वह तीर्थंकर का भी हो सकता है और चिरंतन मुनियों का भी हो सकता है। यहाँ चिरंतन मुनियों के समान वेष वाला—यह अर्थ प्रासंगिक है और २९।४३ में तीर्थंकर के समान वेष वाला प्रासंगिक है। देखें २९।४३ का टिप्पण।

श्लोक ३३

२३–श्लोक ३३ :

इससे पूर्ववर्ती श्लोक में 'मियं कालेण भक्खए' इस पद द्वारा भोजन-विधि का उल्लेख हो चुका है। फिर भी इस श्लोक में पुनः भिक्षाटन करने की जो बात कही है, उसकी संगति इस प्रकार होती है—साधु सामान्यतः एक बार ही भिक्षा के लिए जाए परन्तु ग्लान के निमित्त या जो आहार मिला उससे क्षुधा शान्त न होने पर वह साधु पुनः भिक्षा के लिए जाए। इसकी पुष्टि में टीकाकार दशवैकालिक (अ०५ उ०२) के निम्न श्लोक उद्धृत करते हैं—

.... जइ तेणं न संथरे ॥२॥
तओ कारणमुप्पन्ने, भत्तपाणं गवेसए।
.... ॥३॥

इस ३३वें श्लोक का विस्तार दशवैकालिक ५।२।१०, ११, १२ में मिलता है।

श्लोक ३४

२४–श्लोक ३४ :

इस श्लोक का प्रथम चरण 'नाइउच्चे व नीए वा'—ऊर्ध्वमालापहृत और अधोमालापहृत नामक भिक्षा के दोषों की ओर संकेत करता है। इनकी विशेष जानकारी के लिए दशवैकालिक ५।१।६७, ६८, ६९ देखें। इसी श्लोक का दूसरा चरण 'नासन्ने नाइदूरओ'—गोचराग्र गए हुए मुनि के गृह-प्रवेश की मर्यादा की ओर संकेत करता है। इसका विस्तार दशवैकालिक ५।१।२४ में मिलता है। तीसरे चरण में आए हुए दो शब्द 'फासुयं', 'परकडं 'पिण्डं', का विस्तार दशवैकालिक ८।२३ और ८।५१ में मिलता है।

१–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ३९ :

पडिरूवं णाम सोभणरूवं, जहा पासादीये दरिसणीज्जे अभिरूवे पडिरूवे, रूपं रूपं च प्रति यदन्यद्रूपं, तत्प्रतिरूपं, सर्वधर्मभूतेभ्यो हि तद्रूपमुत्कृष्टं, तत्तद्रयहरण-गोच्छ-पडिग्गह मात्ताए, जे वा पाणिपडिग्गहिया जिणकप्पिता तेसिं गहणं, तेसिं जिणप्रतिरूपकं भवति, यतस्तेन प्रतिरूपेन।

२–(क) बृहद् वृत्ति पत्र, ५९ :

प्रतिप्रतिबिम्बं चिरन्तनमुनीनां यद्रूपं तेन, उभयत्र पतद्ग्रहादिधारणात्मकेन सकलान्यधार्मिकविलक्षणेन।

(ख) सुखबोधा, पत्र ११।

श्लोक ३५

२५–(अप्पपाणेऽप्पबीयंमि क) :

'अप्पपाणे'—इसका अर्थ है—प्राणी-रहित स्थान में। दोनों टीकाकार 'पाण' शब्द से द्वीन्द्रिय आदि प्राणियों का ग्रहण करते हैं। परन्तु चूर्णिकार इस शब्द के द्वारा समस्त प्राणियों—स्थावर व त्रस—का ग्रहण करते हैं।[१]

यहाँ शान्त्याचार्य ने यह तर्क उपस्थित किया है कि इस चरण में आए हुए दो शब्दों 'अल्प-प्राण' और 'अल्पबीज' में अल्पबीज शब्द निरर्थक है क्योंकि प्राण शब्द से समस्त प्राणियों का ग्रहण हो जाता है। बीज भी प्राण है।

इस तर्क का उन्होंने इन शब्दों में समाधान किया है—मुख और नासिका के द्वारा जो वायु निकलती है, उसे प्राण कहते हैं। लोक में 'प्राण' का यही अर्थ रूढ़ है। प्राण द्वीन्द्रिय आदि में ही होता है। एकेन्द्रिय जीवों में वह नहीं होता। अतः 'अप्पबीज' का निर्देश सप्रयोजन है।[२]

चूर्णिकार का अभिमत है कि यहाँ अर्थ की दृष्टि से 'अप्पाणे' पाठ होना चाहिए, किन्तु उससे श्लोक रचना ठीक नहीं बैठती। इस दृष्टि से 'अप्पाणे' के स्थान में 'अप्पपाणे' का प्रयोग किया गया है।[३]

टीकाकार की दृष्टि में भी अल्प शब्द अभाववाची है।[४] इससे भी चूर्णिकार का मत समर्थित होता है।

'अप्पबीयंमि'—इसका शब्दार्थ है—बीज रहित स्थान में। उपलक्षण से इसका अर्थ समस्त स्थावर जन्तु रहित स्थान में होता है।[५] बीज सहित स्थान वर्जनीय है तो हरियाली सहित स्थान अपने आप वर्जनीय हो जाता है।[६]

२६–(पडिच्छन्नंमि संवुडे ख) :

'पडिच्छन्नंमि'—ऊपर से ढके हुए उपाश्रय में।

यहाँ प्रतिपाद्य यह है कि साधु खुले आकाश में भोजन न करें। क्योंकि वहाँ से ऊपर से गिरने वाले सूक्ष्म जीवों का उपद्रव हो सकता है। अतः ऐसे स्थान में आहार करें जो ऊपर से छाया हुआ हो।[७]

'संवुडे'—पार्श्व में भित्ति आदि के संवृत उपाश्रय में।

१–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ४० :
प्राणग्रहणात् सर्वप्राणीनां ग्रहणम्।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र ६० :
ननु चाल्पप्राण इत्युक्ते अल्पबीज इति गतार्थं, बीजानामपि प्राणत्वाद्, उच्यते, मुखनासिकाभ्यां यो निर्गच्छति वायुः स एवेह-लोके रूढितः प्राणो गृह्यते। अयं च द्वीन्द्रियादीनामेव संभवति, न बीजाद्येकेन्द्रियाणामिति।

३–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ४० :
अप्पाणेत्ति वत्तव्वे बंधाणुलोमे अप्पपाणे।

४–बृहद् वृत्ति, पत्र ६० :
अल्पा—अविद्यमानाः प्राणाः—प्राणिनो यस्मिंस्तदल्पप्राणम्।

५–वही, पत्र ६० :
अल्पानि अविद्यमानानि बीजानि शाल्यादीनि यस्मिंस्तदल्पबीजं तस्मिन्, उपलक्षणत्वाच्चास्य सकलैकेन्द्रियविरहिते।

६–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ४० :
बीजग्रहणात् तद्भेदाः यदिवा बीजान्यपि वर्जयन्ति, किमुत हरितत्रसादयः ?

७–सुखबोधा, पत्र १२ :
प्रतिच्छन्ने—उपरिप्रावरणाऽन्विते, अन्यथा संपातिमसत्त्वसंपातसंभवात्।

चूर्णिकार ने 'संवुडे' को साधु का विशेषण मानकर इसका अर्थ संयत या सर्वेन्द्रिय गुप्त किया है।[1] शान्त्याचार्य और नेमिचन्द्र ने इसे स्थान का विशेषण माना है।[2] अनुवाद का आधार यह दूसरा अर्थ रहा है। शान्त्याचार्य ने वैकल्पिक रूप में 'संवुडे' को साधु का विशेषण भी माना है।[3]

मिलाइए दशवैकालिक ५।१।८३, टिप्पण संख्या २०३।

२७–(समयं ग······जयं अपरिसाडियं घ) :

'समयं'—इसका अर्थ है—साथ में। इस शब्द के द्वारा गच्छवासी साधुओं की सामाचारी का निर्देश हुआ है। जो मण्डली-भोजी साधु हैं उनका यह कर्त्तव्य है कि वे अपने सहधर्मी साधुओं को निमंत्रित कर उनके साथ भोजन करें, एकाकी न खाएँ। इस आशय का स्पष्ट उल्लेख दशवैकालिक ५।१।९५ में मिलता है।

दोनों टीकाकार प्रधानतः इसी अर्थ को मान्य करते हैं और दशवैकालिक ५।१ का ९५वाँ श्लोक उद्धृत करते हैं। शान्त्याचार्य ने विकल्प में इसका अर्थ—'सरस-विरस आहार आदि में अनासक्त होकर'—भी किया है।[4]

चूर्णि में बताया गया है कि अकेला भोजन करे वह समतापूर्वक करे और मण्डली-भोजन करने वाला साधर्मिकों को निमंत्रित कर भोजन करे।[5]

'जयं अपरिसाडियं'—यह पद दशवैकालिक ५।१।९६ में ज्यों-का-त्यों आया है।

श्लोक ३६

२८–श्लोक ३६ :

देखिए दशवैकालिक ७।४१ टिप्पण संख्या ६७।

१–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ४० :
संवुडो नाम सव्विंदियगुत्तो।

२–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र ६०, ६१ :
'संवृते' पार्श्वतः कटकुट्यादिना संकटद्वारे, अटव्यां कुडंगादिषु वा।

(ख) सुखबोधा, पत्र १२।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र ६१ :
संवृतो वा सकलाश्रवविरमणात्।

४–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र ६१ :
'समकम्' अन्यैः सह, न त्वेकाक्येव रसलम्पटतया समूहासहिष्णुतया वा, अत्राह च—

साहवो तो चियत्तेणं, निमंतेज्ज जहक्कमं।
जइ तत्थ केइ इच्छेज्जा, तेहिं सद्धिं तु भुंजए॥

त्ति, गच्छस्थितसामाचारी चेयं गच्छस्यैवं जिनकल्पिकादीनामपि मूलत्वख्यापनायोक्ता।

(ख) सुखबोधा, पत्र १२।

५–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ४० :
समतं नाम सम्यग् रागद्वेष वियुतः एकाकी भुंक्ते, यस्तु मंडलीए भुक्ते सोऽविसमगं संजएहिं भुंजेज्ज, सहान्यैः साधुभिरिति, अहवा समयं जहाररातिणिओ लंबणे गेण्हइऽण्णे वा, तथा अविकिलववनो गेण्हति।

श्लोक ४०

२९—आचार्य का उपघात करनेवाला न हो (बुद्धोवघाई न सिया ग) :

बुद्ध या आचार्य की उपघात के तीन प्रकार हैं—

१—ज्ञान-उपघात— यह आचार्य अल्प-श्रुत है या ज्ञान का गोपन करता है।

२—दर्शन-उपघात— यह आचार्य उन्मार्ग का प्ररूपण करता है या उसमें श्रद्धा करता है।

३—चारित्र-उपघात— यह आचार्य पार्श्वस्थ या कुशील है।

इस प्रकार जो व्यवहार करता है, वह आचार्य का उपघाती होता है।

इसका दूसरा अर्थ यह है— जो शिष्य आचार्य की वृत्ति का उपघात करता है, वह भी 'बुद्धोपघाती' कहलाता है। आचार्य को दीर्घजीवी देख शिष्य सोचते हैं—'हम लोग कब तक इनकी परिचर्या करते रहेंगे, कोई ऐसा प्रयत्न करें, जिससे ये अनशन कर लें।'[१] वे भिक्षा में पूर्ण नीरस आहार लाते हैं और कहते हैं—'भंते ! क्या करें ? श्रावक लोग अच्छा आहार देते ही नहीं।' उधर श्रावक लोग यह सोचकर कि आचार्य वृद्ध हैं, सौभाग्य से हमारे यहाँ स्थान-स्थित हैं, अतः हम स्वतः प्राप्त प्रणीत-भोजन उन्हें दें, भिक्षा के लिए आने वाले साधुओं को प्रणीत आहार देना चाहते हैं पर वे साधु उन्हें कहते हैं—'आचार्य प्रणीत-भोजन नहीं लेना चाहते। वे संलेखना कर रहे हैं—अनशन की तैयारी के लिए काया को कृश कर रहे हैं।' श्रावक आचार्य को कहते हैं—'भगवन् ! आप महान् उद्योतकारी आचार्य हैं इसलिए असमय में ही संलेखना क्यों करते हैं ? आप हमारे भारभूत नहीं हैं। हम शक्तिभर आपकी सेवा करना चाहते हैं। आपके विनीत साधु भी आपकी सेवा करना चाहते हैं। वे भी आपसे खिन्न नहीं हैं।' आचार्य इस सारी स्थिति को जानकर सोचते हैं—'इस अप्रतीतिहेतुक प्राण-धारण से क्या अर्थ है ? धर्मार्थी पुरुष को अप्रीति उत्पन्न करना उचित नहीं।' वे तत्काल श्रावकों से कहते हैं—'मैं नियत-विहारी होकर कितने दिन तक इन विनीत साधुओं को और आपको रोके रहूँगा। अच्छा है, अब मैं उत्तम-अर्थ का अनुसरण करूँ।' इस प्रकार श्रावकों को समझाकर आचार्य अनशन कर लेते हैं।

शिष्यों की ऐसी चेष्टा भी आचार्य की उपघात करने वाली कहलाती है। इसलिए विनीत शिष्य बुद्धोपघाती न हो—आचार्य को अनशन आदि के लिए बाध्य करने वाला न हो।[१]

३०—छिद्रान्वेषी (तोत्तगवेसए घ) :

जिसके द्वारा व्यथा उत्पन्न होती है उसे तोत्त— तोत्र कहा जाता है। द्रव्य तोत्र हैं—चाबुक, प्रहार आदि और भाव तोत्र हैं— दोषोद्भावन, तिरस्कारयुक्त वचन, छिद्रान्वेषण आदि-आदि।[२]

१—(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ४२ :

बुद्धो— आयरिओ, बुद्धानुपहन्तुं शीलं यस्य स भवति बुद्धोवघाती, उपेत्य घातः उपघातः, स तु त्रिविधः णाणादि, णाणे अप्पसुतो एस वेतं गोप्पवइ इओ दंसणे उम्मग्गं पण्णवेति सद्दहति वा, चरणे पासत्थो वा कुसीलो वा एवमादी, अहवा आयरियस्स वृत्तिमुपहंति, जहा एको आयरिओ अ (वया) थमन्ो (अगमओ), तस्स सीसा चिंतेंति—केचिरं कालं अम्हेहिं एयस्स वट्टियव्वंति ?, तो तहा काहामो जहा भत्तं पच्चक्खाति, ताहे अंतं एव (विरसं भत्तं) उवणेंति, भणंति य— ण देंति सड्ढा, किं करेमो ?, सावयाणं च कहेंति—जहा आयरिया पणीयं पाणभोयणं ण इच्छंति, संलेहणं करेंतित्ति, ततो सड्ढा आगंतुणं भणंति— किं खमासमणा ! संलेहणं करेह ?, ण अयं पडियारगा वा णिव्विण्णत्ति, ताहे ते आणिऊण तेहिं चेव वारितंति भणंति— किं मे सिस्सेहिं तुब्भेहिं वाऽवरोहिएहिं ?, उत्तमायरियं उत्तमट्ठं पडिवज्जामि, प०२ भत्तं पच्चक्खायंति, इत्येवं बुद्धोवघाती न सिया।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ६२, ६३।

२—(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ४२।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ६२।

श्लोक ४७

३१—कर्म-सम्पदा (दस-विध सामाचारी) से सम्पन्न (कम्म-संपया ख) :

प्राचीन काल में क्रिया की उप-सम्पदा के लिए साधुओं की विशेष नियुक्ति होती थी। वे साधुओं को दस-विध सामाचारी का प्रशिक्षण देते और उसकी पालना कराने का ध्यान रखते थे। चूर्णि में 'कर्म-सम्पदा' का अर्थ 'भोजन विभूति सम्पन्न' किया है।[1]

बृहद् वृत्ति में इसके दो अर्थ किए गए हैं—सामाचारी से सम्पन्न और भोजन विभूति से सम्पन्न।[2]

श्लोक ४८

३२—(मलपंकपुव्वयं,ग अप्परए घ) :

मलपंकपुव्वयं—मनुष्य शरीर का निर्माण मल और पंक (रक्त और वीर्य) से होता है, इसलिए उसे मल-पंक-पूर्वक कहा जाता है।[3]

अप्परए—जो 'अल्परत' होता है—मोह जनित क्रीडा से रहित होता है, उसे 'अल्परत' कहा जाता है। जिसके बध्यमान-कर्म अल्प होते हैं उसे 'अल्परजा' कहा जाता है। 'अप्परए' के ये दोनों अर्थ हो सकते हैं।[4]

१—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ४४ :
अक्खीणमहाणसीयादिलद्धिजुत्तो ।

२—बृहद् वृत्ति, पत्र ६६ :
कर्म—क्रिया दशविधचक्रवालसामाचारीप्रभृतिरितिकर्तव्यता तस्याः सम्पत्—सम्पन्नता तया, लक्षणे तृतीया, ततः कर्मसम्पदोपलक्षितस्तिष्ठतीति सम्बन्धः,……'कर्म-सम्पदा' यत्यनुष्ठानमाहात्म्यसमुत्पन्नपुलाकादिलब्धिसम्पत्त्या ।

३—वही, पत्र ६७ :
'मलपंकपुव्वयं' ति जीवशुद्ध्यपहारितया मलवन्मलः स चासौ 'पावे वज्जे वेरे पंके पणए य' त्ति वचनात् पङ्कश्च कर्ममलपङ्कः स पूर्वं—कार्यात् प्रथमभावितया कारणमस्येति मलपङ्कपूर्वकं, यद्वा—'माओयं पिउसुक्कं' ति वचनात् रक्तशुक्रे एव मलपङ्कौ तत्पूर्वकम् ।

४—वही, पत्र ६७ :
'अप्परए' त्ति अल्पमिति—अविद्यमानं रतमिति—क्रीडितं मोहनीयकर्मोदयजनितमस्येति अल्परतो—[illegible], अल्परजा वा प्रतनुबध्यमानकर्मा ।

अध्ययन २

श्लोक २

१–श्लोक २ :

परीषह प्रकरण में 'क्षुधा परीषह' को स्थान क्यों दिया गया ? चूर्णिकार ने इसका समाधान 'छुहासमा णत्थि शरीर-वेदना'—भूख के समान दूसरी शारीरिक वेदना नहीं है—कहकर किया है।[1]

नेमिचन्द्र यहाँ एक प्राचीन श्लोक उद्धृत करते हैं—

पंथसमा नत्थि जरा, दारिद्दसमो य परिभवो नत्थि।
मरणसमं नत्थि भयं, छुहासमा वेयणा नत्थि ॥[2]

पथ के समान कोई बुढ़ापा नहीं है, दरिद्रता के समान कोई पराभव नहीं है, मृत्यु के समान कोई भय नहीं है और क्षुधा के समान कोई वेदना नहीं है।

श्लोक ३

२–काक-जंघा (काली–पव्व क) :

इसका अर्थ है 'काक-जघा' नामक तृण। इसे हिन्दी में घुघची या गुंजा का वृक्ष कहा जाता है।

चूर्णिकार ने इसका अर्थ 'तृण विशेष' जिसको कई लोग 'काक-जंघा' कहते हैं, किया है।[3]

टीकाकार भी इसी अर्थ को मान्य करते हैं।[4] परन्तु आधुनिक विद्वान् डॉ० हरमन जेकोबी, डॉ० माडेसरा आदि ने 'काक-जंघा' का अर्थ कौए की जंघा किया है।[5]

बौद्ध-साहित्य में अल्प-आहार से होने वाली शारीरिक अवस्था के वर्णन में 'काल-पव्वानि' शब्द आया है।[6]

राहुलजी ने इसका अर्थ 'काल वृक्ष के पर्व' किया है।[7] यह अर्थ टीकाकारों के अर्थ से मिलता-जुलता है।

काल जंघा नामक तृण-वृक्ष के पर्व स्थूल और उसके मध्यदेश कृश होते हैं। उसी प्रकार जिस भिक्षु के घुटने, कोहनी आदि स्थूल और जंघा, ऊरु (साथल), बाहु आदि कृश होते हैं, उसे 'काली-पव्वंग-संकासे' (काली पर्व सकाशाङ्ग) कहा जाता है।[8]

१–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ५२।

२–सुखबोधा, पत्र १७।

३–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ५३ :
काली नाम तृणविसेसो, केइ काकजंघा भणंति, तीसे पासतो पव्वाणि तुल्लाणि तणूणि।

४–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र ८४।
(ख) सुखबोधा, पत्र १८।

५–(क) The Sacred Books of the East, Vol. XLV, page 10 : emaciated like the joint of a crow's (leg).
(ख) उत्तराध्ययन, पृ० १७।

६–मज्झिम निकाय, १२।६।१९।

७–वही, अनुवाद पृ० ५०।

८–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ५३ :
कालीतृणपर्वणः पर्वाभिरगानि संकाशानि यस्य स भवति कालीतृणपर्वांगसंकाशः, तानि हि कालीपर्वाणि संधिसु थूराणि मध्ये कृशानि, एवमसावपि भिक्षु छुहाए जाणुकोप्परसंधिसु थूरो भवति, जंघोरुकालाधिकबाहुसु कृशः।

३–धमनियों का ढाँचा (धमणि-संतए ख) :

इसका भावार्थ है—अत्यन्त कृश। जिसका शरीर केवल धमनियों का जाल-मात्र रह गया हो।[1]

बौद्ध-ग्रन्थों में भी 'किसं धमनिसन्थतं' ऐसा प्रयोग आया है। उसका अर्थ—दुबला-पतला और नसों से मढ़े शरीर वाला है।[2] इस प्रयोग से एक तर्क होता है कि एक ओर तो बौद्ध तपस्या का खण्डन करते हैं और दूसरी ओर 'किसं धमनिसन्थतं' को अच्छा बताते हुए उसे ब्राह्मण का लक्षण मानते हैं। इसका क्या कारण है ? इस प्रयोग को तथा मज्झिम निकाय (१२।६।१६।२०) के विवरण को देखने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि बौद्धों पर जैन-साहित्य और तपस्या-विधि का प्रभाव रहा है।

भागवत में भी—"एवं चीर्णेन तपस्या, मुनिधर्मनिसन्ततः"—ऐसा प्रयोग आया है।[3]

इससे यह प्रतीत होता है कि तीनों (जैन, बौद्ध और वैदिक) धार्मिक परम्पराओं में कुछ रेखाएँ समान रूप से खींची हुई हैं।

श्लोक ४

४–सचित्त पानी (सीओदगं ग) :

शीत का अर्थ है ठण्डा। शीत-उदक—यह स्वरूपस्थ (शस्त्र से अनुपहत या सजीव) जल का सूचक है।[4] डॉ० हरमन जेकोबी ने इसका अर्थ Cold Water 'ठण्डा पानी' किया है। यह शब्द का लाक्षणिक अर्थ है, जो भ्रामक भी है। ठण्डा पानी सचित्त भी हो सकता है और अचित्त भी। यहाँ सचित्त अर्थ अभिप्रेत है।

श्लोक ८

५–स्वेद, मैल या प्यास के दाह से (परिदाहेण ख) :

दाह दो प्रकार के होते हैं—बाह्य दाह और आन्तरिक दाह। स्वेद, मैल आदि द्वारा शरीर में जो दाह होता है वह बाह्य-दाह है और प्यास जनित दाह को आन्तरिक-दाह कहते हैं। यहाँ दोनों प्रकार के दाह अभिप्रेत हैं।[5] चूर्णिकार ने इस प्रसंग में एक सुन्दर श्लोक उद्धृत किया है :

उवरिं तावेइ रवी, रविकरपरितावित्ता वहइ भूमी।
सव्वाओ परिदाहो, दसमलपरिगतंगा तस्स॥[6]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ८४ :
धमनयः–शिरास्ताभिः सन्ततो–व्याप्तो धमनिसंततः।

२–धम्मपद, २६।१३ :
पंसुकूलधरं जन्तुं, किसं धमनिसन्थतं,
एकं वनस्मिं झायंतं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं।

३–भागवत, ११।१८।९।

४–बृहद् वृत्ति, पत्र ८६ :
शीतं–शीतलं, स्वरूपस्थतोयोपलक्षणमेतत्, ततः स्वकीयादिशस्त्रानुपहतम् अप्रासुकमित्यर्थः।

५–वही, पत्र ८९ :
परिदाहेन—बहिः स्वेदमलाभ्यां वह्निना वा, अन्तश्च तृष्णया अनितदाहस्वरूपेण।

६–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ५७।

श्लोक ११

६–संत्रस्त न हो (न संतसे क) :

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—हाथ, पैर आदि अवयवों को न हिलाए—किया है।[1]

शान्त्याचार्य ने इसके दो अर्थ किए हैं—

(१) दंशमशक आदि से संत्रस्त न हो।

(२) हाथ, पैर आदि अवयवों को न हिलाए।[2]

डॉ० हरमन जेकोबी और डॉ० सांडेसरा ने इसका अर्थ—प्राणियों को त्रसित न करना—किया है।[3]

इसमें परस्पर कोई विरोध नहीं है परन्तु परीषह का प्रकरण है इसलिए शान्त्याचार्य का प्रथम अर्थ अधिक उपयुक्त है।

श्लोक १३

७–श्लोक १३ :

इस श्लोक में आया हुआ 'एगया' शब्द मुनि की जिनकल्पिक और स्थविरकल्पिक अवस्थाओं तथा वस्त्राभाव आदि अवस्थाओं की ओर संकेत करता है।

चूर्णिकार के अनुसार—मुनि जिन-कल्प अवस्था में 'अचेलक' होता है। स्थविर-कल्प अवस्था में वह दिन में, ग्रीष्म ऋतु में या वर्षा ऋतु में बरसात न आने तक भी अचेलक रहता है। शिशिर-रात्र (पौष और माघ), वर्षा-रात्र (भाद्र और आश्विन), बरसात गिरते समय तथा प्रभात काल में भिक्षा के लिए जाते समय वह 'सचेलक' रहता है।[4]

इससे यह लगता है कि एक ही मुनि एक ही काल में अचेलक और सचेलक—दोनों अवस्थाओं में रहता है।

शान्त्याचार्य के अनुसार जिन-कल्प अवस्था में मुनि अचेलक होता है और स्थविर-कल्प अवस्था में भी जब वस्त्र दुर्लभ हो जाते हैं या सर्वथा मिलते ही नहीं अथवा वस्त्र होने पर भी वर्षा ऋतु के बिना उनको धारण न करने की परम्परा होने के कारण अथवा वस्त्रों के फट जाने पर—वह अचेलक हो जाता है।[5] नेमिचन्द्र का अभिमत भी संक्षेप में यही है।[6]

१–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ५९ :
न संत्रसति अंगानि कंपयति विक्षिपति वा।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र ९१ :
'न संत्रसेत्' नोद्विजेत्, दंशादिभ्य इति गम्यते, यद्वाऽनेकार्थत्वाद्धातूनां न कम्पयेत्तैस्तुद्यमानोऽपि, अङ्गानीति शेषः।

३–(क) The Sacred Books of the East vol. XLV, p. 11 : He should not scare away (insects)···
(ख) उत्तराध्ययन सूत्र, पृ० १९ : त्रास आपवो नहीं···।

४–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ६० :
एगता नाम जदा जिणकप्पं पडिवज्जति, अहवा दिवा अचेलगो भवति, ग्रीष्मे वा, वासासुवि वासे अपडिंते ण पाउणति, एवमेव एगता अचेलगो भवति, 'सचेले यावि एगता' तंजहा—सिसिररातीए वरिसारत्ते वासावासे पडंते भिक्खं हिंडंते।

५–बृहद् वृत्ति, पत्र ९२-९३ :
'एकदा' एकस्मिन् काले जिनकल्पप्रतिपत्तौ स्थविरकल्पेऽपि दुर्लभवस्त्रादौ वा सर्वथा चेलाभावेन, सति वा चेले विना वर्षादिनिमित्तमप्रावरणेन, जीर्णादिवस्त्रतया वा 'अचेलक' इति अवस्त्रोऽपि भवति।

६–सुखबोधा, पत्र २२ :
'एकदा' जिनकल्पिकाद्यवस्थायां सर्वथा चेलाभावेन जीर्णादिवस्त्रतया वा अचेलको भवति सचेलश्च 'एकदा' स्थविरकल्पिकाद्यवस्थायाम्।

हेमन्त के चले जाने और ग्रीष्म के आ जाने पर मुनि एकशाटक या अचेल हो जाए—यह आचारांग में बताया गया है।[1] रात को हिम, ओस आदि के जीवों की हिंसा से बचने के लिए तथा बरसात में जल के जीवों से बचने के लिए वस्त्र पहनने-ओढ़ने का भी विधान मिलता है।[2]

स्थानांग में कहा है—पाँच स्थानों से अचेलक प्रशस्त होता है—

(१) उसके प्रतिलेखना अल्प होती है।

(२) उसका लाघव (उपकरण तथा कषाय की अल्पता) प्रशस्त होता है।

(३) उसका रूप—वेष वैश्वासिक (विश्वास योग्य) होता है।

(४) तपोनुज्ञात—उसका तप (प्रतिसंलीनता नामक बाह्य तप का एक प्रकार—उपकरण-संलीनता) जिनानुमत होता है।

(५) उसके विपुल इन्द्रिय-निग्रह होता है।[3]

तीसरे स्थान में कहा है—तीन कारणों से निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियाँ वस्त्र धारण कर सकती हैं—

(१) लज्जा निवारण के लिए।

(२) जुगुप्सा—घृणा निवारण के लिए।

(३) परीषह निवारण के लिए।[4]

इसी अध्ययन के चौंतीस और पैंतीसवें श्लोक में जो वस्त्र निषेध फलित होता है, वह भी जिन-कल्पी या विशेष अभिग्रहधारी मुनि की अपेक्षा से है—यह प्रस्तुत श्लोक से समझा जा सकता है।

श्लोक १८

८—संयम के लिए (लाढे क) :

शान्त्याचार्य ने इसका अर्थ—'एषणीय-आहार' अथवा 'मुनि-गुणों के द्वारा जीवन यापन करने वाला'—किया है। उनके अनुसार यह श्लाघावाची देशी शब्द है।[5] चूर्णिकार ओर नेमिचन्द्र भी संक्षेप में यही अर्थ करते हैं।[6] यह विशेषण चर्या के प्रसंग में आया है और इसके अगले चरण में परीषहों को जीतने की बात कही है तथा इसे श्लाघावाची शब्द कहा है। इन सभी तथ्यों पर ध्यान देने से इसका मूल अर्थ 'लाढ' या 'राढ' देश लगता है। भगवान् महावीर ने वहाँ विहार किया था, तब वहाँ अनेक कष्ट सहे थे।[7] आगे चलकर वह शब्द कष्ट सहने वालों के लिए श्लाघा सूचक बन गया।

अ० १५ श्लो० २ में लाढ का अर्थ—सत् अनुष्ठान से प्रधान—किया है।[8]

१—आचारांग, १।८।४।५०-५२।

२—बृहद् वृत्ति, पत्र ९६ :

तह निसि चाउक्कालं सज्झायज्झाणसाहणमिसीणं।
हिममहियावासोसारयाइरक्खाणिमित्तं तु ॥

३—स्थानांग, ५।३।४५५।

४—वही, ३।३।१७१।

५—बृहद् वृत्ति, पत्र १०७ :

'लाढे' त्ति लाढयति प्रासुकैषणीयाहारेण साधुगुणैर्वाऽऽत्मानं यापयतीति लाढः, प्रशंसाभिधायि वा देशीपदमेतत्।

६—(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ६६ :

लाढे इति फासुएण उग्गमाविसुद्धेण लाढेति, साधुगुणेहिं वा लाढय इति।

(ख) सुखबोधा, पत्र ३१: लाढयति—आत्मानं प्रासुकैषणीयाहारेण यापयतीति लाढः।

७—आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ४८२ :

लाढेसु अ उवसग्गा, घोरा·········। ततो भगवान् लाढासु जनपदे गतः तत्र घोरा उपसर्गा अभवन्।

८—बृहद् वृत्ति, पत्र ४१४ : 'लाढे' त्ति सदनुष्ठानतया प्रधानः।

९–अकेला (राग-द्वेष रहित होकर) (एग एव क) :

शान्त्याचार्य ने इसके दो अर्थ किए हैं—राग-द्वेष विरहित अथवा एकाकी। द्वितीय अर्थ की पुष्टि के लिए वे इसी सूत्र के ३२ वें अध्ययन का पाँचवाँ श्लोक उद्धृत करते हैं।[1] नेमिचन्द्र ने केवल प्रथम अर्थ ही स्वीकार किया है।[2]

इसी अध्ययन के बीसवें श्लोक के दूसरे चरण में 'एगओ' शब्द आया है। शान्त्याचार्य ने उसके दो अर्थ किए हैं—

(१) एकग—प्रतिमा का आचरण करने के लिए अकेला जाने वाला।

(२) एक—अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति के अनुकूल प्रवृत्ति करने वाला।[3]

किन्तु उसका प्रकरणगत अर्थ एकक—अकेला युक्त है।

श्लोक १९

१०–असदृश (असाधारण) (असमाणो क) :

चूर्णिकार ने इसके तीन अर्थ किए हैं—

(१) असन् (असन्निहित)— जिसके पास कुछ भी नहीं है।

(२) गृहस्थ के असदृश— जो गृहस्थ के समान नहीं है।

(३) अतुल्यविहारी— जिसका विहार अन्य तीर्थिकों से भिन्न है।[4]

शान्त्याचार्य ने मान—अहंकार रहित—यह अर्थ चूर्णि से अधिक किया है।[5]

श्लोक २०

११–(सुसाणे क, रुक्ख-मूले ख) :

मुनि को किस प्रकार के स्थान में रहना चाहिए इसका विचार कई अध्ययनों में किया गया है। देखें—१५।४; १६।सू० ३ श्लो० १; ३२।१२, १३, १६; ३५।४-६। श्मशान, शून्य-गृह और वृक्ष-मूल ये सब एकान्त स्थान के उदाहरण मात्र हैं। श्मशान और वृक्ष-मूल में मुख्यतया विशिष्ट साधना करने वाले मुनि ही रहते हैं।[6]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र १०७ :

'एक एवे'ति रागद्वेषविरहितः 'चरेत्' अप्रतिबद्धविहारेण विहरेत्, सहायवैकल्यतो वैकस्तथाविध गीतार्थो, यथोक्तम्—

ण या लभिज्जा णिउणं सहायं, गुणाहियं वा गुणतो समं वा।
एक्कोऽवि पावाइं विवज्जयंतो, विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो॥

२–सुखबोधा, पत्र ३१।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र १०९ :

'एकः' उक्तरूपः स एवैककः, एको वा प्रतिमाप्रतिपत्त्यादौ गच्छतीत्येकगः, एकं वा कर्म्मसाहित्यविगमतो मोक्षं गच्छति—तत्प्राप्तियोग्यानुष्ठानप्रवृत्तेर्यातीत्येकगः।

४–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ६७ :

असमान इति असमावि(नि)कः, असंनिहित इत्यर्थः……अहवा असमाण इति नो गृहितुल्यितः……अथवा असमानः अतुल्यविहारः अन्यतीर्थिकैः।

५–बृहद् वृत्ति, पत्र १०७ :

न विद्यते समानोऽस्य गृहिण्याश्रयामूर्च्छितत्वेन अन्यतीर्थिकेषु वाऽनियतविहाराविनेत्यसमानः—असदृशो, यद्वा समानः—साहङ्कारो न तथेत्यसमानः, अथवा '(अ)समाणो' त्ति प्राकृतत्वादसन्निवासन्, यत्रास्ते तत्राप्यसंनिहित एवेति हृदयम्।

६–दशवैकालिक, १०।१२।

'सुसाणे'—कई बौद्ध-भिक्षु भी श्मशान में रहने का व्रत लेकर चलते थे। उनका यह व्रत 'श्मशानिकांग' कहलाता है। यही ग्यारहवाँ 'धुतांग' है।[1]

'रुक्ख-मूले'—कई बौद्ध-भिक्षु वृक्षों के नीचे भी रहते थे। वे छाए हुए घरों में नहीं रहते थे। उनका यह व्रत 'वृक्षमूलिकांग' कहलाता है। यही नौवाँ 'धुतांग' है।[2]

श्लोक २४

१२–प्रति क्रोध (पडिसंजले [ख]) :

इसका अर्थ है—गाली सुन पुनः गाली देने की भावना रखना। 'संजले' का प्रयोग २६ वें श्लोक में भी आया है। वहाँ चूर्णिकार ने संज्वलन का अर्थ रोषोद्गम या मानोदय किया है। उसका लक्षण बताते हुए एक श्लोक उद्धृत किया है[3]—

कंपति रोषावह्निः संधुक्षितवच्च दीप्यतेऽनेन।
तं प्रत्याक्रोशत्याहंति च मन्येत येन स मतः॥

अर्थात् जो क्रोध से काँप उठता है, अग्नि की भाँति जल उठता है, आक्रोश के प्रति आक्रोश और हनन के प्रति हनन करता है, वह संज्वलन का फल है।

१३–(सरिसो होइ बालाणं [ग]) :

इस चरण का तात्पर्य यह है कि जो मुनि गाली का उत्तर गाली से देता है वह उस अज्ञानी के समान ही हो जाता है। यहाँ एक बड़ा सुन्दर उदाहरण है—

"एक क्षपक मुनि था। देवता उसकी सेवा करता था। क्षपक जो कुछ कहता, देवता उसका पालन करता था। एक बार मुनि का एक नीच जाति वाले व्यक्ति से झगड़ा हो गया। वह हृष्ट-पुष्ट था। उसने मुनि को पछाड़ दिया। रात को देव वन्दना करने आया। मुनि मौन रहे। देव बोला—"क्या कोई मेरा अपराध हुआ है?" मुनि ने कहा—"तू ने उस दुष्ट आदमी को डाँटा तक नहीं।" देव बोला—"गुरुदेव! मैं वहाँ आया तो था पर पहचान नहीं सका कौन था दुष्ट आदमी और कौन था श्रमण? वे दोनों एक जैसे ही थे।"

श्लोक २५

१४–ग्राम-कंटक (प्रतिकूल) (गाम-कण्टगा [ख]) :

यहाँ ग्राम शब्द इन्द्रिय-ग्राम (इन्द्रिय-समूह) के अर्थ में प्रयुक्त है। प्रकरण में ग्राम-कंटक का अर्थ है – कानों में काँटों की भाँति चुभने वाली।[4] मूलाराधना में 'गामवचीकंटगेहिं' है। उसका अर्थ है—ग्राम्य-लोगों के वचन रूपी काँटों से।[5] प्रस्तुत श्लोक में 'गाम-कण्टए' का प्रयोग है। यहाँ मध्यपद 'वची' का लोप मान लेने पर उसका अनुवाद ग्राम्य लोगों की काँटों के समान चुभने वाली भाषा—किया जा सकता है।

१–विशुद्धिमार्ग, पृ० ६०।

२–वही, पृ० ६०।

३–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ७२।

४–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ७० :

ग्रसत इति ग्रामः—इन्द्रिय-ग्रामः तस्य इन्द्रिय-ग्रामस्य कंटगा, जहा पंथे गच्छंताणं कंटगा विग्घाय, तहा सद्दादयोवि इन्द्रिय ग्रामकंटया मोक्खिणां विग्घायेति।

(ख) देखो—दशवैकालिक १०।११ का टिप्पण, संख्या ३९।

५–मूलाराधना, आश्वास ४, श्लोक ३०१, मूलाराधना दर्पण वृत्ति, पत्र ५१५ :

दुस्सहपरीसहेहिं य, गामवचीकंटएहिं तिक्खेहिं।
अभिभूदा वि हु संता, मा धम्मधुरं पमुच्चेह॥३०१॥

गामवचीकंटगेहिं ग्राम्याणामविविक्तजनानां वचनानि एव कंटकास्तैराक्रोशवचनैरित्यर्थः।

श्लोक २६

१५–मुनि-धर्म (भिक्खु-धम्मं [घ]) :

मुनि-धर्म[1] स्थानांग (१०।७१२) तथा समवायांग (समवाय १०) के अनुसार दस प्रकार का होता है—

(१) क्षान्ति,
(२) मुक्ति—निर्लोभता, अनासक्ति,
(३) मार्दव,
(४) आर्जव,
(५) लाघव,
(६) सत्य,
(७) संयम,
(८) तप,
(९) त्याग— अपने साम्भोगिक साधुओं को भक्त आदि का दान देना, और
(१०) ब्रह्मचर्य।

श्लोक २७

१६–श्रमण को (समणं [क]) :

चूर्णिकार ने इसका अर्थ 'समान मन वाला' किया है।[2] शान्त्याचार्य ने इस अर्थ के साथ-साथ श्रमण भी किया है।[3] नेमिचन्द्र ने तपस्वी किया है।[4] संस्कृत में इस शब्द के दो रूप हो सकते हैं—श्रमणम् और समणम्। विस्तार के लिए देखें—दसवेआलियं (भाग २), १।३, टिप्पण संख्या १४।

१७–"आत्मा का नाश नहीं होता" (नत्थि जीवस्स नासु त्ति [ग]) :

पीटे जाने पर मुनि यह सोचे कि जीव—आत्मा—का नाश नहीं होता। इस चिन्तन का पूर्व पक्ष है कि यदि कोई दुर्जन व्यक्ति मुनि को गाली दे तो मुनि यह सोचे कि—चलो गाली ही देता है, पीटता तो नहीं। पीटने पर सोचे—चलो पीटता ही है, मारता तो नहीं। मारने पर सोचे—चलो मारता ही है, धर्म से भ्रष्ट तो नहीं करता—आत्म-धर्म का हनन तो नहीं करता, क्योंकि आत्मा अमर है, अमूर्त है।

इस प्रेक्षा से मुनि अगले बड़े उपताप को सामने रखकर जो छोटा उपताप प्राप्त होता है, उसे लाभ मानता है और इस प्रकार वह मनोवैज्ञानिक विजय प्राप्त कर लेता है।[5]

श्लोक २९

१८–हाथ पसारना सरल नहीं है (पाणी नो सुप्पसारए [ख]) :

याचना के लिए दूसरों के आगे हाथ पसारना—'मुझे दे'—यह कहना सरल नहीं है। जैसे—

धणवइसमोऽवि दो अक्खराइं लज्जं भयं च मोत्तूणं।
देहित्ति जाव ण भणति पडइ मुहे नो परिमवस्स॥[6]

१-सुखबोधा, पत्र ३५ :
'भिक्षुधर्मं-यतिधर्म्मं, यद्वा 'भिक्षुधर्म्मं' क्षान्त्यादिकं वस्तुस्वरूपम्।
२—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ७२ :
समो सव्वत्थ मणो जस्स भवति स समणो।
३-बृहद् वृत्ति, पत्र ११४ :
'समणं'—श्रमणं सममनसं वा—तथाविधवधेऽपि धर्मं प्रति प्रहितचेतसम्।
४-सुखबोधा, पत्र ३६ : 'श्रमणं' तपस्विनम्।
५—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ७२ :
अक्कोसहणणमारणधम्मब्भंसाण बालसुलभाणं।
लाभं मन्नति धीरो जहुत्तराणं अभावंमि॥
६-वही, पृ० ७४।

अर्थात् कुबेर के समान धनवान् व्यक्ति भी जब तक लज्जा और भय को छोड़कर 'देहि' (दो) यह नहीं कहता तब तक उसका कोई तिरस्कार नहीं करता—अर्थात् धनवान् व्यक्ति 'मुझे दो' ऐसा कह दूसरों के आगे हाथ पसारता है तब वह भी तिरस्कार का भागी बन जाता है।

याचना करना मृत्यु के तुल्य है। नीतिकार ने कहा है—

गात्रभंगः स्वरे दैन्यं, प्रस्वेदो वेपथुस्तथा।
मरणे यानि चिन्हानि, तानि चिन्हानि याचने॥

अर्थात् मृत्यु के समय जो लक्षण प्रकट होते हैं—शरीर के अवयवों का ढीला पड़ जाना, वाणी में दीनता, पसीना तथा कंपन आदि—वे सभी याचना के समय भी प्रकट होते हैं।

श्लोक ३३

१९–चिकित्सा न करे, न कराए (जं न कुज्जा न कारवे घ) :

सहज ही प्रश्न होता है—क्या यह विधान समस्त साधुओं के लिए है ? इसके समाधान में कहा है—'चिकित्सा न करे, न कराए'—यह उपदेश जिन-कल्पिक मुनियों के लिए है। स्थविर-कल्पी मुनि सावद्य चिकित्सा न करे, न कराए।[1]

चूर्णिकार ने जिन-कल्पी और स्थविर-कल्पी का उल्लेख नहीं किया है। उन्होंने सामान्यतः बताया है कि मुनि न तो स्वयं चिकित्सा करे और न वैद्यों के द्वारा कराए। श्रामण्य का पालन नीरोग अवस्था में किया जा सकता है, यह बात अवश्य ही महत्वपूर्ण है, किन्तु इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि मुनि रोगी होने पर भी सावद्य क्रिया का सेवन नहीं करता। यही उसका श्रामण्य है।[2] विशेष जानकारी के लिए देखें—दसवेआलियं (भाग २), ३।४ टिप्पण संख्या २६।

श्लोक ३६

२०–(अणुक्कसाई अप्पिच्छे क, अन्नाएसी ख) :

'अणुक्कसाई'—चूर्णिकार ने इसका अर्थ 'अल्प कषाय वाला' किया है।[3] शान्त्याचार्य ने इसका मुख्य अर्थ 'अनुत्कशायी-सत्कार आदि के लिए उत्कण्ठित न रहने वाला' किया है और वैकल्पिक अर्थ—'अणु-कषायी-सत्कार आदि न करने वालों पर क्रोध नहीं करने वाला तथा सत्कार होने पर अभिमान नहीं करने वाला' किया है।[4] नेमिचन्द्र भी इसी का अनुसरण करते हैं।[5]

१-बृहद् वृत्ति, पत्र १२० :
जिनकल्पिकाद्यपेक्षं चैतत्, स्थविरकल्पापेक्षया तु 'जं न कुज्जा' इत्यादौ सावद्यमिति गम्यते, अयमत्र भावः—यस्मात्करणादिभिः सावद्यपरिहार एव श्रामण्यं, सावद्या च प्रायश्चिकित्सा, ततस्तां नाभिनन्देद्।

२-उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ७७ :
यदुत्पन्नेषु तत्प्रतिकारायोद्यमं न कुरुते, तंत्रमंत्रयोगलेपादिभिः स्वयं करणं, न स्नेहविरेचनादिना स्वयं करोति, कारापणं तु वैद्यादिभिः, शक्यं हि नीरोगेण श्रामण्यं कर्त्तुं, यस्तु रोगवानपि न सावद्यक्रियामारभते तं प्रतीत्योच्यते—एयं खु तस्स सामन्नं।

३-वही, पृ० ८१ :
'अणुकसायो' अणुशब्दः स्तोकार्थः, अतो नेरयतु, कषयंतीति कषायाः क्रोधाद्याः।

४-बृहद् वृत्ति, पत्र १२४ :
उत्कण्ठितः सत्कारादिषु शेत इत्येवं शील उत्कशायी न तथा अनुत्कशायी, यद्वा प्राकृतत्वादणुकषायो 'सर्वधनादित्वादि'नि, कोऽर्थः ?—न सत्कारादिकमकुर्वते कुप्यति, तत्सम्पत्तौ वा नाहङ्कारवान् भवति।

५-सुखबोधा, पत्र ४९।

१५।१६ की टीका में शान्त्याचार्य ने इसके दो संस्कृत रूप दिए हैं। वहाँ 'अनुत्कशायी' के स्थान पर 'अनुत्कषायी' माना है। (१) अणुकषायी—अल्प कषाय वाला। (२) अनुत्कषायी—जिसके कषाय प्रबल न हों।[1]

'अप्पिच्छे'—अल्पेच्छ—अल्प इच्छा वाला। जो मुनि धर्मोपकरण के अतिरिक्त कुछ भी पाने की अभिलाषा नहीं करता, सत्कार-पूजा आदि की वाञ्छा नहीं करता, वह 'अल्पेच्छ' कहलाता है।[2] शान्त्याचार्य ने इसके दो अर्थ किए हैं—(१) थोड़ी इच्छा वाला (२) इच्छा रहित—निरीह।[3]

'अन्नाएसी'—जो अज्ञात रहकर—तप, जाति आदि का परिचय दिए बिना आहार की एषणा करता है, उसे 'अज्ञातैषी' कहा जाता है। अपरिचित कुलों से एषणा करने वाला भी 'अज्ञातैषी' कहलाता है।[4] मनुस्मृति में भी भोजन के लिए कुल-गोत्र का परिचय देने वाले ब्राह्मण को 'वान्ताशी' कहा है।[5]

श्लोक ४३

२१-(उवहाणं, [क] पडिमं [ख]):

उवहाणं—आगम-पठन के समय निश्चित विधि के अनुसार जो तप किया जाता है उसका नाम उपधान है।[6]

आगमों के अध्ययन-काल में आचाम्ल (आयंबिल) आदि तपस्या करने की परम्परा रही है।[7] प्रत्येक आगम के लिए तपस्या के दिन निश्चित किए हुए हैं। विशेष जानकारी के लिए देखें—आचार दिनकर, विभाग १ ; योगोद्वहनविधि, पत्र ८६-११०।

११।१४ में उपधान करने वाले के लिए 'उवहाणवं' (उपधानवान्) का प्रयोग मिलता है।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ४२० :
अणवः—स्वल्पाः सञ्ज्वलननामान इति यावत कषायाः—क्रोधादयो यस्येति 'सर्वधनादित्वादि'नि प्रत्ययेऽणुकषायी, प्राकृतत्वात्सूत्रे ककारस्य द्वित्वं, यद्वा उत्कषायी—प्रबलकषायी न तथाऽनुत्कषायी।

२–सुखबोधा, पत्र ४९ :
'अल्पेच्छः' धर्मोपकरणप्राप्तिमात्राभिलाषी, न सत्काराद्याकांक्षी।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र १२५।

४–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ८१ :
'अज्ञातैषी' न ज्ञापयत्यहमेवंभूतः पूर्वमासीत्, न वा क्षपको बहुश्रुतो वेति।

(ख) वही, पृ० २३५ :
अज्ञातमज्ञातेन एषते—भिक्षते असौ अज्ञातैषी, निश्राविरहित इत्यर्थः।

(ग) बृहद् वृत्ति, पत्र ४१४ :
अज्ञातः—तपस्वितादिभिर्गुणैरनवगतः एषयते—ग्रासादिकं गवेषयतीत्येवंशीलोऽज्ञातैषी।

५–मनुस्मृति, ३।१०९ :
न भोजनार्थं स्वे विप्रः कुलगोत्रे निवेदयेत।
भोजनार्थं हि ते शंसन्वान्ताशीत्युच्यते बुधैः॥

६–बृहद् वृत्ति, पत्र १२८ :
उपधानम्—आगमोपचाररूपमाचाम्लादि।

७–वही, पत्र ३४७ :
उपधानम्—अङ्गानङ्गाध्ययनादौ यथायोगमाचाम्लादितपोविशेषः।

पडिमं—प्रतिमा का अर्थ कायोत्सर्ग है।[1] चूर्णि और बृहद् वृत्ति में इसका अर्थ मासिकी आदि भिक्षु-प्रतिमा किया है।[2]

किन्तु यह सांकेतिक है। वस्तुतः प्रतिमा शब्द स्थान-मुद्रा का सूचक है। बैठी या खड़ी प्रतिमा की तरह स्थिरता से बैठने या खड़े रहने को प्रतिमा कहा गया है। प्रतिमाओं में उपवास आदि की अपेक्षा कायोत्सर्ग व आसनों की प्रधानता होती है। इसलिए उनका नाम उपवास प्रधान न होकर कायोत्सर्ग प्रधान है। वे बारह हैं। विशेष जानकारी के लिए देखें—दशाश्रुतस्कन्ध, दशा ७।

श्लोक ४४

२२–ऋद्धि (इड्ढी ख) :

यहाँ ऋद्धि का अर्थ है—तपस्या आदि से उत्पन्न होने वाली विशेष शक्ति-योगज विभूति।[3] पातञ्जलयोग दर्शन के विभूति-पाद में जैसे योगज विभूतियों का वर्णन है वैसे ही जैन-आगमों में तपोजनित ऋद्धियों का वर्णन मिलता है।[4] शान्त्याचार्य ने इस प्रसंग पर दो श्लोक उद्धृत किए हैं—

पावरजसा प्रशमनं सर्वरुजां साधवः क्षणात्कुर्युः।
त्रिभुवनविस्मयजननान् दद्युः कामांस्तृणाग्राद्वा॥
धर्मोद्गल्लोन्मिश्रितकाञ्चनवर्षाविसर्गसामर्थ्यम्।
अद्भुतमीमोरुशिलासहस्रसम्पातशक्तिश्च॥[5]

१–मूलाराधना दर्पण, ८।२०७१ :
पडिमा कायोत्सर्गः।
२–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ८५ :
पडिमा नाम मासिकाविता।
(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र १२८।
३–बृहद् वृत्ति, पत्र १३१ :
'ऋद्धिर्वा' तपोमाहात्म्यरूपा ········सा च आमर्शौषध्यादिः।
४–औपपातिक, सूत्र १५।
५–बृहद् वृत्ति, पत्र १३१।

अध्ययन ३

श्लोक ४

१–(खत्तिओ [क], चण्डाल-बोक्कसो [ख]) :

इस श्लोक में आए हुए तीन शब्द—क्षत्रिय, चाण्डाल और बुक्कस— संग्राहक हैं। क्षत्रिय शब्द से वैश्य, ब्राह्मण आदि उत्तम जातियों, चाण्डाल शब्द से निषाद, श्वपच आदि नीच जातियों और बुक्कस शब्द से सूत, वैदेह, आयोगव आदि संकीर्ण जातियों का ग्रहण किया गया है।[1]

'खत्तिओ'—जैन और बौद्ध परम्परा में क्षत्रिय का स्थान सर्वोच्च रहा है। कल्प-सूत्र में ब्राह्मणों की गिनती भिक्षुक या तुच्छ-कुल में की है। तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि शलाका-पुरुष ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न नहीं होते। दीघनिकाय[2] और निदान[3] कथा के अनुसार क्षत्रियों का स्थान ब्राह्मणों से ऊँचा है।

'चण्डाल'—इसके दो अर्थ किए गए हैं—(१) मातंग और (२) शूद्र से ब्राह्मण स्त्री में उत्पन्न व्यक्ति।[4] उत्तरवर्ती वैदिक-साहित्य के अनुसार चण्डाल अनार्य वर्ग की एक जाति है। वह ऋग्वेद के समय के पश्चात् आर्यों को गंगा के पूरब में मिली थी।[5]

मनुस्मृति (१०।५१, ५२) में चण्डाल के कर्त्तव्यों का विवरण प्रस्तुत करते हुए कहा है—

चण्डालश्वपचानां तु बहिर्ग्रामात्प्रतिश्रयः ।
अपपात्राश्च कर्त्तव्या धनमेषां श्वगर्दभम् ॥
वासांसि मृतचेलानि भिन्नभाण्डेषु भोजनम् ।
कार्ष्णायसमलंकारः परिव्रज्या च नित्यशः ॥

'बोक्कसो'—इसके संस्कृत रूप चार मिलते हैं—बुक्कस, पुष्कस, पुक्कस और पुल्कस।

बुक्कस—श्मशान पर कार्य करने वाले बुक्कस कहलाते हैं।[6]

पुष्कस—जो मरे हुए कुत्तों को उठाकर बाहर फेंकते हैं, उन्हें पुष्कस कहा जाता है।[7]

पुक्कस—चाण्डाल और पुक्कस—पर्यायवाची ही माने गए हैं।[8]

पुल्कस—भंगी।[9]

१–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ९६।
(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र १८२, १८३ :
इह च क्षत्रियग्रहणादुत्तमजातयः चण्डालग्रहणान्नीचजातयो बुक्कसग्रहणाच्च संकीर्णजातय उपलक्षिताः।
(ग) मनुस्मृति, १०।२५, २६, ४८।
२–दीघनिकाय, ३।१।२४, २६।
३–निदान कथा, १।४९।
४–सुखबोधा, पत्र ६७ :
'चाण्डालः' मातङ्गः यदि वा शूद्रेण ब्राह्मण्या जातश्चाण्डालः।
५–हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता, पृ० ३४।
६–अभिधान चिन्तामणि, ३।५९७।
७–वही, ३।५९७।
८–वही, श्लो० ८२ :
समौ चाण्डालपुक्कसौ।
९–महाभारत, शान्तिपर्व १८०।३८।

मनुस्मृति में विभिन्न वर्णों के कार्यों का विवरण दिया गया है। उसके अनुसार 'पुक्कस' का कार्य बिलों में रहने वाले गोह आदि को मारना या बाँधना है।[1] अभिधानप्पदीपिका में 'पुक्कस' का अर्थ फूल तोड़ने वाला किया गया है।[2]

चूर्णिकार और टीकाकार इसका अर्थ 'वर्णान्तरजन्मा' करते हैं। जैसे—ब्राह्मण से शूद्र स्त्री में उत्पन्न प्राणी निषाद, ब्राह्मण से वैश्य स्त्री में उत्पन्न प्राणी अम्बष्ठ और निषाद से अम्बष्ठ स्त्री में उत्पन्न प्राणी बोक्कस कहलाता है।[3] कौटिल्य अर्थशास्त्र और मनुस्मृति में इससे भिन्न मत का उल्लेख है। मनुस्मृति में बताया गया है कि ब्राह्मण से वैश्य कन्या में उत्पन्न अम्बष्ठ और ब्राह्मण से शूद्र कन्या में उत्पन्न निषाद कहलाता है। इसको पारशव भी कहते हैं।[4] कौटिल्य अर्थशास्त्र (पृष्ठ १६५, १६६) में 'पुक्कस' का अर्थ निषाद से उग्री में उत्पन्न पुत्र और मनुस्मृति में निषाद से शूद्रा में उत्पन्न पुत्र किया गया है।[5] महाभारत[6] में चाण्डाल और पुल्कस का एक साथ प्रयोग मिलता है। 'पुल्कस' का प्राकृत रूप 'बुक्कस' हो सकता है। पुल्कस और चाण्डाल अर्थात् भंगी और चाण्डाल।

श्लोक ५

२–(आवट्ट-जोणीसु क, कम्म-किब्बिसा ख, सव्वट्ठेसु व खत्तिया घ) :

'आवट्ट-जोणीसु'—आवर्त्त योनि—योनिचक्र। जीवों के उत्पत्ति स्थान को 'योनि' कहते हैं। वे ८४ लाख है। अनादिकाल से जीव इन योनियों में जन्म-मरण करता रहा है। जन्म-मरण का यह आवर्त्त है।[7]

'कम्म-किब्बिसा'—कर्मों से मलिन अथवा जिनके कर्म मलिन हों, वे कर्म-किल्विष कहलाते हैं। कर्म दो प्रकार के होते हैं—शुभानुबन्धी और अशुभानुबन्धी। जिनके अशुभानुबन्धी कर्म होते हैं वे 'कर्म किल्विष' होते हैं।[8]

१–मनुस्मृति, १०।४९ :
क्षत्त्रुग्रपुक्कसानां तु बिलौकोवधबन्धनम्।

२–अभिधानप्पदीपिका, पृ० ५०८ :
पुक्कसो पुप्फछड्डको।

३–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ९६ :
बुक्कसो वर्णान्तरभेदः, यथा बंभणेण सुद्दीए जातो णिसादोत्ति वुच्चति, बंभणेण वेसीते जातो अंबट्ठेत्ति वुच्चति, तत्थ निसाएणं अंबट्ठीए जातो सो बोक्कसो भवति।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र १८२।

(ग) सुखबोधा, पत्र ६७।

४–मनुस्मृति, १०।८ :
ब्राह्मणाद् वैश्य कन्यायामम्बष्ठो नाम जायते।
निषादः शूद्रकन्यायां, यः पारशव उच्यते॥

५–वही, १०।१८ :
जातो निषादाच्छूद्रायां जात्या भवति पुक्कसः।

६–महाभारत, शान्तिपर्व, १८०।३८ :
न पुल्कसो न चाण्डाल, आत्मानं त्यक्तुमिच्छति।
तया तुष्टः स्वया योन्या, मायां पश्यस्व यादृशीम्॥

७–सुखबोधा, पत्र ६८ :
आवर्त्तः—परिवर्त्तः तत्प्रधाना योनयः—चतुरशीतिलक्षप्रमाणानि जीवोत्पत्तिस्थानानि आवर्त्तयोनयस्तासु।

८–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ९७ :
'कम्मकिब्बिसा' इति कम्मेहिं किब्बिसा कम्मकिब्बिसा, कर्माणि तेषां किब्बिसाणि कर्मकिब्बिसा।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र १८३ :
कर्म्मणा—उत्कृष्टेन किल्बिषाः—अधमाः कर्म्मकिल्बिषाः, प्राकृतत्वाद्वा पूर्वापरनिपातः, किल्विषाणि—क्लिष्टतया निकृष्टान्यशुभानुबन्धीनि कर्म्माणि येषां ते किल्बिषकर्म्माणः।

'सव्वट्ठेसु व खत्तिया'—जिस प्रकार राजा आदि सर्वार्थ-मानवीय काम-भोगों को भोगते हुए उन्हीं में आसक्त हो जाते हैं, उसी प्रकार संसार में पुनः-पुनः जन्म-मरण करते हुए भवाभिनन्दी व्यक्ति उसी में (संसार में) आसक्त हो जाते हैं।

श्लोक ८

३–(तवं खन्तिमहिंसयं घ) :

इस चरण में 'तप' के द्वारा तपस्या के बारह भेदों का, 'खंति' के द्वारा दस-विध श्रमण-धर्म और 'अहिंसा' के द्वारा पाँच महाव्रतों का ग्रहण किया गया है, ऐसा सभी व्याख्याकारों का मत है।[1]

श्लोक ६

४–(नेआउयं ग, बहवे परिभस्सई घ) :

'नेआउयं'—चूर्णिकार ने इसका अर्थ ले जाने वाला किया है।[2] टीका में इसका अर्थ न्यायोपपन्न किया गया है।[3] डॉ० ल्यूमेन ने औपपातिक सूत्र में तथा डॉ० पिशल, डॉ० हर्मन जेकोबी आदि ने इसका अर्थ न्यायोपपन्न किया है।[4]

बौद्ध-साहित्य में नैर्याणिक का अर्थ दुःखक्षय की ओर ले जाने वाला, पार ले जाने वाला किया गया है।[5] चूर्णिकार के अर्थ का इससे निकट का सम्बन्ध है।

इस अर्थ के आधार पर 'नेआउय' का संस्कृत रूप नैर्यातृक होना चाहिए।

नैर्यातृक के प्राकृत रूप 'नेआइय' और 'नेआउय' दोनों बन सकते हैं। सूत्रकृतांग चूर्णि में ये दोनों प्रयुक्त हुए हैं। वहाँ इनका अर्थ मोक्ष की ओर ले जाने वाला किया गया है।[6]

'बहवे परिभस्सई'—इस पद में चूर्णिकार और शान्त्याचार्य ने जमाली आदि निह्नवों का उल्लेख किया है।[7] ये सभी निह्नव कुछ एक शंकाओं को लेकर नैर्यातृक-मार्ग—निर्ग्रन्थ प्रवचन से भ्रष्ट हो गए थे—दूर हो गए थे।

नेमिचन्द्र ने सातों निह्नवों का विवरण उद्धृत किया है।[8] वह आवश्यक निर्युक्ति में भी उपलब्ध है।[9] डॉ० ल्यूमेन ने *Indischen*

१–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ९८।
(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र १८४।

२–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ९८, १९२ :
नयनशीलो नैयायिकः।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र १८५ :
नैयायिकः, न्यायोपपन्न इत्यर्थः।

४–देखें—उत्तराध्ययन चार्ल सरपेन्टियर, पृ० १९२।

५–बुद्धचर्या, पृ० ४६७, ४८९।

६–(क) सूत्रकृतांग चूर्णि, पृ० ४५७ :
नयनशीलो नेयाइओ मोक्षं नयतीत्यर्थः।
(ख) वही, पृ० ४५५ :
मोक्खं णयणशीलो णेयाउओ।

७–(क) उत्तराध्ययन, चूर्णि, पृ० ९८।
(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र १८५।

८–सुखबोधा, पत्र ६९-७५।

९–आवश्यक निर्युक्ति, मलयगिरि वृत्ति, पत्र ४०१।

Studien, vol. XXII, pp. 91-135 में निह्नवों का विवरण सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है। डॉ० हरमन जेकोबी ने अपने अन्वेषणात्मक निबन्ध—'श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति'—में भी इस विवरण का उपयोग किया है।

श्लोक १२

५—(निव्वाणं ग, घय-सित्त घ) :

'निव्वाणं'—चूर्णि में इसका अर्थ मुक्ति है।[१] शान्त्याचार्य ने इसके दो अर्थ किए हैं—(१) स्वास्थ्य और (२) जीवन्मुक्ति। स्वास्थ्य का अर्थ है अपने आपमें अवस्थिति, आत्म-रमण। जिस व्यक्ति का जीवन धर्मानुगत होता है उसमें आत्म-रमण की स्थिति सहज हो जाती है। यही सही अर्थ में स्वास्थ्य है। आत्म-रमण की अवस्था सहजानन्द की अवस्था है। उसमें सुख निरन्तर बढ़ता रहता है। आगम के अनुसार एक मास की पर्याय वाला श्रमण व्यन्तरदेवों की तेजोलेश्या का अतिक्रमण कर जाता है। स्वस्थ श्रमण चक्रवर्ती के सुखों को भी लाँघ जाता है। यह परम-सुख की अनुभूति आत्म-सापेक्ष होती है यही स्वास्थ्य या निर्वाण है।[२] जीवन्मुक्ति का अर्थ है इसी जीवन में मुक्ति।[३]

शान्त्याचार्य ने यहाँ 'प्रशमरति' का एक श्लोक उद्धृत किया है—

निर्जितमदमदनानां, वाक्कायमनोविकाररहितानाम्।
विनिवृत्तपराशानामिहैवमोक्षः सुविहितानाम्॥२३८॥

नेमिचन्द्र ने इस शब्द का अर्थ जीवन्मुक्ति किया है और मुनि-सुख की अर्घ्यता को लक्ष्यकर एक दूसरा श्लोक भी उद्धृत किया है[४]—

तणसंथारनिवन्नो वि, मुणिवरो भट्ठरायमयमोहो।
जं पावइ मुत्तिसुहं, कत्तो तं चक्कवट्टी वि॥

नागार्जुनीय परम्परा में यह श्लोक भिन्न रूप से मिलता है, ऐसा चूर्णिकार[५] और शान्त्याचार्य[६] ने उल्लेख किया है—

चउद्धा संपयं लद्धुं, इहेव ताव भायते।
तेयते तेजसंपन्ने, घयसित्तेव पावए॥

'घय-सित्त'—पलाल, उपल आदि के द्वारा अग्नि उतनी दीप्त नहीं होती जितनी कि वह घृत के सिंचन से होती है, इसलिए यहाँ घृत-सिंचन की उपमा को प्रधानता दी है।[७]

यहाँ निर्वाण की तुलना घृत-सिक्त अग्नि से की गई है। घृत से अग्नि प्रज्वलित होती है, बुझती नहीं, इसलिए निर्वाण का अर्थ 'मुक्ति' की अपेक्षा 'दीप्ति' अधिक उपयुक्त है। मुक्ति, स्वास्थ्य या जीवन्मुक्ति—ये सभी चेतना की प्रज्वलित—तेजोमय अवस्था के नाम हैं। इस दृष्टि को सामने रखकर निर्वाण का इनमें से कोई भी अर्थ किया जा सकता है। किन्तु उसका अर्थ 'बुझना' उपमा के साथ सामंजस्य नहीं रखता।

१–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ९९ :
निर्वृत्तिः—निर्वाणम्।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र १८५, १८६ :
'निर्वाणं' निर्वृतिर्निर्वाणं स्वास्थ्यमित्यर्थः 'परमं' प्रकृष्टम् 'एगमासपरियाए समणे वंतरियाणं तेउलेसं वीईवयति' इत्याद्यागमेनोक्तं 'नैवास्ति राजराजस्य तत्सुखं' मित्यादिना च वाचकवचनेनानूदितम्।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र १८६ :
यद्वा निर्वाणमिति जीवन्मुक्तिम्।

४–सुखबोधा, पत्र ७६।

५–उत्तराध्ययन चूर्णि पृ० ९९।

६–बृहद् वृत्ति, पत्र १८६।

७–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ९९ :
तृणतुषपलालकरीषादिभिरिंधनविशेषैरिंध्यमानो न तथा दीप्यते यथा घृतेनेत्यतोऽनुमानात् ज्ञायते यथा घृतेनाभिषिक्तोऽधिकं भाति।

श्लोक १४

५–(जक्खा ख, महासुक्का ग):

'जक्खा'—यक्ष। यक्ष शब्द 'यज्' धातु से बना है।[1] पहले इसका अर्थ देव था। उत्तरवर्ती साहित्य में इसका अपकर्ष हो गया और यह निम्न कोटि की देवजाति के लिए व्यवहृत होने लगा।

'महासुक्का'—चन्द्र, सूर्य आदि अतिशय उज्ज्वल प्रभा वाले होते हैं इसलिए उन्हें महाशुक्ल कहा गया है।[2] 'सुक्क' का संस्कृत रूप शुक्र भी हो सकता है। उसका एक अर्थ अग्नि भी है। यह मान लेने पर इसका अर्थ होगा—महान् अग्नि।

श्लोक १५

६–(कामरूव-विउव्विणो ख, पुव्वा वाससया बहू घ):

'कामरूव-विउव्विणो'—का अर्थ है—इच्छानुसार रूप करने में समर्थ, आठ प्रकार के ऐश्वर्य से युक्त।[3] तत्त्वार्थवार्तिक में एक साथ अनेक आकार वाले रूप-निर्माण की शक्ति को कामरूपित्व कहा है।[4] चूर्णिकार ने इसका संस्कृत रूप 'कामरूपविकुर्विण:' और शान्त्याचार्य तथा नेमिचन्द्र ने 'कामरूपविकरणा:' दिया है।[5] 'विकुर्विण' प्राकृत का ही अनुकरण है।

'पुव्वा वाससया बहू'— ८४ लाख को ८४ लाख से गणन करने पर जो संख्या प्राप्त होती है उसे पूर्व कहा जाता है। सत्तर लाख छप्पन हजार करोड़ वर्षों—७०५६०००००००००००—को पूर्व कहा जाता है। बहु अर्थात् असंख्य। असंख्य पूर्व या असंख्य सौ वर्षों तक। इसका तात्पर्य है पल्योपम के असंख्यातवें भाग तक। देवों की कम से कम इतनी स्थिति तो होती ही है। मुनि पूर्वजीवी या शतवर्षजीवी होते हैं इसलिए उन्हीं के द्वारा उनका माप बतलाया गया है।[6]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र १८७ :
इज्यन्ते पूज्यन्त इति यक्षा:।

२–वही, पत्र १८७ :
'महाशुक्ला' अतिशयोज्ज्वलतया चन्द्रादित्यादयः।

३–(क) सुखबोधा, पत्र ७७ :
'कामरूपविकरणा:' यथेष्टरूपादिनिर्वर्त्तनशक्तिसमन्विता:।
(ख) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १०१ :
अष्टप्रकारैश्वर्ययुक्ता इत्यर्थ:।

४–तत्त्वार्थवार्त्तिक ३।३६, पृ० २०३ :
युगपदनेकाकाररूपविकरणशक्ति: कामरूपित्वमिति।

५–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १०१ :
काम्यंते कमनीया वा कामा:, रोचते रोचयति वा रूपं, कामतो रूपाणि विकुर्वितुं शीलं येषां ते इमे कामरूपविकुर्विण:।
(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र १८७ :
'कामरूवविउव्विणो' त्ति सूत्रत्वात्कामरूपविकरणा:।
(ग) सुखबोधा, पत्र ७७।

६–बृहद् वृत्ति, पत्र १८७ :
पूर्वाणि—वर्षसप्ततिकोटिलक्ष-षट्पंचाशत्कोटिसहस्र-परिमितानि बहूनि, जघन्यतोऽपि पल्योपमस्थितित्वात्, तत्रापि च तेषा-मसङ्ख्येयानामेव सम्भवात्, एवं वर्षशतान्यपि बहूनि, पूर्ववर्षशतायुषामेव चरणयोग्यत्वेन विशेषतो देशनौचित्यमिति ख्यापनार्थ-मित्थमुपन्यास इति।

श्लोक १६, १७, १८

७–श्लोक १६, १७, १८ :

दस अंग इस प्रकार हैं—

(१) चार काम-स्कन्ध ।
(२) मित्रवान् ।
(३) ज्ञातिमान् ।
(४) उच्चगोत्र ।
(५) वर्णवान् ।
(६) नीरोग ।
(७) महाप्राज्ञ ।
(८) विनीत ।
(९) यशस्वी ।
(१०) सामर्थ्यवान् ।

चार काम-स्कन्धों का निरूपण सतरहवें श्लोक में और शेष नौ अंगों का उल्लेख अट्ठारहवें श्लोक में है ।

'चत्तारि काम-खंधाणि'— 'काम-खंध' का अर्थ है—मनोज्ञ शब्दादि के हेतुभूत पुद्गल समूह अथवा विलास के हेतुभूत पुद्गल समूह ।[1] वे चार हैं—

(१) क्षेत्र—वास्तु ।
(२) हिरण्य ।
(३) पशु ।
(४) दास पौरुषेय ।

'खेत्तं'—क्षेत्र । क्षेत्र शब्द 'क्षि' धातु से बना है । उस धातु के दो अर्थ हैं—निवास और गति । जिसमें रहा जाए उसको क्षेत्र कहा जाता है । इस व्युत्पत्ति के अनुसार ग्राम, आराम आदि क्षेत्र कहलाते हैं ।[2] जहाँ अनाज उत्पन्न होता है, वह भी क्षेत्र कहलाता है । उसके तीन प्रकार हैं[3]—

(१) सेतु-क्षेत्र —जहाँ फसल सिंचाई से होती है ।
(२) केतु-क्षेत्र—जहाँ फसल वर्षा से होती है ।
(३) सेतु केतु-क्षेत्र—जहाँ ईख आदि सिंचाई और वर्षा—दोनों से उत्पन्न होते हैं ।

'वत्थुं'—वास्तु । वास्तु का अर्थ है—अगार—गृह । चूर्णिकार ने उसके तीन भेद किए हैं—

(१) सेतु-वास्तु ।
(२) केतु-वास्तु ।
(३) सेतु-केतु-वास्तु ।

अथवा

(१) खात ।
(२) उच्छ्रित ।
(३) खातोच्छ्रित ।

१–सुखबोधा, पत्र ७७ :
कामाः—मनोज्ञशब्दादयः तद्धेतवः स्कंधाः—तत्तत्पुद्गलसमूहाः कामस्कन्धाः ।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र १८८ :
'क्षि निवासगत्योः' क्षियन्ति निवसन्त्यस्मिन्निति क्षेत्रम्—ग्रामारामादि ।

३–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १०१ :
तत्र क्षेत्रं सेतुं केतुं सेतुं केतुं वा, सेतुं रहट्टादि, केतुं वरिसेण निप्फज्जते, इक्खादि सेतुं केतुम् ।

उनकी व्याख्या के अनुसार—भूमिगृह को सेतु, ऊँचे प्रासाद को केतु और उभयगृह (भूमिगृह के ऊपर के प्रासाद) को सेतु-केतु कहा जाता है।[1] यही अर्थ खात, उच्छ्रित और खातोच्छ्रित का है।

शान्त्याचार्य और नेमिचन्द्र ने दूसरे विकल्प का उल्लेख किया है। अर्थ में तीनों एक मत हैं।[2]

'दास-पोरुसं'— दास का अर्थ है—खरीदा हुआ और मालिक की सम्पत्ति समझा जाने वाला व्यक्ति—गुलाम। उसके जीवन पर स्वामी का पूर्ण अधिकार होता था। अपनी जन्म-जात दास्य-स्थिति को बदलना उसके वश में नहीं होता था और न वह सम्पत्ति का स्वामी हो सकता था। दास और नौकर-चाकर में यही अन्तर है कि नौकर-चाकर पर स्वामी का पूर्ण अधिकार नहीं होता, वह स्वामी की सम्पत्ति नहीं समझा जाता और वह अनिश्चित काल के लिए वेतन पर रखा जाता है।

निशीथ चूर्णि में छह प्रकार के दास बतलाए गए हैं—

(१) परम्परागत।

(२) खरीदकर बनाया हुआ।

(३) कर्ज न चुकाने पर निगृहीत किया हुआ।

(४) दुर्भिक्ष आदि होने पर भोजन आदि के लिए जिसने दासत्व ग्रहण किया हो।

(५) किसी अपराध के कारण जुर्माना न देने पर राजा द्वारा जो दास बनाया गया हो।

(६) बन्दी बनाकर जो दास बनाया गया हो।[3]

मनुस्मृति में सात प्रकार के दास बतलाए गए हैं—

(१) ध्वजाहृत दास— संग्राम में पराजित दास।

(२) भक्त दास— भोजन आदि के लिए दास बना हुआ।

(३) गृहज दास— अपनी दासी से उत्पन्न दास।

(४) क्रीत दास— खरीदा हुआ दास।

(५) दत्रिम दास— किसी द्वारा दिया हुआ दास।

(६) पैतृक दास— पैतृक धन रूप में प्राप्त दास।

(७) दण्ड दास— ऋण निर्यातन के लिए बना हुआ दास।[4]

मनुस्मृति में यह भी कहा गया है कि दास 'अधन' होते हैं। वे जो धन एकत्रित करते हैं वह उनका हो जाता है जिनके वे दास हैं।[5]

१–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १०१ :
वत्थुंपि सेतुं भूमिघरादि, केतुं यदभ्युच्छ्रितं प्रासादाद्यं, उभयथा गृहं सेतुकेतुं भवति, अथवा वत्थुं खायं ऊसियं खातूसियं, खातं भूमिघरं ऊसितं पासाओ खातूसितं भूमिघरोवरि पासादो।

२–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र १८८ :
तथा वसन्त्यस्मिन्निति वास्तु—खातोच्छ्रितोभयात्मकम्।

(ख) सुखबोधा, पत्र ७७।

३–निशीथ चूर्णि, पृ० ११।

४–मनुस्मृति, ८।४१५ :
ध्वजाहृतो भक्तदासो, गृहजः क्रीतदत्त्रिमौ।
पैत्रिको दण्डदासश्च, सप्तैते दासयोनयः॥

५–वही, ८।४१६ :
भार्या पुत्रश्च दासश्च, त्रय एवाधनाः स्मृताः।
यत्ते समधिगच्छन्ति, यस्य ते तस्य तद्धनम्॥

निशीथ-चूर्णि और मनुस्मृति की दास-सूची सदृश है। मनुस्मृति में केवल दत्रिम दास का विशेष उल्लेख हुआ है।

याज्ञवल्क्य स्मृति के टीकाकार विज्ञानेश्वर ने पन्द्रह प्रकार के दास बतलाए हैं—उनमें मनुस्मृति में कथित प्रकार तो हैं ही, साथ में जुए में जीते हुए, अपने आप मिले हुए, दुर्भिक्ष के समय बचाए हुए आदि-आदि अधिक हैं।[1]

सूत्रकार ने 'दास-पोरुष' को काम-स्कन्ध—धन-सम्पत्ति माना है। दास-पोरुष शब्द से यह पता चलता है कि उस समय 'दास-प्रथा' बहुत प्रचलित थी। टीकाकारों ने दास का अर्थ पोष्य या प्रेष्य वर्ग और पौरुषेय का अर्थ पदाति समूह किया है।[2]

अंग्रेजी में भी दो शब्द हैं Slave और Servant। ये दोनों दास और नौकर के पर्यायवाची हैं।

जैन-साहित्य के अनुसार बाह्य-परिग्रह के दस भेद हैं। उनमें 'द्विपद' अर्थात् दो पैर वाले दास-दासियों को भी बाह्य-परिग्रह माना गया है।

कौटलीय अर्थशास्त्र में गुलाम के लिए 'दास' और नौकर के लिए 'कर्मकर' शब्दों का व्यवहार किया गया है। इसमें दासकल्प नाम का एक अध्याय है।[3]

अनगारधर्मामृत की टीका में पण्डित आशाधरजी ने 'दास' शब्द का अर्थ—खरीदा हुआ कर्मकर किया है।[4]

आजकल लोगों की धारणा है कि 'दास' शब्द का अर्थ क्रूर और जंगली लोग हैं। पर 'दास' शब्द का मूल अर्थ यह नहीं जान पड़ता। दास का अर्थ दाता (जिसे अंग्रेजी में Noble कहते हैं) रहा होगा।[5] ऋग्वेद की कई ऋचाओं से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'सप्त-सिन्धु' पर दासों का आधिपत्य था।[6] जान पड़ता है कि दास लोग राजपूतों की तरह शूर थे। नमुचि, शंबर आदि दास बड़े शूरवीर थे।[7]

इस आर्य पूर्व जाति पर आधुनिक अनुसन्धाताओं ने बहुत प्रकाश डाला है।

*

१–याज्ञवल्क्य स्मृति, २।१४, पृ० २७३।

२–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र १८८ :

दास्यते—दीयते एभ्य इति दासाः—पोष्यवर्गरूपास्ते च पोरुसंति—सूत्रत्वात्पौरुषेयं च—पदातिसमूहः दासपौरुषेयम्।

(ख) सुखबोधा, पत्र ७७ :

दासाश्च—प्रेष्यरूपा।

३–धर्म्मस्थीय, ३।१३, प्रकरण ६५।

४–अनगारधर्मामृत, ४।१२१।

५–भारतीय संस्कृति और अहिंसा, पृ०११।

६–ऋग्वेद, १।३२।११; ५।३०।५।

७–भारतीय संस्कृति और अहिंसा, पृ० १३।

अध्ययन ४

असंखयं

श्लोक २

१–(पावकम्मेहि क, पास ग, वेराणुबद्धा घ) :

'पावकम्मेहि'—चूर्णि में पाप-कर्म का अर्थ—हिंसा, अनृत, चोरी, अब्रह्मचर्य, परिग्रह आदि कर्म—किया है।[1] शान्त्याचार्य ने इसका अर्थ 'पाप के उपादान-भूत अनुष्ठान'[2] और नेमिचन्द्र ने 'कृषि, वाणिज्य आदि अनुष्ठान'[3] किया है।

'पास'—चूर्णि और बृहद् वृत्ति में 'पास' का अर्थ—पश्य 'देख' किया गया है।[4] नेमिचन्द्र ने इसे 'पाश' शब्द माना है।[5] उन्होंने दो प्राचीन श्लोक उद्धृत किए हैं—

वारी गयाण जालं तिमीण हरिणाण वग्गुरा चेव।
पासा य सउणयाणं, णराण बंधत्थमित्थीओ ॥१॥
उन्नयमाणा अक्खलिय-परक्कमा पंडिया कई जे य।
महिलाहिं अंगुलीए, नच्चाविज्जंति ते वि नरा ॥२॥

अर्थात् हाथी के लिए वारि—श्रृंखला, मछलियों के लिए जाल, हिरणों के लिए वागुरा और पक्षियों के लिए पाश जैसे बन्धन हैं, उसी प्रकार मनुष्यों के लिए स्त्रियाँ बन्धन हैं। उन्नत और अस्खलित पराक्रम वाले पण्डित और कवि भी महिलाओं की अंगुलियों के संकेत पर नाचते हैं।

'वेराणुबद्धा'—'वेरे वज्जे य कम्मे य'—इस वचन के अनुसार वेर के दो अर्थ होते हैं—वज्र और कर्म। यहां इसका अर्थ कर्म है। शान्त्याचार्य के अनुसार 'वेराणुबद्ध' का अर्थ 'कर्म से बद्ध'[6] और नेमिचन्द्र के अनुसार 'पाप से बद्ध'[7] होता है।

१–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ११० :
पातयते तमिति पापं, क्रियत इति कर्म, कर्म्माणि हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहादीनि।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र २०६ :
'पापकर्मभिः' इति पापोपादानहेतुभिरनुष्ठानैः।

३–सुखबोधा, पत्र ८० :
'पापकर्मभिः' कृषिवाणिज्यादिभिः अनुष्ठानैः।

४–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ११० :
पस्सत्ति श्रोतुरामंत्रणम्।
(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र २०६ :
'पश्य' अवलोकय।

५–सुखबोधा, पत्र ८० :
पाशा इव पाशाः।

६–बृहद् वृत्ति, पत्र २०६ :
वैरं—कर्म्म···तेन अनुबद्धाः —सततमनुगताः।

७–सुखबोधा, पत्र ८० :
वैरानुबद्धाः—पापेन सततमनुगताः।

श्लोक ३

२—सेंध लगाते हुए (संधि-मुहे क) :

इसका शाब्दिक अर्थ है—सेंध के द्वार पर।[1] चूर्णिकार और टीकाकारों ने अनेक प्रकार की सेंध बतलाई हैं—कलशाकृति, नंद्यावर्ताकृति, पद्माकृति, पुरुषाकृति आदि-आदि।[2]

शूद्रक द्वारा लिखित संस्कृत नाटक 'मृच्छकटिक' (३।१३) में सात प्रकार की सेंध बतलाई गई हैं—पद्म (कमल) के आकार की, सूर्य के आकार की, अर्द्धचन्द्र के आकार की, जलकुंड के आकार की, स्वस्तिक के आकार की, उभरे वर्तन (पूर्णकुम्भ) के आकार की और आयताकार :

पद्म व्याकोशं भास्करं बालचन्द्रं,
वापी विस्तीर्णं स्वस्तिकं पूर्णकुम्भम् ॥

इस प्रसंग पर चूर्णि (पृष्ठ ११०, १११), बृहद् वृत्ति (पत्र २०७,२०८) और सुखबोधा (पत्र ८१, ८२) में दो कथाओं का उल्लेख हुआ है। उसमें दूसरी कथा की तुलना 'मृच्छकटिक' (३।१३) में आई हुई कथा से होती है। उसमें चारुदत्त की विशाल हवेली की दीवार के निकट खड़ा निष्णात चोर 'शर्विलक' सोच रहा है—"तरुलता से आच्छादित इस भित्ति में सेंध कैसे लगाई जाए ? सेंध देखने के बाद लोग विस्मयाभिभूत हो उसकी प्रशंसा न करें तो मेरी सेंध लगाने की विशेषता ही क्या हुई ?"

चूर्णि और टीका की दूसरी कथा में भी चोर अपने द्वारा लगाई गई सेंध की प्रशंसा सुनकर हर्षातिरेक से संयम न रखने के कारण पकड़ा जाता है। दोनों कथाओं में अपने द्वारा लगाई गई सेंध की प्रशंसा की अभिलाषा का साम्य है।

श्लोक ५

३—अंधेरी गुफा में जिसका दीप बुझ गया हो (दीव-प्पणट्ठे ग) :

निर्युक्तिकार ने प्राकृत के अनुसार 'दीव' के दो अर्थ किए हैं—आश्वास-द्वीप और प्रकाश-दीप। जिससे समुद्र में निमग्न मनुष्यों को आश्वासन मिलता है उसे 'आश्वास-द्वीप' और जो अन्धकार में प्रकाश फैलाता है, उसे 'प्रकाश-दीप' कहा जाता है। आश्वास-द्वीप के दो भेद हैं—सन्दीन और असन्दीन। जो जलप्लावन आदि से नष्ट हो जाता है, उसे 'सन्दीन' और जो नष्ट नहीं होता उसे 'असन्दीन' कहते हैं।

प्रकाश-दीप के दो भेद हैं—संयोगिम और असंयोगिम। जो तैल, वर्ति आदि के संयोग से प्रदीप्त होता है वह 'संयोगिम' कहलाता है और सूर्य, चन्द्र आदि के बिम्ब 'असंयोगिम' कहलाते हैं।[3]

यहाँ प्रकाश-दीप अभिप्रेत है। कई धातु-वादी धातु प्राप्ति के लिये भूगर्भ में गए। दीप, अग्नि और ईंधन उनके पास थे। प्रमादवश दीप बुझ गया, अग्नि भी बुझ गई। अब वे उस गहन अन्धकार में उस मार्ग को नहीं पा सके, जो पहले देखा हुआ था।[4]

१—बृहद् वृत्ति, पत्र २०७ :
सन्धिः—क्षत्रं तस्य मुखमिव मुखं—द्वारं तस्मिन्।
२—(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १११ :
खत्ताणि य अणेगागाराणि कलसागिति-णंदियावत्त-संठित्तं (ताणि) पयुमागि (सुमागि) ति पुरिसाकिति वा।
(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र २०७।
(ग) सुखबोधा, पत्र ८१।
३—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २०६, २०७।
४—बृहद् वृत्ति, पत्र २१२, २१३।

सरपेन्टियर शान्त्याचार्य के द्वीप परक अर्थ को गलत मानते हैं ।[1]

किन्तु शान्त्याचार्य ने निर्युक्तिकार के मत का अनुसरण कर 'दीव' शब्द के सम्भावित दो अर्थों की जानकारी दी है । उनमें प्रस्तुत अर्थ प्रकाश-दीप को ही माना है—अत्र च प्रकाशदीपेनाधिकृतम् ।[2]

श्लोक ६

४—(सुत्तेसु क, पडिबुद्ध क, घोरा मुहुत्ता ग) :

'सुत्तेसु'—सुप्त शब्द में उन दोनों का समावेश होता है, जो सोया हुआ हो और जो धर्माचरण के लिए जागृत न हो ।[3]

'पडिबुद्ध'—प्रतिबुद्ध शब्द में भी उन दोनों का समावेश होता है, 'जो नींद में न हो' और 'जो धर्माचरण के लिए जागृत हो ।'[4]

'घोरा मुहुत्ता'—इन शब्दों द्वारा यह संकेत किया गया है कि प्राणी की आयु अल्प होती है और मृत्यु का काल अनियमित होता है, न जाने वह कब आ जाए और प्राणी को उठा ले जाए ।

यहाँ 'मुहूर्त्त' शब्द से समस्त काल का ग्रहण किया गया है । प्राणी की आयु प्रतिपल क्षीण होती है—इस अर्थ में काल प्रतिपल जीवन का अपहरण करता है इसीलिए उसे घोर—रौद्र कहा है ।[5]

५—भारण्ड पक्षी (भारुण्ड-पक्खी घ) :

जैन-साहित्य में 'अप्रमत्त अवस्था' को बताने के लिए इस उपमा का प्रयोग अनेक स्थलों में किया गया है ।

कल्पसूत्र में भगवान् महावीर को—'भारंड पक्खी इव अप्पमत्ते'—भारंड पक्षी की भांति अप्रमत्त कहा गया है । चूर्णि और टीकाओं के अनुसार ये दो जीव संयुक्त होते हैं । इन दोनों के तीन पैर होते हैं । बीच का पैर दोनों के लिए सामान्य होता है और एक-एक पैर व्यक्तिगत । वे एक दूसरे के प्रति बड़ी सावधानी बरतते हैं, सतत जागरूक रहते हैं ।[6]

छट्ठी शताब्दी की रचना वसुदेवहिण्डी नामक ग्रन्थ (पृ० २४६) में भारंड पक्षी का वर्णन देते हुए लिखा है—ये पक्षी रत्नद्वीप से आते हैं, इनका शरीर बहुत विशाल होता है और ये बाघ, रीछ आदि विशालकाय जानवरों का मांस खाते हैं ।

कल्पसूत्र की किरणावलि टीका में भारंड पक्षी का चित्रण निम्न प्रकार से किया गया है—

द्विजिह्वा द्विमुखाश्चैकोदरा भिन्नफलैषिणः ।

पंचतंत्र के अपरीक्षित कारक में भारंड पक्षी से सम्बन्धित कथा का उल्लेख हुआ है । उसका प्रासंगिक श्लोक यह है—

एकोदराः पृथग्ग्रीवा, अन्योन्यफलभक्षिणः ।
असंहता विनश्यन्ति, भारंडा इव पक्षिणः ॥

१—The Uttarādhyayana Sūtra, p. 295 :
दीवप्पणट्ठे is a composition of which the two parts have a wrong position one to the other ; the word ought to be प्रणष्टदीप: But Ś also thinks it possible to explain दीव ° by द्वीप—I think that would give a rather bad sense.

२—बृहद् वृत्ति, पत्र २१२ ।

३—वही, पत्र २१३ :
सुप्तेषु—द्रव्यतः शयानेषु भावतस्तु धर्मं प्रत्यजाग्रत्सु ।

४—वही, पत्र २१३ :
प्रतिबुद्धं—प्रतिबोधः द्रव्यतो जाग्रता भावतस्तु यथावस्थित-वस्तुतत्त्वावगमः ।

५—सुखबोधा, पत्र ९४ :
घोराः—रौद्राः सततमपि प्राणिनां प्राणापहारित्वात् मुहूर्त्ताः—कालविशेषाः, दिवसाद्युपलक्षणमेतत् ।

६—(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ११७ ।
(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र २१७ ।
(ग) सुखबोधा, पत्र ९४ ।

एक सरोवर के तट पर भारण्ड पक्षी का एक युगल रहता था। एक दिन दोनों पति-पत्नी भोजन की खोज में समुद्र के किनारे-किनारे घूम रहे थे। उन्होंने देखा समुद्र की तरंगों के वेग से प्रवाहित होकर अमृत फलों का एक समूह तटपर विस्तीर्ण पड़ा है। उनमें से बहुत सारे फलों को नर भारण्ड पक्षी खा गया और उनके स्वाद से तृप्त हो गया। इसके मुख से फलों के स्वाद को सुनकर दूसरे मुख ने कहा—अरे भाई! यदि इन फलों में इतना स्वाद है तो मुझे भी कुछ चखाओ, जिससे कि यह दूसरी जीभ भी उस स्वाद के सुख का तनिक अनुभव कर सके। यह सुनकर भारण्ड पक्षी ने कहा—हम दोनों का पेट एक है। इसलिए एक मुख से खाने पर भी दूसरे को तृप्ति हो ही जाती है। इसलिए और खाने से क्या लाभ? परन्तु फलों का जो अवशिष्ट भाग है, वह मादा भारण्ड पक्षी को दे देना चाहिए ताकि वह भी उसका स्वाद ले सके। अवशिष्ट फल स्त्री को दे दिए गए। परन्तु दूसरे मुँह को यह उचित नहीं लगा। वह सदा उदासीन रहने लगा और येन-केन-प्रकारेण इसका बदला लेना चाहा। एक दिन संयोगवश दूसरे मुख को एक विष-फल मिल गया। उसने अमृत-फल खाने वाले मुँह से कहा—अरे अधम और निरपेक्ष! मुझे आज विष-फल मिला है। अब मैं अपने अपमान का बदला लेने के लिए इसे खा रहा हूँ। यह सुनकर पहला मुँह बोला—अरे मूर्ख! ऐसा मत कर। ऐसा करने से हम दोनों मर जायेंगे। परन्तु वह नहीं माना और अपमान का बदला लेने के लिए विष-फल खा गया, विष के प्रभाव से दोनों मर गए।

इस पक्षी के लिए भारंड, भारुण्ड और भेरुंड—ये तीन शब्द प्रचलित हैं। आचार्य हेमचन्द्र की देशीनाममाला में भारुण्ड का नाम भोरुड है—भारुंडयम्मि भोरुडओ (६।१०८)। उनकी अनेकार्थक नाममाला (३।१७३) में "भेरुण्डो भीषण खगः"— भेरुण्ड: खग: पक्षी, यथा—विसंहिता विनश्यंति, भेरुण्डा इव पक्षिणः"—यह उल्लेख मिलता है।

वसुदेवहिण्डी में एक कथा है—

कई एक बनजारे व्यापार के लिए एक साथ निकले। प्रवास करते-करते वे अजपथ[1] नामक देश में आ पहुँचे। वहाँ पहुँचकर वे सभी व्यापारी 'वज्रकोटि संस्थित' नामके पर्वत को लाँघकर आगे निकल गए। परन्तु अति शीत के कारण बकरे कांपने लगे। उनकी आँखों पर से पट्टियाँ हटा ली गईं और बाद में जिन पर बैठकर यहाँ आए थे उन सभी बकरों को मारकर उनकी चमड़ी से बड़ी-बड़ी मसकों का निर्माण किया। तदनन्तर रत्नद्वीप जाने के इच्छुक व्यापारी इन मसकों में एक-एक छुरा लेकर बैठ गए और अन्दर से उन्हें बन्द कर लिया।

उस पर्वत पर भक्ष्य की खोज में भारंड पक्षी आए और इन मसकों को मांस का लोदा समझकर उठा ले गए। रत्नद्वीप में नीचे रखते ही अन्दर बैठे हुए व्यापारी छुरे से मसक को काटकर बाहर निकल गए। तदनन्तर वहाँ से यथेष्ट रत्नों का गट्ठर बाँधकर पुनः मसक में आ बैठे। भारंड पक्षियों ने उन मसकों को पुनः उस पर्वत पर ला छोड़ दिया।

प्राप्त सामग्री के आधार पर यह भारंड पक्षी का संक्षिप्त परिचय है। प्राचीन काल में ये पक्षी यत्र-तत्र गोचर होते थे परन्तु आज कल उनका कोई इतिवृत्त नहीं मिलता। अभी अभी कुछ वर्ष पूर्व हमने एक पत्र में पढ़ा कि एक दिन एक विशालकाय पक्षी आकाश से नीचे उतर रहा था। उसकी गति से उठी हुई आवाज हवाई जहाज की आवाज जैसी थी। ज्यों ही वह जमीन के पास आया, त्यों ही वहाँ खड़े हुए कई पशु (व्याघ्र, सिंह आदि) स्वतः उसकी ओर खिंच गए और वह उन्हें खा गया।

श्लोक ७

६—थोड़े से दोष को भी (जं किंचि ग):

'यत् किंचित्' का प्रासंगिक अर्थ थोड़ा सा प्रमाद या दोष है। दुश्चिन्तित, दुर्भाषित और दुष्कार्य—ये सब प्रमाद हैं। जो दुश्चिन्तन करता है वह भी बन्ध जाता है। जो दुश्चिन्तन कर उसे क्रियान्वित करता है, वह तो अवश्य ही बन्धता है। इसलिए यत् किंचित् प्रमाद भी पाश है—बन्धन है।[2] शान्त्याचार्य ने 'यत् किंचित्' का मुख्य आशय गृहस्थ से परिचय करना और गौण आशय प्रमाद किया है।[3]

१—वह देश जहाँ बकरों पर प्रवास किया जाता है। उस देश में बकरों की आँखों पर पट्टी बाँधकर सवारी की जाती है।

२—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ११७ :

जंकिंचि अप्पणा पमादं पासंति दुच्चिंतितादि, दुच्चिंतिएणावि बज्झति, किं पुण जो चिंतित्तु कम्मुणा सफलीकरेति, एवं दुब्भासितदुच्चिंतितातिं जं किंचि पासं।

३—बृहद् वृत्ति, पत्र २१७ :

'यत्किंचिद्' गृहस्थसंस्तवाद्यल्पमपि.........'जं किंचि' त्ति यत्किंचिदल्पमपि दुश्चिन्तितादि प्रमादपदं मूलगुणादिमालिन्यजनक तया बन्धहेतुत्वेन।

श्लोक १३

७–जीवन सांधा जा सकता है (संखया क):

चूर्णि में संस्कृत का पहला अर्थ—'संस्कृत वचन वाले अर्थात् सर्वज्ञ के वचन में दोष दिखाने वाले' और दूसरा अर्थ 'संस्कृत बोलने में रुचि रखने वाले' किया गया है।[1] शान्त्याचार्य ने इसका एक अर्थ—'संस्कृत सिद्धान्त का प्ररूपण करने वाले'—किया है। उनका संकेत निरन्वयोच्छेद-वादी बौद्धों, एकान्त-नित्यवादी सांख्यों और संस्कारवादी स्मृतिकारों की ओर है। बौद्ध लोग वस्तु को एकान्त अनित्य मानकर फिर 'सन्तान' मानते हैं तथा सांख्य उसे एकान्त-नित्य मानकर फिर 'आविर्भाव तिरोभाव' मानते हैं। इसलिए ये दोनों 'संस्कृत धर्मवादी' हैं। स्मृतिकारों के अभिमत में प्राचीन ऋषियों द्वारा निरूपित सिद्धान्त का प्रतिषेध और उसका पुनः संस्कार करके स्मृतियों का निर्माण किया गया—इसलिय वे भी संस्कारवादी हैं।[2]

डॉ० हरमन जेकोबी तथा अन्य विद्वानों ने मूल में 'असंखया' शब्द माना है। डॉ० सांडेसरा ने इसका तात्पर्यार्थ असहिष्णु, असमाधान-कारी किया है।[3]

पहले श्लोक के पहले चरण में जीवन को असंस्कृत कहा है। उसके संदर्भ में 'संस्कृत' का अर्थ—'जीवन का संस्कार हो सकता है, वह फिर सांधा जा सकता है, ऐसा मानने वाले'—यह अर्थ अधिक उपयुक्त लगता है।

१–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १२६ :
संस्कृता नाम संस्कृतवचना सर्वज्ञवचनदत्तदोषाः, अथवा संस्कृताभिधानरुचयः।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र २२७ :
यद्वा संस्कृतागमप्ररूपकत्वेन संस्कृताः, यथा सौगताः, ते हि स्वागमे निरन्वयोच्छेदमभिधाय पुनस्तेनैव निर्वाहमपश्यन्तः परमार्थतोऽन्वयिद्रव्यरूपमेव सन्तानमुपकल्पयांबभूवुः, सांख्याश्चैकान्तनित्यतामुक्त्वा तत्त्वतः परिणामरूपां चै (पावे) व पुनराविर्भावतिरोभावावुक्तवन्तो, यथा वा—

"उक्तानि प्रतिषिद्धानि, पुनः सम्भावितानि च।
सापेक्षनिरपेक्षाणि, ऋषिवाक्यान्यनेकशः ॥१॥"

इतिवचनाद्वचननिषेधनसम्भवाविभिरुपस्कृतस्मृत्याविशास्त्रा मन्वादयः।

३–उत्तराध्ययन सूत्र, पृ० ३७ फुट नो० २।

अध्ययन ५

अकाम-मरणिज्जं

श्लोक २

१–(अकाम-मरणं ग, सकाम-मरणं घ) :

'अकाम-मरणं'—जो व्यक्ति विषय में आसक्त होने के कारण मरना नहीं चाहता किन्तु आयु पूर्ण होने पर वह मरता है, उसका मरण विवशता की स्थिति में होता है इसलिए उसे अकाम-मरण कहा जाता है।[1] इसे बाल-मरण (अविरति का मरण) भी कहा जा सकता है।

'सकाम-मरण'—जो व्यक्ति विषयों के प्रति अनासक्त होने के कारण मरण-काल में भयभीत नहीं होता किन्तु उसे जीवन की भाँति उत्सव-रूप मानता है उस व्यक्ति के मरण को सकाम-मरण कहा जाता है।[2] इसे पंडित-मरण (विरति का मरण) भी कहा जा सकता है।

श्लोक ३

२–श्लोक ३ :

इस श्लोक में कहा गया है कि पंडित (चारित्रवान्) व्यक्तियों का 'सकाम-मरण' एक बार ही होता है। यह कथन 'केवली' की अपेक्षा से ही है। अन्य चारित्रवान् मुनियों का 'सकाम-मरण' सात-आठ बार हो सकता है।[3]

इसमें आए हुए बाल और पंडित शब्दों का विशेष अर्थ है।

बाल—जिस व्यक्ति के कोई व्रत नहीं होता उसे बाल कहा जाता है।

पंडित—सर्वव्रती व्यक्ति को पंडित कहा जाता है।

श्लोक ५

३–(काम-भोगेसु क, कूडाय ख, न मे दिट्ठे परे लोए ग, चक्खु-दिट्ठा इमा रई घ) :

'काम-भोगेसु'—इसमें दो शब्द हैं—काम और भोग। शब्द और रूप को 'काम' तथा स्पर्श, रस और गन्ध को 'भोग' कहा जाता है।[4]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र २४२ :
ते हि विषयाभिष्वङ्गतो मरणमनिच्छन्त एव म्रियन्ते।

२–वही, पत्र २४२ :
सह कामेन—अभिलाषेण वर्तते इति सकामं सकाममिव सकामं मरणं प्रत्यसंत्रस्ततया, तथात्वं चोत्सवभूतत्वात् तादृशां मरणस्य, तथा च वाचकः—

"संचिततपोधनानां नित्यं व्रतनियमसंयमरतानाम्।
उत्सवभूतं मन्ये मरणमनपराधवृत्तीनाम् ॥१॥"

३–वही, पत्र २४२ :
तच्च 'उत्कर्षेण' उत्कर्षोपलक्षितं, केवलिसम्बन्धीत्यर्थः, अकेवलिनो हि संयमजीवितं दीर्घमिच्छेयुरपि, मुक्त्यवाप्तिः इतः-स्यादिति, केवलिनस्तु तदपि नेच्छन्ति, आस्तां भवजीवितमिति, तन्मरणस्योत्कर्षेण सकामता 'सकृद्' एकवारमेव भवेत्, जघन्येन तु शेषचारित्रिणः सप्ताष्ट वा वारान् भवेदित्याकूतमिति सूत्रार्थः।

४–वही, पत्र २४२ में उद्धृत :
"कामा दुविहा पण्णत्ता—सद्दा रूवा य, भोगा तिविहा पण्णत्ता, तंजहा—गंधा रसा फासा य" त्ति।

'कूडाय'—कूट के दो अर्थ किए गए हैं—(१) नरक और (२) मिथ्या-वचन। यहाँ मिथ्या-वचन अधिक संगत लगता है।[1]

'न मे दिट्ठे परे लोए, चक्खु-दिट्ठा इमा रई'—परलोक तो मैंने देखा नहीं यह रति (आनन्द) तो चक्षु-दृष्ट है—आँखों के सामने है—इन दो पदों में अनात्मवादियों के अभिमत का उल्लेख है। वे प्रत्यक्ष को ही वास्तविक मानते हैं तथा भूत और अनागत को अवास्तविक। कामासक्त व्यक्तियों का यह चिन्तन अस्वाभाविक नहीं है।

श्लोक ६

४–(हत्थागया इमे कामा क, कालिया जे अणागया ख) :

चूर्णिकार ने लिखा है— कोई मूर्ख भी अपनी गाँठ में बन्धे हुए चावलों को छोड़कर भविष्य में होने वाले चावलों के लिए आरम्भ नहीं करता।[2]

शान्त्याचार्य ने लिखा है—हाथ में आए हुए द्रव्यों को कोई भी पैरों से नहीं रौंदता।[3]

जो आत्मा, परलोक व धर्म का मर्म समझता है वह अनागत भोगों की प्राप्ति के लिए हस्तगत भोगों को नहीं छोड़ता। इसलिए अनात्मवादियों का यह चिन्तन यथार्थ नहीं है। इसकी चर्चा नवें अध्ययन के श्लोक ५१-५३ में भी हुई है।

श्लोक ७

५—क्लेश (केसं घ) :

काम-भोग से होने वाला क्लेश बहुत दीर्घकालीन होता है।[4] सुखबोधा में इसकी पुष्टि के लिए एक श्लोक उद्धृत किया गया है—

"वरि विसु भुंजिउ मं विसय, एक्कसि विसिण मरंति।
नर विसयाऽमिसमोहिया, बहुसो नरइ पडंति॥"[5]

इसका आशय है कि विष पीना अच्छा है, विषय नहीं। मनुष्य विष से एक ही बार मरते हैं किन्तु विषय रूपी मांस में मोहित मनुष्य अनेक बार मरते हैं—नरक में जाते हैं।

श्लोक ८

६—प्रयोजनवश अथवा बिना प्रयोजन ही (अट्ठाए य अणट्ठाए ग) :

हिंसा के दो प्रकार हैं—अर्थ-हिंसा और अनर्थ-हिंसा। इन्हें एक उदाहरण के द्वारा समझाया गया है—

एक ग्वाला था। वह प्रतिदिन बकरियों को चराने जंगल में जाता था। मध्याह्न में बकरियों को एक वट-वृक्ष के नीचे बिठाकर स्वयं सीधा सोकर बाँस के गोफन से बेर की गुठलियों को फेंक बरगद के पत्रों को छेदता था। इस प्रकार उसने प्रायः पत्तों को छेद डाला। एक बार एक राजपुत्र उस वट-वृक्ष की छाया में जा बैठा। उसने छिदे हुए पत्रों को देखकर ग्वाले से पूछा—ये किसने छेदे हैं? उसने कहा—

१–बृहद् वृत्ति, पत्र २४३ :
कूटमिव कूटं—प्रभूतप्राणिनां यातनाहेतुत्वान्नरक इत्यर्थः,......अथवा कूटं द्रव्यतो भावतश्च, तत्र द्रव्यतो मृगादिबन्धनं, भावतस्तु मिथ्याभाषणादि।

२–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १३२ :
न हि कश्चित् मुग्धोऽपि ओदनं बद्धेलनकं मुक्त्वा कालिकस्योदनस्यारंभं करोति।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र २४३।

४–वही, पत्र २४४ :
'क्लेशम्' इह परत्र च विविधबाधात्मकम्।

५–सुखबोधा, पत्र १०३।

ये मैंने छेदे हैं। राजपुत्र ने कहा—किसलिए? ग्वाले ने कहा—विनोद के लिए। तब राजपुत्र ने उसे धन का प्रलोभन देते हुए कहा—मैं कहूँ कि उसकी आँखें बींध दो, तो उसकी आँखें क्या तू बींध देगा? ग्वाले ने कहा—हाँ, मैं बींध सकता हूँ, यदि वह मेरे नजदीक हो। राजपुत्र उसे अपने नगर ले गया। राजपथ में आए हुए प्रासाद में उसे ठहरा दिया। उस राजपुत्र का भाई राजा था। वह उसी मार्ग से अश्वरथ पर चढ़कर जाता था। राजपुत्र ने ग्वाले से कहा—इसकी आँखें फोड़ डाल। उस ग्वाले ने अपने गोफन से उसकी दोनों आँखें फोड़ डालीं। अब वह राजपुत्र राजा बन गया। उसने ग्वाले से कहा—बोल, तू क्या चाहता है? उसने कहा—आप मुझे वह गाँव दें जहाँ मैं रहता हूँ। राजा ने उसे वही गाँव दिया। उसी सीमान्त के गाँव में उसने ईख की खेती की और तुम्बी की बेल लगाई। गुड़ हुआ और तुम्बे हुए। उसने तुम्बों को गुड़ में पका गुड़-तुम्बक तैयार किया। उसे खाता और गाता—

अट्टमट्टं च सिक्खिआ, सिक्खियं ण णिरत्थयं।
अट्टमट्टपसाएण, भुंजए गुडतुम्बयम् ॥[1]

अर्थात् उटपटांग जो भी हो सीखना चाहिए। सीखा हुआ व्यर्थ नहीं जाता। इसी अट्टपट्ट के प्रसाद से यह गुड़तुम्बा मिल रहा है। ग्वाला पत्रों को बिना प्रयोजन छेदता था और उसने आँखों को प्रयोजनवश छेदा।

यह उदाहरण एक स्थूल भावना का स्पर्श करता है। साधारण उद्देश्य की पूर्ति के लिए राजा की आँखें फोड़ डाली गईं—यह वस्तुतः अनर्थ हिंसा ही है। अर्थ-हिंसा उसे कहा जा सकता है, जहाँ प्रयोजन की अनिवार्यता हो।

श्लोक ९

७—वेश परिवर्तन कर अपने आपको दूसरे रूप में प्रकट करने वाला (सढे ख):

इसका सामान्य अर्थ है—धूर्त्त, मूढ़, आलसी। यहाँ इसका अर्थ—वेष परिवर्तन कर अपने आपको दूसरे रूप में प्रगट करने वाला है।[2] टीकाओं में 'मंडिक चोरवत्' ऐसा उल्लेख किया है। मंडिक चोर की कथा इसी आगम के चौथे अध्ययन के सातवें श्लोक की व्याख्या में है।

श्लोक १०

८—(दुहओ ग, सिसुणागु घ):

'दुहओ'—द्वाभ्यां—दो प्रकार से। चूर्णिकार ने दो प्रकार के अनेक विकल्प किए हैं। जैसे—स्वयं करता हुआ, या दूसरों से करवाता हुआ, अन्तःकरण से या वाणी से, राग से या द्वेष से, पुण्य या पाप का, इहलोक बन्धन या परलोक बन्धन—संचय करता है।[3]

'सिसुणागु'—शिशुनाग का अर्थ है—छोटा सर्प, गण्डूपद या अलसिया। वह मिट्टी खाता है। उसका शरीर स्निग्ध होता है। इसलिए उसके शरीर पर भी मिट्टी चिपक जाती है। इस प्रकार वह अन्दर और बाहर दोनों ओर मिट्टी का संचय करता है।[4]

१-बृहद् वृत्ति, पत्र २४४, २४५।

२-वही, पत्र २४५ :

'शठः' तसन्नेपथ्यादिकरणतोऽन्यथाभूतमात्मानमन्यथा दर्शयति।

३-उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १३४ :

द्विधा—दुहओ मृद्नाति तमिति मलं, स्वयं कुर्वन् परेश्च कारयन्, अथवा अंतःकरणेन बाह्येन वा, तत्रान्तःकरणं नाम मनः बाह्यं वाचिकं, अथवा रागेण द्वेषेण च, अहवा पुन्नं पावं च, अहवा इहलोयबंधणं पेज्जं च।

४-(क) वही, पृ० १३४ :

शिशुरेव नागः शिशुनागः गंडूपद इत्यर्थः, मृद्नाति तमिति मृत्तिका, स हि शिशुनागः मृदं भुक्त्वा अंतो मलं संचिणति बहिश्चार्द्र भावत्वाद् देहस्य, स हि पांशूत्करेषु सर्पमाणः सर्वो रजसा विकार्यते, ततो धर्मरश्मिकिरणैरापीतस्नेहः ताभिरेव बहिरंतश्च प्रतप्ताभिर्मृद्भिः, शीतयोनिर्निर्दह्यमानो विनाशमाप्नोति।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र २४६ :

'शिशुनागो' गण्डूपदोऽलस उच्यते, स इव मृत्तिकां, स हि स्निग्धतनुतया बहीरेणुभिरवगुण्ड्यते, तामेव चाश्नीते इति बहिरन्तश्च द्विधापि मलमुपचिनोति।

श्लोक १३

९–(उववाइयं [क], आहाकम्मेहिं [ग]) :

'उववाइयं'—जीवों की उत्पत्ति के तीन प्रकार हैं—गर्भ, सम्मूर्छन और उपपात। पशु, पक्षी, मनुष्य आदि गर्भज होते हैं। द्वीन्द्रिय आदि जीव सम्मूर्छनज और नारक तथा देव औपपातिक होते हैं।

औपपातिक जीव अन्तर्मुहूर्त मात्र में पूर्ण शरीर वाले हो जाते हैं, अतः वहाँ उत्पन्न होते ही वे नरक की वेदना से अभिभूत हो जाते हैं।[१]

'आहाकम्मेहिं'—चूर्णिकार और नेमिचन्द्र ने इसका अर्थ 'कर्मों के अनुसार' किया है।[२] शान्त्याचार्य ने इसका मूल अर्थ 'अपने किए हुए कर्मों के द्वारा' किया है और विकल्प में इसका अर्थ किया है—'कर्मों के अनुसार'।[३]

श्लोक १६

१०—एक ही दाव में (कलिना [घ]) :

चूर्णिकार कलि के विषय में मौन हैं।[४] शान्त्याचार्य और नेमिचन्द्र ने 'कलिना दायेन' इतना कहकर छोड़ दिया है।[५]

किन्तु अन्य प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार जुए में दो प्रकार के दाव होते थे—कृतदाव और कलिदाव। 'कृत' जीत का दाव है ओर 'कलि' हार का। दोनों एक दूसरे के विपरीत हैं।

सूत्रकृतांग के अनुसार जुआ चार अक्षों से खेला जाता था। उनके नाम हैं—

(१) कलि—एकक।

(२) द्वापर—द्विक।

(३) त्रेता—त्रिक।

(४) कृत—चतुष्क।

चारों पासे सीधे या औंधे एक से पड़ते हैं, उसे 'कृत' कहा जाता है। यह जीत का दाव है। एक, दो या तीन पासे उलटे पड़ते हैं उन्हें क्रमशः कलि, द्वापर, त्रेता कहा जाता है। ये हार के दाव हैं। कुशल जुआरी इन्हें छोड़ 'कृतदाव' ही लेता है।[६]

१–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १३५ :
उपपातात्संजातमौपपातिकं, न तत्र गर्भव्युत्क्रांतिरस्ति येन गर्भकालान्तरितं तन्नरकदुःखं स्यात्, ते हि उत्पन्नमात्रा एव नरकवेदनाभिरभिभूयन्ते।

२–(क) वही, पृ० १३५ :
आधाकम्मेहिं यथाकर्मभिः।
(ख) सुखबोधा, पत्र १०५।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र २४७ :
'आहाकम्मेहिं'ति आधानमाधाकरणम्, आत्मनेति गम्यते, तदुपलक्षितानि कर्माण्याधाकर्म्माणि, तैः आधाकर्मभिः—स्वकृतकर्मभिः, यद्वाऽऽर्षत्वात्, 'आहेत्ति' आधाय कृत्वा, कर्माणीति गम्यते, ततस्तैरेव कर्म्मभिः,...यद्वा—'यथाकर्मभिः' गमिष्यमाणगत्यनुरूपैः तीव्रतीव्रतराद्यनुभावान्वितैः।

४–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १३६।

५–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र २४८।
(ख) सुखबोधा, पत्र १०५।

६–सूत्रकृतांग, १।२।२।२३।

काशिका में लिखा गया है कि पंचिका नाम का जुआ अक्ष या पाँच शलाकाओं से खेला जाता था। जब पाँचों पासे सीधे या औंधे एक से गिरते हैं तब पासा फेंकने वाला जीतता है, इसे 'कृतदाव' कहते हैं। 'कलिदाव' इससे विपरीत है। जब कोई पासा उलटा या सीधा गिरता है तब उसे 'कलिदाव' कहते हैं।

भूरिदत्त जातक में 'कलि' और 'कृत' दोनों को एक दूसरे के विपरीत माना है।[1]

छान्दोग्य उपनिषद् में भी 'कृत' जीत का दाव है।[2] महाभारत (सभापर्व ५.२।१३) में शकुनि को 'कृतहस्त' कहा गया है अर्थात् जो सदा जीत का दाव ही फेंकता है।

पाणिनि के समय दोनों प्रकार के दाव फेंकने के लिए भाषा में अलग-अलग नामधातुएँ चल गई थीं। जिनका सूत्रकार ने स्पष्ट उल्लेख किया है—

कृतं गृह्णाति—कृतयति, कलिं गृह्णाति—कलयति। (३।१।२१)[3]

विधुर पंडित जातक में भी 'कृतं गृह्णाति कलिं गृह्णाति' ऐसे प्रयोग हुए हैं।[4]

जुए के खेल के नियमों के अनुसार जब तक किसी खिलाड़ी का 'कृतदाव' आता रहता, वही पासा फेंकता जाता था। पर जैसे ही 'कलिदाव' आता, पासा डालने की बारी दूसरे खिलाड़ी की हो जाती।

श्लोक १८

११–जितेन्द्रिय पुरुषों का (वुसीमओ [घ]) :

यहाँ बहुवचन के स्थान में एकवचन है। बृहद् वृत्ति में इसका संस्कृत रूप है 'वश्यवताम्'। आत्मा और इन्द्रिय जिसके वश्य—अधीन होते हैं, उसे 'वश्यवान्' कहा जाता है। 'वुसीम' के दो अर्थ और किए गए हैं—(१) साधु गुणों से बसने वाला और (२) संविग्न।[5]

सरपेन्टियर ने लिखा है कि इसका संस्कृत रूप 'वश्यवन्त' शंकास्पद है। मैं इसके स्थान पर दूसरा उचित शब्द नहीं दे सकता। परन्तु इसके स्थान पर 'व्यवसायवन्तः' शब्द की योजना कुछ हद तक संभव हो सकती है।[6]

सरपेन्टियर की यह संभावना बहुत उपयोगी नहीं है। वस्तुतः 'वुसीम' शब्द या तो देशी है जिसका संस्कृत रूप कोई होता ही नहीं और यदि यह देशी नहीं है तो इसका संस्कृत रूप 'वृषीमत्' होना चाहिए।

'वृषी' का अर्थ है—'मुनि का कुश आदि का आसन।'[7] सूत्रकृतांग में श्रमण के उपकरणों में 'वृषिक' (भिसिग) का उल्लेख है।[8] इसके सम्बन्ध से मुनि को 'वृषीमान्' कहा जाता है। व्याकरण की दृष्टि से 'वुसीम' का संस्कृत रूप 'वृषीमत्' होता है। इसका प्रवृत्ति लभ्य अर्थ है—मुनि, संयमी या जितेन्द्रिय।

१–जातक, संख्या ५४३।

२–छान्दोग्य उपनिषद्, ४।१।४ : यथा कृतायविजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेनं सर्वं तदभिसमेति।

३–पाणिनीकालीन भारतवर्ष, पृ० १६७।

४–जातक, संख्या ५४५।

५–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र २४९ :
'वुसीमतो' त्ति, आर्षत्वाद्वश्यवतां वश्य इत्यावसः, स चेहात्मा इन्द्रियाणि वा, वश्यानि विद्यन्ते येषां ते अमी वश्यवन्तः तेषाम्, अयमपरः सम्प्रदायार्थः—वसंति वा साहुगुणेहिं वुसीमन्तः, अहवा वुसीमा—संविग्गा तेसिं' ति।

(ख) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १३७ :
'वुसीमतो' वशे येषामिन्द्रियाणि ते भवति वुसीमं, वसंति वा साधुगुणेहिं वुसीमंतः, अथवा वुसीमंतः ते संविग्गा, तेसिं वुसीमतां संविग्गाणं वा।

६–उत्तराध्ययन सूत्र, पृ० २९९ का फुटनोट १८।

७–अभिधान चिंतामणि, ३।४८०।

८–सूत्रकृताङ्ग, २।२ सू० ३२ : दंडगं वा, छत्तगं वा, मण्डगं वा, मत्तगं वा, लट्ठिं वा, भिसिगं वा....।

निशीथ भाष्य में इसी अर्थ में 'वुसिराती'[1] (सं० वृषिराजिन्) तथा 'वुसि'[2] (सं० वृषिन्) शब्द प्राप्त होते हैं। "वुसि" का अर्थ 'संविग्न किया गया है।'[3]

सूत्रकृतांग में 'वुसीमओ' का अनेक बार प्रयोग हुआ है। चूर्णिकार ने उसके अर्थ इस प्रकार किए हैं—

वुसिमतां वसूनि ज्ञानादीनि (१।८।१६ चूर्णि, पृष्ठ २१३)।

वुसिमानिति संयमवान् (१।११।१५ चूर्णि, पृष्ठ २४५)।

वुसिमांश्च भगवान्—साधुर्वा वुसीमान् (१।१५।४ चूर्णि, पृष्ठ २६६)।

वुसियं वुसिमं वुत्तो (२।६।१४ चूर्णि, पृष्ठ ४२३)।

पहले अर्थ पर से लगता है कि चूर्णिकार 'वसुमओ' पाठ की व्याख्या कर रहे हैं। आचारांग १।१।७।६२ में 'वसुम' शब्द मुनि के लिए प्रयुक्त हुआ है। शीलांक सूरि ने उसका अर्थ 'वसुमान'—सम्यक्त्व आदि धन से धनी—किया है।[4] दूसरे अर्थ में 'वुसि' संयम का पर्यायवाची है। तीसरे में वही भगवान् या साधु के लिए प्रयुक्त है। चौथा अर्थ स्पष्ट नहीं है। शीलांक सूरि ने वहाँ 'वुसिम' का अर्थ संयमवान् किया है।[5] लगता यह है 'वृषी' उपकरण के कारण वृषीमान (वुसीम) मुनि का एक नाम बन गया।

श्लोक १९

१२–(नाणा-सीला ग, विसम-सीला घ) :

'नाणा-सीला'—गृहस्थ नानाशील—विविध शील वाले, विभिन्न रुचि वाले और विभिन्न अभिप्राय वाले होते हैं।[6] इसकी व्याख्या करते हुए नेमिचन्द्र ने लिखा है—"कई कहते हैं—'गृहस्थाश्रम का पालन करना ही महाव्रत है'। कई कहते हैं—'गृहस्थाश्रम से उत्कृष्ट धर्म न हुआ है और न होगा। जो शूरवीर होते हैं, वे इसका पालन करते हैं और क्लीव व्यक्ति पाखण्ड का आश्रय लेते हैं'। कई कहते हैं—'सात सौ शिक्षापद गृहस्थों के व्रत हैं' आदि-आदि।"[7]

'विसम-सीला'—साधु भी विषम शील वाले—विषम आचार वाले होते हैं। शान्त्याचार्य ने लिखा है—कई पाँच यम और पाँच नियमों को, कई कन्द, मूल, फल के आहार को और कई आत्म-तत्त्व के परिज्ञान को ही व्रत मानते हैं।[8]

१–निशीथ भाष्य, गाथा ५४२०।

२–वही, गाथा ५४२१।

३–वही, गाथा ५४२१।

४–आचाराङ्ग १।१।७।६२, वृत्ति—

भाव वसूनि सम्यक्त्वादीनि तानि यस्य यस्मिन् वा सन्ति स वसुमान् द्रव्यवानित्यर्थः।

५–सूत्रकृतांग २।६।१४, वृत्ति—

वुसिमंति संयमवान्।

६–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १३७ :

नानार्थान्तरत्वेन शील्यंति तदिति शीलं-स्वभावः, अगारे तिष्ठंतीत्यागारस्था, ते हि नानाशीला नानारुचयो—नानाच्छंदा भवंति।

७–सुखबोधा, पत्र १०६ :

तेषु हि गृहिणस्तावद् अत्यन्तनानाशीला एव, यतः केचित् 'गृहाश्रमप्रतिपालनमेव महाव्रतमि'ति प्रतिपन्नाः

गृहाश्रमपरो धर्मो, न भूतो न भविष्यति।

पालयन्ति नराः शूराः, क्लीबाः पाखण्डमाश्रिताः ॥१॥

इति वचनात्। अन्ये तु 'सप्तशिक्षापदशतानि गृहिणां व्रतम्' इत्याद्यनेकधैव ब्रुवते।

८–बृहद् वृत्ति, पत्र २४९ :

'विषमम्' अतिदुर्लक्षतयाऽतिगहनं विसदृशं वा शीलमेषां विषमशीलाः,......भिक्षवोऽप्यत्यन्तं विषमशीला एव, यतस्तेषु केषाञ्चि-त्पञ्चयमनियमात्मकं व्रतमिति दर्शनम्, अपरेषां तु कन्दमूलफलाशित्वमिति, अन्येषामात्मतत्त्वपरिज्ञानमेवेति विसदृशशीलता।

चूर्णिकार के अनुसार—कुछ कुप्रवचन-भिक्षु अभ्युदय की ही कामना करते हैं, जैसे तापस और पांडुरक (शिवभक्त संन्यासी)। जो मोक्ष चाहते हैं, वे भी उसके साधन को सम्यक् प्रकार से नहीं जानते। वे आरम्भ से मोक्ष मानते हैं। लोकोत्तर भिक्षु भी सबके सब निदान और शल्य रहित नहीं होते, आशंसा रहित तप करने वाले नहीं होते, इसलिए भिक्षुओं को विषम-शील कहा है।[1]

श्लोक २०

१३–श्लोक २० :

तीन प्रकार के मनुष्य होते हैं—अव्रती, देशव्रती और सर्वव्रती। इस श्लोक में बताया गया है कि अव्रती या नामधारी भिक्षुओं से देशव्रती गृहस्थ संयम से प्रधान होते हैं और उनकी अपेक्षा सर्वव्रती भिक्षु संयम से प्रधान होते हैं। इसे एक उदाहरण द्वारा समझाया गया है[2]—

'एक श्रावक ने साधु से पूछा—'श्रावक और साधुओं में कितना अन्तर है ?' साधु ने कहा—'सरसों और मन्दर पर्वत जितना।' तब उसने पुनः आकुल होकर पूछा—'कुलिंगी (वेषधारी) और श्रावक में कितना अन्तर है ?' साधु ने कहा—'वही, सरसों और मन्दर पर्वत जितना।' उसे समाधान मिला। कहा भी है—

सुविहित आचार वाले मुनियों के श्रावक देश विरत होते हैं।
कुतीर्थिक उनकी सौवीं कला को भी प्राप्त नहीं होते।

श्लोक २१

१४–श्लोक २१ :

इस श्लोक में वल्कल धारण करने वाले, चर्म धारण करने वाले, नग्न रहने वाले, जटा रखने वाले, संघाटी रखने वाले और मुंड रहने वाले—इन विचित्र लिंगधारी कुप्रवचन-भिक्षुओं का उल्लेख हुआ है। ये सारे शब्द उस समय के विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के सूचक हैं। मिलाइए—

(क) न नग्गचरिया न जटा न पंका, नानासका थंडिलसायिका वा।
रज्जो च जल्लं उक्कुटिकप्पधानं, सोधेंति मच्चं अवितिण्णकंखं॥

(धम्मपद १०।१३)

(ख) तथा च वाचकः—

चर्मवल्कलचीराणि, कूर्चमुण्डशिखाजटाः।
न व्यपोहन्ति पापानि, शोधकौ तु दयादमौ॥

(सुखबोधा, पत्र १२७)

१–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १३७ :
कुप्रवचनभिक्षवोऽपि केचिदभ्युदयावेव यथा तापसाः पांडुरागाश्च, येऽपि मोक्षायोत्थिता तेऽपि तमन्यथा पश्यन्ति······तथैव लोकोत्तरभिक्षवोऽपि ण सव्वे अणिदाणकरा णिस्सल्ला वा, ण वा सव्वे आसंसापयोग-निरुपहततवसो भवंति इत्यतो विसमसीला य भिक्खुणो।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र २५० :
तथा च वृद्धसम्प्रदायः—एगो सावगो साहुं पुच्छति—सावगाणं साहूणं किमंतरं ?, साहुणा भण्णति—सरिसवमंदरंतरं, ततो सो आउलीहूओ पुणो पुच्छति—कुलिंगीणं सावगाण य किमंतरं ?, तेण भण्णति—तदेव सरिसवमंदरंतरंति, ततो समासासितो, जतो भणियं—

"देसेक्कदेसविरया समणाणं सावगा सुविहियाणं।
जेसिं परपासंडा सतिमंपि कलं न अग्घंति॥"

'चीर'— चूर्णि में इसका अर्थ वल्कल[1] और बृहद् वृत्ति में चीवर किया गया है।[2]

'नगिणिणं'— इसका अर्थ है नग्नता। यहाँ चूर्णिकार ने उस समय में प्रचलित कुछ नग्न सम्प्रदायों का नामोल्लेख किया है। मृगचारिक, उद्दण्डक (हाथ में दण्ड ऊँचा रखकर चलने वाले तापसों का सम्प्रदाय) और आजीवक सम्प्रदाय के साधु नग्न रहते थे।[3]

'संघाडि'— संघाटी—कपड़ों के टुकड़ों को जोड़कर बनाया गया साधुओं का एक उपकरण।[4] इस शब्द के द्वारा सूत्रकार ने सम्भवतः बौद्ध-श्रमणों के प्रति संकेत किया है। महात्मा बुद्ध ने तेरह धुतांगों का वर्णन किया है। उसमें दूसरा धुतांग है—त्रैचीवरिकाङ्ग। संघाटी, उत्तरासंग और अन्तर-वासक—बौद्ध भिक्षु के ये तीन वस्त्र हैं। जो भिक्षु केवल इन्हीं को धारण करता है उसे त्रैचीवरिक कहते हैं और उसका वह धुतांगव्रत त्रैचीवरिकांग कहलाता है।[5]

'मुण्डिणं'—जो अपने सिद्धान्त के अनुसार चोटी कटाते थे उन संन्यासियों के आचार का मुंडित्व शब्द के द्वारा उल्लेख किया गया है।[6]

श्लोक २३

१५–गृहस्थ-सामायिक के अंगों का (अगारि-सामाइयंगाइं क):

सामायिक शब्द का अर्थ है—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र। उसके दो प्रकार हैं—अगारी (गृहस्थ) का सामायिक और अनगार का सामायिक। चूर्णिकार ने अगारि-सामायिक के बारह अंग बतलाए हैं।[7] वे श्रावक के बारह व्रत कहलाते हैं।

शान्त्याचार्य ने अगारि-सामायिक के तीन अंगों का उल्लेख किया है—निःशंकभाव, स्वाध्याय और अणुव्रत।[8]

विशेषावश्यक भाष्यकार ने सामायिक के चार अंग बतलाए हैं—(१) सम्यक् दृष्टि सामायिक, (२) श्रुत सामायिक, (३) देशव्रत (अणुव्रत) सामायिक, (४) सर्वव्रत (महाव्रत) सामायिक।[9] इनमें प्रथम तीन अगारिसामायिक के अंग हो सकते हैं।

१–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १३८ :
चीरं—वल्कलम्।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र २५० :
चीराणि च—चीवराणि।

३–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १३८ :
णिगणं णाम नग्ना एव, यथा मृगचारिका उद्दण्डकाः आजीवकाश्च।

४–बृहद् वृत्ति, पत्र २५० :
संघाटी—वस्त्रसंहतिजनिता।

५–विशुद्धिमार्ग १।२, पृ० ६०।

६–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र २५० :
'मुंडिणं' ति यत्र शिखाऽपि स्वसमयतश्छिद्यते, ततः प्राग्वत् मुण्डित्वम्।
(ख) सुखबोधा, पत्र १०६।

७–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १३९ :
अगारमस्यास्तीति अगारी, अगारसामाइयस्स वा अंगाणि आगारिसामाईयंगाणि, समय एव सामाइयं, अङ्ग्यतेऽनेनेति अंगं तस्स अंगाणि बारसविधो सावगधम्मो, ताण्यगारसामाइयंगाणि, अगारिसामाइयस्स वा अंगाणि।

८–बृहद् वृत्ति, पत्र २५१ :
अगारिणो—गृहिणः सामायिकं—सम्यक्त्वश्रुतदेशविरतिरूपं तस्याङ्गानि—निःशंकताकालाध्ययनाणुव्रतादिरूपाणि अगारि-सामायिकाङ्गानि।

९–विशेषावश्यक भाष्य, गाथा ११९६ :
सम्मसुयदेससव्ववयाण, सामाइयाण मेक्कंपि।

१६–पोषध को (पोसहं ग) :

इसे श्वेताम्बर साहित्य में 'पोषध' या 'प्रोषध' (उत्तराध्ययन चूर्णि पृ० १३६), दिगम्बर साहित्य में 'प्रोषध' और बौद्ध साहित्य में 'उपोसथ' कहा जाता है। यह श्रावक के बारह व्रतों में ग्यारहवाँ व्रत है। इसमें असन, पान, खाद्य, स्वाद्य का तथा मणि, सुवर्ण, माला, उबटन, विलेपन, शस्त्र प्रयोग का प्रत्याख्यान और ब्रह्मचर्य का पालन किया जाता है।[1] इसकी आराधना अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा, अमावस्या—इन पर्व तिथियों में की जाती है।[2] शंख श्रावक के वर्णन से यह ज्ञात होता है कि अशन, पान आदि का त्याग किए बिना भी पोषध किया जाता था।[3]

वसुनन्दि श्रावकाचार में प्रोषध के तीन प्रकार बतलाए गए हैं—उत्तम, मध्यम और जघन्य। उत्तम प्रोषध में चतुर्विध आहार और मध्यम प्रोषध में जल को छोड़कर त्रिविध आहार का प्रत्याख्यान किया जाता है। आयंबिल (आचाम्ल), निर्विकृति, एक स्थान और एक भक्त को जघन्य प्रोषध कहा जाता है। विशेष जानकारी के लिए देखें—वसुनन्दि श्रावकाचार श्लोक २८०-२९४।

स्थानांग में 'पोषधोपवास' और 'परिपूर्ण पोषध'—ये दो शब्द मिलते हैं। पोषध (पर्व दिन) में जो उपवास किया जाता है, उसे पोसधोपवास कहा जाता है।[4] पर्व तिथियों में दिन-रात तक आहार, शरीर-सत्कार आदि को त्याग ब्रह्मचर्य पूर्वक जो धर्माराधना की जाती है उसे परिपूर्ण पोषध कहा जाता है।[5]

उक्त वर्णन के आधार पर पोषध की परिभाषा इस प्रकार बनती है—अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा आदि पर्व-तिथियों में गृहस्थ उपवास पूर्वक धार्मिक आराधना करता है, उस व्रत को पोषध कहा जाता है।[6] बौद्ध साहित्य में भी चतुर्दशी और पूर्णिमा को उपोसथ करने का वर्णन मिलता है।[7] शान्त्याचार्य ने आससेन का एक श्लोक उद्धृत किया है। उसमें भी अष्टमी और पूर्णिमा को पोषध करने का विधान है।[8] 'पोसह' शब्द का मूल 'उपवसथ' होना चाहिए। 'पोसह' का संस्कृत रूप पोषध किया जाता है और उसकी व्युत्पत्ति की जाती है—पोषध अर्थात् धर्म की पुष्टि को धारण करने वाला। यह इस व्रत की भावना को अभिव्यक्त नहीं करती।

चतुर्दशी आदि पर्व-तिथियों को उपवास करने का विधान है, इसलिए वे तिथियाँ भी 'उपोसथ' कहलाती हैं।[9] और उन तिथियों में की जाने वाली उपवास आदि धर्माराधना को भी उपोसथ कहा जाता है।[10] उपोसथ के उकार का अन्तर्धान और 'थ' को 'ह' करने पर उपोसथ का 'पोसह' रूप भी हो सकता है।

बौद्ध-सम्मत उपोसथ तीन प्रकार का होता है—(१) गोपाल-उपोसथ, (२) निर्ग्रन्थ-उपोसथ और (३) आर्य-उपोसथ।

(१) गोपाल-उपोसथ :

जैसे ग्वाला मालिकों को गायें सौंपकर यह सोचता है कि आज गायों ने अमुक अमुक जगह चराई की, कल अमुक-अमुक जगह

१–भगवती, १२।१।

२–स्थानांग, ४।३।३१४।

३–भगवती, १२।१।

४–स्थानांग, ३।१।१५०, ४।३।३१४।

५–वही, ४।३।३१४।

६–बृहद् वृत्ति, पत्र ३१५ :
पोषं-धर्मपुष्टिं धत्त इति पोषधः—अष्टम्यादितिथिषु व्रतविशेषः।

७–विशुद्धिमार्ग, पृ० २७३।

८–बृहद् वृत्ति, पत्र ३१५ :
आह आससेन :—
'सर्वेष्वपि तपोयोगः, प्रशस्तः कालपर्वसु।
अष्टम्यां पंचदश्यां च, नियतं पोषधं वसेद्।

९–मज्झिमनिकाय, पृ० ४५६।

१०–वही, पृ० ३३८।

चरेगी। उसी प्रकार उपोसथ व्रती ऐसा सोचता है कि आज मैंने यह खाया, कल यह खाऊँगा आदि। वह लोभयुक्त चित्त से दिन गुजार देता है, यह गोपाल-उपोसथ-व्रत है। इसका न महान् फल होता है, न महान् परिणाम होता है, न महान् प्रकाश होता है और न महान् विस्तार।[1]

(२) निर्ग्रन्थ-उपोसथ :

निर्ग्रन्थ अपने अनुयायियों को इस प्रकार व्रत लिवाते हैं—पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशा में सौ-सौ योजन तक जितने प्राणी हैं तू उन्हें दण्ड से मुक्त कर। इस प्रकार कुछ के प्रति दया व्यक्त करते हैं और कुछ के प्रति नहीं। निर्ग्रन्थ कहते हैं—तू सभी वस्तुओं को त्यागकर इस प्रकार व्रत ले। न मैं कहीं किसी का हूँ और न मेरा कहीं कोई कुछ है—ऐसा व्रत लेना मिथ्या है, झूठा है। वे मृषावादी हैं उस रात्रि के बीतने पर वह उन त्यक्त वस्तुओं को बिना किसी के दिये ही उपयोग में लाते हैं। इस प्रकार वे चोरी करने वाले होते हैं। इस व्रत का न महान् फल होता है, न महान् परिणाम होता है, न महान् प्रकाश होता है और न महान्-विस्तार।[2]

(३) आर्य-उपोसथ :

आर्य-श्रावक तथागत का अनुस्मरण करता है। उसका चित्त मैल रहित हो जाता है। आर्य श्रावक धर्म का, संघ का, देवताओं का अनुस्मरण करता है। वह हिंसा, चोरी, अब्रह्मचर्य, मृषावाद का त्याग करता है, एकाहारी होता है।

पाणं न हाने न चादिन्नं आदिये।
मुसा न भासे न च मज्जपो सिया॥
अब्रह्मचर्या विरमेय्य मेथुना।
रत्तिं न भुंजेय्य विकालभोजनं॥
मालं न धारेय्य न च गन्धमाचरे।
मंचे छमायं वसयेथ सन्थते॥
एतं हि अट्ठंगिकमाहुपोसथं।
बुद्धेन दुक्खंतगुणं पकासितं॥[3]
चातुद्दसी पंचदसी याव पक्खस्स अट्ठमी
पाटिहारियपक्खंच अट्ठंगसुसमागतं
उपोसथं उपवसेय्य, यो पस्स मादिसो नरो॥[4]

इन प्रकारों में निर्ग्रन्थ-उपोसथ पर कुछ आक्षेप किए गए हैं। किन्तु उपोसथ की साधना अमुक काल के लिए की जाती है और उसके व्रत भी अमुक काल तक स्वीकार किए जाते हैं—इस तथ्य को अनाग्रह-बुद्धि से समझने का प्रयत्न किया जाता तो ये आक्षेप आवश्यक नहीं होते।

श्लोक २४

१७–(छवि-पव्वाओ ग, जक्ख-सलोगयं घ) :

'छवि-पव्वाओ'—छवि का अर्थ है चमड़ी और पर्व का अर्थ है शरीर के संधि स्थल—घुटना, कोहनी आदि। छवि-पर्व का तात्पर्यार्थ है—औदारिक शरीर—चर्म, अस्थि आदि से बना हुआ शरीर।[5]

१–अंगुत्तर-निकाय, भा० १ पृ० २१२।
२–वही, पृ० २१२ १३।
३–वही, पृ० २१३ २२१।
४–वही, पृ० १४७।
५–सुखबोधा, पत्र १०७ :
छविश्च—त्वक् पर्वाणि च—जानुकूर्परादीनि छविपर्व तद्योगाद् औदारिकशरीरमपि छविपर्व ततः।

'जक्ख-सलोगयं'—यक्ष-सलोकता—देवों के तुल्य लोक अर्थात् देवगति।[1] 'ऐतरेय आरण्यक' और 'बृहदारण्यक उपनिषद्' में 'सलोकता' का प्रयोग मिलता है।

ऐतरेय आरण्यक—स यः···वेदाङ्ग सायुज्यं सरूपतां सलोकता मश्नुते। (३।२।१।७, पृष्ठ २४२, २४३)

बृहदारण्यक—एतस्यै देवतायै सायुज्यं सलोकतां जयति। (१।५।२३, पृष्ठ ३८८)

आचार्य सायण और शंकराचार्य ने सलोकता का अर्थ 'समान-लोक या एक स्थान में बसना' किया है।[2]

दीघनिकाय के अनुवाद में भी इसका यही अर्थ है।[3] दीघनिकाय मूल में सलोकता के अर्थ में सहव्यता का प्रयोग मिलता है—ब्रह्म-सुरियानां सहव्यताय मग्गं देसेतुं—अजयमेव उजु-मग्गो। (१।१३, पृष्ठ २७३)

श्लोक २६

१८–मोह रहित (विमोहाइं क) :

चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—अन्धकार रहित और स्त्रियों से रहित।[4] शान्त्याचार्य के अनुसार वे कामात्मक मोह से रहित होते हैं। द्रव्य-मोह (अन्धकार) तथा भाव-मोह (मिथ्यादर्शन) ये दोनों वहाँ नहीं होते इसलिए उन्हें विमोह कहा गया है।[5]

श्लोक २७

१९–अभी उत्पन्न हुए हों—ऐसी कान्ति वाले (अहुणोववन्न-संकासा ग) :

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—अभिनव उत्पन्न की तरह किया है।[6] टीकाकारों ने इसका अर्थ 'प्रथम उत्पन्न देवता के तुल्य' किया है। इसका तात्पर्य है कि उनमें औदारिक शरीर गत अवस्थाएँ नहीं होती। वे न बालक होते हैं और न बूढ़े, सदा एक से रहते हैं। उनका रूप-रंग और लावण्य जैसा उत्पत्ति के समय होता है वैसा ही अन्तकाल में होता है।[7]

१–सुखबोधा, पत्र १०७ :
यक्षाः—देवाः,समानो लोकोऽस्येति सलोकस्तद्भावः सलोकता, यक्षैः सलोकता यक्षसलोकता ताम्।

२–(क) ऐतरेयारण्यक, पृ० २४३ :
सलोकतां समानलोकवासित्वमश्नुते।

(ख) बृहदारण्यक उपनिषद्, पृ० ३९१ :
सलोकतां समानलोकतां वा एकस्थानत्वम्।

३–दीघनिकाय, पृ० ८८।

४–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १४० :
'विमोहाइं' विमोहानीति निस्तमांसीत्यर्थः, तमो हि बाह्यमाभ्यन्तरं च, बाह्यं तावदन्येष्वपि देवलोकेषु तमो नास्ति, किं पुनरनुत्तरविमानेषु ? अभ्यंतरतममधिकृत्यापदिश्यते—सर्व एव हि सम्यग्दृष्टयः, अथवा मोहयंति पुरुषं मोहसंज्ञाताः स्त्रियः, ताः तत्र न।

५–बृहद् वृत्ति, पत्र २५२ :
विमोहा इवात्यवेदादिमोहनीयोदयतया विमोहाः, अथवा मोहो द्विधा—द्रव्यतो भावतश्च, द्रव्यतोऽन्धकारो भावतश्च मिथ्या-दर्शनादिः, स द्विविधोऽपि सततरत्नोद्योतितत्वेन सम्यग्दर्शनस्यैव च तत्र सम्भवेन विगतो येषु ते विमोहाः।

६–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १४० :
'अहुणोववन्नसंकासा' अभिनवोपपन्नस्य देहस्य सर्वस्यैवाभ्यधिका द्युतिर्भवति अनुत्तरेष्वपि।

७–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र २५२ :
अधुनोपपन्नसंकाशाः प्रथमोत्पन्नदेवतुल्याः, अनुत्तरेषु हि वर्णद्युत्यादि यावदायुस्तु तावदेव भवति।

(ख) सुखबोधा, पत्र १०८।

श्लोक २६

२०–श्लोक २६ :

इस श्लोक का प्रतिपाद्य है कि संयत मुनि मृत्यु से नहीं डरते, मृत्यु के समीप आने पर वे त्रास नहीं पाते, वे मृत्यु को उत्सव मानते हैं। इसको पुष्ट करते हुए नेमिचन्द्र ने एक श्लोक उद्धृत किया है[1]—

सुगहियतवपत्थयणा, विसुद्धसम्मत्त-नाण-चारित्ता ।
मरणं ऊसवभूयं, मन्नंति समाहियप्पाणो ॥

अर्थात् जिनके पास तपरूपी पाथेय है, जिनका श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र विशुद्ध है, वे समाहित आत्मा वाले मुनि मरण को 'उत्सव' मानते हैं।

श्लोक ३२

२१–शरीर का त्याग करता है (आघायाय समुस्सयं ख) :

शान्त्याचार्य ने इसका अर्थ 'बाह्य और आन्तरिक शरीर का नाश करता हुआ' किया है।[2] इस अर्थ के आधार पर इसका संस्कृत रूप—'आघातयन् समुच्छ्रयम्' बनता है। इस चरण का वैकल्पिक अर्थ 'शरीर के विनाश का अवसर आने पर' भी किया गया है। यह अर्थ करने में विभक्ति का व्यत्यय मानना पड़ा, अतः इसमें उसका संस्कृत रूप भी बदल गया, जैसे—'आघाताय समुच्छ्रयस्य'[3]। आचारांग (१।४।४।२) वृत्ति में समुच्छ्रय का अर्थ 'शरीर' किया गया है। बौद्ध साहित्य में समुच्छ्रय का अर्थ 'देह' मिलता है।[4] इस श्लोक में 'आघायाय' शब्द 'आघायाये' के स्थान पर प्रयुक्त हुआ है—ऐसा सरपेन्टियर ने लिखा है और उन्होंने पिसेल का नामोल्लेख कर अपनी बात की पुष्टि की है।[5]

२२–(तिण्हमन्नयरं मुणी घ) :

भक्त-परिज्ञा, इंगिनी और पादोपगमन—ये अनशन के तीन प्रकार हैं। मुनि को इन तीनों में से किसी एक के द्वारा देह-त्याग करना चाहिये। इसलिए उसके मरण के भी ये तीन प्रकार हो जाते हैं। चतुर्विध आहार तथा बाह्य और आभ्यन्तर उपधि का जो यावज्जीवन के लिए प्रत्याख्यान किया जाता है उस अनशन को भक्त-परिज्ञा कहा जाता है। इंगिनी में अनशन करने वाला निश्चित स्थान में ही रहता है, उससे बाहर नहीं जाता। पादोपगमन में अनशन करने वाला कटे हुए वृक्ष की भाँति स्थिर रहता है और शरीर की सार-संभाल नहीं करता।[6]

१–सुखबोधा, पत्र १०८।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र २५४ :
'आघायाय' त्ति आर्षत्वात् आघातयन् संलेखनादिभिरुपक्रमणकारणैः समन्ताद् घातयन्—विनाशयन्, कं ?—समुच्छ्रयम्—अन्तः कार्मणशरीरं बहिरौदारिकम्।

३–वही, पत्र २५४ :
यद्वा—'समुस्सयं' त्ति सुब्व्यत्ययात्समुच्छ्रयस्याघाताय—विनाशाय काले सम्प्राप्त इति।

४–महावस्तु, पृ० ३६९।

५–उत्तराध्ययन, पृ० ३०१।

६–उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २२५।

अध्ययन ६

खुड्डागनियंठिज्जं

श्लोक १

१–अविद्यावान् (मिथ्यात्व से अभिभूत) (अविज्जा क) :

जिसमें तत्त्वज्ञानात्मिका विद्या न हो, उसे अविद्य कहा जाता है। अविद्य का अर्थ सर्वथा अज्ञानी नहीं किन्तु अतत्त्वज्ञ है। जीव सर्वथा ज्ञान-शून्य होता ही नहीं। यदि ऐसा हो तो फिर जीव और अजीव में कोई भेद ही नहीं रह जाता।[1]

श्लोक २

२–(पास-जाईपहे ख, अप्पणा सच्चं ग) :

'पास-जाईपहे'—चूर्णि में 'पास' का अर्थ 'पश्य' और 'जाति-पथ' का अर्थ चौरासी लाख जीवयोनि किया गया है।[2] टीका में 'पास' का अर्थ 'स्त्री आदि का सम्बन्ध' है। वे एकेन्द्रिय आदि जातियों के 'मार्ग' होते हैं, इसलिए उन्हें जाति-पथ कहा गया है। 'पाशजातिपथ' अर्थात् एकेन्द्रिय आदि जातियों में ले जाने वाले स्त्री आदि के सम्बन्ध।[3] हमने 'पास' और 'जाइपह' को असमस्त मानकर अनुवाद किया है।

'अप्पणा'—इसका तात्पर्य है कि व्यक्ति स्वयं सत्य की खोज करे। पराभियोग—दूसरों के दबाव से, भय से अथवा लोक-रंजन के लिए सत्य की गवेषणा का कोई विशेष अर्थ नहीं होता। इसीलिए कहा गया है कि सर्वत्र सदा आत्मना—स्वयं अपनी स्वतंत्र भावना से—सत्य की मार्गणा करे।

'सच्चं'—सत् अर्थात् जीव। उसके लिए जो हितकर होता है उसे सत्य कहा जाता है। यथार्थ-ज्ञान और संयम जीव के लिए हितकर होते हैं। इसलिए ये सत्य कहलाते हैं।[4]

इस श्लोक में बताया गया है कि सत्य की खोज वही कर सकता है जो बंधनों की समीक्षा में पंडित हो। सत्य को वही पा सकता है जो स्वतन्त्र चेतना से उसकी शोध करता है। सत्य की शोध का नवनीत विश्वमैत्री—सर्वभूत मैत्री है।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र २६२ :

वेदनं विद्या—तत्त्वज्ञानात्मिका, न विद्या अविद्या—मिथ्यात्वोपहतकुत्सितज्ञानात्मिका, तत्प्रधानाः पुरुषाः अविद्यापुरुषाः, अविद्यमाना वा विद्या येषां ते अविद्यापुरुषाः, इह च विद्या शब्देन प्रभूतश्रुतमुच्यते, न हि सर्वथा श्रुताभावः जीवस्य, अन्यथा अजीवत्वप्राप्तेः, उक्तं हि—

> 'सव्वजीवाणंपि य णं अक्खरस्सऽणंतभागो णिच्चुग्घाडितो ।
> जवि सोऽवि आवरिज्जेज्ज तो णं जीवो अजीवत्तणं पावेज्जा ॥'

२–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १४९ :

'पास' त्ति पास, जायत इति जाती, जातीनां पंथा जातिपंथाः, अतस्ते जातिपंथा बहुं 'चुलसीतिं खलु लोए जोणीणं पमुहसयसहस्साइं ।'

३–बृहद् वृत्ति, पत्र २६४ :

पाशा—अत्यन्तपारवश्यहेतवः, कलत्रादिसम्बन्धास्त एव तीव्रमोहोदयादिहेतुतया जातीनाम्—एकेन्द्रियादिजातीनां पन्थानः—तत्प्रापकत्वान्मार्गाः पाशजातिपथाः तान् ।

४–वही, पत्र २६४ :

सद्भ्यो—जीवादिभ्यो हितः—सम्यग् रक्षण—प्ररूपणादिभिः सत्यः—संयमः सदागमो वा ।

श्लोक ४

३–(सपेहाए [क], पासे समियदंसणे [ख], गेहिं सिणेहं [ग]) :

'सपेहाए'—चूर्णि में इसका अर्थ 'सम्यक्‌बुद्धि से' है।[1] शान्त्याचार्य ने इसके दो अर्थ किए हैं—सम्यक्-बुद्धि से अथवा अपनी बुद्धि से।[2] नेमिचन्द्र ने केवल 'अपनीबुद्धि से' किया है।[3] यही शब्द ७।१९ में आया है, वहाँ इसका अर्थ 'सम्यक्-आलोचना करके' किया गया है।[4] अपनी बुद्धि से—यह अर्थ अधिक उपयुक्त है।

'पासे'—चूर्णिकार ने इसका अर्थ 'पाश'—बन्धन किया है।[5] टीकाकारों ने इसे क्रिया मानकर इसका अर्थ 'देखें'—अवधारण करें ऐसा किया है।[6]

'समियदंसणे'—जिसका मिथ्या-दर्शन शमित हो गया हो उसे शमित-दर्शन अथवा जिसे दर्शन समित—प्राप्त हुआ हो, उसे समित-दर्शन कहा जाता है। इन दोनों का अर्थ है—सम्यक् दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति।[7]

'गेहिं सिणेहं'—चूर्णिकार का कहना है कि गृद्धि द्रव्य, गाय, भैंस, बकरी, भेड़, धन, धान्य आदि में होती है और स्नेह बन्धुजनों के प्रति होता है।[8]

श्लोक ६

४–सब प्राणियों को अपना जीवन प्रिय है (पियायए [ख]) :

चूर्णि और वृत्तियों में इसकी व्याख्या प्रियात्मक या प्रियदय के रूप में की गई है।[9] सरपेन्टियर ने इस शब्द की मीमांसा करते हुए लिखा है कि पाली साहित्य में 'पियायति' धातु का प्रयोग मिलता है, जिसका अर्थ है चाहना, उपासना करना, सत्कार करना आदि और संभव

१–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५० :
सम्यक् प्रेक्षया सपेहाए।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र २६४ :
'सपेहाए' त्ति प्राकृतत्वात् संप्रेक्षया—सम्यग्बुद्धया स्वप्रेक्षया वा।

३–सुखबोधा, पत्र ११२ :
स्वप्रेक्षया—स्वबुद्धया।

४–वही, पत्र १२१ :
'सपेहाए' त्ति सम्प्रेक्ष्य—सम्यगालोच्य।

५–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५० :
पाश्यतेऽनेनेति पाशः।

६–सुखबोधा, पत्र ११२ :
'पश्येत्' अवधारयेत्।

७–बृहद् वृत्ति, पत्र २६४ :
शमितं दर्शनं प्रस्तावात् मिथ्यात्वात्मकं येन स तथोक्तः, यदि वा सम्यक् इतं—गतं जीवादिपदार्थेषु दर्शनं—दृष्टिरस्येति समित-दर्शनः, कोऽर्थः ?—सम्यग्दृष्टिः।

८–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५१ :
गृद्धिः द्रव्यगोमहिष्यजाविकाधनधान्यादिषु स्नेहस्तु बान्धवेषु।

९–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५१ :
'पियायए' प्रिय आत्मा येषां ते प्रियात्मानः।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र २६५ :
'पियायए' त्ति आत्मवत् सुखप्रियत्वेन प्रिया दया—रक्षणं येषां तान् प्रियदयान्, प्रियआत्मा येषां तान् प्रियात्मकान् वा।

(ग) सुखबोधा, पत्र ११२।

है यही क्रिया जैन-महाराष्ट्री में भी आई हो। अतः इस धातु के 'पियायइ', 'पियाएइ' रूपों से 'पियायए' रूप भी सहज गम्य हो जाता है। इस रूप को मानने पर ही प्रथम दो चरणों का अर्थ सहज सुगम हो जाता है।[1]

यदि हम टीकाकारों का अनुसरण करते हैं तो हमें 'दिस्स' शब्द को दोनों ओर जोड़ना पड़ता है और यदि हम 'पियायए' को धातु मान लेते हैं तो ऐसा नहीं करना पड़ता और अर्थ में भी विपर्यास नहीं होता। इसके अनुसार 'पाणे पियायए' का अर्थ होगा—प्राणियों के साथ मैत्री करे।

किन्तु आचारांग के—सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया, दुक्खपडिकूला, अप्पियवहा, पियजीविणो, जीविउकामा, सव्वेसिं जीवियं पियं (१।२।३।६३,६४) संदर्भ में इस श्लोक को पढ़ते हैं तो 'पियायए' का अर्थ प्रियायुष् (प्रियायुषः) संभव लगता है और अर्थ संगति की दृष्टि से भी यह उचित है। 'पियायए'—यहाँ पियाउए पाठ की परावृत्ति हुई है—ऐसा लगता है।

आचारांग वृत्ति में 'सव्वे पाणा पियाउया' का पाठान्तर है—'सव्वे पाणा पियायया'। शीलांक सूरि ने 'पियायया' का अर्थ—जिन्हें अपनी आत्मा प्रिय हो वे प्राणी—किया है।[2] पियायया प्रथमा का बहुवचन है और पियायए द्वितीया का बहुवचन। इस प्रकार घूम-फिर कर हम फिर 'पियायय' के प्रियात्मक अर्थ पर ही आ पहुँचते हैं।

श्लोक ७

५–(नरयं क, दोगुंछी ग, अप्पणो पाए ग, दिन्नं घ) :

'नरयं'—परिग्रह नरक का हेतु है। अतः कारण में कार्य का उपचार कर उसे नरक कहा गया है।[3] आचारांग (१।१।२।२४) में भी ऐसा प्रयोग हुआ है। वहाँ हिंसा आदि को नरक कहा गया है।

'दोगुंछी'—चूर्णिकार के अनुसार जुगुप्सा का अर्थ 'संयम' है। जो असंयम से जुगुप्सा करता है वह जुगुप्सी है।[4]

शान्त्याचार्य और नेमिचन्द्र ने इसका अर्थ—आहार किए बिना धर्म करने में असमर्थ शरीर से जुगुप्सा करने वाला—किया है।[5]

पहले अर्थ की ध्वनि है—असंयम के प्रति जुगुप्सा करने वाला और दूसरे की ध्वनि है—शरीर की असमर्थता के प्रति जुगुप्सा करने वाला।

'अप्पणो पाए'—चूर्णिकार ने कहा है—संयमी-जीवन के निर्वाह के लिए पात्र आवश्यक है। वह परिग्रह नहीं है।[6] मुनि अपने

१—उत्तराध्ययन, पृ० ३०३।

२—आचारांग १।२।३।८१, वृत्ति पत्र ११०, १११ :
पाठान्तरं वा 'सव्वेपाणा पियायया', आयतः— आत्माऽनाद्यनन्तत्वात स प्रियो येषां ते तथा सर्वेपि प्राणिनः प्रियात्मानः।

३—बृहद् वृत्ति, पत्र २६६ :
नरककारणत्वान्नरकम्।

४—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५२ :
दुगुंछा—संजमो, किं दुगुंछति ?, असंजमम्।

५–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र २६६ :
जुगुप्सते आत्मानमाहारं विना धर्मधुराधरणाक्षममित्येवंशीलो जुगुप्सी।
(ख) सुखबोधा, पत्र ११२।

६—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५२ :
पाति जीवानात्मानं वा तेनेति पात्रं, आत्मीयपात्रग्रहणात् मा भूत्करिष्यत्परपात्रे गृहीत्वा भक्ष्यति तेन पात्रग्रहणं, ण सो परिग्गह इति।

पात्र में भोजन करे, गृहस्थ के पात्र में भोजन न करे। इसके समर्थन में शान्त्याचार्य ने "पच्छाकम्मं पुरेकम्मं" (दशवैकालिक ६।५२) श्लोक उद्धृत किया है। उन्होंने इस उद्धरण के पूर्व 'शय्यम्भवाचार्यः' का उल्लेख किया है।[1]

'पाए दिन्नं'—मिलाइए बौद्धों का छट्ठा धुतांग 'पात्र-पिंडिकांग'। (विशुद्धि मार्ग १।२, पृष्ठ ६०)

श्लोक ८

६–आचार को (आयरियं ग):

चूर्णिकार ने इसका संस्कृत रूप 'आचरितं' और शान्त्याचार्य ने 'आर्यम्' किया है। नेमिचन्द्र ने 'आयारियं' पाठ मानकर इसका संस्कृत रूप 'आचारिकम्' किया है। आचरित का अर्थ आचार[2], आर्य का अर्थ तत्त्व[3] और आचारिक का अर्थ अपने-अपने आचार में होने वाला अनुष्ठान है[4]।

डॉ० हर्मन जेकोबी ने पूर्व व्याख्याओं को अमान्य किया है। वे इसका अर्थ 'आचार्य' करते हैं।[5]

'आयरिय' के संस्कृत रूप आचरित और आचार्य दोनों हो सकते हैं, इसलिए आचरित को अमान्य करने का कोई कारण प्राप्त नहीं है। हाँ, 'आर्यम्' अवश्य ही चिन्तनीय है। किन्तु इस श्लोक में एकान्तिक ज्ञानवाद का निरसन है। सांख्य आदि तत्त्वज्ञता, भेदज्ञान या विवेकज्ञान से मोक्ष मानते हैं। उनकी सुप्रसिद्ध उक्ति है—

पंचविंशतितत्त्वज्ञो, यत्र तत्राश्रमे रतः।
शिखी मुण्डी जटी वापि, मुच्यते नात्र संशयः॥

'आर्य' का अर्थ तत्त्व भी है इसलिए प्रकरण की दृष्टि से शान्त्याचार्य की व्याख्या अनुपयुक्त नहीं है। वे 'आयरिय' के संस्कृत रूप 'आर्य' होने में स्वयं संदिग्ध थे, इसीलिए उन्होंने इस प्रयोग को सौत्रिक बतलाया। 'आयारिय' का संस्कृत रूप आकारित भी होता है। आकारित अर्थात् आह्वान-वचन। जो लोग केवल आह्वान-वचनों—मंत्रों के जप से सर्व दुःख मुक्ति मानते हैं, प्रत्याख्यान या संयम करना आवश्यक नहीं मानते। 'आयारिय' पाठ के आधार पर यह व्याख्या भी हो सकती है।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र २६६ :

पात्रग्रहणं तु व्याख्याद्वयेऽपि मा भूत् निष्परिग्रहतया पात्रस्याप्यग्रहणमिति कस्यचिद् व्यामोह इति ख्यापनार्थं, तदपरिग्रहे हि तथाविधलब्ध्याद्यभावेन पाणिभोक्तृत्वाभावाद् गृहिभाजन एव भोजनं भवेत्, तत्र च बहुदोषसम्भवः, तथा च शय्यम्भवाचार्यः—

पच्छाकम्मं पुरेकम्मं, सिया तत्थ ण कप्पइ।
एयमट्ठं ण भुंजंति, णिग्गंथा गिहिभायणे॥

२–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५२ :

आचारे निविष्टमाचरितं, आचरणीयं वा।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र २६६ :

'आयरियं' ति सूत्रत्वात् आराद्यातं सर्वकुयुक्तिभ्य इत्यार्यं तत्त्वम्।

४–सुखबोधा, पत्र ११३ :

'आचारिकं' निजनिजाऽऽचारभवमनुष्ठानमेव।

५—Sacred Books of the East, Vol. XLV, Uttarādhyayana, p. 25.

श्लोक १०

७–(चित्ता क, विज्जाणुसासणं ख) :

'चित्ता'—'चित्रा' भाषा का विशेषण है। वह धातु, उपसर्ग, सन्धि, तद्धित, काल, प्रत्यय, प्रकृति, लोप, आगम आदि भेदों से विभिन्न शब्दों वाली,[१] अथवा प्राकृत, संस्कृत आदि विभिन्न रूपों वाली होती है इसलिए उसे विचित्र कहा गया है।[२]

'विज्जाणुसासणं'—इसका अर्थ है—मंत्र आदि का शिक्षण।[3] डॉ० हरमन जेकोबी ने इसका अर्थ—दार्शनिक शिक्षण—किया है।[४]

श्लोक ११

८–श्लोक ११ :

'मन, वचन और काया से शरीर में आसक्त होते हैं' इसे स्पष्ट करते हुए नेमिचन्द्र ने कहा है—'हम सुन्दर और मोटे शरीर वाले कैसे बनें'—मन से सतत यह चिन्तन करना, काया से सदा रसायन आदि का उपयोग कर शरीर को बलिष्ठ बनाने का प्रयत्न करना और वाणी से रसायन आदि सम्बन्धित प्रश्न करते रहना आसक्ति है।[५]

श्लोक १२

९–सब दिशाओं (उत्पत्ति स्थानों) को (सव्वदिसं ग) :

यहाँ दिशा शब्द से समस्त भाव-दिशाओं का ग्रहण किया गया है। भाव-दिशा अठारह प्रकार की होती है। जैसे—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, मूलबीज, स्कन्धबीज, अग्रबीज, पर्वबीज, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय, तिर्यग्योनिक, नारक, देव, सम्मूर्च्छनज, कर्म-भूमिज, अकर्म-भूमिज, अन्तर-द्वीपज।[६]

श्लोक १३

१०–आत्मा देह से भिन्न है (अथवा मोक्ष संसार से बाह्य और ऊर्ध्व है) (बहिया उड्ढं क) :

लोकायत मानते हैं कि—'ऊर्ध्वं देहात् पुरुषो न विद्यते, देह एव आत्मा'—देह से ऊर्ध्व—परे कोई आत्मा नहीं है, देह ही आत्मा है। इसका निरसन करते हुए सूत्रकार ने कहा है—'बहिया उड्ढं'—शरीर से परे भी आत्मा है। यह चूर्णि की व्याख्या है।[७] वृत्तियों के अनुसार 'बहिया उड्ढं' का अर्थ मोक्ष है। जो संसार से बहिर्भूत है और सबसे ऊर्ध्ववर्ती है उसे 'बहिः ऊर्ध्व' कहा जाता है।[८]

१–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५३ :
चित्रामाम धातूपसर्गसन्धितद्धितकालप्रत्ययप्रकृतिलोपागमविशुद्धया।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र २६७ :
'चित्रा' प्राकृतसंस्कृतादिरूपा आर्यविषयं ज्ञानमेव मुक्त्यंगमित्यादिका वा।

३–वही, पत्र २६७ :
विबन्ध्यनया तत्त्वमिति विद्या—विचित्रमंत्रात्मिका तस्या अनुशासनं—शिक्षणं विद्यानुशासनम्।

४–Sacred Books of the East, Vol. XL.V, Uttarādhyayana, p. 26.

५–सुखबोधा, पत्र ११३, ११४।

६–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५४।
(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र २६८।

७–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५५।

८–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र २६८ :
'बहिय' त्ति बहिः, कोऽर्थः ?—बहिर्भूतं भवादिति गम्यते, ऊर्ध्वं सर्वोपरिस्थितम् अर्थान्मोक्षम्।
(ख) सुखबोधा, पत्र ११४।

श्लोक १४

११–(काल-कंखी ख, पिंडस्स पाणस्स ग)

'कालकंखी'—चूर्णिकार ने इसका अर्थ—पण्डित-मरण के काल की आकांक्षा करने वाला अर्थात् आजीवन संयम की इच्छा करने वाला—किया है।[1]

शान्त्याचार्य और नेमिचन्द्र ने इसका अर्थ क्रियोचित काल की आकांक्षा करने वाला किया है।[2] 'कालकंखी परिव्वए'—ये दो शब्द आचारांग १।३।२।११२ में ज्यों-के-त्यों आए हैं।

'पिंडस्स पाणस्स'—इस श्लोक में केवल दो शब्द—पिण्ड और पान आए हैं। अन्यत्र अनेक स्थानों में—असणं, पाणं, खाइमं, साइमं—ऐसे चार शब्द आते हैं। चूर्णिकार ने पिण्ड शब्द को अशन, खाद्य और स्वाद्य—इन तीनों का सूचक माना है।[3] मुनि खाद्य और स्वाद्य का प्रायः उपभोग नहीं करते, ऐसा वृत्तिकारों का अभिमत है।[4] अभयदेव सूरि ने भी स्थानांग वृत्ति में ऐसा ही मत प्रकट किया है।[5] चौदह प्रकार के दान जो बतलाए हैं उनमें खाद्य, स्वाद्य भी सम्मिलित हैं।[6] इन दोनों प्रकारों के उल्लेखों से यही जान पड़ता है कि इनका ऐकान्तिक निषेध नहीं है।

श्लोक १५

१२–संयमी मुनि लेप लगे उतना भी संग्रह न करे—बासी न रखे (सन्निहिं च न कुव्वेज्जा क, लेवमायाए संजए ख) :

सन्निधि का अर्थ है—अशन आदि को स्थापित करके रखना, दूसरे दिन के लिए संग्रह करना।[7]

निशीथ चूर्णि में थोड़े समय के बाद विकृत हो जाने वाले दूध, दही आदि को सन्निधि और चिरकाल तक न बिगड़ने वाले घी, तेल आदि को संचय कहा है।[8]

लेप मात्र का अर्थ है—जितनी वस्तु से पात्र पर लेप लगे उतनी मात्रा। मात्रा शब्द के अनेक अर्थ होते हैं—

१–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५५ :
कालनाम यावदायुषः तं पंडितमरणकालं काङ्क्षमाणः।

२–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र २६८, २६९ :
कालम् अनुष्ठानप्रस्तावं काङ्क्षत इत्येवंशीलः कालकाङ्क्षी।
(ख) सुखबोधा, पत्र ११४।

३–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५५ :
पिण्डग्रहणात् त्रिविध आहारः।

४–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र २६९ :
'पिण्डस्य' ओदनादेरन्नस्य 'पानस्य च' आयामादेः, खाद्यस्वाद्यानुपादानं च यतेः प्रायस्तत्परिभोगासम्भवात्।
(ख) सुखबोधा, पत्र ११४।

५–स्थानांग ९।६६३, वृत्ति, पत्र ४४५ :
खाद्यस्वाद्ययोरुत्सर्गतो यतीनामयोग्यत्वात्पानभोजनयोर्ग्रहणमिति।

६–उपासकदशा २ :
असणपाणखाइमसाइमेणं···पडिलाभेमाणस्स विहरित्तए।

७–बृहद् वृत्ति, पत्र २६९ :
सन्निधिः—प्रातरिदं भविष्यतीत्याद्यमसन्धितोऽतिरिक्ताशनादिस्थापनम्।

८–निशीथ चूर्णि, उद्देशक ८, सूत्र १८।

ईषदर्थे क्रियायोगे, मर्यादायां परिच्छदे ।
परिणामे घने चेति, मात्रा शब्दः प्रकीर्तितः ॥

यहाँ मात्रा शब्द परिमाण के अर्थ में है ।[1] शान्त्याचार्य ने इसे मर्यादा के अर्थ में भी माना है । उनके अनुसार इसका अर्थ होगा—मुनि अपने काष्ठ पात्र पर गाढ़े तेल या रोगन आदि का लेप लगाए उसके अतिरिक्त किसी प्रकार की सन्निधि न रखे ।[2]

१३—(पक्षी की भाँति कल की अपेक्षा न रखता हुआ पात्र लेकर भिक्षा के लिए पर्यटन करे) (पक्खी पत्तं समादाय ग, निरवेक्खो परिव्वए घ) :

यहाँ 'पत्त' शब्द में श्लेष है । इसके दो अर्थ होते हैं—पत्र (पंख) और भिक्षा-पात्र । चूर्णिकार ने इसका अर्थ किया है—जैसे पक्षी अपने पंखों को साथ लिए उड़ता है, इसलिए उसे पीछे की कोई अपेक्षा—चिन्ता नहीं होती, वैसे ही भिक्षु अपने पात्र आदि उपकरणों को जहाँ जाए वहाँ साथ ले जाए, संग्रह करके कहीं रखे नहीं अर्थात् पीछे की चिन्ता से मुक्त होकर—निरपेक्ष होकर विहार करे ।[3]

वृत्तिकारों ने इसका तात्पर्यार्थ किया है कि संयमोपकारी पात्र आदि उपकरणों की सन्निधि करने में दोष नहीं है ।[4]

शान्त्याचार्य ने वैकल्पिक अर्थ में 'पत्त' को पात्र मानकर व्याख्या की है ।[5] हमारा अनुवाद इसी पर आधारित है ।

श्लोक १७

१४—ज्ञातपुत्र (नायपुत्ते ग) :

चूर्णि में नायपुत्त का अर्थ—ज्ञातकुल में प्रसूत सिद्धार्थ क्षत्रिय के पुत्र—है ।[6] वृत्तियों में ज्ञात का अर्थ उदार-क्षत्रिय, प्रकरण वश सिद्धार्थ किया गया है । ज्ञातपुत्र अर्थात् सिद्धार्थ पुत्र ।[7] आचाराङ्ग में भगवान् के पिता को काश्यपगोत्री कहा गया है ।[8] भगवान् इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न हुए, यह भी माना जाता है ।[9] भगवान् ऋषभ इक्ष्वाकुवंशी और काश्यपगोत्री थे । इसीलिए वे आदि काश्यप कहलाते हैं । भगवान् महावीर भी

१—सुखबोधा, पत्र ११४ :
'लेपमात्रया' यावतापात्रमुपलिप्यते तावत्परिमाणमपि ।

२—बृहद् वृत्ति, पत्र २६९ :
लेपः—शकटाक्षादिनिष्पादितः पात्रगतः परिगृह्यते, तस्य मात्रा—मर्यादा, मात्राशब्दस्य मर्यादावाचित्वेनापि रूढत्वात्… लेपमात्रतया, किमुक्तं भवति ?—लेपमेकं मर्यादीकृत्य न स्वल्पमप्यन्यत सन्निदधीत ।

३—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५६ :
यथाऽसौ पक्षी तं पत्रभारं समादाय गच्छति एवमुपकरणं भिक्षुरादाय णिरवेक्खो परिव्वए ।

४—(क) बृहद् वृत्ति, पत्र २६९ :
तथा च प्रतिदिनमसंयमपलिमन्थभीरुतया पात्राद्युपकरणसन्निधिकरणेऽपि न दोषः ।
(ख) सुखबोधा, पत्र ११५ ।

५—बृहद् वृत्ति, पत्र २६९ :
पक्षीव निरपेक्षः, पात्रं पतद्ग्रहादिभाजनमर्थात्तन्निर्योगं च समादाय व्रजेद्—भिक्षार्थं पर्यटेत्, इदमुक्तं भवति—मधुकरवृत्त्या हि तस्य निर्वहणं, तत्किं तस्य सन्निधिना ?

६—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५६ :
णातकुलप्पभू (सू) ते सिद्धत्थखत्तियपुत्ते ।

७—(क) बृहद् वृत्ति, पत्र २७० :
ज्ञातः—उदारक्षत्रियः स चेह प्रस्तावात् सिद्धार्थः तस्य पुत्रो ज्ञातपुत्रः—वर्तमानतीर्थाधिपतिर्महावीर इति यावत् ।
(ख) सुखबोधा, पत्र ११५ ।

८—आचारांग २।१५।१७ :
समणस्स णं भगवओ महावीरस्स पिआ कासवगोत्तेणं ।

९—अभिधान चिन्तामणि, १।३५ ।

इक्ष्वाकुवंशी और काश्यप गोत्री थे। 'ज्ञात' काश्यप गोत्रियों का कोई अवान्तर भेद था या सिद्धार्थ का ही कोई दूसरा नाम था अथवा 'नाय' का मूल अर्थ समझने में भ्रम हुआ है। हो सकता है उसका अर्थ नाग हो और ज्ञात समझ लिया गया हो।

वज्जी देश के शासक लिच्छवियों के नौ गण थे। ज्ञात या नाग उन्हीं का एक भेद था। देखें—दशवैकालिक ६।२० का टिप्पण, संख्या ४०।

१५—वैशालिक (वेसालिए घ) :

चूर्णिकार ने वैशालिक के कई अर्थ किए हैं—जिसके गुण विशाल हों, जिसका शासन विशाल हो, जो विशाल इक्ष्वाकुवंश में जन्मा हो, जिसकी माता वैशाली हो, जिसका कुल विशाल हो, उसे वैशालिक कहा जाता है।[1] इसके संस्कृत रूप वैशालीयः, वैशालियः, विशालिकः, विशालीयः और वैशालिकः हैं।

जैनागमों में स्थान-स्थान पर भगवान् महावीर को 'वेसालिय' कहकर सम्बोधित किया गया है। कारण कि भगवान् का जन्म स्थान कुण्ड ग्राम था। वह वैशाली के पास था। जन्म स्थान के विषय में श्वेताम्बर और दिगम्बर एक मत नहीं हैं परन्तु वेसालिय शब्द पर ध्यान जाते ही वैशाली की याद आ जाती है।

भगवान् की माता त्रिशला वैशाली के गणराज्य के अधिपति चेटक की बहिन थी। इसके अनुसार चूर्णिकार का यह अर्थ—वैशाली जिसकी माता हो—बहुत संगत लगता है।

१—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५६, १५७ :

'वेसालीए' त्ति, गुणा अस्य विशाला इति वैशालीयः, विशालं शासनं वा, विशाले वा इक्ष्वाकुवंशे भवा वैशालिया,

"वैशाली जननी यस्य, विशालं कुलमेव च।
विशालं प्रवचनं वा, तेन वैशालिको जिनः॥"

अध्ययन ७

श्लोक १

१—श्लोक १ :

चूर्णिकार और टीकाकार ने यहाँ एक कथा प्रस्तुत की है। कथा के प्रसंग मे निर्युक्ति की एक गाथा है—

आउरचिन्नाइं एयाइं, जाइं चरइ नंदिओ।
सुक्कत्तणेहिं लाढाहि एयं दीहाउलक्खणम् ॥[1]

गाय ने अपने बछड़े से कहा—"वत्स ! यह नंदिक—मेमना जो खा रहा है, वह आतुर का चिन्ह है। रोगी अन्तकाल में पथ्य या अपथ्य जो कुछ मांगता है, वह सब उसे दे दिया जाता है। वत्स ! सूखे तिनकों से जीवन चलाना दीर्घायु का लक्षण है।"

इसकी तुलना मुनिक जातक (न० ३०) के श्लोक मे होती है—

मा मुनिकस्स पिहयि, आतुरन्नानि भुंजति।
अप्पो सक्को भुसं खाद, एतं दीघायुलक्खणं ॥

२—पाहुने के (आएसं क) :

चूर्णि के अनुसार 'आएस' के संस्कृत रूप दो होते है—आदेश और आवेश।[2] इसका अर्थ है—पाहुना[3]।

३—मूँग, उड़द आदि (जवसं ग) :

चूर्णिकार और टीकाकारों ने इसका अर्थ 'मूंग, उड़द आदि धान्य' किया है।[4] शब्द कोश में इसका अर्थ—तृण, घास, गेहूँ आदि धान्य किया गया है।[5]

डॉ० हरमन जेकोबी ने इस शब्द पर टिप्पणी देते हुए लिखा है कि भारतवर्ष में धान्य कणों द्वारा पोषित भेड का मांस अच्छा गिना जाता है।[6]

१—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २४९।

२—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५८ :

आएसं जाणतित्ति आइसो, आवेसो वा, आविशति वा वेश्मनि, तत्र आविशति वा गत्वा इत्याएसा।

३—बृहद् वृत्ति, पत्र २७२ :

आविश्यते—आज्ञाप्यते विविधव्यापारेषु परिजनोऽस्मिन्नायात इत्यादेशः—अभ्यर्हितः प्राघुणकः।

४—(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५८ :

जवसो मुग्गमासादि।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र २७२ :

'यवसं' मुद्गमाषादि।

(ग) सुखबोधा, पत्र ११६।

५—(क) पाइयसद्दमहण्णवो, पृ० ४३९।

(ख) अभिधान चिन्तामणि, ४।२६१।

६—Sacred Books of the East, Vol. XLV, Uttarādhyayana, p. 27, Foot-note 3. Mutton of gramfed sheep is greatly appreciated in India.

४–अपने आंगन में (सयंगणे घ) :

इसका अर्थ है—अपने घर के आंगन में।[१] चूर्णिकार ने मूल में तथा शान्त्याचार्य ने वैकल्पिक रूप में 'विसयंगणे' मानकर 'विसय' का अर्थ 'गृह' और 'अंगण' का अर्थ 'आंगन' किया है। विषयांगण अर्थात् गृहांगण। इसका दूसरा अर्थ—इन्द्रियों के विषयों की गणना करता हुआ—चिन्तन करता हुआ—किया गया है।[२]

श्लोक ३

५–बेचारा (दुही ख) :

सूत्रकार ने उस उपचित मेमने को दुःखी बताया है। प्रश्न होता है कि समस्त सुखोपभोग करते हुए भी वह दुःखी क्यों है? चूर्णिकार और नेमिचन्द्र इसका समाधान इन शब्दों में देते हैं कि जिस प्रकार मारे जाने वाले मनुष्य या पशु को अलंकृत करना तत्वतः दुःखी करना ही है। वैसे ही इस मेमने को खिलाए जाने वाले ओदन आदि तत्त्वतः दुःख देने वाले हैं।[३]

शान्त्याचार्य ने 'सेऽदुही' में अकार को लुप्त मानकर प्रथम व्याख्या 'अदुही' की है।[४] परन्तु यहाँ 'दुही' शब्द 'अदुही' की अपेक्षा अधिक अर्थ देता है।

श्लोक ८

६–द्यूत आदि के द्वारा गंवाकर (हिच्चा ग) :

इसका सामान्य अर्थ है—छोड़कर। परन्तु प्रस्तुत प्रकरण में इसका अर्थ है—द्यूत आदि व्यसनों के द्वारा गंवाकर।[५] नेमिचन्द्र ने इसी आशय का एक श्लोक उद्धृत किया है—

द्यूतेन मद्येन पणाङ्गनाभिः तोयेन भूपेन हुताशनेन।
मलिम्लुचेनांऽशहरेण नाशं, नीयेत वित्तं क्वधने स्थिरत्वम्॥

---

१ बृहद् वृत्ति, पत्र २७२ :
'स्वकाङ्गणे' स्वकीयगृहाङ्गणे।

२–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५८ :
जो जस्स विसाति स तस्स विसयो भवति, यथा राज्ञो विषयः, एवं यद्यस्य विषयो भवति, लोकेऽपि वक्तारो भवन्ति सर्वो ह्यात्मगृहे राजा, अंगंति तस्मिन्निति अंगनं, गृहांगनमित्यर्थः, अथवा विषया रसादयः तान् गणयन्—प्रीणितोऽस्य मांसेन विषयान् भोक्ष्यामीति, अथवा विषयान् इति।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र २७२ :
यदि वा 'पोसेज्जा विसयंगणे'त्ति विशन्त्यस्मिन् विषयो—गृहं तस्याङ्गणं विषयाङ्गणं तस्मिन्, अथवा विषयं—रसलक्षणं वचनव्यत्ययाद् विषयान्वा गणयन्—संप्रधारयन् धर्मनिरपेक्ष इति भावः।

३–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५९ :
कहं दुही जवसोदनेऽपि दीयमाने?, उच्यते, वधस्य वध्यमाने इष्टाहारे वा वध्यालंकारेण वाऽलंक्रियमाणस्स किमिव सुखं?, एवमसौ जवसोवगाविसुखेऽपि सति दुःखमानेवा।

(ख) सुखबोधा, पत्र ११७ :
'दुहि' त्ति वध्यमण्डनमिवास्यौदनदानादीनि तत्त्वतो दुःखमेव तदस्यास्तीति दुःखी।

४–बृहद् वृत्ति, पत्र २७३ :
'सेऽदुहि'त्ति अकारप्रश्लेषात् स इत्युरभ्रोऽदुःखी सुखी सन्, अथवा वध्यमण्डनमिवास्यौदनदानादिनीति तत्त्वतो दुःखितैवास्येति दुःखी।

५–सुखबोधा, पत्र ११७ :
'हित्वा' द्यूताद्यसद्व्ययेन त्यक्त्वा।

श्लोक ९

७–मेमना (अय ग) :

शान्त्याचार्य ने 'अज' का अर्थ 'पशु तथा प्रस्तावानुसार उरभ्र (मेमना)' किया है।[1] अज शब्द अनेकार्थक है। इसके बकरा, भेड़, मेंढ़ा, आदि अनेक अर्थ होते हैं। यहाँ इसका अर्थ-भेड़ या मेंढ़ा है। इसके स्थान में एड़क और उरभ्र ये दो शब्द और यहाँ प्रयुक्त हैं। एड़क का अर्थ—मेंढ़ा और बकरा भी हो सकता है किन्तु उरभ्र का अर्थ भेड़ व मेंढ़ा ही है।

श्लोक १०

८–आसुरीय दिशा (नरक) की ओर (आसुरियं दिसं ग) :

जहाँ सूर्य न हो उसे आसुरिय (असूर्य) कहा जाता है। इसका दूसरा अर्थ 'आसुरीय' किया गया है। रौद्र कर्म करने वाला असुर कहलाता है। असुर की जो दिशा होती है उसे 'आसुरीय' कहा जाता है। इसका तात्पर्यार्थ है—नरक। वहाँ सूर्य नहीं होता तथा वह क्रूर-कर्म करने वालों की दिशा है इसलिए वह 'आसुरीय' है।[2] प्रथम अर्थ के अनुसार 'असुरिय' पाठ होना चाहिए और द्वितीय अर्थ के अनुसार वह 'आसुरीय' होना चाहिए।

श्लोक ११

९–श्लोक ११ :

इस श्लोक में दो कथाओं का संकेत है—

१—एक काकिणी के लिए सहस्र कार्षापण को हारना।

२—आम्रफल में आसक्त हो राजा के द्वारा अपने जीवन और राज्य को खो देना।

मिलाइए—

सीलक्खयाइं जो बहुफलाइं, हंतूण सुक्ख महिलसइ।
धिइदुब्बलो तवस्सी, कोडीए कागिणिं किणइ॥ (उपदेश माला श्लो० १८८)

१०–काकिणी के (कागिणिए क) :

चूर्णि के अनुसार एक रुपये के अस्सीवें भाग तथा विसोवग के चौथे भाग को काकिणी कहा जाता था।[3] वि (वी) सोवग—विंशोपक—देशी शब्द है। यह एक प्रकार का सिक्का था। यह रुपये का बीसवाँ भाग था।[4]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र २७५ :
अजः—पशुः, स चेह प्रक्रमादुरभ्रः।

२–(क) उत्तराध्यन चूर्णि, पृ० १६१ :
नास्य सूरो विज्जति, आसुरियं वा नारका, जेसिं बक्खियिअभावे सूरो उद्योतो णत्थि, जहा एगेंदियाणं दिसा भावदिसा खेत्तदिसा वि घेप्पति, असतीत्यसुराः, असुराणामियं आसुरीयं, अधोगतिरित्यर्थः।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र २७६ :
अविद्यमानसूर्याम्, उपलक्षणत्वाद्ग्रहनक्षत्रविरहितां च, दिश्यते नारकादित्वेनास्यां संसारीति दिक् ताम्, अर्थात् भावदिशम्, अथवा रौद्रकर्मकारी सर्वोऽप्यसुर उच्यते, ततश्चासुराणामियमासुरी या तामासुरीयाम्।

३–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १६१ :
कागिणी णाम रूवगस्स असीतिमो भागो, वीसोवगस्स चतुभागो।

४–पाइयसद्दमहण्णव, पृ० १००७।

शान्त्याचार्य ने लिखा है—बीस कौड़ियों की काकिणी होती है।[1] मोनियर-मोनियर विलियम्स के अनुसार बीस कौड़ियों की अथवा 'पण' के चतुरंश की एक काकिणी होती है। बीस मासों का एक 'पण' होता है, पाँच मासों की एक काकिणी।[2]

इस विवरण से यह स्पष्ट पता लगता है कि उस समय अन्यान्य सिक्कों के साथ-साथ काकिणी, वीसोवग, पण, कौड़ी आदि भी चलते थे। यदि हम रुपये को मध्य-बिन्दु मानकर सोचते हैं तो—

८० काकिणी	१ रुपया
२० वीसोपग	१ रुपया
२० पण	१ रुपया
१६०० कौड़ियाँ	१ रुपया
२० कौड़ियाँ	१ काकिणी
$\frac{1}{4}$ वीसोपग	
$\frac{1}{4}$ पण अथवा ५ मासा	

अनुयोगद्वार (सूत्र १३२) में सोना, चाँदी, रत्न आदि तोलने के बाटों में गुंजा, काकिणी आदि का उल्लेख हुआ है। काकिणी को सवा रत्ती परिमाण का माना है। यह भी उपर्युक्त तालिका से सही लगता है। पाणिनी की व्याकरण में 'काकिणी' का प्रयोग नहीं हुआ है। इससे यह अनुमान किया जाता है कि उस समय इस सिक्के का प्रचलन नहीं हुआ होगा। चाणक्य ने ताम्बे की सूचि में इसका नाम दिया है (कौटिलीय अर्थशास्त्र, २।१६)। बौद्ध साहित्य में काकिणी तथा कार्षापण का उल्लेख मिलता है। आठ काकिणी का एक कार्षापण होता था। चार काकिणी के तीन मासे होते थे।[3] कात्यायन ने सूत्र ५।१।३३ पर दो वार्तिकों में काकिणी और अर्ध काकिणी का उल्लेख किया है। वहाँ एक, डेढ़ और दो काकिणी से मोल ली जाने वाली वस्तु के लिए काकणीक, अध्यर्धकाकणी और द्विकाकणिक प्रयोग सिद्ध किए गए हैं। देखिए—२०।४२ के 'कहावणे' का टिप्पण।

११–हजार (कार्षापण) (सहस्सं ख):

'सहस्सं' शब्द के द्वारा हजार कार्षापण उपलक्षित किए गए हैं ऐसा चूर्णि और वृत्ति का अभिमत है।[4] कार्षापण एक प्रकार का सिक्का है। इसका मान, जो धातु तोली जाती है उसके आधार पर भिन्न-भिन्न होता है। जैसे यदि सोना हो तो १६ मासा, यदि चाँदी हो तो १६ पण अथवा १२८० कौड़ियाँ, यदि ताँबा हो तो ८० रत्तिकाएँ अथवा १७६ ग्रेन आदि।[5] नारद (जिनका समय १०० और ३०० ई० के बीच में पड़ता है) ने एक स्थान में कहा है कि चाँदी का कार्षापण दक्षिण में चालू था और प्राच्य देश में वह २० पण के बराबर था और पंचनद प्रदेश में चालू कार्षापण को वे प्रमाण नहीं मानते थे।[6] विशेष विवरण के लिए देखिए—२०।४२ के 'कहावणे' का टिप्पण।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र २७२, 'काकिणिः'—विंशतिकपर्दकाः।

२. A Sanskrit English Dictionary p. 267 : A small coin or a small sum of money equal to twenty Kapardas or Cowries or to a quarter of a Pana.

३–(क) संयुत्त निकाय, ३।२।३।
(ख) चुल्लसेट्ठि जातक ४, प्रथम खण्ड, पृ० २०३।

४–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १६२।
(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र २७६ :
'सहस्रं' दशशतात्मकं, कार्षापणानामिति गम्यते।

५—Monier Monier-Williams, Sanskrit English Dictionary, p. 276.

६–हिन्दू सभ्यता, पृ० १७४, १७५।

श्लोक १३

१२–अनेक वर्ष नयुत (असंख्यकाल) की (अणेगवासानउया क) :

वर्षों के अनेक नयुत—अर्थात् पल्योपम सागरोपम। 'नयुत' एक संख्यावाची शब्द है। वह पदार्थ की गणना में भी प्रयुक्त होता है और आयुष्य काल की गणना में भी। यहाँ आयुष्य काल की गणना की गई है। अतः इसके पीछे वर्ष शब्द जोड़ना पड़ा। 'वर्ष नयुत' वर्षों की संख्या देता है। 'नयुत' में जितने वर्ष होते हैं उनका परिमाण इस प्रकार है—

८४०००००० वर्ष	१ पूर्वाङ्ग
८४०००००० पूर्वाङ्ग	१ पूर्व
८४०००००० पूर्व	१ नयुतांग
८४०००००० नयुतांग	१ नयुत

(८४ लाख × ८४ लाख × ८४ लाख × ८४ लाख) = १ नयुत। अर्थात् एक नयुत में इतने—४९७८६१३६ ०००, ०००, ००० ०००, ०००, ०००, ०००, ००० वर्ष होंगे।

श्लोक १७

१३–लोलुप और वंचक पुरुष (लोलयासढे घ) :

यहाँ 'लोलया' शब्द चिन्तनीय है। यह पुरुष का विशेषण हो तो इसका रूप 'लोलए' होना चाहिए। 'लोलए सढे' का अर्थ 'लोलुपता से शठ' हो तो उक्त पाठ हो सकता है किन्तु यह अर्थ मान्य नहीं रहा है। वृत्तिकार ने 'लोलया' पाठ की संगति इस प्रकार की है—जो मनुष्य मांस आदि में अत्यन्त लोलय होता है, वह उसी में तन्मय हो जाता है। उसी तन्मयता को प्रगट करने के लिए यहाँ लोल (लोलुप) को भी लोलता (लोलुपता) कहा गया है।[1] या के आ को अलाक्षणिक माना जाए तो लोलय का लोलक बनता है—लोलक अर्थात् लोलुप।

शठ का अर्थ है—आलसी या विश्वस्त व्यक्तियों को ठगने वाला।[2] मांसाहार नरकगति और वंचना तिर्यञ्चगति में उत्पन्न होने के हेतु हैं।[3] इसलिए इस श्लोक में 'लोलय' और 'शठ' का प्रयोग सापेक्ष है।

श्लोक २०

१४–श्लोक २० :

इस श्लोक में विमात्र शिक्षा, गृहिसुव्रत और कर्मसत्य—ये तीन शब्द विशेष अर्थवान् हैं।

चूर्णि में शिक्षा का अर्थ शास्त्र-कलाका कौशल है।[4] शान्त्याचार्य ने शिक्षा का अर्थ—प्रकृति भद्रता आदि गुणों का अभ्यास—किया है।[5] प्रस्तुत प्रकरण में यह अर्थ अधिक उपयुक्त है।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र २८० :
'लोलयासढे' त्ति लोलया-पिशिताविलाम्पट्यं तद्योगाज्जन्तुरपि तन्मयत्वख्यापनार्थं लोलतेत्युक्तः।

२–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १६४ :
न धर्मचरणोद्यमवान्।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र २८० :
शाठ्ययोगाच्छठः—विश्वस्तजनवंचकः।

३–स्थानांग ४।४।३७३।

४–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १६५ :
शिक्षानाम शास्त्रकलासु कौशल्यम्।

५–बृहद् वृत्ति, २८१ :
'शिक्षाभिः' प्रकृतिभद्रकत्वाद्यभ्यासरूपाभिः।

चूर्णि में सुव्रत का अर्थ 'ब्रह्मचरणशील' है।[1] शान्त्याचार्य ने सुव्रत का अर्थ—सत्पुरुषोचित, अविषाद आदि गुणों से युक्त—किया है।[2] यहाँ व्रत का प्रयोग आगमोक्त श्रावक के बारह व्रतों के अर्थ में नहीं है। उन व्रतों को धारण करने वाला 'देवगति' (वैमानिक) में ही उत्पन्न होता है।[3] यहाँ सुव्रती की उत्पत्ति मनुष्ययोनि में बतलाई गई है। इसलिए यहाँ व्रत का अर्थ—प्रकृति-भद्रता आदि का अनुशीलन होना चाहिए। स्थानांग में बताया है कि मनुष्य-गति का बन्ध चार कारणों से होता है—

१—प्रकृति-भद्रता।

२—प्रकृति-विनीतता।

३—सानुक्रोशता।

४—अमत्सरता।[4]

जीव जैसा कर्म-बन्ध करते हैं, वैसी ही गति उन्हें प्राप्त होती है। इसलिए उन्हें कर्म-सत्य कहा है।[5] जीव जो कर्म करते हैं उसे भोगना ही पड़ता है, बिना भोगे उससे मुक्ति नहीं मिलती। इसलिए जीवों को कर्म-सत्य कहा है।[6] जिनके कर्म (मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्तियाँ) सत्य (अविसंवादी) होते हैं, वे कर्म-सत्य कहलाते हैं।[7] जिनके कर्म निश्चित रूप से फल देने वाले होते हैं, वे कर्म-सत्य कहलाते हैं।[8] 'कम्मसच्चा हु पाणिणो' यह अर्थान्तरन्यास है।

श्लोक २१

१५–विपुल शिक्षा (विउला सिक्खा क) :

शिक्षा दो प्रकार की होती है—ग्रहण अर्थात् जानना और आसेवन अर्थात् ज्ञान-विषय का अभ्यास करना।[9] ज्ञान के बिना आसेवन सम्यक् नहीं होता और आसेवन के बिना ज्ञान सफल नहीं होता इसलिए ज्ञान और आसेवन दोनों मिलकर ही शिक्षा को पूर्ण बनाते हैं। जिन

१–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १६५ :
ब्रह्मचरणशीला सुव्रताः।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र २८१ :
'सुव्रताश्च' धृतसत्पुरुषव्रताः, ते हि प्रकृतिभद्रकत्वाद्यभ्यासानुभावत एव न विपद्यपि विषीदन्ति सदाचारं वा नावधीरयन्तीत्यादिगुणान्विताः।

३–वही, पृ० २८१ :
आगमविहितव्रतधारणं त्वमीषामसम्भवि, देवगतिहेतुतयैव तदभिधानात्।

४–स्थानांग ४।४।३७३ :
चउहिं ठाणेहिं जीवा मणुस्सत्ताते कम्मं पगरेंति, तंजहा—पगतिभद्दताते पगतिविणीययाए साणुक्कोसयाते अमच्छरिताते।

५–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १६५ :
कम्माणि सच्चाणि जेसिं ते कम्मसच्चा, तस्स जारिसाणि से तावं विधि गतिं लभति, तं सुभमसुभं वा।

६–वही, पृ० १६५ :
अथवा कम्मसत्या हि, सच्चं कम्मं, कम्मं अवेदे नवेइत्ति, यदि हि कृतं कर्म्म न वेद्यते ततो न कर्म्मसत्याः स्युरिति।

७–बृहद् वृत्ति, पत्र २८१ :
कर्म्मणा—मनोवाक्कायक्रियालक्षणेन सत्या—अविसंवादिनः कर्म्मसत्याः।

८–वही, पत्र २८१ :
सत्यानि—अवन्ध्यफलानि कर्म्माणि—ज्ञानावरणादीनि येषां ते सत्यकर्म्माणः।

९–सुखबोधा, पत्र १२२ :
'शिक्षा' ग्रहणाऽऽसेवनात्मिका।

व्यक्तियों की शिक्षा विपुल होती है—सम्यक्-दर्शन युक्त अणुव्रतों या महाव्रतों की आराधना से सम्पन्न होती है[1]—वे देवलोक में उत्पन्न होते हैं।

श्लोक २६

१६–पूतिदेह (औदारिक शरीर) का (पूइदेह ग) :

इसका तात्पर्यार्थ है—औदारिक शरीर। शरीर पाँच प्रकार के होते हैं—औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण। औदारिक शरीर रक्त, मांस, हड्डी आदि से युक्त होता है। अतः उसे 'पूतिदेह' दुर्गन्ध पैदा करने वाला शरीर माना गया है।

श्लोक २७

१७–(इड्ढी जुई जसो वण्णो क, सुहं ख) :

ऋद्धि—स्वर्ण आदि।

द्युति—शरीर की कान्ति।

यशः—पराक्रम से होने वाली प्रसिद्धि।

वर्ण—गांभीर्य आदि गुणों से होने वाली श्लाघा अथवा गौरव।

सुख—इष्ट विषयों की उपलब्धि से होने वाला आह्लाद।[2]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र २८२ :
'विपुला' निःशंकितत्वादिसम्यक्त्वाचाराणुव्रतमहाव्रतादिविषयत्वेन विस्तीर्णा।

२–सुखबोधा, पत्र १२३ :
'ऋद्धिः' कनकादिसमुदायः, 'द्युतिः' शरीरकान्तिः, 'यशः' पराक्रमकृता प्रसिद्धिः, 'वर्णः' गांभीर्यादिगुणैः श्लाघा गौरवत्वादि वा,....'सुखं' यथेप्सितविषयावाप्तौ आह्लादः।

अध्ययन ८

काविलीयं

श्लोक १

१–अध्रुव, अशाश्वत (अधुवे असासयंमि [क]) :

ये दोनों शब्द एकार्थवाची है। इनमें पुनरुक्त दोष नहीं है। क्योंकि उपदेश में या किसी शब्द पर विशेष बल देते समय पुनरुक्त दोष नहीं होता।[1]

श्लोक २

२–(पुव्वसंजोगं [क], दोसपओसेहिं [घ]) :

'पुव्वसंजोगं'—संसार पहले होता है और मोक्ष पीछे। असंयम पहले होता है और संयम पीछे। ज्ञातिजन पहले होते हैं, उनका त्याग पीछे किया जाता है—इन भावनाओं के आधार पर चूर्णिकार ने पूर्व-संयोग का अर्थ—संसार का सम्बन्ध, असंयम का सम्बन्ध और ज्ञाति का सम्बन्ध किया है।[2] शान्त्याचार्य और नेमिचन्द्र ने पूर्व-संयोग का अर्थ—पूर्व-परिचितों का संयोग अर्थात् माता-पिता आदि तथा धन आदि का सम्बन्ध किया है।[3]

'दोसपओसेहिं'—यहाँ दो शब्द हैं—दोष और प्रदोष। दोष का अर्थ है—मानसिक संताप आदि। प्रदोष का अर्थ है—नरक गति आदि।[4]

श्लोक ३

३–उन पाँच सौ चोरों की मुक्ति के लिए (तेसिं विमोक्खणट्ठाए [ग]) :

कपिल ने पूर्व-भव में इन सभी पाँच सौ चोरों के साथ संयम का पालन किया था और उन सबके द्वारा यह संकेत दिया हुआ था कि समय आने पर हमें सम्बोधि देना। उसकी पूर्ति के लिए कपिल मुनि उन्हें संबुद्ध कर रहे हैं—उनकी मुक्ति के लिए प्रवचन कर रहे हैं।[5]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र २८९ :
एकार्थं वा पदद्वयम्, उपदेशत्वादतिशयख्यापकत्वाच्च न पौनरुक्त्यम्।

२–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १७१ :
पुव्वो णाम संसारो, पच्छा मोक्खो, पुव्वेण संजोगो पुव्वस्स वा संजोगो पुव्वसंजोगो, अथवा पुव्वसंजोगो असंजमेण णातीहिं वा।

३–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र २९० :
पुरा परिचिता मातृपित्रादय पूर्वशब्देनोच्यन्ते ततस्तैः, उपलक्षणत्वादन्यैश्च स्वजनधनादिभिः संयोगः—सम्बन्धः पूर्वसंयोगः।
(ख) सुखबोधा, पत्र १२६।

४–सुखबोधा, पत्र १२६ :
दोषाः—इहैव मनस्तापादयः, ऽदोषाः—परत्र नरकगत्यादयः।

५–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १७१ :
तेसिं चोराणं, तेहिं सव्वेहिं पुव्वभवे सह कविलेण एगट्ठं संजमो कतो आसि, ततो तेहिं सिंगारो कतिल्लओ अम्हा अम्हे संबोधितव्वेति।

श्लोक ४

४—कलह का (कलहं क) :

शान्त्याचार्य और नेमिचन्द्र ने इसका अर्थ 'क्रोध'[1] और चूर्णिकार ने 'भण्डन' किया है।[2] भण्डन का अर्थ है—वाक्-कलह, गाली देना और क्रोध।

डॉ० हरमन जेकोबी ने इसका अर्थ 'तिरस्कार'—घृणा किया है।[3] मोनियर मोनियर-विलियम्स ने इसके मुख्यतः तीन अर्थ किए हैं—झगड़ा, झूठ या धोखा, गाली-गलौज।[4]

कलह क्रोध पूर्वक होता है। अतः कारण में कार्य का उपचार कर 'कलह' को क्रोध कहा गया है।

५—आत्म-रक्षक मुनि (ताई घ) :

इसके संस्कृत रूप दो होते हैं—तायी और त्रायी।[5] जार्ल सरपेन्टियर टीकाकारों द्वारा किए गए इस अर्थ को ठीक नहीं मानते। उनका अभिमत है कि ताई को तादि—तादृक के समान मानना चाहिए। तब इसका अर्थ होगा—उस जैसा वैसा। वे कहते हैं कि कालान्तर में इस शब्द के अर्थ का उत्कर्ष हुआ और इसका अर्थ—उस जैसा अर्थात् बुद्ध जैसा—यह हुआ। तदनन्तर इसका अर्थ—पवित्र संत व्यक्ति आदि हुआ। इस आशय का आधार प्रस्तुत करते हुए वे चाइल्डर्स S. V. और दीघनिकाय पृ० ८८ पर फ्रेंक का नोट देखने का अनुरोध करते हैं।[6] सरपेन्टियर का यह अभिमत संगत लगता है। विशुद्धिमार्ग पृ० १८० में तादिन शब्द का प्रयोग एक जैसे रहने वाले के अर्थ में हुआ है—

यस्मा नत्थि रहो नाम, पापकम्मेसु तादिनो।
रहाभावेन तेनेस, अरहं इति विस्सुतो॥

श्लोक ५

६—भोगामिष (आसक्ति-जनक भोग) (भोगामिस क) :

वर्तमान में आमिष का सीधा अर्थ 'मांस' किया जाता है। प्राचीन काल में इसका प्रयोग अनेक अर्थों में होता था। इसी आगम के चौदहवें अध्ययन में इसका छः बार प्रयोग हुआ है।[7] अनेकार्थ कोष में आमिष के—फल, सुन्दर-आकृति, रूप, सम्भोग, लोभ और लंचा—इतने अर्थ मिलते हैं।[8] उत्तराध्ययन १४।४६ में यह मांस के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[9] पंचासक प्रकरण में यह आहार या फल आदि के अर्थ में प्रयुक्त

१–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र २९१ :
कलहहेतुत्वात्कलहः—क्रोधस्तम्।
(ख) सुखबोधा, पत्र १२६।

२–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १७१ :
कलाम्यो हीयते येन स कलहः भण्डनमित्यर्थः।

३—Sacred Books of the East, Vol. XLV, Uttarādhyayana, p. 33.

४—Sanskrit English Dictionary, p. 261.

५–बृहद् वृत्ति, पत्र २९१ :
तायते—त्रायते वा रक्षति दुर्गतेरात्मानम् एकेन्द्रियादिप्राणिनो वाऽवश्यमिति तायी—त्रायी वा।

६–उत्तराध्ययन, पृ० ३०७, ३०८।

७–उत्तराध्ययन १४।४१, ४६, ४९।

८–अनेकार्थ कोष, पृ० १३३० :
आमिषं—फले सुन्दराकाररूपादौ सम्भोगे लोभलंचयोः।

९–बृहद् वृत्ति पत्र ४१० :
सहामिषेण—पिशितरूपेण वर्तत इति सामिषः।

हुआ है।[1] आसक्ति के हेतुभूत जो पदार्थ होते हैं उन सबके अर्थ में इसका प्रयोग किया जाता था। बौद्ध-साहित्य में भोजन व विषय-भोग—इन अर्थों में भी 'आमिष' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

"भन्ते ! आमिष (भोजन आदि) के (विषय में) कैसे करना चाहिए ?"

"सारिपुत्र ! आमिष सबको समान बाँटना चाहिए।"[2]

"भिक्षुओ ! ये दो दान हैं—आमिष-दान और धर्म-दान। इन दो दानों में जो धर्म-दान है, वह श्रेष्ठ है।" इस प्रकार आमिष-संविभाग (अनुग्रह) और आमिष-योग (पूजा) के प्रयोग मिलते हैं।[3] भोग-सन्निधि के अर्थ में आमिष-सन्निधि का प्रयोग किया गया है।[4] अभिधानप्पदीपिका के श्लोक २८० में आमिष को मांस का तथा श्लोक ११०४ में उसे अन्नाहार का पर्यायवाची माना है।

भोग अत्यन्त आसक्ति के हेतु होते हैं, इसलिए यहाँ उन्हें आमिष कहा गया है।[5]

चूर्णिकार के अनुसार जो वस्तु सामान्य रूप से बहुत लोगों द्वारा अभिलषणीय होती है, उसे आमिष कहा जाता है। भोग बहुत लोगों के द्वारा काम्य हैं, इसलिए उन्हें आमिष कहा है। भोगामिष अर्थात् आसक्ति-जनक भोग अथवा बहुजन अभिलषणीय भोग।[6] देखिए १४।४१ का टिप्पण।

७–विपरीत (वोच्चत्थे ख) :

चूर्णि में 'वोच्चत्थ' का अर्थ विपरीत और बृहद् वृत्ति में विपर्ययवान् या विपर्यस्त किया गया है। बुद्धि का विशेषण माना है वहाँ विपरीत या विपर्यस्त और बाल का विशेषण माना है वहाँ विपर्ययवान् किया गया है।[7] इसका संस्कृत रूप व्यत्यस्त होना चाहिए। डॉ० पिसेल ने इसका मूल उच्चस्थ माना है।[8] देशीनाममाला में इसका अर्थ 'विपरीत मैथुन-क्रिया' किया गया है।[9] सम्भव है उस समय यह शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त रहा हो और बाद में इस अर्थ के एकांश को लेकर इसका अर्थ 'विपरीत' रूढ़ बन गया हो। इसका मूल उच्चस्थ की अपेक्षा व्यत्यस्त में ढूढ़ना अधिक उपयुक्त है। भाषा-शास्त्र की दृष्टि से यह वोच्चत्थ के अधिक निकट है।

१–पंचासक प्रकरण ९।३१।

२–बुद्धचर्या, पृ० १०२।

३–इतिवुत्तक, पृ० ८६।

४–बुद्धचर्या, पृ० ४३२।

५–बृहद् वृत्ति, पत्र २९१ :
भोगाः—मनोज्ञाः शब्दादयः ते च ते आमिषं चात्यन्तगृद्धिहेतुतया भोगामिषम्।

६–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १७२ :
भुज्यंत इति भोगाः, यत् सामान्यं बहुभिः प्रार्थ्यते तद् आमिषं, भोगा एव आमिषं भोगामिषम्।

७–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १७२ :
वुच्चित्थोत्ति जस्स हिते निःश्रेयसे अहितानिःश्रेयससंज्ञा, विपरीतबुद्धिरित्यर्थः।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र २९१ :
तत्र तयोर्वा 'बुद्धिः' तत्प्राप्त्युपायविषया मतिः तस्यां विपर्ययवान् सा वा विपर्यस्ता यस्य स हितनिःश्रेयसबुद्धिविपर्यस्तः विपर्यस्तहित-निःश्रेयसबुद्धिर्वा, विपर्यस्तशब्दस्य तु परनिपातः प्राग्वत, यद्वा विपर्यस्ता हिते निःशेवा बुद्धिर्यस्य स तथा।

८–प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, पृ० ४७९ :
वोच्चत्थ (विपरीत रतिः देशी० ७, ५८)=उच्चस्थ जो उच्च से सम्बन्धित है।

९–देशीनाममाला, ७।५८, पृ० २९६।

८–श्लेष्म में (खेलंमि ^घ) :

चूर्णि में खेल का अर्थ 'चिक्कन' किया है।[1] बृहद् वृत्ति में खेल का अर्थ 'श्लेष्म' किया है।[2] किन्तु श्लेष्म इसकी संस्कृत छाया नहीं है। जार्ल सरपेन्टियर ने इसका संस्कृत रूप—'क्ष्वेट'-'क्ष्वेद' दिया है।[3] 'क्ष्वेड' का भी एक अर्थ चिकनाई—श्लेष्म होता है। राजवार्तिक में इसका संस्कृत रूप 'क्ष्वेल' मिलता है।[4] यही सर्वाधिक उपयुक्त है।

श्लोक ७

९–पापमयी दृष्टियों से (पावियाहिं दिट्ठीहिं घ) :

शान्त्याचार्य ने इसके दो संस्कृत रूप दिए हैं—प्रापिकाभिर्दृष्टिभिः और पापिकाभिर्दृष्टिभिः। प्रथम का अर्थ है—'नरक को प्राप्त कराने वाली दृष्टि।' दूसरे का अर्थ है—'पापमयी, परस्पर विरोध आदि दोषों से दूषित दृष्टि' अथवा पाप-हेतुक दृष्टि'[5]। वास्तविक अर्थ यही है। पापिकादृष्टि के आशय को स्पष्ट करते हुए कुछ उद्धरण प्रस्तुत किए गए हैं। जैसे—

"न हिंस्यात् सर्वभूतानि।"

"श्वेतं छागमालभेत वायव्यां दिशि भूतिकामः।"

"ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत, इन्द्राय क्षत्रियं, मरुद्भ्यो वैश्यं, तपसे शूद्रम्।"[6]

तथा च—

"यस्य बुद्धिर्न लिप्यते, हत्वा सर्वमिदं जगत्।
आकाशमिव पंकेन, न स पापेन लिप्यते॥"

अर्थात् एक ओर वे कहते हैं—'सब जीवों की हिंसा नहीं करना चाहिए।' दूसरी ओर वे कहते हैं—ऐश्वर्य चाहने वाले पुरुष को वायव्यकोण में श्वेत बकरे की, ब्रह्म के लिए ब्राह्मण की, इन्द्र के लिए क्षत्रिय की, मरुत के लिए वैश्य की और तप के लिए शूद्र की बलि कर देनी चाहिए।' यह परस्पर विरोधी दृष्टिकोण है।

जैसे आकाश पंक से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार सारे संसार की हत्या करके भी जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती, वह पाप से लिप्त नहीं होता। यह पाप-हेतुक दृष्टिकोण है।

१–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १७२ :
खेलेण चिक्कणेण।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र २९१ :
'खेले' श्लेष्मणि।

३–उत्तराध्ययन, पृ० ३०८।

४–तत्त्वार्थ राजवार्तिक ३।३६, पृ० २०३ :
क्ष्वेलो निष्ठीवनमौषधि येषां ते क्ष्वेलौषधिप्राप्ताः।

५–बृहद् वृत्ति, पत्र २९२ :
'पावियाहिं' ति प्रापयन्ति नरकमिति प्रापिकास्ताभिः, यद्वा—पापा एव पापिकास्ताभिः, परस्परविरोधादिदोषात् स्वरूपेणैव कुत्सिताभिः।

६–वही, पत्र २९२, २९३।

श्लोक ११

१०–यात्रा (संयम-निर्वाह) के लिए ग्रास की एषणा करे (जायाए घासमेसेज्जा [ग]) :

संयम-जीवन की यात्रा के लिए भोजन की गवेषणा करे—इस प्रसंग में शान्त्याचार्य और नेमिचन्द्र ने एक श्लोक उद्धृत किया है—

जह सगडक्खोवंगो, कीरइ भरवहणकारणा नवरं।
तह गुणभरवहणत्थं, आहारो बंभयारीणं॥

अर्थात् जैसे गाड़ी के पहिए की धुरी को भार-वहन की दृष्टि से चुपड़ा जाता है, वैसे ही गुणभार के वहन की दृष्टि से ब्रह्मचारी आहार करे, शरीर को पोषण दे।[1]

इसी सूत्र में छह कारणों से आहार करने और छह कारणों से आहार न करने का उल्लेख है।[2]

श्लोक १२

११–श्लोक १२ :

इस श्लोक में प्रान्त-भोजन का विधान है। 'पंताणि चेव सेवेज्जा' की व्याख्या दो प्रकार से होती है—'प्रान्तानि च सेवेतैव' और 'प्रान्तानि चेव सेवेत।' गच्छवासी मुनि के लिए यह विधि है कि वह प्रान्त-भोजन मिले तो उसे खाए ही, किन्तु उसे फेंके नहीं। गच्छनिर्गत (जिनकल्पी) मुनि के लिए यह विधि है कि वह प्रान्त-भोजन ही करे। प्रान्त का अर्थ है—नीरस-भोजन। शीतपिण्ड (ठण्डा आहार) आदि उसके उदाहरण हैं।[3] गच्छवासी की अपेक्षा से 'जवणट्ठाए' का अर्थ होगा—यदि प्रान्त-आहार से जीवन-यापन होता हो तो खाए, वायु बढ़ने से जीवन-यापन न होता हो तो न खाए। गच्छनिर्गत की अपेक्षा से इसका अर्थ होगा—जीवन-यापन के लिए प्रान्त-आहार करे।[4]

'कुम्मासं' (उड़द)—शान्त्याचार्य और नेमिचन्द्र ने इसका अर्थ 'राजमाष'—बड़े उड़द किया है।[5]

मोनियर मोनियर-विलियम्स ने इसका अर्थ 'तरल और खट्टा पेय-भोजन, जो फलों के रस से अथवा उबले हुए चावलों से बनाया जाता है' किया है।[6]

१–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र २९४।
(ख) सुखबोधा, पत्र १२८।

२–उत्तराध्ययन, २६।३२, ३४।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र २९४, २९५ :
'प्रान्तानि' नीरसानि, अन्नपानानीति गम्यते, च शब्दादन्तानि च, एवाऽवधारणे, स च भिन्नक्रमः सेविज्ज इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः, ततश्च प्रान्तान्यन्तानि च सेवेतैव न त्वसाराणीति परिष्ठापयेद्, गच्छनिर्गतापेक्षया वा प्रान्तानि चैव सेवेत, तस्य तथाविधानामेव ग्रहणानुज्ञानात्, कानि पुनस्तानीत्याह—'सीयपिंडं' ति शीतलः पिण्डः—आहारः, शीतश्चासौ पिण्डश्च शीतपिण्डः।

४–वही, पत्र २९५ :
यापनार्थमित्यनेनैतत् सूचितं—यदि शरीरयापना भवति तदैव निषेवेत, यदि त्वतिवातोद्रेकादिना तद्यापनैव न स्यात्ततो न निषेवेतापि, गच्छगतापेक्षमेतत्, तन्निर्गतस्त्वेतान्येव यापनार्थमपि निषेवेत।

५–वही, पत्र २९५ :
(क) 'कुल्माषाः' राजमाषाः।
(ख) सुखबोधा, पत्र १२९।

६—A Sanskrit English Dictionary, p. 296 : Sour gruel (prepared by the spontaneous fermentation of the juice of fruits or boiled rice.)

अभिधानप्पदीपिका में कुल्माष व्यंजन को 'सूप' कहा है।[1] विशुद्धिमार्ग में इसी अर्थ को मान्य कर 'कुल्माष' का अर्थ 'दाल' किया है।[2]

सिंहलसन्नय (व्याख्या) में 'कुल्माष' शब्द का अर्थ—'कोमु' अर्थात् पिट्ठा लिखा गया है। 'कुल्माष' के अनेक अर्थ हैं—कुलथी (उड़द की जाति का एक मोटा अन्न), मूँग आदि द्विदल, कांजी। उस समय ओदन, कुल्माष, सत्तू आदि प्रचलित भोजन थे।[3] 'कुल्माष' दरिद्र लोगों का भोजन था। वह उड़द आदि द्विदल में थोड़ा जल, गुड़ या नमक और चिकनाई डालकर बनाया जाता था। देखो दसवेआलियं (भाग : २), ५।१।६८ का टिप्पण संख्या २२९।

'बुक्कसं'—चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—तीमन अथवा सुरा के लिए पसाए हुए आटे का शेष भाग।[4]

शान्त्याचार्य और नेमिचन्द्र ने इसका अर्थ—मूँग, उड़द आदि की कणियों से निष्पन्न अन्न अथवा जिसका रस निकाल लिया गया हो, वैसा अन्न किया है।[5]

'पुलागं'—चूर्णिकार ने 'पुलाक' के दो अर्थ किए हैं—

१—वल्ल, चने आदि रूखे अनाज।

२—जो स्वभाव से नष्ट हो गया हो (जिसका बीज भाग नष्ट हो गया हो) वह अनाज।[6]

शान्त्याचार्य ने असार वल्ल, चने आदि को 'पुलाक' कहा है।[7]

'मंथुं'—इसका अर्थ है—बेर[8] का चूर्ण, सत्तू का चूर्ण।[9] यह बहुत रूखा होता है, इसलिए इसे प्रान्त-भोजन कहा है।[10] देखो दसवेआलियं (भाग : २), ५।१।९८ का टिप्पण संख्या २२८।

श्लोक १३

१२—श्लोक १३ :

इस श्लोक में कहा गया है कि जो मुनि लक्षण-विद्या, स्वप्न-विद्या और अंग विद्या का प्रयोग करते हैं, वे सही अर्थ में मुनि नहीं हैं।

१–अभिधानप्पदीपिका, पृ० १०४८ :
सूपो (कुम्मास व्यंजने)।

२–विशुद्धिमार्ग, १।११, पृ० ३०५।

३–विनयपिटक, ४।१७६।

४–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १७५ :
बुक्कसो णाम कुसणणिडमाडणं च, अथवा सुरागलितसेसं बुक्कसो भवति।

५–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र २९५ :
'बुक्कसं' मुद्गमाषादि नखिकानिष्पन्नमन्नमति निपीडितरसं वा।
(ख) सुखबोधा, पत्र १२९।

६–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १७५ :
पुलागं णाम निस्साए णिप्फाए चणगादि यद्वा विनष्टं स्वभावतः तन् पुलागमु ... च्चते

७–बृहद् वृत्ति, पत्र २९५ :
'पुलाकम्' असारं वल्लचनकादि।

८–सुखबोधा, पत्र १२९ :
'मंथुं' बदरादि चूर्णम्।

९–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १७५ :
मथ्यते इति मंथुं सत्तुचुन्नाति।

१०–बृहद् वृत्ति, पत्र २९५ :
मन्थुं वा—बदरादि चूर्णम्, अतिरूक्षतया चास्य प्रान्तत्वम्।

नेमिचन्द्र ने इन तीनों के विषय में प्राचीन श्लोक और प्राकृत गाथाएँ उद्धृत की हैं। उनकी तुलना डॉ० जे० व्ही० जेडोलियम द्वारा सम्पादित जगदेव की स्वप्न-चिन्तामणि से की जा सकती है। जार्ल सरपेन्टियर ने इसकी विस्तृत जानकारी प्रस्तुत की है।[1] शान्त्याचार्य ने इसका विस्तृत वर्णन नहीं किया है, केवल एक-दो श्लोक उद्धृत किए हैं।

बौद्ध-ग्रन्थों में अंग-निमित्त, उत्पाद, स्वप्न, लक्षण आदि विद्याओं को 'तिर्यक्-विद्या' कहा है। इनसे आजीविका करने को मिथ्या-आजीविका कहा है। जो इनसे परे रहता है वही 'आजीव-परिशुद्धिशील' होता है।[2]

'लक्खणं'—शरीर के लक्षणों, चिन्हों को देखकर शुभ-अशुभ फल कहने वाले शास्त्र को 'लक्षण-शास्त्र' या 'सामुद्रिक-शास्त्र' कहते हैं।[3] कहा भी है—'सर्वं सत्त्वे प्रतिष्ठितम्'—सभी (शुभाशुभ फल देने के लक्षण) जीवों में विद्यमान हैं। जैसे—

अस्थिष्वर्थाः सुखं मांसे, त्वचि भोगाः स्त्रियोऽक्षिषु।
गतौ यानं स्वरे चाज्ञा, सर्वं सत्त्वे प्रतिष्ठितम्॥[4]

अर्थात् अस्थि में धन, मांस में सुख, त्वचा में भोग, आँखों में स्त्रियाँ, गति में वाहन और स्वर में आज्ञा—इस प्रकार पुरुष में सब कुछ प्रतिष्ठित है।

यह शब्द इसी सूत्र के १५।७, २०।४५ में भी आया है।

'सुविणं'—स्वप्न शब्द यहाँ 'स्वप्न-शास्त्र' का वाचक है। स्वप्न के शुभाशुभ फल की सूचना देने वाले शास्त्र को 'स्वप्न-शास्त्र' कहा जाता है।[5]

'अंगविज्जं'—शरीर के अवयवों के स्फुरण से शुभाशुभ बताने वाले शास्त्र को 'अंग विद्या' कहा जाता है।[6]

चूर्णिकार ने अंग-विद्या का अर्थ 'आरोग्य शास्त्र' किया है। किन्तु प्रकरण की दृष्टि से अंग-विचार अधिक संगत लगता है।[7]

श्लोक १४

१३—असुर-काय में (आसुरे काए घ):

चूर्णि में इसके दो अर्थ किए गए हैं—असुर देवों के निकाय में अथवा रौद्र तिर्यक् योनि में।[8] बृहद् वृत्ति में केवल पहला ही अर्थ है।[9]

१—दि उत्तराध्ययनसूत्र, पृ० ३०९-३१२।

२—विशुद्धिमाग, १।१, पृ० ३०, ३१।

३—(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १७५ :
लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणं, सामुद्रवत्।
(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र २९५ :
'लक्षणं च' शुभाशुभसूचकं पुरुषलक्षणादि, रूढितः तत्प्रतिपादकं शास्त्रमपि लक्षणम्।

४—बृहद् वृत्ति, पत्र २९५।

५—वही, पत्र २९५ :
'स्वप्नं च' तत्रापि रूढितः स्वप्नस्य शुभाशुभफलसूचकं शास्त्रमेव।

६—वही, पत्र २९५ :
अंगविद्यां च शिरःप्रभृत्यंगस्फुरणतः शुभाशुभसूचिकाम्।

७—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १७५ :
अंगविद्या नाम आरोग्यशास्त्रम्।

८—वही, पृ० १७५, १७६ :
असुराणामयं आसुरः, ते हि वा (बहिया) रियसमणा असत्यभावणाभाविया असुरेसु उववज्जंति, अथवा असुरसदृशो भावः आसुरः, क्रूर इत्यर्थः, 'उववज्जंति आसुरे काए' त्ति रौद्रेषु तिर्यग्योनिकेषु उववज्जंति।

९—बृहद् वृत्ति, पत्र २९६ :
'आसुरे' असुरसम्बंधि-निकाये, असुरनिकाये इत्यर्थः।

श्लोक १५

१४–बोधि प्राप्त होना (बोही घ) :

बोधि का अर्थ है—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्रात्मक जिन-धर्म की प्राप्ति।[1]

स्थानांग में इसके तीन प्रकार बतलाए गए हैं—ज्ञान-बोधि, दर्शन-बोधि और चारित्र-बोधि।[2]

श्लोक १८

१५–ग्रन्थि (गंड ख) :

यहाँ गंड का अर्थ—ग्रन्थि (गाँठ) या फोड़ा हो सकता है। स्तन मांस की ग्रन्थि[3] या फोड़े के समान[4] होते हैं, इसलिए उन्हें गंड कहा गया है।

१६–राक्षसी की भाँति भयावह स्त्रियों में (रक्खसीसु क) :

यहाँ स्त्री को राक्षसी कहा है। जिस प्रकार राक्षसी समस्त रक्त को पी जाती है और जीवन हर लेती है, वैसे ही स्त्रियाँ भी मनुष्य के ज्ञान आदि गुणों तथा जीवन और धन का सर्वनाश कर देती हैं।[5] राक्षसी शब्द लाक्षणिक है, कामासक्ति या वासना का सूचक है। पुरुष के लिए स्त्री वासना के उद्दीपन का निमित्त बनती है, इस दृष्टि से उसे राक्षसी कहा है। स्त्री के लिए पुरुष वासना के उद्दीपन का निमित्त बनता है, इस दृष्टि से उसे राक्षस कहा जा सकता है।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र २९६ :
'बोधिः' प्रेत्य जिनधर्म्मावाप्तिः।

२–स्थानांग, ३।२।१५४।

३–वैराग्य शतक, श्लोक २१ :
स्तनौ मांस-ग्रन्थी कनककलशावित्युपमितौ।

४–बृहद् वृत्ति, पत्र २९७ :
गण्डं—गडु, इह चोपचितपिशितपिण्डरूपतया गलत्पूतिरुधिरार्द्रतासम्भवाच्च तदुपमत्वाद् गण्डे कुचावुक्तौ।

५–वही, पत्र २९७ :
राक्षस्य इव राक्षस्यः—स्त्रियः तासु, यथा हि राक्षस्यो रक्तसर्वस्वमपकर्षन्ति जीवितं च प्राणिनामपहरन्ति एवमेता अपि, तत्त्वतो हि ज्ञानादीन्येव जीवितं च अर्थश्च (सर्वस्वं) तानि च ताभिरपह्रियन्त एव, तथा च हारिलः—

"वातोद्धूतो दहति हुतभुग्देहमेकं नराणां,
मत्तो नागः कुपितभुजगश्चैकदेहं तथैव।
ज्ञानं शीलं विनयविभवौदार्यविज्ञानदेहान्,
सर्वानर्थान् दहति वनिताऽऽमुष्मिकानैहिकांश्च॥"

अध्ययन ९

नमिपव्वज्जा

श्लोक १

१—पूर्व-जन्म की स्मृति हुई (सरई पोराणियं जाइं [घ]) :

जाति का अर्थ उत्पत्ति या जन्म है। आत्मवाद के अनुसार जन्म की परम्परा अनादि है। इसलिए उसे पुराण कहा है। पुराण-जाति अर्थात् पूर्व-जन्म। पूर्व-जन्म की स्मृति को 'जाति-स्मृति ज्ञान' कहा जाता है। यह मतिज्ञान का एक प्रकार है।[1] इसके द्वारा पूर्ववर्ती संख्येय जन्मों की स्मृति होती है।[2]

किसी हेतु से संस्कार का जागरण होता है और अनुभूत-विषय की स्मृति हो जाती है। संस्कार मस्तिष्क में संचित होते हैं, प्रयत्न करने पर वे उद्‌बुद्ध हो जाते हैं। आजकल मस्तिष्क पर यांत्रिक व्यायाम कर शिशु जीवन की घटनाओं की स्मृति कराई जाती है। यह सारी वर्तमान जीवन की स्मृति की प्रक्रिया है। पूर्व-जन्म के संस्कार सूक्ष्म-शरीर—कार्मण-शरीर में संचित रहते हैं। मन की एकाग्रता तथा पूर्व-जन्म को जानने की तीव्र अभिलाषा से अथवा किसी अनुभूत घटना की पुनरावृत्ति देख जाति-स्मृति हो जाती है। जैन-आगमों में इसके अनेक उल्लेख हैं। वर्त्तमान में भी इससे सम्बन्धित घटनाएँ सुनी जाती हैं।

श्लोक २

२—(भयवं [क]) :

'भयवं'—भगवान्। 'भग' शब्द के अनेक अर्थ हैं—धैर्य, सौभाग्य, माहात्म्य, यश, सूर्य, श्रुत, बुद्धि, लक्ष्मी, तप, अर्थ, योनि, पुण्य, ईश, प्रयत्न और तन्। यहाँ प्रकरणवश उसका अर्थ बुद्धि या ज्ञान है। भगवान् अर्थात् बुद्धिमान्।[3]

श्लोक ४

३—एकान्तवासी (एगन्तमहिट्ठिओ [घ]) :

एकान्त शब्द के तीन अर्थ किए गए हैं—मोक्ष, विजन स्थान और एकत्व भावना। जो मोक्ष के उपाय—सम्यक् दर्शन आदि का सहारा लेता है, वह यहीं जीवन-मुक्त हो जाता है इसलिए वह एकान्ताधिष्ठित कहलाता है। उद्यान आदि विजन स्थानों में रहने वाला तथा 'मैं अकेला

१—आचाराङ्ग, १।१।१।४ वृत्ति पत्र १८ : जातिस्मरणं त्वाभिनिबोधिकविशेषः।

२—वही, १।१।१।४ वृत्ति पत्र १९ : जातिस्मरणस्तु नियमतः संख्येयान्।

३—बृहद् वृत्ति, पत्र ३०६ :

भगशब्दो यद्यपि धैर्यादिष्वनेकेषु अर्थेषु वर्तते, यदुक्तं—

धैर्यसौभाग्यमाहात्म्ययशोऽर्कश्रुतधीश्रियः।
तपोऽर्थोपस्थपुण्येशप्रयत्नतनवो भगाः॥

इति, तथापीह प्रस्तावाद् बुद्धिवचन एव गृह्यते, ततो भगो—बुद्धिर्यस्यास्तीति भगवान्।

हूं, मेरा कोई नहीं है और मैं भी किसी का नहीं हूं। मैं उसको नहीं देखता कि जिसका मैं होऊं और जो मेरा हो वह भी मुझे नहीं दीखता' — इस प्रकार अकेलेपन की भावना करने वाला भी एकान्ताधिष्ठित कहलाता है।[1] एकान्तवासी में ये तीनों अर्थ गर्भित हैं।

श्लोक ६

४–(माहण ग) :

उत्तराध्ययन में 'माहण' शब्द का प्रयोग निम्न स्थलों पर हुआ है—

(१) ९।६, ३८, ५५

(२) १२।११,१३,१४,३०,३८

(३) १४।५,३८,५३

(४) १५।६

(५) १८।२१

(६) २५।१,४,१८-२७,३२,३४,३५

शान्त्याचार्य ने इन विभिन्न स्थलों में प्रयुक्त 'माहण' शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है—

१—माहनरूपेण—ब्राह्मणवेषेण (बृ० प० ३०७)
 ब्राह्मणाश्च—द्विजाः (बृ० प० ३१४)
 ब्राह्मण रूपम् (बृ० प० ३१८)

२—माहणानां—ब्राह्मणानाम् (बृ० प० ३६०)
 ब्राह्मणाः द्विजाः (बृ० प० ३६१)
 ब्राह्मणानाम् (बृ० प० ३६२)
 ब्राह्मणो द्विजातिः (बृ० प० ३६७)
 माहना ब्राह्मणाः (बृ० प० ३७०)

३—माहनस्य ब्राह्मणस्य (बृ० प० ३६७)
 ब्राह्मणेन (बृ० प० ४०८)
 ब्राह्मणः, ब्राह्मणी (बृ० प० ४१२)

४—माहना ब्राह्मणाः (बृ० प० ४१८)

५—'माहण'त्ति मा वधीत्येवंरूपं मनो वाक् क्रिया च यस्यासौ माहनः, सर्वधातवः पचादिषु दृश्यन्त इति वचनाराचादित्वादच् (बृ० प० ४४२)

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ३०७ :

'एगंत' त्ति एकः—अद्वितीयः कर्म्मणामन्तो यस्मिन्निति, मयूरव्यंसकादित्वात् समासः, तत एकान्तो—मोक्षस्तम् 'अधिष्ठितः' इव आश्रितवानिवाधिष्ठितः, तदुपायसम्यग्दर्शनाद्यासेवनादधिष्ठित एव वा, इहैव जीवन्मुक्त्यवाप्तेः, यद्वैकान्तं—द्रव्यतो विजनमुद्यानादि भावतस्च सदा—

एकोऽहं न च मे कश्चिन्नाहमन्यस्य कस्यचित्।
न तं पश्यामि यस्याहं नासौ दृश्योऽस्ति यो मम ॥

इति भावनात एक एवाहमित्यन्तो—निश्चय एकान्तः, प्राग्वत् समासः, तमधिष्ठितः।

६—ब्राह्मणकुलसंभूतः	(बृ० प० ५२२)
ब्राह्मणसम्पदः	(बृ० प० ५२६)
ब्राह्मणः	(बृ० प० ५२६)
वयं ब्रूमो ब्राह्मणम्	(बृ० प० ५२६)
ब्राह्मणः माहणः	(बृ० प० ५२६)
ब्राह्मणत्वम्	(बृ० प० ५२६)

उक्त अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि शान्त्याचार्य ने १८।२१ में प्रयुक्त 'माहण' शब्द की व्याख्या अहिंसक के रूप में की है और शेष स्थानों में प्रयुक्त 'माहण' का अर्थ उन्होंने ब्राह्मण जाति या ब्राह्मणत्व से सम्बन्धित माना है। ब्राह्मण का प्राकृत रूप 'बंभण' बनता है किन्तु इस आगम में ब्राह्मण के लिए 'बंभण' का प्रयोग २५।१६,२६, ३०, ३१ में हुआ है। इसके सिवा सर्वत्र 'माहण' का प्रयोग मिलता है। 'माहण' और 'बंभण' की प्रकृति एक नहीं है। 'माहण' अहिंसा' का और 'बंभण' ब्रह्मचर्य (ब्रह्म-आराधना) का सूचक है। अहिंसा के बिना ब्रह्म की आराधना नहीं हो सकती और ब्रह्म की आराधना के बिना कोई अहिंसक नहीं हो सकता। इस प्रगाढ़ सम्बन्ध से दोनों शब्द एकार्थवाची बन गए। आगमिक व्याकरण के अनुसार ब्राह्मण का 'माहण' रूप बनता हो, यह भी संभव है। ब्राह्मण के लिए 'माहण' शब्द के प्रयोग की प्रचुरता को देखते हुए इस सम्भावना की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

मलयगिरि ने 'माहण' का अर्थ परम गीतार्थ श्रावक भी किया है।[1] इस प्रकार 'माहण' शब्द साधु, श्रावक और ब्राह्मण इन तीनों के लिए प्रयुक्त होता है। यह आगम की व्याख्याओं से प्राप्त होने वाला निष्कर्ष है। पर वह कहाँ साधु के लिए, कहाँ श्रावक के लिए और कहाँ ब्राह्मण के लिए है—इसका निर्णय करना बहुत विवादास्पद रहा है।

श्लोक ७

५–प्रासादों और गृहों में (पासाएसु गिहेसु घ) :

सात मंजिल वाला या इससे अधिक मंजिल वाला मकान 'प्रासाद' कहलाता है और साधारण मकान 'गृह'। प्रासाद का दूसरा अर्थ देवकुल और राज-भवन भी है।[2]

श्लोक ८

६–हेतु और कारण से (हेऊकारण ख) :

साध्य के बिना जिसका न होना निश्चित हो उसे हेतु कहा जाता है। इन्द्र ने कहा—'तुम जो अभिनिष्क्रमण कर रहे हो वह अनुचित है (पक्ष), क्योंकि तुम्हारे अभिनिष्क्रमण के कारण समूचे नगर में हृदय-वेधी कोलाहल हो रहा है (हेतु)।'[3]

जिसके बिना कार्य की उत्पत्ति न हो सके और जो निश्चित रूप से कार्य का पूर्ववर्ती हो उसे कारण कहा जाता है। यदि तुम अभिनिष्क्रमण नहीं करते तो इतना हृदय-वेधी कोलाहल नहीं होता। इस हृदय-वेधी कोलाहल का कारण तुम्हारा अभिनिष्क्रमण है।[4]

१–राजप्रश्नीय वृत्ति, पत्र ३०० :
'माहनः' परमगीतार्थः श्रावकः।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र ३०८ :
'प्रासादेषु'—सप्तभूमादिषु, 'गृहेषु' सामान्यवेश्मसु, यद्वा 'प्रासादो देवतानरेन्द्राणा'मितिवचनात् प्रासादेषु देवतानरेन्द्र-सम्बन्धिव्वासवेषु 'गृहेषु' तदितरेषु।

३–सुखबोधा, पत्र १४६ :
अनुचितमिदं भवतोऽभिनिष्क्रमणमिति प्रतिज्ञा, आक्रन्दादिदारुणशब्दहेतुत्वादिति हेतुः।

४–वही, पत्र १४६ :
आक्रन्दादिदारुणशब्दहेतुत्वं भवदभिनिष्क्रमणानुचितत्वं विनानुपपन्नमित्येतावन्मात्रं कारणम्।

श्लोक ६

७–चैत्य-वृक्ष (चेइए वच्छे क):

चूर्णि और टीका में चैत्य-वृक्ष का अर्थ उद्यान और उसके वृक्ष किया गया है ।[1] किन्तु वस्तुतः 'चेइए वच्छे' का अर्थ 'चैत्य-वृक्ष' होना चाहिए । चैत्य को वियुक्त मानकर उसका अर्थ उद्यान करने का कोई प्रयोजन नहीं है ।

पीपल, बड़, पाकड़ और अश्वत्थ—ये चैत्य-जाति के वृक्ष हैं ।[2] मल्लिनाथ ने रथ्या-वृक्षों को चैत्य-वृक्ष माना है ।[3] शान्त्याचार्य के अनुसार जिस वृक्ष के मूल में चबूतरा बना हुआ हो और ऊपर भण्डा लगा हुआ हो, वह चैत्य-वृक्ष कहलाता है ।[4] चैत्य शब्द को उद्यान वाची मानने पर वृक्ष शब्द को तृतीया विभक्ति का बहुवचन (वच्छेहि) और उसका (हि) लोप मानना पड़ा ।[5] किन्तु 'चेइए' को 'वच्छे' का विशेषण माना जाता तो वैसा करना आवश्यक नहीं होता और व्याख्या भी स्वयं सहज हो जाती । स्थानांग में 'चेइयरुक्ख' शब्द मिलता है ।[6] उससे भी यह प्रमाणित होता है कि 'चेइए वच्छे' का अर्थ 'चैत्य-वृक्ष' ही होना चाहिए ।

श्लोक १८

८–(पागारं क, गोपुरट्टालगाणि ख, उस्सूलगसयग्घीओ ग):

'पागारं'—परकोटा । प्राचीन काल में नगर या किले की सुरक्षा के लिए मिट्टी या ईंटों की एक सुदृढ़ दीवार बनाई जाती थी, उसे प्राकार या परकोटा कहा जाता था ।[7]

'गोपुरट्टालगाणि'—बुर्ज वाले नगर-द्वार । गोपुर का अर्थ 'नगर द्वार' है ।[8]

१–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १८१, १८२ ।
(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ३०९ :
चयनं चितिः—इह प्रस्तावात् पत्रपुष्पाद्युपचयः, तत्र साधुरित्यतः ऽज्ञादेराकृतिगणत्वात् स्वार्थिकेऽणि चैत्यम्—उद्यानं तस्मिन्, 'वच्छे' त्ति सूत्रत्वाद्धिशब्दलोपे वृक्षैः ।

२–कालीदास का भारत, पृ० ५२ ।

३–मेघदूत, पूर्वार्द्ध, श्लोक २३ ।

४–बृहद् वृत्ति, पत्र ३०९ :
चितिरिहेष्टकाविचयः, तत्र साधुः—योग्यश्चित्यः प्राग्वत्, स एव चैत्यस्तस्मिन्, किमुक्तं भवति ? — अधोबद्धपीठिके उपरि चोच्छ्रितपताके ……वृक्ष इति शेषः ।

५–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १८२ :
एत्थ सिलोगभंगभया हिकारस्स लोवो कओ ।
(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ३०९ :
'वच्छे' त्ति सूत्रत्वाद्धिशब्दलोपे वृक्षैः ।

६–स्थानांग, ३।१।१३४ :
तिहिं ठाणेहिं देवाणं चेइयरुक्खा चलेज्जा ।

७–बृहद् वृत्ति, पत्र ३११ :
प्रकर्षेण मर्यादया च कुर्वन्ति तमिति प्राकारस्तं—धूलीष्टकादिविरचितम् ।

८–अभिधान चिन्तामणि, ४।४७ :
पुरद्वारे गोपुरम् ।

टीकाकार ने इसका प्रतोली-द्वार—नगर के बीच की सड़क का या गली का द्वार किया है।[1] अट्टालक का अर्थ 'बुर्ज' है।[2] गोपुर-अट्टालक—बुर्ज वाले नगर-द्वार सुरक्षा तथा पर्यवेक्षण के लिए बनाए जाते थे। वाल्मीकि रामायण में गोपुरट्टालक और साट्ट-गोपुर के प्रयोग मिलते हैं।[3]

'उस्सूलग'—खाई।[4] खाई शत्रु-सेना को पराजित करने के लिए बनाई जाती थी। वह बहुत ही गहरी और चौड़ी होती थी। उसमें जल भरा रहता था इसलिए शत्रु-सेना उसे सहज ही पार नहीं कर पाती थी। 'उस्सूलग' का दूसरा अर्थ ऊपर से ढंका हुआ गड्ढा भी किया गया है।[5] जार्ल सरपेन्टियर के अभिमत में 'उस्सूलग' का अर्थ 'खाई' यथार्थ नहीं है।[6] सर्वार्थसिद्धि में 'उच्छूलग' शब्द है।[7] चूर्णि, बृहद् वृत्ति और सुखबोधा में 'उस्सूलग' है। बीसवें श्लोक के 'तिगुत्त' शब्द की व्याख्या में, बृहद् वृत्ति में 'उच्चूलक' और सुखबोधा में 'उच्छूलक' पाठ है।[8] इससे जान पड़ता है कि 'उस्सूलग' और 'उच्चूलग' एक शब्द के ही दो रूप हैं।

जार्ल सरपेन्टियर ने इसका अर्थ 'ध्वज' किया है।[9] जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में 'ओचूलग' (अवचूलक) शब्द आया है। वृत्तिकार ने उसका अर्थ 'अधोमुखांचल—नीचे लटकता हुआ वस्त्र' किया है।[10] इसलिए 'उस्सूलग' या 'उच्चूलक' का अर्थ 'ध्वज' भी किया जा सकता है। किन्तु 'तिगुत्त' शब्द को देखते हुए इसका अर्थ खाई या गड्ढा होना चाहिए। नगर की गुप्ति—सुरक्षा के लिए प्राचीन काल में खाई का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है।[11]

'सयग्घी'—शतघ्नी। यह एक बार में सौ व्यक्तियों का संहार करने वाला यंत्र है।[12] कौटिल्य ने इसे 'चल-यंत्र' माना है।[13] अर्थ-शास्त्र की व्याख्या के अनुसार शतघ्नी का अर्थ है—दुर्ग की दीवार पर रखा हुआ एक विशाल स्तंभ, जिस पर मोटी और लम्बी कीलें लगी हुई हों।

आचार्य हेमचन्द्र ने 'सयग्घी' को देशी शब्द भी माना है। इसका पर्यायवाची शब्द 'घरट्टी' है।[14] शेषनाममाला में इसके दो पर्यायवाची नाम हैं—चतुस्ताला और लोहकण्टकसंचिता।[15] इसके अनुसार यह चार बालिश्त की और लोहे के काँटों से संचित होती थी। इसे एक बार में सैकड़ों पत्थर फेंकने का यंत्र, आधुनिक तोप का पूर्व रूप कहा जा सकता है।

प्राकार, गोपुर-अट्टालक, परिखा और शतघ्नी—ये प्राचीन नगरों, दुर्गों या राजधानियों के अभिन्न अंग होते थे।[16]

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ३११ :
गोभिः पूर्यन्त इति गोपुराणि—प्रतोलीद्वाराणि।

२—वही, पत्र ३११ :
अट्टालकानि प्राकारकोष्ठकोपरिवर्त्तीनि आयोधनस्थानानि।

३—वाल्मीकि रामायण, ५।५८।१५८।

४—बृहद् वृत्ति, पत्र ३११ :
'उस्सूलय' त्ति खातिका।

५—वही, पत्र ३११ :
परबलपातार्थमुपरिच्छादितगर्ता वा।

६—The Uttarādhyayana Sūtra, p. 314.

७—सर्वार्थसिद्धि, पृ० २०७ :
'उच्छूलग' त्ति खातिका।

८—बृहद् वृत्ति, पत्र ३११ ; सुखबोधा, पत्र १४८।

९—The Uttarādhyayana Sūtra, p. 314.

१०—जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, ३।६१।

११—कालीदास का भारत, पृ० २१८ ; रामायणकालीन संस्कृति, पृ० २१३।

१२—बृहद् वृत्ति, पत्र ३११ :
शतं घ्नन्तीति शतघ्न्यः, ताश्च यंत्रविशेषरूपाः।

१३—कौटिल्य अर्थशास्त्र, अधिकरण २, अध्याय १८, सूत्र ७।

१४—देशीनाममाला ८।५, पृ० ३१५।

१५—शेषनाममाला, श्लोक १५०, पृ० ३६९ :
शतघ्नी तु चतुस्ताला, लोहकण्टकसंचिता।

१६—कौटिल्य अर्थशास्त्र, अधिकरण २, अध्याय ३, सूत्र ४।

श्लोक २०

६—(अग्गलं ख, तिगुत्तं घ) :

'अग्गलं'—अर्गला । गोपुर (सिंहद्वार), किवाड़ और अर्गला—ये तीनों परस्पर सम्बन्धित हैं । सिंहद्वार को किवाडों पर भीतर से अर्गला देकर बन्द किया जाता था । शान्त्याचार्य ने गोपुर शब्द के द्वारा अर्गला[1]—कपाट का सूचन किया है । अर्गला शब्द गोपुर का सूचक है ।

'तिगुत्तं'—बुर्ज, खाई और शतघ्नी से सुरक्षित । त्रिगुप्त प्राकार का विशेषण है । इसमें अठारहवें श्लोक के अट्टालग, उस्सूलग और सयग्घी—इन तीनों शब्दों का संग्रह किया गया है । इनके द्वारा जैसे प्राकार सुरक्षित होता है वैसे ही मन, वचन और काया की गुप्तियों से क्षमा-रूपी प्राकार सुरक्षित होता है ।[2]

श्लोक २१

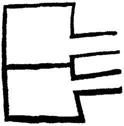
१०—मूठ (केयणं ग) :

धनुष के मध्य भाग में जो काठ की मुष्टि होती है, उसे 'केतन' कहा जाता है ।[3]

श्लोक २४

११—(वद्धमाणगिहाणि ख, बालग्गपोइयाओ ग) :

'वद्धमाणगिहाणि'—चूर्णि और टीका में इसका स्पष्ट अर्थ नहीं है । मोनियर मोनियर-विलियम्स ने इसका अर्थ 'वह घर जिसमें दक्षिण की ओर द्वार न हो' किया है ।[4] मत्स्यपुराण का भी यही अभिमत है ।[5] वास्तुसार में घरों के चौसठ प्रकार बतलाए हैं । उनमें तीसरा प्रकार वर्धमान है ।[6] जिसके दक्षिण दिशा में मुखवाली गावी शाला हो, उसे वर्धमान कहा है ।[7] उसका संस्थान इस प्रकार है[8]—



१—बृहद् वृत्ति, पत्र ३११ :
गोपुरग्रहणमर्गलाकपाटोपलक्षणम् ।

२—वही, पत्र ३११ :
तिसृभिः—अट्टालकोच्चूलकशतघ्नीसंस्थानीयाभिर्मनोगुप्त्यादिभिर्गुप्तिभिः गुप्तं त्रिगुप्तं, मयूरव्यंसकादित्वात् समासः ।

३—वही, पत्र ३११ :
'केतनं' शृङ्गमयधनुर्मध्ये काष्ठमयमुष्टिकात्मकम् ।

4—A Sanskrit English Dictionary, p. 926.

५—मत्स्यपुराण, पृ० २५४ :
दक्षिणद्वारहीनं तु वर्धमानमुदाहृतम् ।

६—वास्तुसार, ७५ पृ० ३६ ।

७—वही, ८२, पृ० ३८ ।

८—वही, ८२, पृ० ३९ ।

डॉ० हरमन जेकोबी ने वराहमिहिर की संहिता (५३।३६) के आधार पर माना है कि यह समस्त गृहों में सुन्दर होता है।[1] वर्धमान गृह धनप्रद होता है।[2]

'बालग्गपोइयाओ'—यह देशी शब्द है। इसका अर्थ 'वलभी' है। वलभी के अनेक अर्थ हैं—यहाँ चन्द्रशाला या जलाशय में निर्मित लघु प्रासाद है।[3]

श्लोक २६

१२—श्लोक २६ :

इस श्लोक में राजर्षि ने कहा—"यह घर एक पथिक का विश्रामालय है, जहाँ मुझे जाना है वह स्थान अभी दूर है। पर मुझे दृढ़ विश्वास है कि मैं वहाँ पहुँच जाऊँगा और वहाँ पहुँच कर ही मैं अपना घर बनाऊँगा। जिस व्यक्ति को यह संशय होता है कि मैं अपने अभीष्ट स्थान तक पहुँच सकूँगा या नहीं, वही मार्ग में घर बनाता है।"

राजर्षि ने कहा—"मुझे मुक्ति-स्थान में जाना है। वहाँ पहुँचने के साधन सम्यक्-दर्शन आदि मुझे प्राप्त हो चुके हैं। मैं उनके सहारे गन्तव्य की ओर प्रयाण कर चुका हूँ। फिर मैं यहाँ किसलिए घर बनाऊँ ?"[4]

'सासय'—शान्त्याचार्य ने इसके संस्कृत रूप 'स्वाश्रय' और 'शाश्वत' किए हैं। स्वाश्रय अर्थात् अपना घर और शाश्वत अर्थात् नित्य। यहाँ ये दोनों अर्थ प्रकरणानुसारी हैं।[5]

श्लोक २८

१३—श्लोक २८ :

इस श्लोक में आमोष, लोमहार, ग्रन्थि-भेद और तस्कर—ये चार शब्द विभिन्न प्रकारों से धन चुराने वाले व लूटने वाले व्यक्तियों के वाचक हैं। तस्कर का अर्थ 'चोर' है। शेष तीन शब्दों के अर्थ चूर्णि और टीका में समान नहीं है। चूर्णि के अनुसार आमोष का अर्थ 'पंथ मोषक—बटमार, राह में लूट लेने वाला' है।[6] लोमहार का अर्थ 'पेल्लणमोषक' है।[7] यहाँ पेल्लण का संस्कृत रूप सम्भवतः पीडन है। पीडनमोषक अर्थात् पीड़ा पहुँचा कर लूटने वाला। जो युक्ति-सुवर्ण—यौगिक या नकली सोना बनाकर तथा इसी कोटि के दूसरे कार्यों द्वारा लोगों को ठगता

१—Sacred Books of the East, Vol. XLV, The Uttarādhyayana Sūtra, p. 38, Foot Note, 1.

२—**वाल्मीकि रामायण, ५।८ :**
दक्षिणद्वाररहितं वर्धमानं धनप्रदम् ।

३—(क) **उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १८३ :**
बालग्गपोतिया णाम मूतियाओ, केचिदाहुः—जो आगासतलागस्स मज्झे खुड्डुलओ पासादो कज्जति ।

(ख) **बृहद् वृत्ति, पत्र ३१२ :**
'वालग्गपोइयातो य' त्ति देशीपदं वलभीवाचकं, ततो वलभीश्च कारयित्वा, अन्ये त्वाकाशतडागमध्यस्थितं क्षुल्लकप्रासादमेव 'वालग्गपोइया य' त्ति देशीपदाभिधेयमाहुः ।

४—**सर्वार्थसिद्धि, पृ० २०८, २०९ ।**

५—**बृहद् वृत्ति, पत्र ३१२ :**
स्वस्य—आत्मन आश्रयो—वेश्म स्वाश्रयस्तं, यद्वा शाश्वतं—नित्यं, प्रक्रमाद् गृहमेव ।

६—**उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १८३ :**
आमोक्खंतीत्यामोक्खा पंथमोषका इत्यर्थ : ।

७—**वही, पृ० १८३ :**
लोमहारा णाम पेल्लणमोसगा ।

है, उसे ग्रन्थि-भेदक कहा जाता है।[1] टीकाओं में आमोष की केवल व्युत्पत्ति दी गई है।[2] लोमहार का अर्थ 'मारकर सर्वस्व का अपहरण करने वाला'[3] तथा ग्रन्थि-भेदक का अर्थ 'गिरह-कट' किया है।[4]

श्लोक ३०

१४–श्लोक ३० :

इस श्लोक में राजर्षि ने वस्तुस्थिति का मर्मोद्घाटन किया है। उन्होंने कहा—"मनुष्य में अज्ञान और अहंकार आदि दोष होते हैं। उनके वशीभूत होकर वह निरपराध को भी अपराधी की भाँति दण्डित करता है और अज्ञानवश या घूस लेकर अपराधी को भी छोड़ देता है। अज्ञानी, अहंकारी और लालची मनुष्य मिथ्या-दण्ड का प्रयोग करता है। इससे नगर का क्षेम नहीं हो सकता।"

'मिच्छादण्डो' मिथ्या का अर्थ—'झूठा' और दण्ड का अर्थ 'देश-निष्कासन व शारीरिक यातना देना' है।[5]

श्लोक ३८

१५–श्लोक ३८ :

ब्राह्मण-परम्परा में यज्ञ करना, ब्राह्मणों को भोजन कराना और दान देना—इनका महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है।[6] जैन-आगमों में इनका पूर्व-पक्ष के रूप में कई स्थानों पर उल्लेख हुआ है। देखें—उत्तराध्ययन, १४।९ ; सूत्रकृतांग, २।६।२६।

श्लोक ४०

१६–श्लोक ४० :

ब्राह्मण ने राजर्षि के सामने यज्ञ, ब्राह्मण-भोजन, दान और भोग-सेवन—ये चार प्रश्न उपस्थित किये थे। राजर्षि ने उनमें से केवल एक दान के प्रश्न का उत्तर दिया, शेष प्रश्नों के उत्तर इसी में गर्भित हैं।

१–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १८३ :
ग्रन्थिं भिंदंति ग्रन्थिभेदका, जुत्तिसुवण्णगादीहिं।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र ३१२ :
आ—समन्तात् मुष्णन्ति—स्तैन्यं कुर्वन्तीत्यामोषाः।

३–वही, पृ० ३१२ :
लोमानि—रोमाणि हरन्ति—अपनयन्ति प्राणिनां ये ते लोमहाराः।

४–वही, पृ० ३१२ :
ग्रन्थिं—द्रव्यसम्बन्धिनं भिन्दन्ति घुर्घुरककर्तिकादिना विदारयन्तीति ग्रन्थिभेदाः।

५–वही, पत्र ३१३ :
'मिथ्या' व्यलीकः, किमुक्तं भवति ?—अनपराधिष्वज्ञानाहंकारादिहेतुभिरपराधिष्विव दण्डनं दण्डः—देशत्यागशरीरनिग्रहादिः।

६–(क) पद्मपुराण, १८।४३७ :
तपः कृते प्रशंसन्ति, त्रेतायां ज्ञान कर्म च।
द्वापरे यज्ञ मेवाहु र्दानमेकं कलौ युगे॥

(ख) मनुस्मृति, २।२८ :
स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥

शान्त्याचार्य ने लिखा है कि गो-दान सबसे अधिक प्रचलित है, इसलिए उसे प्रधानता दी है। यह यज्ञ आदि का उपलक्षण है।[1] इस श्लोक में संयम को श्रेय कहा है। यज्ञ आदि प्रेय हैं, सावद्य हैं। यह स्वयं फलित हो जाता है। टीकाकार के शब्दों में—"यज्ञ इसलिए सावद्य है कि उसमें पशु-वध होता है, स्थावर जीवों की भी हिंसा होती है। साधु को उसके योग्य अशन-पान और धर्मोपकरण दिए जाते हैं, वह धर्म-दान है। इसके अतिरिक्त जो सुवर्ण-दान, गो-दान, भूमि दान आदि हैं वे प्राणियों के विनाश के हेतु हैं इसलिए सावद्य हैं और भोग तो सावद्य हैं ही।

"प्रतिवादी ने कहा— यज्ञ, दान आदि प्राणियों के प्रीतिकर हैं, इसलिए वे सावद्य नहीं हैं। आचार्य ने कहा—यह हेतु सही नहीं है। जो सावद्य है वह प्राणियों के लिए प्रीतिकर नहीं होता, जैसे—हिंसा आदि। यज्ञ आदि सावद्य हैं, इसलिए वे प्रीतिकर नहीं हैं।"[2]

श्लोक ४२

१७–श्लोक ४२ :

ब्राह्मण-परम्परा में संन्यास की अपेक्षा गृहस्थाश्रम का अधिक महत्त्व रहा है। महाभारत में बताया गया है कि जो शील और सदाचार से विनीत है, जिसने अपनी इन्द्रियों को काबू में कर रखा है, जो सरलतापूर्ण बर्ताव करता है और समस्त प्राणियों का हितैषी है, जिसको अतिथि प्रिय है, जो क्षमाशील है, जिसने धर्मपूर्वक धन का उपार्जन किया है— ऐसे गृहस्थ के लिए अन्य आश्रमों की क्या आवश्यकता ? जैसे सभी जीव माता का सहारा लेकर जीवन धारण करते हैं, उसी प्रकार सभी आश्रम गृहस्थ-आश्रम का आश्रय लेकर ही जीवन यापन करते हैं।[3] महर्षि

१–उपलक्षण का अर्थ है—शब्द की वह शक्ति जिससे निर्दिष्ट वस्तु के अतिरिक्त उस तरह की और वस्तुओं का भी बोध हो।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र ३१५ :

गोदानं चेह यागाद्युपलक्षणम्, अतिप्रभूतजनाचरितमित्युपात्तम्, एवं च संयमस्य प्रशस्यतरत्वमभिदधता यागादीनां सावद्यत्वमर्थादावेदितं, तथा च यज्ञप्रणेतृभिरुक्तम्—

षट् शतानि नियुज्यन्ते, पशूनां मध्यमेऽहनि।
अश्वमेधस्य वचनान्न्यूनानि पशुभिस्त्रिभिः॥

इयत्पशुवधे च कथमसावद्यता नाम ?, तथा दानान्यप्यशनादिविषयाणि धर्म्मोपकरणगोचराणि च धर्माय वर्ण्यन्ते, आह—

अशनादीनि दानानि, धर्म्मोपकरणानि च।
साधुभ्यः साधुयोग्यानि, देयानि विधिना बुधैः॥

शेषाणि तु सुवर्णगोभूम्यादीनि प्राण्युपमर्दहेतुतया सावद्यान्येव, भोगानां तु सावद्यत्वं सुप्रसिद्धं। तथा च प्राणिप्रीतिकरत्वादित्यसिद्धो हेतुः, प्रयोगश्च—यत्सावद्यं न तत् प्राणिप्रीतिकरं, यथा हिंसादि, सावद्यानि च यागादीनि।

३–महाभारत, अनुशासनपर्व, अध्याय १४१ :

शीलवृत्तविनीतस्य निगृहीतेन्द्रियस्य च॥
आर्जवे वर्तमानस्य सर्वभूतहितैषिणः।
प्रियातिथेश्च क्षान्तस्य धर्मार्जितधनस्य च॥
गृहाश्रमपदस्थस्य किमन्यैः कृत्यमाश्रमैः।
यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः॥
तथा गृहाश्रमं प्राप्य सर्वे जीवन्ति चाश्रमाः।

मनु ने भी गृही को 'ज्येष्ठाश्रम' कहा है। उसकी ज्येष्ठता इसलिए है कि शेष तीनों आश्रमों को वही धारण करता है।[1] इस गुरुतम उत्तरदायित्व की मान्यता को ध्यान में रखकर सूत्रकार ने गार्हस्थ्य के लिए 'घोराश्रम' शब्द का प्रयोग किया है।[2] चूर्णिकार ने इस भावना को अभिव्यक्त करते हुए लिखा है कि प्रव्रज्या का पालन करना सरल है, किन्तु गृहस्थाश्रम चलाना बहुत कठिन है क्योंकि शेष सब आश्रम वाले उसी पर निर्भर रहते हैं।[3]

चूर्णिकार ने जो 'तर्कयन्ति' का प्रयोग किया है, वह सहज ही 'तर्कयन्ति गृहाश्रमम्' महाभारत के उस चरण की याद दिला देता है।[4] आगमकार भी गृहस्थ को श्रमण के जीवन का आश्रयदाता मानते हैं।[5] फिर भी जैन-परम्परा में श्रमण की अपेक्षा गृहस्थाश्रम का स्थान बहुत निम्न है। 'मैं घर को छोड़ कर कब श्रमण बनूं'—यह गृहस्थ का पहला मनोरथ है।[6]

श्लोक ४४

१८–श्लोक ४४ :

ब्राह्मण ने कहा—'धर्मार्थी पुरुष को घोर का अनुष्ठान करना चाहिए। संन्यास की अपेक्षा गृहस्थाश्रम घोर है, इसलिए उसे छोड़कर संन्यास में जाना उचित नहीं।'[7]

१–मनुस्मृति, ३।७७, ७८ :
यथा वायुं समाश्रित्य, वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य, वर्तन्ते सर्व आश्रमाः॥
यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो, ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते, तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही॥

२–बृहद् वृत्ति, पत्र ३१५ :
'घोरः' अत्यन्तदुरनुचरः, स चासावाश्रमश्च आ—इति-स्वपरप्रयोजनाभिव्याप्त्या श्राम्यन्ति—खेदमनुभवन्त्यस्मिन्निति कृत्वा घोराश्रमो—गार्हस्थ्यं, तस्यैवाल्पसत्त्वैर्दुष्करत्वात्, यत आहुः—
गृहाश्रमसमो धर्मो, न भूतो न भविष्यति।
पालयन्ति नराः शूराः, क्लीबाः पाखण्डमाश्रिताः॥

३–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १८४ :
आश्रयन्ति तमित्याश्रयाः, का भावना? सुखं हि प्रव्रज्या क्रियते, दुःखं गृहाश्रम इति, तं हि सर्वाश्रमास्तर्कयन्ति।

४–महाभारत, अनुशासनपर्व, अध्याय १४१ :
राजानः सर्वपाषण्डाः सर्वे रंगोपजीविनः॥
व्यालग्राहाश्च दम्भाश्च चोरा राजभटास्तथा।
सविद्याः सर्वशीलज्ञाः सर्वे वै विचिकित्सकाः॥
दूराध्वानं प्रपन्नाश्च क्षीणपथ्योदना नराः।
एते चान्ये च बहवः तर्कयन्ति गृहाश्रमम्॥

५–स्थानांग, ५।३।४४७ :
धम्मं चरमाणस्स पंच णिस्साठाणा पं० तं०—छक्काया, गणो, राया, गाहावती, सरीरं।

६–वही, ३।४।२१० :
कया णं अहं मुंडे भवित्ता अगारातो अणगारितं पव्वइस्सामि।

७–बृहद् वृत्ति, पत्र ३१५ :
यद्यद् घोरं तत्तद् धर्मार्थिनाऽनुष्ठेयं, यथाऽनशनादि, तथा चायं गृहाश्रमः।

इसके उत्तर में राजर्षि ने कहा—'घोर होने मात्र से ही कोई वस्तु श्रेष्ठ नहीं होती। बाल अर्थात् अज्ञान-पूर्ण तप करने वाला तपस्वी घोर तप करके भी सर्व सावद्य की विरति करने वाले मुनि की तुलना में नहीं आता, उसके सोलहवें भाग का भी स्पर्श नहीं करता। धर्मार्थी के लिए घोर अनुष्ठेय नहीं है। उसके लिए अनुष्ठेय है स्वाख्यात धर्म, भले फिर वह घोर हो या अघोर। गृहस्थाश्रम घोर होने पर भी स्वाख्यात-धर्म नहीं है, इसलिए उसे मैं जो छोड़ रहा हूँ, वह अनुचित नहीं है।'[1]

१९–कुश की नोक पर टिके उतना-सा आहार करता है (कुसग्गेण तु भुंजए [ख]) :

इसके दो अर्थ होते हैं—जितना कुश के अग्र भाग पर टिके उतना खाता है—यह एक अर्थ है।[2] दूसरा अर्थ है—कुश के अग्र-भाग से ही खाता है, अंगुली आदि से उठा कर नहीं खाता।[3] पहले का आशय एक बार खाने से है और दूसरे का कई बार खाने से। मात्रा की अल्पता दोनों में है।

२०–सु-आख्यात धर्म (सम्यक्-चारित्र सम्पन्न मुनि) की (सुयक्खायधम्मस्स [ग]) :

भगवान् ने समस्त पाप पूर्ण प्रवृत्तियों की विरति को 'धर्म' कहा है, इसलिए उनका धर्म सु-आख्यात है। इसकी समग्र-रूप से आराधना करने वाला स्वाख्यात-धर्मा—मुनि होता है।[4]

श्लोक ४६

२१–चाँदी, सोना (हिरण्णं सुवण्णं [क]) :

हिरण्य शब्द चाँदी और सोना दोनों का वाचक है। चूर्णिकार ने हिरण्य का अर्थ 'चाँदी' और सुवर्ण का अर्थ 'सोना' किया है।[5] शान्त्याचार्य ने हिरण्य का अर्थ 'सोना' किया है। उनके अनुसार सुवर्ण हिरण्य का विशेषण है। सुवर्ण अर्थात् श्रेष्ठ-वर्ण वाला।[6] वैकल्पिक रूप में हिरण्य का अर्थ गढ़ा हुआ सोना और सुवर्ण का अर्थ बिना गढ़ा हुआ सोना किया है।[7] सुखबोधा और सर्वार्थसिद्धि में यही अभिमत है।[8]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ३१६ :
यदुक्तम्—'यद्यद् घोरं तत्तद्धर्मार्थिनाऽनुष्ठेयमनशनादिवदि'ति, अत्र घोरत्वादित्यनैकान्तिको हेतुः, घोरस्यापि स्वाख्यातधर्मस्यैव धर्मार्थिनाऽनुष्ठेयत्वाद्, अन्यस्य त्वात्मघातादिवत्, अन्यथात्वात्, प्रयोगश्चात्र—यत् स्वाख्यातधर्मरूपं न भवति घोरमपि न तद्धर्मार्थिनाऽनुष्ठेयं, यथाऽऽत्मवधादिः, तथा च गृहाश्रमः, तद्रूपत्वं चास्य सावद्यत्वाद्धिंसादिवदित्यलं प्रसंगेन।

२–वही, पत्र ३१६ :
'कुशाग्रेणैव' तृणविशेषप्रान्तेन भुंक्ते, एतदुक्तं भवति—यावत् कुशाग्रेऽवतिष्ठते तावदेवाभ्यवहरति नातोऽधिकम्, अथवा कुशाग्रेणेति जातावेकवचनं, तृतीया तु ओदनेनासौ भुंक्त इत्यादिवत् साधकतमत्वेनाभ्यवह्रियमाणत्वेऽपि विवक्षितत्वात्।

३–सुखबोधा, पत्र १५० :
'कुशाग्रेणैव' दर्भाग्रेणैव भुंक्ते न तु कराङ्गुल्यादिभिः।

४–बृहद् वृत्ति, पत्र ३१६ :
सुष्ठु—शोभनः सर्वसावद्यविरतिरूपत्वादाङिति—अभिव्याप्त्या ख्यातः—तीर्थकरादिभिः कथितः स्वाख्यातः तथाविधो धर्मो यस्य सोऽयं स्वाख्यातधर्मा तस्य, चारित्रिण इत्यर्थः।

५–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १८५ :
हिरण्णं—रजतं शोभनवर्णं सुवर्णम्।

६–बृहद् वृत्ति, पत्र ३१६ :
'हिरण्यं' स्वर्णं 'सुवर्णं' शोभनवर्णं विशिष्टवर्णिकमित्यर्थः।

७–वही, पत्र ३१६ :
यद्वा हिरण्यं—घटितस्वर्णमितरत्तु सुवर्णम्।

८–(क) सुखबोधा, पत्र १५१।
(ख) सर्वार्थसिद्धि, पत्र २११।

श्लोक ६०

२२–मुकुट को धारण करने वाला (तिरीडी घ) :

जिसके तीन शिखर हों उसे 'मुकुट' और जिसके चौरासी शिखर हो उसे 'किरीट' कहा जाता है ।[१] जिसके सिर पर किरीट हो वह 'किरीटी' कहलाता है ।[२] सामान्यतया मुकुट और किरीट पर्यायवाची माने जाते हैं ।

श्लोक ६१

२३–विदेह के अधिपति (वइदेही ग) :

नमि विदेह जनपद के अधिपति थे, इसलिए उन्हें 'विदेही' कहा है । वइदेही का दूसरा संस्कृत रूप 'वैदेही' है । विभक्ति का व्यत्यय माना जाय तो इसका अर्थ 'वैदेही' (मिथिला को) किया जा सकता है ।[३]

१–सूत्रकृतांग चूर्णि, पृ० ३६० :
सिहिं सिहरएहिं मउडो वुच्चति, चतुरसीहिं तिरीडं ।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र ३१९ :
किरीटी च—मुकुटवान् ।

३–वही, पत्र ३२० :
'वइदेही' त्ति सूत्रत्वाद्विदेहा नाम जनपदः सोऽस्यास्तीति विदेही विदेहजनपदाधिपो, न त्वन्य एव कश्चिदिति भावः, यद्वा—विदेहेषु भवा वैदेही—मिथिलापुरी, सुब्व्यत्ययात्ताम् ।

अध्ययन १०

दुमपत्तयं

श्लोक १

१—वृक्ष का पका हुआ पान (दुमपत्तए पण्डुयए क) :

जीवन की नश्वरता को पके हुए द्रुम-पत्र की उपमा से समझाया गया है। निर्युक्तिकार ने यहाँ पके हुए पत्र और कोंपल का एक उद्बोधक संवाद प्रस्तुत किया है। पके हुए पत्र ने किसलयों से कहा—"एक दिन हम भी वैसे ही थे, जैसे कि तुम हो और एक दिन तुम भी वैसे ही हो जाओगे, जैसे कि हम हैं।"[1]

अनुयोगद्वार में इस कल्पना को और अधिक सरस रूप दिया गया है। पके हुए पत्तों को गिरते देख कोंपलें हँसी तब पत्तों ने कहा—"जरा ठहरो, एक दिन तुम पर भी वही बीतेगी, जो आज हम पर बीत रही है।"[2]

'पण्डुयए'—इसका शाब्दिक अर्थ—सफेद-पीला या सफेद रंग है। वृक्ष का पत्ता पकने पर इस रंग का हो जाता है, इसलिए पण्डुयए का भावानुवाद 'पका हुआ' किया है।[3]

श्लोक ५-१४

२—श्लोक ५-१४ :

जीव एक जन्म में जितने काल तक जीते हैं, उसे 'भव-स्थिति' कहा जाता है और मृत्यु के पश्चात् उसी जीव-निकाय के शरीर में उत्पन्न होने को 'काय-स्थिति' कहा जाता है।[4] देव और नारकीय-जीव मृत्यु के पश्चात् पुनः देव और नारक नहीं बनते। उनके 'भव-स्थिति' ही होती है, 'काय-स्थिति' नहीं होती।[5] तिर्यंच और मनुष्य मृत्यु के पश्चात् पुनः तिर्यंच और मनुष्य बन सकते हैं इसलिए उनके 'काय-स्थिति' भी होती है।[6] पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु के जीव लगातार असंख्य अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी परिमित काल तक अपने-अपने स्थानों में जन्म लेते रहते

१—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ३०८ :

जह तुब्भे तह अम्हे, तुब्भेवि अ होहिहा जहा अम्हे।
अप्पाहेइ पडंतं, पंडुरवत्तं किसलयाणं॥

२—अनुयोगद्वार, सूत्र १४६ :

परिजूरियपेरंतं, चलंतबिंटं पडंतनिच्छीरं।
पत्तं वसणपत्तं, कालप्पत्तं भणइ गाहं॥१२०॥
जह तुब्भे तह अम्हे, तुम्हेऽवि अ होहिहा जहा अम्हे।
अप्पाहेइ पडंतं, पंडुयपत्तं किसलयाणं॥१२१॥

३—बृहद् वृत्ति, पत्र ३३३ :

'पंडुयए' त्ति आर्षत्वात् पाण्डुरकं कालपरिणामतस्तथाविधरोगादेर्वा प्राप्तवलक्षभावम्।

४—स्थानांग, २।३।८५ :

दुविहा ठिती।

५—वही, २।३।८५ :

दोण्हं भवट्ठिती।

६—वही, २।३।८५ :

दोण्हं कायट्ठिती।

हैं। वनस्पतिकाय के जीव अनन्त काल तक वनस्पतिकाय में ही रह जाते हैं।[1] दो, तीन और चार इन्द्रिय वाले जीव हजारों-हजारों वर्षों तक अपने-अपने निकायों में जन्म ले सकते हैं। पाँच इन्द्रिय वाले जीव लगातार एक शरीर में सात-आठ जन्म ले सकते हैं।

श्लोक १५

३–श्लोक १५ :

जीव जो संसार में परिभ्रमण करता है, उसका हेतु बन्धन है। शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्म जीव को बांधे हुए रहते हैं। ये बन्धन टूटते हैं तब जीव मुक्त हो जाते हैं।[2] इस श्लोक में संसार के हेतु का वर्णन है। बन्धन के इन दोनों प्रकारों और उनका नाश होने पर मुक्त होने का सिद्धान्त गीता में भी मिलता है।[3]

श्लोक १६

४–दस्यु और म्लेच्छ (दसुया मिलेक्खुया ग) :

'दसुया'—दस्यु का अर्थ है देश की सीमा पर रहने वाला चोर।[4]

'मिलेक्खुया'—मिलक्खु का अर्थ 'म्लेच्छ' है। सूत्रकृतांग में 'मिलक्खु'[5] और अभिधानप्पदीपिका में 'मिलक्ख' शब्द मिलता है[6]। यहां एकार अधिक है। यह शब्द संस्कृत के म्लेच्छ शब्द का रूपान्तर नहीं, किन्तु मूलतः प्राकृत भाषा का है।

जिसकी भाषा अव्यक्त होती है, जिसका कहा हुआ आर्य लोग नहीं समझ पाते, उन्हें म्लेच्छ कहा जाता है। वृत्तिकार ने शक, यवन, शबर आदि देशों में उत्पन्न लोगों को म्लेच्छ कहा है। वे आर्यों की व्यवहार-पद्धति—धर्म-अधर्म, गम्य-अगम्य, भक्ष्य-अभक्ष्य—से भिन्न प्रकार का जीवन जीते थे, इसलिए आर्य लोग उन्हें हेय दृष्टि से देखते थे।[7]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ३३६।

२–उत्तराध्ययन, २१।२४।

३–(क) गीता, २।५० :

बुद्धियुक्तो जहातीह, उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व, योगः कर्मसु कौशलम्॥

(ख) वही, ९।२८ :

शुभाशुभफलैरेवं, मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा, विमुक्तो मामुपैष्यसि॥

४–बृहद् वृत्ति, पत्र ३३७ :

दस्यवो—देशप्रत्यन्तवासिनश्चौराः।

५–सूत्रकृतांग, १।१।२।१५ :

मिलक्खू अमिलक्खुस्स, जहा वुत्ताणुभासए।
न हेउं से वियाणाइ, भासियं तऽणुभासए॥

६–(क) अभिधानप्पदीपिका, २।१८६ :

मिलक्ख देसो, पच्चन्तो।

(ख) वही, २।५१७ :

मिलक्ख जातियो (प्यय)।

७–बृहद् वृत्ति, पत्र ३३७ :

'मिलेक्खु य' त्ति म्लेच्छा—अव्यक्तवाचो, न यदुक्तमार्यैरवधार्यते, ते च शकयवनशबरादिदेशोद्भवाः, येष्ववाप्यापि मनुजत्वं जन्तुरुत्पद्यते, एते च सर्वेऽपि धर्माधर्मगम्यागम्यभक्ष्याभक्ष्यादिसकलार्यव्यवहारबहिष्कृतास्तिर्यक्प्राया एव।

श्लोक १८

५–कुतीर्थिक (कुतित्थि ग) :

कुतीर्थिक का अर्थ 'असत्य मंतव्य वाला दार्शनिक' है। वह जन-रुचि के अनुकूल उपदेश देता है इसलिए उसकी सेवा करने वाले को उत्तम धर्म सुनने का अवसर ही नहीं मिलता।[1]

श्लोक २७

६–पित्त-रोग (अरई क) :

अरति के अनेक अर्थ होते हैं। शान्त्याचार्य ने इसका अर्थ 'वायु आदि से उत्पन्न होने वाला चित्त का उद्वेग' किया है।[2] 'किन्तु इस श्लोक में शरीर का स्पर्श करने वाले रोगों का उल्लेख है। इस दृष्टि से अनुवाद में इसका अर्थ 'पित्त-रोग' किया गया है। अरति का अर्थ पित्त-रोग भी है।[3]

श्लोक २८

७–श्लोक २८ :

इस श्लोक में भगवान् ने गौतम को स्नेह-मुक्त होने का उपदेश दिया। गौतम पदार्थों में आसक्त नहीं थे। विषय भोगों में भी उनका अनुराग नहीं था। केवल भगवान् से उन्हें स्नेह था। भगवान् स्वयं वीतराग थे। वे नहीं चाहते थे कि कोई उनके स्नेह-बन्धन में बंधे। भगवान् के इस उपदेश की पृष्ठ-भूमि में उस घटना का भी समावेश होता है, जिसका एक प्रसंग में भगवान् ने स्वयं उल्लेख किया था। भगवान् ने कहा था—"गौतम ! तू मेरा चिरकालीन सम्बन्धी रहा है।"[4]

८–जल (पाणियं ख) :

अट्ठाइसवें श्लोक के प्रथम दो चरण धम्मपद के मार्ग-वर्ग, श्लोक १३ से तुलनीय है—

"उच्छिद सिनेहमत्तनो कुमुदं सारदिकं व पाणिना।"

अर्थात्—अपने प्रति आसक्ति को इस तरह काट दो जैसे शरद्-ऋतु में हाथों से कमल फूल काट दिया जाता है।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ३३७ :

कुत्सितानि च तानि तीर्थानि कुतीर्थानि च—शाक्यौलूक्यादिप्ररूपितानि तानि विद्यन्ते येषामनुष्ठेयतया स्वीकृतत्वात्ते कुतीर्थिनस्तान्नितरां सेवते यः स कुतीर्थिनिषेवको जनो-लोकः, कुतीर्थिनो हि यशः सत्काराद्येषिणो यदेव प्राणिप्रियं विषयादि तदेवोपदिशन्ति, तत्तीर्थकृतामप्येवंविधत्वात्, उक्तं हि—

सत्कारयशोलाभार्थिभिश्च मूढैरिहान्यतीर्थकरैः।
अवसादितं जगदिदं प्रियाण्यपथ्यान्युपदिशद्भिः॥

इति सुकरैव तेषां सेवा, तत्सेविनां च कुत उत्तमधर्मश्रुतिः ?

२–वही, पत्र ३३८ :

'अरतिः' वातादिजनितश्चित्तोद्वेगः।

३–चरकसंहिता, ३०।६८ :

कमलां वातरक्तं च, विसर्पं हृच्छिरोग्रहम्।
उन्मादारत्यपस्मारान्, वातपित्तात्मकान् जयेत्॥

४–भगवती, १४।७।

शारद्-ऋतु का कमल इतना कोमल होता है कि वह सहज ही हाथों से काटा जा सकता है। यह धम्मपद गत उपमा का आशय है। उत्तराध्ययन के टीकाकारों ने इस उपमा का आशय इस प्रकार व्यक्त किया है—"कुमुद पहले जल-मग्न होता है और बाद में जल के ऊपर आ जाता है।"[1]

निर्लेपता के लिए कमल की उपमा का प्रयोग सहज रूप में होता है। उत्तराध्ययन २५।२६ में लिखा है कि जैसे पद्म जल में उत्पन्न होकर भी उसमें लिप्त नहीं होता उसी प्रकार जो कामों से अलिप्त रहता है, वह ब्राह्मण है। निर्लेपता के लिए कुमुद और जल दो ही शब्द पर्याप्त हैं। स्नेह शारद-जल की तरह मनोरम होता है, यह दिखलाने के लिए शारद-पानीय का प्रयोग किया गया है।[2] धम्मपद में 'पाणिना' तृतीया विभक्ति का एकवचन है और उसका अर्थ है 'हाथ'। उत्तराध्ययन में 'पाणियं' द्वितीया का एकवचन है और इसका अर्थ है 'जल'।

श्लोक ३१

९–श्लोक ३१ :

चूर्णि और टीका में 'बहुमए' का अर्थ 'मार्ग'[3] और 'मग्गदेसिए' का अर्थ 'मोक्ष को प्राप्त कराने वाला'[4] किया है। इसके अनुसार इस श्लोक का अनुवाद इस प्रकार होगा—"आज जिन नहीं दीख रहे हैं फिर भी उनके द्वारा निरूपित मोक्ष को प्राप्त कराने वाला मार्ग दीख रहा है—यह सोच भव्य लोग प्रमाद से बचेंगे। अभी मेरी उपस्थिति में तुझे न्यायपूर्ण पथ प्राप्त है, इसलिए......।" किन्तु 'मग्गदेसिए' का अर्थ 'मार्ग का उपदेश देने वाला' और 'बहुमए' का अर्थ 'विभिन्न विचार रखने वाला' सहज संगत लगता है, इसलिए हमने अनुवाद में इन शब्दों का यही अर्थ किया है।

श्लोक ३३

१०–श्लोक ३३ :

जैसे कोई एक आदमी धन कमाने के लिए विदेश गया। वहां से बहुत सारा सोना लेकर वापस घर को आ रहा था। कंधों पर बहुत वजन था। शरीर से था वह दुबला-पतला। मार्ग सीधा-सरल आया तब तक वह ठीक चलता रहा और जब कंकरीला, पथरीला मार्ग आया तब वह आदमी घबड़ा गया। उसने धन की गठरी वहीं छोड़ दी और अपने घर चला आया। अब वह सब कुछ गँवा देने के कारण निर्धन हो पछतावा करता है। इसी प्रकार जो श्रमण प्रमादवश विषय-मार्ग में जा संयम-धन को गँवा देता है, उसे पछतावा होता है।

श्लोक ३५

११–क्षपक-श्रेणी पर (अकलेवरसेणिं क) :

कलेवर अर्थात् शरीर। मुक्त आत्माओं के कलेवर नहीं होता इसलिए वे अकलेवर कहलाते हैं। उनकी श्रेणी की तरह पवित्र भावनाओं की श्रेणी होती है, उसे अकलेवर श्रेणी कहते हैं। तात्पर्य की भाषा में इसका अर्थ क्षपक-श्रेणी—कर्मों का क्षय करने वाली विचार-श्रेणी है।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ३३९ :
'पानीयं' जलं, यथा तत् प्रथमं जलमग्नमपि जलमपहाय वर्तते तथा त्वमपि चिरसंसृष्टचिरपरिचितत्वादिभिर्मद्विषयस्नेहवशगोऽपि समपनय।

२–वही, पत्र ३३९ :
इह च जलमपहायेतावति सिद्धे यच्छारदशब्दोपादानं तच्छारदजलस्येवस्नेहस्याप्यतिमनोरमत्वख्यापनार्थम्।

३–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १९२ :
बहुमतो णाम पंथो।
(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ३३९ :
'बहुमए' त्ति पन्थाः।

४–सुखबोधा, पत्र १६४ :
'मग्गदेसिय' त्ति मार्ग्यमाणत्वाद् मार्गः—मोक्षस्तस्य 'देसिए' त्ति सूत्रत्वात् देशकः—प्रापको मार्गदेशकः।

कलेवर-श्रेणी का दूसरा अर्थ 'सोपान-पंक्ति' हो सकता है। मुक्ति-स्थान तक पहुँचने के लिए विशुद्ध-विचार-श्रेणी का सहारा लिया जाता है। सोपान-पंक्ति वहाँ काम नहीं देती। इसलिए उसे 'अकलेवर-श्रेणी' कहा है।[1]

श्लोक ३६

१२–शान्ति-मार्ग को (सन्तिमग्गं ख) :

शान्ति का अर्थ है 'निर्वाण और उपशम'। शान्ति-मार्ग दसविध यति-धर्म का सूचक है।[2]

'सन्तिमग्गं च वूहए'—इस पद की तुलना धम्मपद २०।१३ के तीसरे चरण से होती है—'सन्तिमग्गमेव ब्रूहय'।

श्लोक ३७

१३–अर्थ और पद से (अट्ठपअ ख) :

चूर्णिकार ने अर्थ-पद का कोई अर्थ नहीं किया। शान्त्याचार्य ने उसका एक शाब्दिक-सा अर्थ किया है—अर्थ-पद अर्थात् अर्थ-प्रधान पद।[3] न्यायशास्त्र में मोक्ष-शास्त्र के चतुर्व्यूह को अर्थ-पद कहा गया है। अर्थ-पद का अर्थ है 'पुरुषार्थ का स्थान'। न्याय की परिभाषा में चार अर्थ-पद इस प्रकार हैं—

(१) हेय—दुःख और उसका निर्वर्तक (उत्पादक) अर्थात् दुःख-हेतु।

(२) आत्यन्तिक-हान—दुःख-निवृत्ति रूप मोक्ष का कारण अर्थात् तत्त्वज्ञान।

(३) इसका उपाय (शास्त्र)।

(४) अधिगन्तव्य—लभ्यमोक्ष।[4]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ३४१ :

कलेवरं—शरीरम् अविद्यमानं कडेवरमेषामकडेवराः—सिद्धास्तेषां श्रेणिरिव श्रेणिर्यथोत्तरोत्तरशुभपरिणामप्राप्तिरूपया ते सिद्धिपदमारोहन्ति (तां), क्षपकश्रेणिमित्यर्थः। यद्वा कडेवराणि—एकेन्द्रियशरीराणि तन्मयत्वेन तेषां श्रेणिः कडेवरश्रेणिः—वंशादिविरचिता प्रासादादिष्वारोहणहेतुः, तथा च या न सा अकडेवरश्रेणिः—अनन्तरोक्तरूपैव ताम्।

२–वही, पत्र ३४१ :

शाम्यन्त्यस्यां सर्वदुरितानीति शान्तिः—निर्वाणं तस्या मार्गः—पन्थाः, यद्वा शान्तिः—उपशमः सैव मुक्तिहेतुतया मार्गः शान्तिमार्गो, दशविधधर्मोपलक्षणं शान्तिग्रहणम्।

३–वही, पत्र ३४१ :

अर्थप्रधानानि पदानि अर्थपदानि।

४–न्याय भाष्य, १।१।१।

अध्ययन ११

बहुस्सुयपुज्जा

श्लोक १

१—आचार (आयारं ग) :

आचार का अर्थ 'उचित क्रिया' या 'विनय' है।[1] वृद्ध व्याख्या के अनुसार आचार और विनय दोनों एकार्थक शब्द हैं।[2] जैन और बौद्ध साहित्य में विनय शब्द भी आचार के अर्थ में बहुलता से प्रयुक्त हुआ है।[3] प्रस्तुत अध्ययन में बहुश्रुत की पूजा कैसे की जाय इस आचार पर प्रकाश डाला गया है।[4]

श्लोक २

२—(अवि क, थद्धे ख, अणिग्गहे ख) :

प्रस्तुत प्रकरण बहुश्रुत की पूजा का है। बहुश्रुत की पूजा उसके स्वरूप को जानने से होती है। बहुश्रुत का प्रतिपक्ष अबहुश्रुत है। बहुश्रुत को जानने से पहले अबहुश्रुत को जानना आवश्यक है। इसलिए इस श्लोक में अबहुश्रुत का स्वरूप बतलाया गया है।[5]

'अवि'—विद्यावान् होते हुए भी। निर्विद्य (विद्याहीन) शब्द मूल पाठ में प्रयुक्त है किन्तु विद्यावान् का उल्लेख 'अवि' शब्द के आधार पर किया गया है।[6] जो स्तब्धता आदि दोषों से युक्त है वह विद्यावान् होते हुए भी अबहुश्रुत है। इसका कारण यह है कि स्तब्धता आदि दोषों से बहुश्रुतता का फल नहीं होता।[7]

'थद्धे'—अभिमानी। ज्ञान से अहंकार का नाश होता है किन्तु जब ज्ञान भी अहंकार की वृद्धि का साधन बन जाए तब अहंकार कैसे मिटे ? जब औषध भी विष का काम करे तो चिकित्सा किसके द्वारा की जाय ?[8]

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ३४४ :
आचरणमाचारः—उचितक्रिया विनय इतियावत्।

२—वही, पत्र ३४४ :
तथा च वृद्धाः—'आयारोत्ति वा विणओत्ति वा एगट्ठं' त्ति।

३—देखें —१।१ का टिप्पण सं० ३ ; विनयपिटक।

४—बृहद् वृत्ति, पत्र ३४४ :
स चेह बहुश्रुतपूजात्मक एव गृह्यते, तस्या एवात्राधिकृतत्वात्।

५—वही, पत्र ३४४ :
इह च बहुश्रुतपूजा प्रक्रान्ता, सा च बहुश्रुतस्वरूपपरिज्ञान एव कर्त्तुं शक्या, बहुश्रुतस्वरूपं च तद्विपर्ययपरिज्ञाने तद्विविक्तं सुखेनैव ज्ञायत इत्यबहुश्रुतस्वरूपमाह।

६—वही, पत्र ३४४ :
अपिशब्दसम्बन्धात् सविद्योऽपि।

७—वही, पत्र ३४४ :
सविद्यस्याप्यबहुश्रुतत्वं बाहुश्रुत्यफलाभावादिति भावनीयम्।

८—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १९५ :
ज्ञानं मदनिर्मथनं, माद्यति यस्तेन दुश्चिकित्स्यः सः।
अगदो यस्य विषायति, तस्य चिकित्सा कुतोऽन्येन॥

'अणिग्गहे'—अजितेन्द्रिय । इन्द्रियों पर नियंत्रण करने के लिए विद्या अंकुश के समान है । उसके अभाव में व्यक्ति अनिग्रह होता है ।[1] जो इन्द्रियों का निग्रह न कर सके वह अनिग्रह—अजितेन्द्रिय कहलाता है ।[2]

श्लोक ३

३–(ठाणेहिं [क], सिक्खा [ख], थम्भा [ग], पमाएणं [ग], रोगेणाऽलस्सएण [घ]) :

'ठाणेहिं'—स्थानों से । स्थान शब्द के अनेक अर्थ होते हैं । यहाँ इसका अर्थ हेतु[3] या प्रकार[4] है ।

'सिक्खा'—शिक्षा । शिक्षा के दो प्रकार हैं—ग्रहण और आसेवन । ज्ञान प्राप्त करने को ग्रहण और उसके अनुसार आचरण करने को आसेवन कहा जाता है ।[5] अभिमान आदि कारणों से ग्रहण-शिक्षा भी प्राप्त नहीं होती तो भला आसेवन-शिक्षा कैसे प्राप्त हो सकती है ?[6]

'थम्भा'—स्तम्भ । इसका अर्थ है—'मान' । अभिमानी व्यक्ति विनय नहीं करता, इसलिए उसे कोई नहीं पढ़ाता, अतः मान शिक्षा-प्राप्ति में बाधक है ।[7]

'पमाएणं'—प्रमाद । प्रमाद के पाँच प्रकार हैं—

(१) मद्य, (२) विषय, (३) कषाय, (४) निद्रा और (५) विकथा ।[8]

'रोगेण'—रोग । चूर्णिकार ने रोग उत्पन्न होने के दो कारण बतलाए हैं[9]—

(१) अति-आहार और (२) अपथ्य-आहार ।

'आलस्सएण'—आलस्य । आलस्य का अर्थ है—उत्साहहीनता[10] ।

१–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १९५ :
अंकुशभूता विद्या तस्या अभावादनिग्रहः ।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र ३४४ :
न विद्यते इन्द्रियनिग्रहः—इन्द्रियनियमनात्मकोऽस्येति अनिग्रहः ।

३–वही, पत्र ३४४-३४५ :
'यैः' इति वक्ष्यमाणैर्हेतुभिः ।

४–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १९५ :
ठाणेहिंति प्रकारा ।

५–बृहद् वृत्ति, पत्र ३४५ :
शिक्षणं शिक्षा—ग्रहणासेवनात्मिका ।

६–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १९५ :
गहणसिक्खावि णत्थि, कतो आसेवणसिक्खा ।

७–वही, पृ० १९५ :
तस्य ते णो कोइ पाढेति, इयरो थद्धत्तेण ण वंदति ।

८–वही, पृ० १९५ :
पमादो पंचविधो, तंजहा—मज्जप० विसयप० कसायप० णिद्दाप० विगहापमादो ।

९–वही, पृ० १९५ :
अत्याहारेण अपत्थाहारेण वा रोगो भवति ।

१०–बृहद् वृत्ति, पत्र ३४५ :
'आलस्येन' अनुत्साहात्मना ।

श्लोक ४

४–(सिक्खासीले ख, अहस्सिरे ग, मम्मं घ) :

'सिक्खासीले'—शिक्षा-शील। शिक्षा में रुचि रखने वाला या शिक्षा का अभ्यास करने वाला 'शिक्षा-शील' कहलाता है।[१]

'अहस्सिरे'—जो हास्य न करे। अकारण या कारण उपस्थित होने पर भी जिसका स्वभाव हँसने का न हो उसे 'अहसिता' कहा जाता है।[२]

'मम्मं'—मर्म। मर्म का अर्थ है—लज्जाजनक, अपवादजनक या निन्दनीय आचारण सम्बन्धी गुप्त बात।[३]

श्लोक ५

५–(अकोहणे ग, सच्चरए ग) :

'अकोहणे'—जो क्रोध न करे। जो निरपराध या अपराधी पर क्रोध न करे, वह 'अक्रोधन' कहलाता है।[४]

'सच्चरए'—जो सत्य मे रत हो। चूर्णि के अनुसार जो मृषा न बोले या संयम में रत हो, वह 'सत्य-रत' कहलाता है।[५]

श्लोक ७

६–(पबन्धं ख, मेत्तिज्जमाणो वमइ ग) :

'पबन्धं'—जो क्रोध को टिका कर रखता है। प्रबन्ध का अर्थ है—'अविच्छेद'। बार-बार क्रोध आना और आए हुए क्रोध को टिका कर रखना एक बात नहीं है।[६]

'मेत्तिज्जमाणो वमइ'—जो मित्र-भाव रखने वाले को भी ठुकराता है। इसका आशय एक व्यावहारिक उदाहरण द्वारा समझाया गया है। कोई साधु पात्र रंगना नहीं जानता। वैसी स्थिति में दूसरा साधु उसका पात्र रंगने को तैयार है किन्तु वह सोचने लगता है कि मैं इससे अपना पात्र रंगाऊँगा तो मुझे भी इसका काम करना पड़ेगा। इस प्रत्युपकार के भय से वह उससे पात्र नहीं रंगवाता और कहता है मुझे तुमसे पात्र नहीं रंगवाना है। इस तरह मित्र भाव रखने की इच्छा करने वाले का तिरस्कार करता है।[७]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ३४५ :
शिक्षायां शील:—स्वभावो यस्य शिक्षां वा शीलयति—अभ्यस्यतीति शिक्षाशील:—द्विविधशिक्षाभ्यासकृद्।

२–वही, पत्र ३४५ :
अहसिता—न सहेतुकमहेतुकं वा हसन्नेवास्ते।

३–वही, पत्र ३४५ :
'मर्म' परापभ्राजनाकारि कुत्सितं जात्यादि।

४–वही, पत्र ३४५ :
'अक्रोधन:' अपराधिन्यनपराधिनि वा न कथंचित् क्रुध्यति।

५–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १९६ :
सच्चरतो ण मुसावादी, संजमरतो वा।

६–बृहद् वृत्ति, पत्र ३४६ :
'प्रबन्धं च' प्रकृतत्वात् कोपस्यैवाविच्छेदात्मकम्।

७–वही, पत्र ३४६ :
'मेत्तिज्जमाणो' त्ति मित्रीय्यमाणोऽपि मित्रं ममायमस्त्वितीय्यमाणोऽपि अपिशब्दस्य लुप्तनिर्दिष्टत्वात् 'वमति' त्यजति, प्रस्तावान्मित्रयितारं मैत्रीं वा, किमुक्तं भवति ?—यदि कश्चिद्धार्मिकतया वक्ति—यथा त्वं न वेत्सीत्यहं तव पात्रं लेपयामि, ततोऽसौ प्रत्युपकारभीरुतया प्रतिवक्ति—ममालमेतेन।

श्लोक ८

७–बुराई करता है (भासइ पावगं [घ]) :

बुराई करता है—इसका तात्पर्य यह है कि सामने मीठा बोलता है और पीठ पीछे—'यह दोष का सेवन करता है'—इस प्रकार उसका अपवाद करता है ।[1]

श्लोक ९

८–जो असंबद्ध भाषी होता है (पइण्णवाई [क]) :

बृहद् वृत्ति के अनुसार इसके संस्कृत रूप दो बनते हैं—

१–प्रकीर्णवादी ।

२–प्रतिज्ञावादी ।

जो सम्बन्ध रहित बोलता है या पात्र या अपात्र की परीक्षा किए बिना ही श्रुत का रहस्य बता देता है, वह 'प्रकीर्णवादी' कहलाता है ।

'यह ऐसे ही है' इस तरह जो एकांतिक आग्रह पूर्वक बोलता है, वह 'प्रतिज्ञावादी' कहलाता है ।[2] चूर्णिकार को पहला रूप अभिमत है[3] और सुखबोधा को दूसरा ।[4]

प्रकरण की दृष्टि से पहला अर्थ ही अधिक संगत लगता है । जार्ल सरपेन्टियर ने पहला अर्थ ही मान्य किया है ।[5]

श्लोक १०

९–जो नम्र-व्यवहार करता है (नीयावत्ती [ग]) :

बृहद् वृत्ति के अनुसार 'नीचवर्ती' के दो अर्थ हैं—

१–नीच अर्थात् नम्र वर्त्तन करने वाला ।

२–शय्या आदि में गुरु से नीचा रहने वाला ।[6]

इसकी विशेष जानकारी के लिए देखिए दशवैकालिक ९।२।१७ ।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ३४६ :

'भाषते' वक्ति पापमेव पापकं, किमुक्तं भवति ?—अग्रतः प्रियं वक्ति पृष्ठतस्तु प्रतिसेवकोऽयमित्याद्यकमनाचारमेवाविष्करोति ।

२–वही, पत्र ३४६ :

प्रकीर्णम्—इतस्ततो विक्षिप्तम्, असम्बद्धमित्यर्थः, वदति—जल्पतीत्येवंशीलः प्रकीर्णवादी, वस्तुतत्त्वविचारेऽपि यत्किंचनवादीत्यर्थः, अथवा—यः पात्रमिदमपात्रमिदमिति वाऽपरीक्ष्यैव कथंचिदधिगतं श्रुतरहस्यं वदतीत्येवंशीलः प्रकीर्णवादी इति, प्रतिज्ञया वा—इदमित्थमेव इत्येकान्ताभ्युपगमरूपया वदनशीलः प्रतिज्ञावादी ।

३–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १९६ :

अपरिक्खिउं जस्स व तस्स व कहेति ।

४–सुखबोधा, पत्र १६८ :

प्रतिज्ञया—इत्थमेवेदमित्येकान्ताभ्युपगमरूपया वदनशीलः प्रतिज्ञावादी ।

५—The Uttarādhyayana Sūtra, p. 320.

६–बृहद् वृत्ति, पत्र ३४६ :

नीचम्—अनुद्धतं यथा भवत्येवं नीचेषु वा शय्यादिषु वर्तत इत्येवंशीलो नीचवर्ती—गुरुषु न्यग्वृत्तिमान् ।

१०—जो चपल नहीं होता (अचवले ग) :

चपल चार प्रकार के होते हैं—

१—गति-चपल—जो दौड़ता हुआ चलता है।

२—स्थान-चपल—जो बैठा-बैठा हाथ-पैर आदि को हिलाता रहता है।

३—भाषा-चपल—इसके चार प्रकार हैं—

(क) असत्-प्रलापी—असत् (अविद्यमान) कहने वाला।

(ख) असभ्य-प्रलापी—कड़ा या रूखा बोलने वाला।

(ग) असमीक्ष्य-प्रलापी—बिना सोचे-विचारे बोलने वाला।

(घ) अदेशकाल-प्रलापी—उस-उस प्रदेश में या उस समय में यह कार्य किया जाता तो सुन्दर होता—हाथ से अवसर निकल जाने के बाद—इस प्रकार कहने वाला।

११—जो मायावी नहीं होता (अमाई घ) :

४—भाव-चपल—प्रारम्भ किए हुए सूत्र और अर्थ को बीच में छोड़ कर दूसरे सूत्र और अर्थ का अध्ययन प्रारम्भ करने वाला।[1]

चूर्णिकार ने माया-पूर्ण व्यवहार को समझाने के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत किया है—किसी साधु को भिक्षा में सरस भोजन मिला। उसने सोचा—गुरु इस भोजन को देखेंगे तो स्वयं ले लेंगे। इस डर से उसने सरस भोजन को रूखे-सूखे भोजन से ढक दिया—यह माया-पूर्ण व्यवहार है। जो ऐसे व्यवहारों का आसेवन नहीं करता, वह अमायी होता है।[2] विशेष विवरण के लिए देखिए दशवैकालिक ५।२।३१।

१२—जो कुतूहल नहीं करता (अकुऊहले घ) :

इन्द्रियों के विषय और चामत्कारिक विद्याएँ पाप-स्थान होते हैं, यह जान कर जो उनके प्रति उदासीन रहता है, उसे अकुतूहल कहा जाता है।[3] ऐसा व्यक्ति नाटक, इन्द्रजाल आदि को देखने के लिए कभी उत्सुक नहीं होता।[4]

श्लोक ११

१३—जो किसी का तिरस्कार नहीं करता (अप्पं चाऽहिक्खिवई क) :

'अल्प' शब्द के दो अर्थ होते हैं—

१—थोड़ा।

२—अभाव।

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ३४६-३४७

'अचपलः' नाऽऽरब्धकार्ये प्रत्यस्थिरः, अथवाऽचपलो—गतिस्थानभाषाभावभेदतश्चतुर्धा, तत्र—गतिचपलः—द्रुतचारी, स्थानचपलः—तिष्ठन्नपि चलन्नेवास्ते हस्तादिभिः, भाषाचपलः—असदसभ्यासमीक्ष्यादेशकालप्रलापिभेदाच्चतुर्द्धा, तत्र असद्—अविद्यमानमसभ्यं—खरपरुषादि, असमीक्ष्य—अनालोच्य प्रलपन्तीत्येवंशीला असदसभ्यासमीक्ष्यप्रलापिनस्त्रयः, अदेशकालप्रलापी चतुर्थः अतीते कार्ये यो वक्ति—यदीदं तत्र देशे काले वाऽकरिष्यत ततः सुन्दरमभविष्यद्, भावचलः सूत्रेऽर्थे वाऽसमाप्त एव योऽन्यद् गृह्णाति।

२—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १९७ :

'अमाई' त्ति जो मायं न सेवति, सा य माया एरिसप्पगारा, जहा कोइ मणुन्नं भोयणं लद्‌धूण पंतेण छातेति 'मा मेयं चाइयं संतं दट्ठूणं सयमादिए'।

३—वही, पृ० १९७ :

अकुतूहली विसएसु विज्जासु पावठाणत्ति ण वट्टतित्ति।

४—बृहद् वृत्ति, पत्र ३४७ :

'अकुतूहलः' न कुहुकेन्द्रजालाद्यवलोकनपरः।

पहले अर्थ के अनुसार इस चरण का अनुवाद होगा—थोड़ा तिरस्कार करता है। इसका भाव यह है कि ऐसे तो वह किसी का तिरस्कार नहीं करता किन्तु अयोग्य को धर्म में प्रेरित करने की दृष्टि से उसका थोड़ा तिरस्कार करता है।[१]

चूर्णि के अनुसार यहाँ 'अल्प' शब्द अभाववाची है।[२]

श्लोक १२

१४–प्रशंसा करता है (कल्लाण भासई घ) :

कुछ व्यक्ति कृतघ्न होते हैं। वे एक दोष को सामने रख कर सौ गुणों को भुला देते हैं। कुछ व्यक्ति कृतज्ञ होते हैं। वे एक गुण को सामने रख कर सौ दोषों को भुला देते हैं। यहाँ बतलाया गया है कि कृतज्ञ व्यक्ति अपकार करने वाले मित्र के पूर्वकृत किसी एक उपकार का स्मरण कर उसके परोक्ष में भी उसका दोष-गान नहीं करता किन्तु गुण-गान करता है, प्रशंसा करता है।[३]

श्लोक १३

१५–(कलहडमर क, बुद्धे अभिजाइए ख, हिरिमं पडिसंलीणे ग) :

'कलहडमर'—कलह और हाथापाई। 'कलह' का अर्थ है – वाचिक-विग्रह—वचन से झगड़ा करना और 'डमर' का अर्थ है—हाथापाई करना। दोनों एकार्थक भी माने गए हैं।[४]

'बुद्धे'—बुद्धिमान्। बुद्ध अर्थात् बुद्धिमान्—तत्त्व को जानने वाला। चौदह स्थानों में बुद्ध की स्वतंत्र गणना नहीं है। इसका सम्बन्ध सुविनीत के प्रत्येक स्थान से है।[५]

'अभिजाइए'—कुलीन। अभिजाति का अर्थ है—कुलीनता। जो कुलीनता रखता है अर्थात् लिए हुए भार का निर्वाह करता है, वह अभिजातिग (कुलीन) कहलाता है।[६]

'हिरिमं'—लज्जावान्। लज्जा एक प्रकार का मानसिक संकोच है। वह कभी-कभी मनुष्य को उबार देती है। लज्जाहीन मनुष्य

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ३४७ :
'अल्पं च' इति स्तोकमेव 'अधिक्षिपति' तिरस्कुरुते, किमुक्तं भवति ?—नाधिक्षिपत्येव तावदसौ कंचन, अधिक्षिपन् वा कंचन कङ्कटुकरूपं धर्मं प्रति प्रेरयन्नल्पमेवाधिक्षिपति।

२–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १९७ :
अल्पशब्दो हि स्तोके अभावे वा, अत्र अभावे द्रष्टव्यः, ण किंचि अधिक्खिवति, नाभिक्रमतीत्यर्थः।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र ३४७ :
कल्याणं भाषते, इदमुक्तं भवति—मित्रमिति यः प्रतिपन्नः स यद्यप्यपकृतिशतानि विधत्ते तथाऽप्येकमपि सुकृतमनुस्मरन् न रहस्यपि तद्दोषमुदीरयति, तथा चाह—

एकसुकृतेन दुष्कृतशतानि ये नाशयन्ति ते धन्याः।
न त्वेकदोषजनितो येषां कोपः स च कृतघ्नः॥

४–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १९७ :
कलह एव डमरं कलहडमरं, कलहेति वा भंडणेति वा डमरेति वा एगट्ठो, अहवा कलहो वाचिको डमरो हत्थारंभो।

५–बृहद् वृत्ति, पत्र ३४७ :
'बुद्धो' बुद्धिमान्, एतच्च सर्वत्रानुगम्यत एवेति न प्रकृतसङ्ख्याविरोधः।

६–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १९७ :
अभिजाणते, विणीतो कुलीणे य।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ३४७ :
अभिजातिः—कुलीनता तां गच्छति—उत्क्षिप्तभारनिर्वाहणादिनेत्यभिजातिगः।

मन के विकृत होने पर अनुचित कार्य कर डालता है, किन्तु लज्जावान् पुरुष उस स्थिति में भी अनुचित आचरण नहीं करता।[1] इसलिए लज्जा व्यक्ति का बहुत बड़ा गुण है। जो अनुचित कार्य करने में लजाता हो, वह ह्रीमान् अर्थात् लज्जावान् कहलाता है।

'पडिसंलीणे'—प्रतिसंलीन। कुछ लोग दिन भर इधर-उधर फिरते रहते हैं। कार्य में संलग्न व्यक्ति को ऐसा नहीं करना चाहिए। उसे अपने स्थान पर स्थिरता पूर्वक बैठे रहना चाहिए। इन्द्रिय और मन को भी करणीय कार्य में संलग्न रखना चाहिए। प्रयोजनवश कहीं जाना भी पड़ता है किन्तु निष्प्रयोजन इन्द्रिय, मन और हाथ-पैर की चपलता के कारण इधर-उधर नहीं फिरना चाहिए। प्रतिसंलीन शब्द के द्वारा इसी आचरण की शिक्षा दी गई है।[2]

श्लोक १४

१६–गुरुकुल में (गुरुकुले क) :

'गुरुकुल' का अर्थ—गच्छ या गण है। यहाँ कहा गया है कि मुनि 'गुरुकुल' में रहे अर्थात् गुरु की आज्ञा में रहे, स्वच्छन्द विहारी होकर अकेला न विचरे।[3] गुरुकुल में रहने से उसे ज्ञान की प्राप्ति होती है। दर्शन और चारित्र में स्थिरता आती है। वे धन्य हैं जो जीवन-पर्यन्त 'गुरुकुल-वास' नहीं छोड़ते।[4]

१७–जो समाधि-युक्त होता है (जोगवं ख) :

योग शब्द दो धातुओं से निष्पन्न होता है। एक का अर्थ है जुड़ना और दूसरी का अर्थ है समाधि। चूर्णिकार ने योग के तीन अर्थ किए हैं—

१- मन, वाणी और काया की प्रवृत्ति।

२–संयम योग।

३–पढ़ने का उद्योग।[5]

१–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १९७ :
ह्री लज्जायां, लज्जति अचोक्खमायरंतो।
(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ३४७ :
ह्रीः— लज्जा सा विद्यतेऽस्य ह्रीमान्।

२–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १९७, १९८ :
पडिसंलीणो आचार्यसकासे इंदियणोइंदिएहिं।
(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ३४७ :
'प्रतिसंलीन'—गुरुसकाशेऽन्यत्र वा कार्यं बिना न यतस्ततश्चेष्टते।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र ३४७ :
गुरूणाम्—आचार्यादीनां कुलम्—अन्वयो गच्छ इत्यर्थः गुरुकुलं तत्र, तदाज्ञोपलक्षणं च कुलग्रहणं, ⋯ किमुक्तं भवति ?⋯ गुर्वाज्ञायामेव तिष्ठेत्।

४–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १९८ :
आयरियसमीवे अच्छति⋯ आह हि -
णाणस्स होइ भागी थिरयरगो दंसणे चरित्ते य।
धन्ना आवकहाए गुरुकुलवासं न मुंचंति॥

५–वही, पृ० १९८ :
जोगो मणजोगादि संजमजोगो वा, उज्जोगं पठितव्वते करेइ।

शान्त्याचार्य ने योग के दो अर्थ किए हैं—

१–धार्मिक-प्रयत्न ।

२–समाधि ।[१]

गीता में एक स्थान पर कर्म-कौशल को योग[२] कहा है तो दूसरे स्थान पर समत्व को योग कहा है ।[३] इस प्रकार योग की सत् कर्म विषयक और समाधि विषयक दोनों प्रकार की व्याख्या मिलती है । धार्मिक-प्रयत्न और समाधि दोनों मोक्ष के हेतु हैं इसलिए दोनों में सर्वथा भेद नहीं है, इसीलिए हरिभद्रसूरि ने मोक्ष से योग कराने वाले समूचे धर्म-व्यापार को योग कहा है ।[४] दशवैकालिक ८।४२ में कहा है—मुनि को योग करना चाहिए । वहाँ योग का मुख्य-अर्थ श्रमण-धर्म की आराधना है ।

श्लोक १५

१८–दोनों ओर (अपने और अपने आधार के गुणों) से सुशोभित होता है (दुहओ वि विरायइ ख) :

शंख भी स्वच्छ होता है और दूध भी स्वच्छ होता है । जब शंख के पात्र में दूध रखा जाता है तब दूध पात्र की स्वच्छता के कारण अधिक स्वच्छ हो जाता है । वह न तो झरता है और न खट्टा होता है ।[५]

१९–धर्म, कीर्ति और श्रुत (धम्मो कित्ती तहा सुयं घ) :

चूर्णिकार ने इस चरण का अर्थ दो प्रकार से किया है—योग्य व्यक्ति को ज्ञान देने वाले बहुश्रुत के धर्म होता है, कीर्ति होती है और उसका ज्ञान अबाधित रहता है । दूसरे प्रकार से इसका अर्थ है—बहुश्रुत भिक्षु में धर्म, कीर्ति और श्रुत अबाधित रहते हैं ।[६]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ३४७ :
योजनं योगो—व्यापारः, स चेह प्रक्रमाद्धर्मगत एव तद्वान्, अतिशायने मतुप्, यद्वा योगः—समाधिः सोऽस्यास्तीति योगवान् ।

२–गीता, २।५० :
योगः कर्मसु कौशलम् ।

३–वही, २।४८ :
समत्वं योग उच्यते ।

४–योगविंशिका–१ :
मोक्खेण जोयणाओ जोगो सव्वोवि धम्मवावारो ।

५–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १९८ :
'संखंमि' संखभायणे पयं—खीरं णिसितं ठवियं न्यस्तमित्यर्थः, उभयतो दुहतो, संखो खीरं च, अहवा तओ खीरं च, खीरं संखे ण परिस्सयति ण य अंबिलं भवति ।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ३४८ :
'दुहओवि' त्ति द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां द्विधा, न शुद्धताविमा स्वसम्बन्धिगुणलक्षणेनैकेनैव प्रकारेण, किन्तु स्वसम्बन्ध्याश्रयसम्बन्धिगुणद्वयलक्षणेन प्रकारद्वयेनापीत्यपिशब्दार्थः, 'विराजते' शोभते, तत्र हि न तत् कलुषीभवति, न चाम्लतां भजते, नापि च परिस्रवति ।

६–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १९८ :
भायणे देंतस्स धम्मो भवति कित्ती या, सो तहा सुत्तं अबाधितं भवति, अपत्ते देंतस्स असुतमेव भवति, अथवा इहलोगे परलोगे जसो भवति पत्तदाई (त्ति), अहवा एवंगुणजातीए भिक्खू बहुस्सुते भवति, धम्मो कित्ती जसो भवति, सुयं च से भवति ।

श्लोक १६

२०–(कम्बोयाणं [क], आइण्णे कन्थए [ख]) :

'कम्बोयाणं'—कम्बोज (प्राचीन जनपद, जो अब अफगानिस्तान का भाग है) में उत्पन्न अश्व 'काम्बोज' कहलाते हैं ।[1]

'आइण्णे'—आकीर्ण अर्थात् शील, रूप, बल आदि गुणों से व्याप्त—जात्य ।[2]

'कन्थए'—खड़खड़ाहट या शस्त्र-प्रहार से नहीं चौंकने वाला श्रेष्ठ जाति का घोड़ा 'कन्थक' कहलाता है ।[3]

श्लोक १७

२१–वाद्यों के घोष से (नन्दिघोसेणं [ग]) :

बारह प्रकार के वाद्यों की एक साथ होने वाली ध्वनि या मंगल-पाठकों के आशीर्वचन की ध्वनि को 'नन्दी-घोष' कहा जाता है ।[4]

श्लोक १८

२२–साठ वर्ष का (सट्ठिहायणे [ख]) :

साठ वर्ष की आयु तक हाथी का बल प्रतिवर्ष बढ़ता रहता है और उसके बाद मे कम होना शुरू हो जाता है । इसीलिए यहाँ हाथी की पूर्ण बलवत्ता बतलाने के लिए साठ वर्ष का उल्लेख किया गया है ।[5]

श्लोक १९

२३–अत्यन्त पुष्ट स्कन्ध वाला (जायखन्धे [ख]) :

'जाय' का अर्थ है—पुष्ट । जिसका कंधा पुष्ट होता है, उसे 'जात-स्कन्ध' कहा जाता है । जिसका कन्धा पुष्ट होता है उसके दूसरे अंगोपांग पुष्ट ही होते हैं ।[6]

१–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १९८ :
कंबोतेसु भवा कंबोजाः ।
(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ३४८ :
'काम्बोजानां' कम्बोजदेशोद्भवानां प्रक्रमादश्वानाम् ।

२–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १९८ :
आकीर्णे गुणेहि सीलरूपबलादीहि य ।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र ३४८ :
'कन्थकः' प्रधानोऽश्वो, यः किल दृषच्छकलभृतकुतुपनिपतनध्वने र्न सन्त्रस्यति ।

४–वही, पत्र ३४९ :
'नन्दीघोषेण' द्वादशतूर्यनिनादात्मकेन, यद्वा आशीर्वचनानि नान्दी जीयास्त्वमित्यादीनि तद्घोषेण बन्दिकोलाहलात्मकेन ।

५–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १९९ :
हायणं वरिसं, सट्ठिवरिसे, परं बलहोणो, अपत्तबलो परेण परिहाति ।
(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ३४९ :
षष्टिहायनः—षष्टिवर्षप्रमाणः, तस्य हि एतावत्कालं यावत् प्रतिवर्षं बलोपचयः ततस्तवपचय इत्येवमुक्तम् ।

६–बृहद् वृत्ति, पत्र ३४९ :
जातः—अत्यन्तोपचितीभूतः स्कन्धः प्रतीत एवास्येति जातस्कन्धः, समस्ताङ्गोपाङ्गोपचितत्वोपलक्षणं चैतत्, तदुपचये हि शेषाङ्गान्युपचितान्येवास्य भवन्ति ।

श्लोक २०

२४–श्लोक २० :

'उदग्गे'—यहाँ 'उदग्र' का अर्थ वयः प्राप्त पूर्ण युवा है ।[1]

'मियाण'—यहाँ 'मृग' का अर्थ जंगली पशु है ।[2] देखिए—उत्तराध्ययन १।५ का टिप्पण ।

श्लोक २१

२५–शङ्ख, चक्र और गदा (संखचक्कगया ख) :

वासुदेव के शङ्ख का नाम पाञ्चजन्य, चक्र का नाम सुदर्शन और गदा का नाम कौमोदकी है ।[3]

लोहे के दण्ड को गदा कहा जाता है । अर्थशास्त्र के अनुसार वह चल-यंत्र होता है ।[4]

श्लोक २२

२६–(चाउरन्ते क, चक्कवट्टी ख, चउदसरयण ग) :

'चाउरन्ते'—जिसके राज्य के एक दिगन्त में हिमवान् पर्वत और तीन दिगन्तों में समुद्र हो, वह 'चातुरन्त' कहलाता है । इसका दूसरा अर्थ है—हाथी, अश्व, रथ और मनुष्य—इन चारों के द्वारा शत्रु का अन्त करने वाला—नाश करने वाला ।[5]

'चक्कवट्टी'—छह खण्ड वाले भारतवर्ष का अधिपति 'चक्रवर्ती' कहलाता है ।[6]

'चउदसरयण'—चक्रवर्ती के चौदह रत्न ये हैं—

(१) सेनापति, (२) गाथापति, (३) पुरोहित, (४) गज, (५) अश्व, (६) बढ़ई, (७) स्त्री, (८) चक्र, (९) छत्र, (१०) चर्म, (११) मणि, (१२) काकिणी, (१३) खड्ग और (१४) दण्ड ।[7]

१–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १९९ :
उदग्गं पधानं शोभनमित्यर्थः, उदग्रं वयसि वर्तमानम् ।
(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ३४९ :
'उदग्रः' उत्कट उदग्रवयःस्थितत्वेन वा उदग्रः ।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र ३४९ :
'मृगाणाम्' आरण्यप्राणिनाम् ।

३–वही, पत्र ३५० :
शङ्खश्च—पाञ्चजन्यः, चक्रं च—सुदर्शनं, गदा च—कौमोदकी ।

४–कौटिल्य अर्थशास्त्र, २।१८।३६, पृ० ११० ।

५–बृहद् वृत्ति, पत्र ३५० :
चतसृष्वपि दिक्ष्वन्तः—पर्यन्त एकत्र हिमवानन्यत्र च दिक्त्रये समुद्रः स्वसम्बन्धितयाऽस्येति चतुरन्तः, चतुर्भिर्वा—हयगजरथनरात्मकैरन्तः—शत्रुविनाशात्मको यस्य स तथा ।

६–वही, पत्र ३५० :
'चक्रवर्ती' षट्खण्डभरताधिपः ।

७–वही, पत्र ३५० :
चतुर्दश च तानि रत्नानि च चतुर्दशरत्नानि, तानि चामूनि—
सेणावइ गाहावइ पुरोहिय गय तुरंग वड्ढइग इत्थी ।
चक्कं छत्तं चम्मं मणि कागिणी खग्ग दंडो य ॥

श्लोक २३

२७–सहस्र चक्षु वाला (सहस्सक्खे क) :

इसका परम्परागत अर्थ यह है कि इन्द्र के पाँच सौ मन्त्री होते हैं। राजा मन्त्री की आँखों से देखता है, अपनी नीति निश्चित करता है, इसलिए इन्द्र को 'सहस्राक्ष' कहा गया है। जो हजार आँखों से दीखता है, इन्द्र अपनी दो आँखों से उससे अधिक देख लेता है, इसलिए वह 'सहस्राक्ष' कहलाता है।[1]

२८–पुरों का विदारण करने वाला (पुरन्दरे ख) :

चूर्णि में पुरन्दर की व्याख्या नहीं है। शान्त्याचार्य ने इसका लोक-सम्मत अर्थ किया है—इन्द्र ने पुरों का विदारण किया था, इसलिए वह 'पुरन्दर' नाम से प्रसिद्ध हो गया।[2]

पुरं-दर—पुरों को नष्ट करने वाला। ऋग्वेद में दस्युओं या दासों के पुरों को नष्ट करने के कारण इन्द्र को 'पुरन्दर' कहा गया है।[3]

श्लोक २४

२९–उगता हुआ (उत्तिट्ठन्ते ख) :

चूर्णिकार ने मध्याह्न तक के सूर्य को उत्थित होता हुआ माना है। उस समय तक सूर्य का तेज बढ़ता है। मध्याह्न के पश्चात् वह घटने लग जाता है।

इसका दूसरा अर्थ 'उगता हुआ' किया गया है। उगता हुआ सूर्य सोम होता है।[4]

बृहद् वृत्ति के अनुसार उगता हुआ सूर्य तीव्र नहीं होता, बाद में वह तीव्र हो जाता है, इसलिए 'उत्तिष्ठन्' शब्द के द्वारा बाल सूर्य ही अभिप्रेत है।[5]

१–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १९९ :

सहस्सक्खेत्ति पंच मंतिसयाइं देवाणं तस्स, तेसिं सहस्सो अक्खीणं, तेसि णीहिए विट्ठमिति, अहवा जं सहस्सेण अक्खाणं दीसति तं सो दोहिं अक्खीहिं अब्भहियतरायं पेच्छति।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र ३५० :

लोकोक्त्या च पूर्दारणात् पुरन्दरः।

३–ऋग्वेद, १।१०२।७ ; १।१०९।८ ; २।२०।७ ; ३।५४।१५ ; ५।३०।११ ; ६।१६।१४।

४–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०० :

जाव मज्झण्णो ताव उट्ठेति, ताव से तेयलेसा वद्धति, पच्छा परिहाति, अहवा उत्तिट्ठंतो सोमो भवति हेमंतियबालसूरिओ।

५–बृहद् वृत्ति, पत्र ३५१ :

'उत्तिष्ठन्' उद्गच्छन् 'दिवाकरः' सूर्यः, स हि ऊर्ध्वं नभोभागमाक्रामन्नतितेजस्वितां भजते अवतरंस्तु न तथेत्येवं विशिष्यते, यद्वा उत्थानं—प्रथममुद्गमनं तत्र चायं न तीव्र इति तीव्रत्वाभावव्यापकमेतत्, अन्यथा हि तीव्रोऽयमिति न सम्यग् दृष्टान्तः स्यात्।

श्लोक २५

३०–नक्षत्र (नक्खत्त [ख]) :

नक्षत्र सताईस होते हैं। उनके नाम ये हैं—

(१) अश्विनी, (२) भरणी, (३) कृत्तिका, (४) रोहिणी, (५) मृगशिर, (६) आर्द्रा, (७) पुनर्वसू, (८) पुष्य, (९) अश्लेषा, (१०) मघा, (११) पूर्वा-फल्गुनी, (१२) उत्तरा-फल्गुनी, (१३) हस्त, (१४) चित्रा, (१५) स्वाति, (१६) विशाखा, (१७) अनुराधा, (१८) ज्येष्ठा, (१९) मूल, (२०) पूर्वाषाढ़ा, (२१) उत्तराषाढ़ा, (२२) श्रवण, (२३) धनिष्ठा, (२४) शतभिषक्, (२५) पूर्वभद्रपदा, (२६) उत्तरभद्रपदा और (२७) रेवती।

श्लोक २६

३१–सामाजिकों (समुदाय वृत्ति वालों) के (सामाइयाणं [क]) :

आजकल जैसे सामुदायिक अन्न-भण्डार होते हैं, उसी प्रकार प्राचीन काल में भी सामुदायिक अन्न-भण्डार होते थे।[१] उनमें नाना प्रकार के अनाज रखे जाते थे।[२] चोर, अग्नि, चूहों आदि से बचाने के लिए उनकी पूर्णतः सुरक्षा की जाती थी।[३] उन अन्न-भण्डारों को 'कोष्ठागार' या 'कोष्ठाकार' कहा जाता था।[४]

श्लोक २७

३२–(जम्बू [ख], अणाढियस्स [ग]) :

'जम्बू'—जम्बू वृक्ष। इसकी विस्तृत जानकारी के लिए देखिए—जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति (वक्ष ४, सूत्र ९०, पत्र ३३०)।

'अणाढियस्स'—अनादृत देव। जम्बूद्वीप का अधिपति व्यन्तर जाति का देव होता है।[५]

श्लोक २८

३३–(सलिला [ख], सीया नीलवन्तपवहा [ग]) :

'सलिला'—यहाँ सलिला का प्रयोग नदी के अर्थ में किया गया है।[६]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ३५१ :
समाज—समूहस्तं समवयन्ति सामाजिकाः—समूहवृत्तयो लोकास्तेषां, पठन्ति च—'सामाइयंगाणं'ति तत्र च श्यामा—अतसी तदादीनि च तानि अंगानि च उपभोगांगतया श्यामाद्यंगानि धान्यानि तेषां 'कोट्ठागारे'।

२–वही, पत्र ३५१ :
नाना—अनेकप्रकाराणि धान्यानि—शालिमुद्गादीनि तैः प्रतिपूर्णो—भृतः नानाधान्यप्रतिपूर्णः।

३–वही, पत्र ३५१ :
सुष्ठु—प्राहरिकपुरुषादिव्यापारणद्वारेण रक्षितः—पालितो दस्युमूषिकादिभ्यः सुरक्षितः।

४–वही, पत्र ३५१ :
कोष्ठा—धान्यपल्यास्तेषामगारं—तदाधारभूतं गृहम्, उपलक्षणत्वादन्यदपि प्रभूतधान्यस्थानं, यत्र प्रदीपनकादिभयात धान्य-कोष्ठाः क्रियन्ते तत् कोष्ठागारमुच्यते, यदि वा कोष्ठान् आ—समन्तात् कुर्वते तस्मिन्निति कोष्ठाकारः।

५–वही, पत्र ३५२ :
'अनादृतस्य' अनादृतनाम्नो 'देवस्य' जम्बूद्वीपाधिपतेर्व्यन्तरसुरस्य आश्रयत्वेन सम्बन्धिनी।

६–वही, पत्र ३५२ :
सलिलं—जलमस्यामस्तीति, अर्शआदेराकृतिगणत्वादचि सलिला—नदी।

'सीया नीलवन्तपवहा'—नीलवान मेरु पर्वत के उत्तर में अवस्थित वर्षधर पर्वत है। सीता नदी इस पर्वत से प्रवाहित होती है।[1] यह सबसे बड़ी नदी है और अनेक जलाशयों से व्याप्त है।[2]

वर्तमान भूगोल-शास्त्रियों के अनुसार—चीनी, तुर्किस्तान के चारों ओर स्थित पर्वतों से कई नदियाँ निकलती हैं, जो 'तकलामकान' मरुस्थल की ओर जाती हैं और अन्त में इसी मरुस्थल की राह में भूल जाती हैं। काशगर नदी और यारकन्द नदी क्रमशः 'तियेन-शान' और पामीर से निकलती हैं। दोनों नदियाँ मिलकर तारिम नदी हुई, जो 'लोबनोर' तक जाती है। भारतीय साहित्य में यही नदी 'सीता' के नाम से प्रख्यात है।[3]

पौराणिक विद्वान् नील पर्वत की पहचान आज के काराकोरम से करते हैं। पुराणों के हेमकूट, निषध, नील, श्वेत तथा शृङ्गी पर्वत अनुक्रम से आज के हिन्दुकुश, सुलेमान, काराकोरम कुवेनलुन तथा थियेनशान हैं।[4]

श्लोक २९

३४–मंदर पर्वत (मन्दरे गिरी [ग]) :

मन्दर पर्वत सबसे ऊँचा पर्वत है और वहाँ से दिशाओं का प्रारम्भ होता है।[5] उसे नाना प्रकार की औषधियों और वनस्पतियों से प्रज्वलित कहा गया है। वहाँ विशिष्ट औषधियाँ होती है। उनमें से कुछ प्रकाश करने वाली होती हैं। उनके योग से मंदर पर्वत भी प्रकाशित होता है।[6] सूत्रकृतांग की वृत्ति में भी मेरु पर्वत को औषधि सम्पन्न कहा है।[7]

काश्मीर के उत्तर में एक ही स्थान या बिन्दु से पर्वतों की छह श्रेणियाँ निकलती हैं। इनके नाम हैं—हिमालय, काराकोरम, कुवेनलुम, हियेनशान, हिन्दुकुश और सुलेमान। इनमें जो केन्द्र बिन्दु है, उसे पुराणों के रचयिता मेरु-पर्वत कहते हैं। यह पर्वत भू पद्म की कर्णिका जैसा है।[8]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ३५२ :
'शीता' शीतानाम्नी, नीलवान्—मेरोरुत्तरस्यां दिशि वर्षधरपर्वतस्ततः···प्रवहति···नीलवत्प्रवहा वा।

२–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०० :
सीता सव्वणईण महल्ला बहूहि य जलासतेहिं य आइण्णा।

३–India and Central Asia (by P. C. Bagchi) p. 43.

४–वैदिक संस्कृति का विकास, पृ० १६४।

५–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०० :
जहा मन्दरो गिरी उस्सिओ दिसाओ य अत्थ पवत्तंति।

६–बृहद् वृत्ति, पत्र ३५२ :
'नानौषधिभिः' अनेकविधविशिष्टमाहात्म्यवनस्पतिविशेषरूपाभिः प्रकर्षेण ज्वलितो– दीप्तः नानौषधिप्रज्वलितः, ता ह्यतिशायिन्यः प्रज्वलन्त्य एवासत इति तद्योगादसावपि प्रज्वलित इत्युक्तः, यद्वा—प्रज्वलिता नानौषधयोऽस्मिन्निति प्रज्वलितनानौषधिः, प्रज्वलितशब्दस्य तु परनिपातः प्राग्वत्।

७–सूत्रकृतांग, १।६।१२, वृत्ति :
'गिरिवरे से जलिएव भोमे' असौ मणिभिरौषधिभिश्च देदीप्यमानतया "भौम इव" भूदेश इव ज्वलित इति।

८–वैदिक संस्कृति का विकास, पृ० १६४।

अध्ययन १२

हरिएसिज्जं

श्लोक १

१–(सोवागकुल क, मुणी ख, हरिएसबलो ग):

'सोवागकुल'—चाण्डाल-कुल। बृहद् वृत्ति के अनुसार 'श्वपाक' का अर्थ चाण्डाल है।[१] चूर्णिकार के अनुसार जिस कुल में कुत्ते का मांस पकाया जाता है, वह 'श्वपाक-कुल' कहलाता है।[२] श्वपाक-कुल की तुलना वाल्मीकि रामायण में वर्णित मुष्टिक लोगों से होती है। वे श्वान-मांस-भक्षी, शव के वस्त्रों का उपयोग करने वाले, भयंकर-दर्शन—विकृत आकृति वाले तथा दुराचारी होते थे।[३]

इस अध्ययन के अनेक श्लोकों की तुलना जातक (संख्या ४९७) के कई श्लोकों से होती है। देखिए—'उत्तराध्ययन : एक समीक्षात्मक अध्ययन।'

'मुणी'—धर्म-अधर्म का मनन करने वाला। चूर्णिकार के अनुसार धर्म-अधर्म का मनन करने वाला मुनि होता है।[४]

बृहद् वृत्तिकार ने सर्व विरति की प्रतिज्ञा लेने वाले को मुनि कहा है।[५]

'हरिएसबलो'—हरिकेशबल। मुनि का नाम 'बल' था और 'हरिकेश' उनका गोत्र था। नाम के पूर्व गोत्र का प्रयोग होता था, इसलिए वे 'हरिकेश-बल' नाम से प्रसिद्ध थे।[६]

श्लोक ४

२–(पन्तोवहिउवगरणं ग, अणारिया घ):

'पंत'—प्रान्त्य—जीर्ण और मलिन। जो वस्तु निम्नकोटि की होती है, उसे प्रान्त्य या प्रान्त कहा जाता है। यहाँ यह उपधि और उपकरण से सम्बन्धित है।[७]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ३५७ :
श्वपाकाः—चाण्डालाः।

२–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०३ :
शवति श्वसिति वा श्वा श्वेन पचतीति श्वपाकः

३–वाल्मीकि रामायण, १।५९।१९,२०।

४–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०३ :
मनुते मन्यते वा धर्म्माऽधर्म्मानिति मुनिः।

५–बृहद् वृत्ति, पत्र ३५७ :
मुणति—प्रतिजानीते सर्व्वविरतिमिति मुणिः।

६–वही, पत्र ३५७ :
हरिकेशः सर्वत्र हरिकेशतयैव प्रतीतो बलो नाम—बलाभिधानः।

७–वही, पत्र ३५८ :
प्रान्तं—जीर्णमलिनत्वादिभिरसारम्।

'उवहिउवगरणं'—उपधि और उपकरण। उपधि का अर्थ है—साधु के रखने योग्य वस्त्र आदि। ये धार्मिक शरीर का उपकार करते हैं, इसलिए इन्हें उपकरण कहा जाता है।[1]

'अणारिया'—अनार्य। अनार्य शब्द मूलतः जातिवाचक था। किन्तु अर्थ-परिवर्तन होते-होते वह आचरणवाची बन गया। उत्तम-आचरण वाले को आर्य और अधम-आचरण करने वाले को अनार्य कहा जाने लगा। ब्राह्मणों को यहाँ आचरण की दृष्टि से अनार्य कहा है।[2]

श्लोक ६

३—(दित्तरूवे [क], विगराले [ख], ओमचेलए पंसुपिसायभूए [ग], संकरदूसं परिहरिय [घ]):

'दित्तरूवे'—बीभत्स रूप वाला। चूर्णिकार के अनुसार 'कयरे तुम एसिध दित्तरूवे' मूल पाठ है और 'कयरे आगच्छति दित्तरूवे' पाठान्तर है।[3]

यहाँ 'दीप्त' शब्द बीभत्स अर्थ का वाचक है। जिस प्रकार अत्यन्त जलन वाले फोड़ों के लिए 'शीतल' (शीतला का रोग) शब्द का व्यवहार होता है, उसी तरह विकृत, दुर्दर्श रूप वाले के लिए 'दीप्तरूप' का प्रयोग हुआ है।[4]

'विगराले'—विकराल। हरिकेश-बल के दाँत बढ़े हुए थे। वे बड़े डरावने लगते थे, इसलिए उन्हें विकराल कहा है।[5]

'ओमचेलए'—अधनंगा। ओमचेल का अर्थ—'अचेल' भी हो सकता है किन्तु यहाँ उसका अर्थ 'अल्प या जीर्ण वस्त्र वाला' है।[6]

'पंसुपिसायभूए'—लौकिक मान्यता के अनुसार पिशाच के दाढ़ी, नख और रोए लम्बे होते हैं और वह धूल से सना हुआ होता है। मुनि भी शरीर की सार-सम्हाल न करने और धूल से सने हुए होने के कारण पिशाच जैसे लगते थे।[7] पांशुपिशाच का अर्थ चंडाल भी है।

'संकरदूसं परिहरिय'—गले में संकर-दूष्य (उकुरडी से उठाया हुआ चिथड़ा) डाले हुए। संकर का अर्थ है—तृण धूल राख गोबर आदि कूड़े-कर्कट का ढेर, उकुरडी। वहाँ वे ही वस्त्र डाले जाते हैं जो अत्यन्त निकृष्ट एवं अनुपयोगी होते हैं। मुनि के वस्त्र भी वैसे ही थे या वे फेंकने योग्य वस्त्रों को भी ग्रहण करते थे, इसलिए उनके दूष्य (वस्त्र) को 'संकर-दूष्य' कहा गया है।[8]

१—(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०४ :
उपदधाति तीर्थं उपधिः, उपकरोतीत्युपकरणम्।
(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ३५८ :
उपधिः—वर्षाकल्पादिः स एव च उपकरणं—धर्मशरीरोपष्टम्भहेतुरस्येति।

२—बृहद् वृत्ति, पत्र ३५८।

३—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०४ :
ते पुरोहितमिस्सा जेते जण्णत्थमागता ते भणंति—'कयरे तुमं एसिध दित्तरूवे' अथवा ते अन्नमन्नं भणंति—'कयरे आगच्छति दित्तरूवे' त्ति।

४—बृहद् वृत्ति, पत्र ३५८ :
दीप्तवचनं चातिबीभत्सोपलक्षणम्, अत्यन्तदाहिषु स्फोटकेषु शीतलकव्यपदेशवत्, विकृततया वा दुर्दर्शमिति दीप्तमिव दीप्तमुच्यते।

५—वही, पत्र ३५८ :
विकरालो दन्तुरतादिना भयानकः पिशाचवत् स एव विकरालकः।

६—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०४ :
ओमं नाम स्तोकं, अचेलओ वि ओमचेलओ भवति, अयं ओमचेलगो असर्वांगप्रावृत जीर्णवासो वा।

७—बृहद् वृत्ति, पत्र ३५९ :
पांशुना—रजसा पिशाचवद्भूतो—जातः पांशुपिशाचभूतः, गमकत्वात्समासः, पिशाचो हि लौकिकानां दीर्घश्मश्रुनखरोमा पुनश्च पांशुभिः समवच्छन्नो इष्टः, ततः सोऽपि निष्परिकर्मतया रजोदिग्धदेहतया चैवमुच्यते।

८—वही, पत्र ३५९ :
'संकरे' ति सङ्करः, स चेह प्रस्तावात्तृणभस्मगोमयाङ्गारादिमीलक उत्कुरुडिकेतियावत्, तत्र दुष्यं—वस्त्रं संकरदुष्यं, तत्र हि यदत्यन्तनिकृष्टं निरुपयोगि तल्लोकैरुत्सृज्यते, ततस्तत्प्रायमन्यदपि तथोक्तं, यद्वा उज्झितधर्मकमेवासौ गृह्णातीत्येवमभिधानम्।

मुनि अभिग्रहधारी थे। जो अभिग्रहधारी होते हैं वे अपने वस्त्रों को जहाँ जाते हैं वहाँ साथ ही रखते हैं, कहीं पर भी छोड़कर नहीं जाते। इसलिए उनके वस्त्र भी उनके साथ ही थे।[1]

वस्त्र मुनि के कन्धे पर रखे हुए थे। कन्धा कण्ठ का पार्श्ववर्ती भाग है। इसलिए उसे कण्ठ ही मान कर यहाँ कण्ठ शब्द का प्रयोग हुआ है।[2]

'परिहर' यह पहनने के अर्थ में आगमिक धातु है।

श्लोक ८

४–(तिन्दुयरुक्खवासी क, अणुकम्पओ ख) :

ब्राह्मणों ने मुनि का तिरस्कार किया किन्तु वे कुछ भी नहीं बोले, शांत रहे। उस समय आबनूस वृक्ष पर रहने वाले यक्ष ने, जो मुनि के तप से आकृष्ट हो, मुनि का अनुगमन करता था, जो चेष्टाएं कीं, वे इस श्लोक में बताई गई हैं।[3]

'तिन्दुयरुक्खवासी'—तिन्दुक (आबनूस) वृक्ष का वासी। चूर्णिकार के अनुसार आबनूस का एक वन था। उसके बीच में एक बड़ा आबनूस का वृक्ष था। उस पर वह यक्ष निवास करता था। उसके नीचे चैत्य था। मुनि उसमें ध्यान करते थे।[4]

'अणुकम्पओ'—अनुकम्पा करने वाला। अनुकम्पा का अर्थ है—अनुरूप या अनुकूल क्रिया की प्रवृत्ति। यक्ष मुनि के प्रति आकृष्ट था, उनके अनुकूल प्रवर्तन करता था, इसलिए उसे 'अनुकम्पक' कहा गया है।[5]

श्लोक ९

५–(समणो क, संजओ बम्भयारी क, धणपयणपरिग्गहाओ ख) :

'समणो…संजओ बम्भयारी'—मैं श्रमण हूँ, संयमी हूँ, ब्रह्मचारी हूँ। श्रमण वही होता है जो संयत है। संयत वही होता है जो ब्रह्मचारी है।[6] इस प्रकार इनमें हेतु-हेतुमद्भाव सम्बन्ध है।

१–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०४ :
स भगवान् अनिक्षिप्तोपकरणत्वात् यत्र यत्र गच्छति तत्र तत्र तं पंतोवकरणं कंठे ओलंबेत्तुं गच्छइ।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र ३५९ :
अत्र कण्ठैकपार्श्वः कण्ठशब्दः।

३–वही, पत्र ३५९ :
एवमधिक्षिप्तेऽपि तस्मिन् मुनौ प्रशमपरतया किञ्चिदप्यजल्पति तत्सान्निध्यकारी गण्डीतिन्दुकयक्षो यदचेष्टत तदाह।

४–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०४-२०५ :
तस्स तिंदुगठाणस्स मज्झे महंतो तिंदुगरुक्खो, तहिं सो भवति वसति, तस्सेव हिट्ठा चेइयं, जत्थ सो साहू ठितो, सव्वतेण उट्ठितो।

५–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र ३५९ :
'अणुकंपओ' त्ति अनुशब्दोऽनुरूपार्थे ततश्चानुरूपं कम्पते—चेष्टत इत्यनुकम्पकः—अनुरूपक्रियाप्रवृत्तिः।
(ख) सुखबोधा, पत्र १७६ :
'अनुकम्पकः'—अनुकूलक्रियाप्रवृत्तिः।

६–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०५ :
श्रमणः ?, यः संयतः, कः संयतः ?, यो ब्रह्मचारी।

२७

'धणपयणपरिग्गहाओ'—धन व पचन-पाचन और परिग्रह से। गाय आदि चतुष्पद प्राणियों को धन कहते हैं।[1] राजस्थान में अब भी यह शब्द इस अर्थ में प्रचलित है। चूर्णिकार ने परिग्रह का अर्थ स्वर्ण आदि किया है।[2] शान्त्याचार्य के अनुसार इसका अर्थ द्रव्य आदि में होने वाली मूर्च्छा—ममत्व है।[3]

श्लोक १०

६—(खज्जइ भुज्जई क, जायणजीविणु ग):

'खज्जइ भुज्जई'—खाया जा रहा है और भोगा जा रहा है। यहाँ खाद् और भुज् दो धातुओं का प्रयोग हुआ है। सामान्यतः इन दोनों का प्रयोग खाने के अर्थ में होता है, किन्तु इनमें अर्थ-भेद भी है। चूर्णि के अनुसार खाद्य खाया जाता है और भोज्य भोगा जाता है।[4]

बृहद् वृत्ति के अनुसार 'खाजा' आदि तले हुए पदार्थ खाद्य हैं और दाल-चावल आदि पदार्थ भोज्य कहलाते हैं।[5]

'जायणजीविणु'—भिक्षा-जीवी। इसका संस्कृत रूप 'याचनजीवनम्' या 'याचनजीविनम्' बनता है। जहाँ 'याचनजीवनम्' माना जाए वहाँ प्राकृत में जो इकार है, वह अलाक्षणिक माना जाए। इसका अर्थ है—याचना के द्वारा जीवन चलाने वाला। इसका वैकल्पिक रूप 'याचन-जीविनम्' है। इसके प्राकृत रूप में द्वितीया विभक्ति के अर्थ में षष्ठी विभक्ति है। याचन जीवी अर्थात् याचना से जीवन के स्वभाव वाला। 'जायणजीविणु' का पाठान्तर है 'जायण-जीवण'। इसमें प्रथमा विभक्ति है।[6]

श्लोक ११

७—(एगपक्खं ख, पाणं ग):

'एगपक्खं'—एक-पाक्षिक। यज्ञ का भोजन केवल ब्राह्मणों को दिया जा सकता है। वह ब्राह्मणेतर जातियों को नहीं दिया जा सकता, शूद्रों को तो दिया ही नहीं जा सकता। इस मान्यता के आधार पर उसे 'एक-पाक्षिक' कहा गया है।[7]

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ३६० :
धनं चतुष्पदादि।

२—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०५ :
परिग्रहो—हिरण्णादि।

३—बृहद् वृत्ति, पत्र ३६० :
परिग्रहो द्रव्यादिषु मूर्च्छा।

४—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०५ :
खाइमं खज्जति वा भोज्जं भुंजति।

५—बृहद् वृत्ति, पत्र ३६० :
खाद्यते खण्डखाद्यादि, भुज्यते च भक्तसूपादि।

६—वही, पत्र ३६० :
'जायणजीविणो' त्ति याचनेन जीवनं—प्राणधारणमस्येति याचनजीवनं, आर्षत्वादिकारः, पठ्यते च—'जायणजीवणो' त्ति, इतिशब्दः स्वरूपपरामर्शकः, तत एवं स्वरूपं, यतश्चैवमतो मह्यमपि दद्यमिति भावः, कदाचिद्युत्कृष्टमेवासौ याचत इति तेषामाशयः स्यादत आह, अथवा जानीत मां याचनजीविनं—याचनेन जीवनशीलं, द्वितीयार्थे षष्ठी, पाठान्तरे तु प्रथमा।

७—(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०५ :
एगपक्खं नाम नाब्राह्मणेभ्यो दीयते।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ३६० :
एकः पक्षो—ब्राह्मणलक्षणो यस्य तदेकपक्षं, किमुक्तं भवति ?—यदस्मिन्नुपस्क्रियते न तद्ब्राह्मणव्यतिरिक्तायान्यस्मै दीयते, विशेषतस्तु शूद्राय।

'पाणं'—पान (द्राक्षा का पना) ।[1] देखिए—दसवेआलियं (भाग : २), ५।१।४७ का टिप्पण, संख्या १५० ।

श्लोक १२

८–(आससाए ख, एयाए सद्धाए ग) :

'आससाए'– आशा से । जो अधिक वर्षा होगी तो ऊँची भूमि में अच्छी उपज होगी और कम वर्षा होगी तो नीची भूमि में अच्छी उपज होगी—इस आशा से किसान ऊँची और नीची भूमि में बीज बोते हैं ।[2]

'एयाए सद्धाए'—इसी श्रद्धा से । इसी श्रद्धा से मुझे दान दो—चाहे आप अपने को नीची भूमि के समान ओर मुझे ऊँची भूमि के समान समझें, फिर भी मुझे दान देना उचित है ।[3]

श्लोक १३

९–पुण्य (सुपेसलाइं घ) :

सुपेशल का अर्थ श्रेष्ठ या प्रीतिकर किया गया है ।[4] किन्तु यह 'सुपावयाइं' (श्लोक १४) का प्रतिपक्षी है, इसलिए हमने इसका अनुवाद 'पुण्य' किया है ।

श्लोक १८

१०–(उवजोइया क, दण्डेण फलेण ग) :

'उवजोइया'—रसोइया । उपज्योतिष्क का अर्थ है—अग्नि के समीप रहने वाला रसोइया या यज्ञ करने वाला ।[5]

'दण्डेण'—डंडे से । बृहद् वृत्ति में दण्ड का मुख्य अर्थ 'बांस की लाठी आदि मारक-वस्तु' और विकल्प में उसका अर्थ 'कोहनी का प्रहार' किया गया है ।[6] चूर्णि में इसका अर्थ 'कोहनी का प्रहार' किया है ।[7]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ३६१ :
पानं च द्राक्षापानादि ।

२–वही, पत्र ३६१ :
'आससाए'त्ति आशंसया—यद्यत्यन्तप्रवर्षणं भावि तदा स्थलेषु फलावाप्तिरथान्यथा तदा निम्नेष्वित्येवमभिलाषात्मिकया ।

३–वही, पत्र ३६१ :
एतयैवैतया—एतदुपमया, कोऽर्थः ?—उक्तरूपकर्षकाशंसातुल्यया 'श्रद्धया' वाञ्छया 'दलाह' त्ति दद्ध्वं मह्यं, किमुक्तं भवति ?—यद्यपि भवतां निम्नोपमत्वबुद्धिरात्मनि मयि तु स्थलतुल्यताधीः तथापि मह्यमपि दातुमुचितम् ।

४–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०६ :
सुट्ठु पेसलाणि सुपेसलाणि, शोभनं प्रीतिकरं वा ।

५–बृहद् वृत्ति, पत्र ३६३-३६४ :
'उवजोइय' त्ति ज्योतिषः समीपे ये त उपज्योतिषस्त एवोपज्योतिष्काः अग्निसमीपवर्तिनो महानसिका ऋत्विजो वा ।

६–वही, पत्र ३६४ :
'दण्डेन' वंशयष्ट्यादिना.........यद्वा 'दण्डेन' ति कूर्पराभिघातेन ।

७–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०७ :
दण्ड्यतेऽनेनेति दण्डः कोप्पराभिघातः ।

'फलेण'—फल से। चूर्णि में इसका अर्थ 'एड़ी का प्रहार' किया है।[1] बृहद् वृत्ति में फल का अर्थ 'बिल्व आदि फल' किया है।[2] समवायांग की वृत्ति में इसका अर्थ—योगभावित मातुलिंग आदि फल—मिलता है।[3]

श्लोक २३

११—(महाजसो क, महाणुभागो क, घोरव्वओ घोरपरक्कमो ख) :

'महाजसो'—जिसका यश त्रिभुवन में विख्यात है, वह 'महायशा' कहलाता है।[4]

'महाणुभागो'—भाग का अर्थ है—'अचिन्त्य शक्ति'। जिसे महान् अचिन्त्य-शक्ति प्राप्त हो उसे 'महाभाग' (महाप्रभावशाली) कहा जाता है।[5] चूर्णिकार के अनुसार यह पाठ 'महाणुभावो' है और इसका अर्थ है—अनुग्रह और निग्रह करने में समर्थ।[6]

'घोरव्वओ'—जो अत्यन्त दुर्धर महाव्रतों को धारण किए हुए हो, उसे 'घोरव्रत' कहा जाता है।[7]

'घोरपरक्कमो'—जिसमें कषाय आदि को जीतने का प्रचुर सामर्थ्य हो, उसे 'घोर पराक्रम' कहा जाता है।[8] देखिए—१४।५० के 'घोरपरक्कमा' का टिप्पण।

श्लोक २४

१२—वैयापृत्य (परिचर्या) (वेयावडिय ग) :

जिससे कर्म का विदारण होता है, उसे 'वेदावडित' कहा जाता है, यह चूर्णि की व्युत्पत्ति है।[9]

१–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०७ :
फलं तु पार्ष्णिघातः।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र ३६४ :
'फलेन' बिल्वादिना।

३–समवायांग ३०, वृत्ति पृ० ५० :
फलेन—योगभावितेन मातुलिङ्गादिना।

४–विशेषावश्यक भाष्य, १०६४ :
तिहुयणविक्खायजसो महाजसो।

५–(क) विशेषावश्यक भाष्य, १०६३ :
भागो चिंतासत्ती, स महाभागो महप्पभावो त्ति।
(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ३६५ :
महानुभागः—अतिशयाचिन्त्यशक्तिः।

६–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०८ :
अणुभाव णाम शापानुग्रहसामर्थ्यम्।

७–बृहद् वृत्ति, पत्र ३६५ :
'घोरव्रतो' धृतात्यन्तदुर्द्धरमहाव्रतः।

८–वही, पत्र ३६५ :
'घोरपराक्रमश्च' कषायादिविजयं प्रति रौद्रसामर्थ्यः।

९–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०८ :
विदारयति वेदारयति वा कर्म्म वेदावडिता।

शान्त्याचार्य ने इसका संस्कृत रूप वैयावृत्त्य किया है। यहाँ और ३२ वें श्लोक में वैयावृत्त्य का प्रयोग प्रत्यनीक-निवारण (विरोधी से रक्षा) के अर्थ में हुआ है।[1] वैयापृत्य और वैयावृत्त्य की विशेष जानकारी के लिए देखिए—दसवेआलियं (भाग : २), ३।६ का टिप्पण, संख्या ३४।

श्लोक २७

१३–(आसीविसो उग्गतवो [क]) :

'आसीविसो'—आशीविष-लब्धि से सम्पन्न। आशीविष-लब्धि एक योग जन्य विभूति है। इसके द्वारा व्यक्ति अनुग्रह और निग्रह करने में समर्थ हो जाता है। इसका दूसरा अर्थ है—यह मुनि आशीविष साँप जैसा है। जो साँप की अवहेलना करता है वह मृत्यु को प्राप्त करता है, उसी प्रकार मुनि की अवहेलना करने वाले को भी मरना पड़ता है।[2]

तत्त्वार्थ वार्तिक के अनुसार 'आस्याविष' और 'आस्यविष' ये भिन्न-भिन्न लब्धियाँ हैं। उग्र विष से मिश्रित आहार जिनके मुख में जाकर निर्विष हो जाता है अथवा मुख से निकले हुए वचनों को सुनने मात्र से महाविष व्याप्त व्यक्ति निर्विष हो जाते हैं, वे 'आस्याविष' हैं।[3] जिस प्रकृष्ट तपस्वी यति के 'मर जाओ' आदि शाप से व्यक्ति तुरन्त मर जाता है, वे 'आस्यविष' हैं।[4]

'उग्गतवो'—जो एक, दो, तीन, चार, पाँच पक्ष अथवा मास आदि उपवास-योग में से किसी एक उपवास-योग का आरम्भ कर जीवन पर्यन्त उसका निर्वाह करता है, उसे 'उग्र तपस्वी' कहा जाता है।[5]

श्लोक २६

१४–निष्क्रिय (अकम्मचेट्ठे [ख]) :

बृहद् वृत्ति में इसके दो अर्थ प्राप्त होते हैं—

(१) जिनके कार्य की हेतुभूत चेष्टाएँ रुक गई हों।

(२) जिनकी यज्ञ की अग्नि में ईंधन आदि डालने की प्रवृत्ति बंद हो गई हो।[6]

१–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र ३६५ :
'वेयावडियट्ठयाए' त्ति सूत्रत्वाद्वैयावृत्त्यार्थमेतत् प्रत्यनीकनिवारणलक्षणे प्रयोजने व्यावृत्ता भवाम इत्येवमर्थम्।

(ख) वही, पत्र ३६८ :
वैयावृत्त्यं—प्रत्यनीकप्रतिघातरूपम्।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र ३६६ :
आस्यो—दंष्ट्रास्तासु विषमस्येत्यासीविषः—आसीविषलब्धिमान्, शापानुग्रहसमर्थ इत्यर्थः, यद्वा आसीविष इव आसीविषः, यथाहि तमत्यन्तमवजानानो मृत्युमेवाप्नोति, एवमेनमपि मुनिमवमन्यमानानामवश्यं भावि मरणमित्याशयः।

३–तत्त्वार्थ राजवार्तिक, पृ० २०३ :
उग्रविषसंपृक्तोऽप्याहारो येषामास्यगतो निर्विषीभवति यदीयास्यनिर्गतवचःश्रवणाद्वा महाविषपरीता अपि निर्विषीभवन्ति ते आस्याविषाः।

४–वही, पृ० २०३ ४ :
प्रकृष्टतपोबला यतयो यं ब्रुवते म्रियस्वेति स तत्क्षण एव महाविषपरीतो म्रियते, ते आस्यविषाः।

५–वही, पृ० २०३ :
तपोऽतिशयर्द्धिः सप्तविधा—उग्र-दीप्त-तप्त-महा-घोर-तपो-घोरपराक्रम-घोरब्रह्मचर्यभेदात्। चतुर्थषष्ठाष्टमदशमद्वादशपक्षमासाद्यनशनयोगेष्वन्यतमयोगमारभ्य आमरणादनिवर्तका उग्रतपसः।

६–बृहद् वृत्ति, पत्र ३६७ :
अकर्मचेष्टाश्च—अविद्यमानकर्महेतुव्यापारतया प्रसारितबाहुकर्मचेष्टास्तान्, यद्वा म्रियन्त इति कर्माणि—अग्नौ समित्प्रक्षेपणादीनि तद्विषया चेष्टा कर्मचेष्टेह गृह्यते।

श्लोक ३३

१५–(अत्थं क, भूइपन्ना ख) :

'अत्थं'—अर्थ ज्ञेय होता है, इसलिए उसका एक अर्थ—सब वस्तुएँ हो सकता है। किन्तु यहाँ प्रकरण से शुभ-अशुभ कर्मों या राग-द्वेष के फल को 'अर्थ' कहा गया है। अथवा शास्त्रों का प्रतिपाद्य—इस अर्थ में भी वह प्रयुक्त हो सकता है।[1]

'भूइपन्ना'—भूतिप्रज्ञ। भूति के तीन अर्थ किए गए हैं—मंगल, वृद्धि और रक्षा। जिसकी बुद्धि सर्वोत्तम मंगल, सर्वश्रेष्ठ वृद्धि या सर्वभूत-हिताय प्रवृत्त हो, वह 'भूतिप्रज्ञ' कहलाता है।[2]

श्लोक ३५

१६–(पभूयमन्नं क) :

यहाँ प्रचुर अन्न के द्वारा यज्ञ में बने पूड़े, खाजे आदि सारे खाद्य पदार्थों को लेने का मुनि से अनुरोध किया गया है। चावल के बने भोजन को सबसे मुख्य माना जाता था। इसलिए पिछले श्लोक में उसके लिए पृथक् रूप से अनुरोध किया है।[3]

श्लोक ३७

१७–जाति की कोई महिमा नहीं है (न दीसई जाइविसेस कोई ख) :

जैन-दर्शन के अनुसार जातिवाद अतात्त्विक है। भगवान् महावीर ने कहा—एक जीव अनेक बार उच्च गोत्र में उत्पन्न हुआ और अनेक बार नीच गोत्र में जन्मा, इसलिए न कोई छोटा है और न कोई बड़ा।[4] मनुष्य अपने कर्मों से ब्राह्मण होता है, कर्मों से क्षत्रिय, कर्मों से वैश्य होता है और कर्मों से शूद्र।[5] मनुष्य की सुरक्षा उसके ज्ञान और आचार से होती है, जाति और कुल से नहीं।[6] भगवान् महावीर ने यह कभी स्वीकार नहीं किया कि ब्राह्मण जाति में उत्पन्न व्यक्ति चाहे कैसी भी दुष्प्रवृत्ति करे, श्रेष्ठ है और शूद्र जाति में उत्पन्न व्यक्ति चाहे कितना भी तपश्चरण करे, नीच है। वस्तुतः व्यक्ति की उच्चता और नीचता की कसौटी तप, संयम और पवित्रता है, जाति नहीं। जो जितना आचारवान् है वह उतना ही उच्च है और जो जितना आचार-भ्रष्ट है वह उतना ही नीच है। वह फिर जाति से ब्राह्मण हो या शूद्र। शूद्र जाति में उत्पन्न होने से

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ३६८ :
अर्थंत इत्यर्थो—ज्ञेयत्वात्सर्वमेव वस्तु, इह तु प्रक्रमाच्छुभाशुभकर्म्मविभागो रागद्वेषविपाको वा परिगृह्यते, यद्वा अर्थः—अभिधेयः स चार्थाच्छास्त्राणामेव तम्।

२–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २१० :
भूति मंगलं वृद्धिः रक्षा, प्रागर (गेव) ज्ञायते अनयेति प्रज्ञा, तत्र मंगले सर्वमंगलोत्तमाऽस्य प्रज्ञा, अनन्तज्ञानवानित्यर्थः, रक्षायां तु रक्षाभूताऽस्य प्रज्ञा सर्वलोकस्य सर्वसत्त्वानां वा।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ३६८ :
भूतिर्मंगलं वृद्धि रक्षा चेति वृद्धाः, प्रज्ञायतेऽनया वस्तुतत्त्वमिति प्रज्ञा, ततश्च भूतिः—मंगलं सर्वमंगलोत्तमत्वेन वृद्धिर्वा वृद्धिविशिष्टत्वेन रक्षा वा प्राणिरक्षकत्वेन प्रज्ञा—बुद्धिरस्येति भूतिप्रज्ञः।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र ३६९ :
'प्रभूतं' प्रचुरमन्नं—मण्डकखण्डखाद्यादि समस्तमपि भोजनं, यत्प्राक् पृथगोदनग्रहणं तत्तस्य सर्वान्नप्रधानत्वख्यापनार्थम्।

४–आचारांग, १।२।३।४९ :
से असइं उच्चा-गोए असइं णीआ-गोए। णो हीणे, णो अइरित्ते......।

५–उत्तराध्ययन, २५।३१।

६–सूत्रकृतांग, १।१३।११ :
न तस्स जाई व कुलं व ताणं, नन्नत्थ विज्जाचरणं सुचिण्णं।

वह ज्ञान का अधिकारी नहीं, यह भी मान्य नहीं है। ब्राह्मण-परम्परा के अनुसार ब्राह्मणों के लिए शूद्र को वेदों का ज्ञान देना निषिद्ध था। लंका में विलाप करती हुई सीता कहती है—"मैं अनार्य रावण को अपना अनुराग वैसे ही अर्पित नहीं कर सकती जैसे ब्राह्मण शूद्र को मंत्र-ज्ञान नहीं दे सकता।"[1] जैन-संघ में दीक्षित होकर जिस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों को साधना करने का अधिकार था, वैसे ही शूद्रों को। हरिकेशबल मुनि उसके एक ज्वलन्त उदाहरण हैं।

श्लोक ३८

१८–बाहर से (जल से) शुद्धि की (सोहिं बहिया ख) :

शोधि का अर्थ है—शुद्धि—निर्मलता।[2] शोधि दो प्रकार की होती है—द्रव्य-शोधि और भाव-शोधि।

मलिन वस्त्रों को पानी से धोना द्रव्य-शोधि है और तप, संयम आदि के द्वारा आठ प्रकार के कर्म-मलों का प्रक्षालन करना भाव-शोधि है।

द्रव्य-शोधि बाह्य-शोधि होती है।[3]

श्लोक ४२

१९–(सुसंवुडो पंचहिं संवरेहिं क, वोसट्ठकाओ सुइचत्तदेहो ग) :

'सुसंवुडो'—जिसके प्राणातिपात आदि आश्रव-द्वार रुक गए हों, उसे 'सुसंवृत' कहा जाता है।[4]

'पंचहिं संवरेहिं'—संवर के पाँच प्रकार ये हैं—

(१) प्राणातिपात-विरति।

(२) मृषावाद-विरति।

(३) अदत्तादान-विरति।

(४) मैथुन-विरति।

(५) परिग्रह-विरति।

'वोसट्ठकाओ'—जिसने विविध या विशिष्ट प्रकार से काया का उत्सर्ग किया हो, उसे 'व्युत्सृष्ट-काय' कहा जाता है।[5]

१–वाल्मीकीय रामायण, ५।२८।५ :
भावं न चास्याहमनुप्रदातुमलं द्विजो मंत्रमिवाद्विजाय ॥

२–बृहद् वृत्ति, पत्र ३७० :
'सोहिं' त्ति शुद्धिं निर्म्मलताम्।

३–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २११ :
दुविधा सोधी—दव्वसोधी भावसोधी य, दव्वसोधी मलिनं वस्त्रादि पानीयेन सुद्धयत्तो, भावसोधी तवसंजमादीहिं अट्ठविह-कम्ममललित्तो जीवो सोधिज्जति, अदव्वसोधी भावसोधी बाहिरियं, जं तं जलेण बाहिर-सोधी।

४–बृहद् वृत्ति, पत्र ३७१ :
सुष्ठु संवृतः—स्थगितसमस्ताश्रवद्वारः सुसंवृतः।

५–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २११ :
'वोसट्ठकाए' विविधमुत्सृष्टो विशिष्टो विशेषेण वा उत्सृष्टः कायः—शरीरम्।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ३७१ :
व्युत्सृष्टो—विविधैरुपायैर्विशेषेण वा परीषहोपसर्गसहिष्णुतालक्षणेनोत्सृष्टः—त्यक्तः कायः—शरीरमनेनेति व्युत्सृष्टकायः।

'सुदचत्तदेहो'—जो गृहीत व्रतों में दोष न लगाए— अकलुषित व्रत हो, उसे 'शुचि' कहा जाता है।[1]

जिसने देह के प्रतिकर्म (संवारने) का त्याग किया हो, उसे त्यक्त किया हो, उसे 'त्यक्त-देह' कहा जाता है।[2]

विशेष जानकारी के लिए देखिये—दसवेआलियं (भाग : २), १०।१३ का टिप्पण, संख्या ४६ ।

श्लोक ४६

२०--श्लोक ४६ :

महात्मा बुद्ध ने भी जल-स्नान को धार्मिक महत्त्व नहीं दिया। उन्होंने भी धार्मिक महत्त्व आत्म-शुद्धि को ही दिया है।

इस विषय पर मज्झिमनिकाय का निम्न प्रसंग सुन्दर प्रकाश डालता है[3]—

"उस समय सुन्दरिक भारद्वाज ब्राह्मण भगवान् के अविदूर में बैठा था। तब सुन्दरिक भारद्वाज ब्राह्मण ने भगवान् से यह कहा—

क्या आप गौतम स्नान के लिए बाहुका नदी चलेंगे ?

ब्राह्मण ! बाहुका नदी से क्या (लेना) है ? बाहुका नदी क्या करेगी ?

हे गौतम ! बाहुका नदी लोकमान्य (=लोक-सम्मत) है, बाहुका नदी बहुत जनों द्वारा पवित्र (=पुण्य) मानी जाती है। बहुत से लोग बाहुका नदी में (अपने) किए पापों को बहाते हैं।

तब भगवान् ने सुन्दरिक भारद्वाज ब्राह्मण को गाथाओं में कहा—

बाहुका, अधिकक्क, गया, और सुन्दरिका में।
सरस्वती, और प्रयाग तथा बाहुमती नदी में।
काले कर्मों वाला मूढ़ चाहे नित्य नहाए, (किन्तु) शुद्ध नहीं होगा।
क्या करेगी सुन्दरिका, क्या प्रयाग, और क्या बाहुलिका नदी ?
(वह) पापकर्मी=कृत किल्बिष दुष्ट नर को नहीं शुद्ध कर सकते।
शुद्ध (नर) के लिए सदा ही फल्गु है, शुद्ध के लिए सदा ही उपोसथ है।
शुद्ध और शुचिकर्मा के व्रत सदा ही पूरे होते रहते हैं।
ब्राह्मण ! यहीं नहा, सारे प्राणियों का क्षेम कर।
यदि तू झूठ नहीं बोलता, यदि प्राण नहीं मारता।
यदि बिना दिया नहीं लेता, (और) श्रद्धावान् मत्सर रहित है।
(तो) गया जाकर क्या करेगा, क्षुद्र जलाशय (=उदपान) भी तेरे लिए गया है।

१—(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २११ :
शुचि अनाश्रवः, अखण्डचरित्र इत्यर्थ ।
(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ३७१ :
शुचिः—अकलुषव्रतः ।

२—(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २११ :
त्यक्तदेह इव त्यक्तदेहो नाम निष्प्रतिकर्म्मशरीरः ।
(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ३७१ :
त्यक्तदेहश्च—अत्यन्तनिष्प्रतिकर्म्मतया ।

३—मज्झिमनिकाय, १।१।७, पृ० २६ ।

अध्ययन १३

चित्तसम्भूइज्जं

श्लोक १

१–निदान (नियाणं ख) :

निदान का अर्थ है—भोग-प्राप्ति के लिए किया जाने वाला संकल्प। वह आर्त्तध्यान के चार भेदों में एक है।[1] विशेष जानकारी के लिए देखिए—दशाश्रुतस्कन्ध, दशा १०।

श्लोक ६

२–मृत-गंगा (मयंग ग) :

चूर्णि और सर्वार्थसिद्धि के अनुसार गंगा प्रति वर्ष नए-नए मार्ग से समुद्र में जाती है। जो मार्ग चिर-त्यक्त हो—बहते-बहते गंगा ने जो मार्ग छोड़ दिया हो—उसे 'मृत-गंगा' कहा जाता है।[2]

श्लोक १३

३–प्रासाद (आवसहा ख) :

चूर्णि के अनुसार उच्चोदय, मधु, कर्क, मध्य और ब्रह्मा—इन पांच भवनों के अतिरिक्त भवन चक्रवर्ती जहां चाहता है उसी स्थान में वर्द्धकि रत्न द्वारा तैयार हो जाते हैं।[3]

श्लोक १४

४–नाट्य (नट्टेहि क) :

शान्त्याचार्य ने नट्ट की व्याख्या नाट्य और नृत्य इन दोनों रूपों में की है। जिसमें बत्तीस पात्र हों, वह 'नाट्य' होता है। जिसमें अंगहार (अंगविक्षेप) की प्रधानता हो, वह 'नृत्य' होता है।[4]

भारतीय नृत्य के तीन विभाग हैं—नाट्य, नृत्य और नृत्त।

नाट्य—किसी रस-मूलक अवस्था के अनुकरण को नाट्य कहते हैं। नाट्य के आठ रस होते हैं—शृङ्गार, हास्य, करुण, वीर, रौद्र, भयानक, वीभत्स और अद्भुत। नवाँ शान्तरस नाट्य में नगण्य है। रस का आधार है भाव। भाव के उद्दीप्त होने पर रस की सृष्टि होती है।

१–तत्त्वार्थसूत्र, ९।३३।

२–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २१५ :

मतगंगा—हेट्ठाभूमीए गंगा, अण्णमण्णेहिं मग्गेहिं जेण पुव्वं वोढूणं पच्छा ण वहति सा मतगंगा भण्णति।

(ख) सर्वार्थसिद्धि, पृ० २६१ :

गंगा विशति पाथोधिं, वर्षे वर्षे पराध्वना।
वाहस्तत्रचिरात् त्यक्तो, मृतगंगेति कथ्यते॥

३–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २१६ :

आवसंति तेष्वित्यावसहा, ते च नान्यभवनप्रकारा, सव्वे ते, कामकमा नाम यत्र मम रोचते तत्र भवन्ति।

४–बृहद् वृत्ति, पत्र ३८६ :

'णट्टेहिं' ति द्वात्रिंशत्पात्रोपलक्षितैर्नाट्यैर्नृत्यैर्वा—विविधाङ्गहारादिस्वरूपैः।

नाट्य की अवस्थानुकृति चार प्रकार के साधनों से होती है—

(१) आंगिक—हाथ-पैर का संचालन। इसके अन्तर्गत मुद्राएं हैं।

(२) वाचिक—स्वर, वाणी तथा भाव का अनुकरण।

(३) आहार्य—वेषभूषा का अनुकरण।

(४) सात्त्विक—सात्त्विक भावों का अनुकरण।

सात्त्विक भाव आठ हैं—

(१) स्तम्भ—अंग-संचालन शक्ति का लोप होना।

(२) प्रलय—संज्ञा का लोप होना।

(३) रोमांच—रोंगटे खड़े होना।

(४) स्वेद—पसीना छलकना।

(५) वैवर्ण्य—रंग बदलना।

(६) वेपथु—कंपकपी।

(७) अश्रु—आँसू बहाना।

(८) वैस्वर्य—स्वर विकृत होना।

नृत्य—भाव-मूलक अवस्थानुकृति को 'नृत्य' कहते हैं। भाव मन के विकार को कहते हैं। भाव दो प्रकार के होते हैं—

(१) स्थायीभाव।

(२) संचारीभाव।

स्थायीभाव हृदय पर देर तक अंकित रहते हैं। संचारीभाव तरंगों की भाँति थोड़े काल के लिए उठते हैं। इनकी संख्या तेंतीस कही गई है।

नृत्त—लय तथा तालमूलक अवस्थानुकृति को 'नृत्त' कहते हैं। नृत्य और नृत्त मूक होते हैं। इनमें वाचिक साधन का प्रयोग नहीं होता। मूक नृत्य की भाषा अनुभाव (सात्त्विक भाव) और मुद्राएं हैं। नृत्य द्वारा भाव-प्रदर्शन होता है और नृत्त द्वारा लय और ताल-प्रदर्शन होता है।

श्लोक ३४-३५

५—श्लोक ३४-३५ :

'अणुत्तर'—अनुत्तर शब्द दो श्लोकों में चार बार प्रयुक्त है। चौतीसवें श्लोक में वह काम-भोग और नरक का विशेषण है। पैंतीसवें में वह संयम और सिद्धि-गति का विशेषण है। अनुत्तर का अर्थ है—प्रकृष्ट। ब्रह्मदत्त के काम-भोग प्रकृष्ट थे, इसलिए वह मर कर प्रकृष्ट (सर्वोत्कृष्ट दुःखमय) नरक में उत्पन्न हुआ।

स्थानांग में बताया गया है कि ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती मर कर सातवीं पृथ्वी अप्रतिष्ठान नामक नरक में गया।[1]

चित्र का संयम प्रकृष्ट था, इसलिए वह प्रकृष्ट (सर्वोत्कृष्ट सुखमय) सिद्धि-गति में गया।

१—स्थानांग, २।४।११२ :

दो चक्कवट्टी अपरिचत्तकामभोगा कालमासे कालं किच्चा अहेसत्तमाए पुढवीए अपइट्ठाणे णरए नेरइयत्ताए उववन्ना तंजहा—सुभूमे चेव बंभदत्ते चेव।

अध्ययन १४

उसुयारिज्जं

श्लोक १

१–(एगविमाणवासी ख) :

ये पद्मगुल्म नामक एक ही विमान में रहते थे, इसलिए इन्हें 'एक विमानवासी' कहा गया है।[1]

श्लोक २

२–अपने···पुण्य कर्म बाकी थे (मकम्मसेसेण क) :

पुनर्जन्म के अनेक कारणों में यह भी एक प्रमुख कारण है। अपने किए हुए कर्म जब तक शेष रहते हैं तब तक जीव को जन्म लेना ही पड़ता है। इन छहों व्यक्तियों के पुण्य- कर्म शेष थे, इसलिए इनका जन्म उत्तम कुल में हुआ।

श्लोक ४

३–(बहिंविहार ख, कामगुणे विरत्ता घ) :

'बहिविहार'—बहिर्विहार अर्थात् मोक्ष। मोक्ष संसार के बहार है—उससे भिन्न है, इसलिए उसे 'बहिर्-विहार' कहा जाता है।[2]

'कामगणे विरत्ता'—शब्द आदि इन्द्रियों के विषय कामनाओं को उत्तेजित करते हैं, इसलिए वे 'काम-गुण' कहलाते हैं।

दूसरे श्लोक मे बताया है कि वे छहों व्यक्ति जिनेन्द्र-मार्ग की शरण में चले गए। यहाँ 'कामगुणे-विरत्ता' की व्याख्या में बताया गया है कि काम-गुणों की विरक्ति का अर्थ ही जिनेन्द्र-मार्ग की शरण में जाना है।[3]

श्लोक ८-६

ब्राह्मण[4] और स्मृति शास्त्र[5] का यह अभिमत रहा है कि जो द्विज वेदों को पढे बिना, पुत्रों को उत्पन्न किए बिना और यज्ञ किए

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ३९६ :

एकस्मिन् पद्मगुल्मनाम्नि विमाने वसन्तीत्येवंशीला एकविमानवासिनः।

२–वही, पत्र ३९७ :

बहिः संसाराद्विहारः—स्थानं बहिर्विहारः, स चार्थान्मोक्षः।

३–वही, पत्र ३९७ :

अत्र कामगुणविरक्तिरेव जिनेन्द्रमार्गप्रतिपत्तिः।

४–ऐतरेय ब्राह्मण, ७।३ :

नापुत्रस्य लोकोऽस्ति।

५–मनुस्मृति, ६।३६, ३७ :

अधीत्य विधिवद्वेदान्पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत्॥
अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा सुतान्।
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन्व्रजत्यधः॥

बिना मोक्ष की इच्छा करता है, वह नरक में जाता है, इसलिए वह विधिवत् वेदों को पढ़ कर, पुत्रों को उत्पन्न कर और यज्ञ कर मोक्ष में मन लगाए—संन्यासी बने। पुरोहित ने इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

बौधायन धर्मसूत्र के अनुसार ब्राह्मण जन्म से ही तीन ऋणों—पितृ-ऋण, ऋषि-ऋण और देव-ऋण—को साथ लिए उत्पन्न होता है। इन ऋणों को चुकाने के लिए यज्ञ, याग आदि पूर्वक गृहस्थाश्रम का आश्रय करने वाला मनुष्य ब्रह्मलोक को पहुँचता है और ब्रह्मचर्य या संन्यास की प्रशंसा करने वाले लोग धूल में मिल जाते हैं।[1]

स्मृतिकारों के अनुसार पितृ-ऋण सन्तानोत्पत्ति के द्वारा, ऋषि-ऋण स्वाध्याय के द्वारा और देव-ऋण यज्ञ आदि के द्वारा चुकाया जा सकता है।

महाभारत (शान्तिपर्व, मोक्ष धर्म, अध्याय २७७) में एक ब्राह्मण और उसके मेधावी नामक पुत्र का संवाद है। पिता मोक्ष-धर्म में अकुशल और पुत्र मोक्ष-धर्म में विचक्षण था। उसने पिता से पूछा—"तात! मनुष्यों की आयु तीव्र गति से बीती जा रही है। इस बात को अच्छी तरह जानने वाला धीर पुरुष किस धर्म का अनुष्ठान करे? पिता! यह सब क्रमशः और यथार्थ रूप से आप मुझे बताइए, जिससे मैं भी उस धर्म का आचरण कर सकूँ?"

पिता ने कहा—"बेटा! द्विज को चाहिए कि वह पहले ब्रह्मचर्य-आश्रम में रह कर वेदों का अध्ययन कर ले, फिर पितरों का उद्धार करने के लिए गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करके पुत्रोत्पादन की इच्छा करे। वहाँ विधि-पूर्वक अग्नियों की स्थापना करके उनमें विधिवत् अग्निहोत्र करे। इस प्रकार यज्ञ-कर्म का सम्पादन करके वानप्रस्थ आश्रम में प्रविष्ट हो मुनिवृत्ति से रहने की इच्छा करे।"

स्मृति ग्रन्थों में ब्राह्मणों को भोजन कराने का पुनः-पुनः विधान मिलता है।[2]

श्लोक ८

४–(मुणीण क) :

टीकाकारों के अनुसार यह कुमारों का विशेषण है। यहाँ भावी मुनि को 'मुनि' कहा गया है।[3] किन्तु जिन मुनियों को देख कर कुमारों को प्रव्रजित होने की प्रेरणा मिली, उनके तपोमार्ग का व्याघात करना पुरोहित के लिए इष्ट था, इसलिए मुनि शब्द के द्वारा उन मुनियों का भी ग्रहण किया जा सकता है।

श्लोक ६

५–अरण्यवासी (आरण्णगा घ) :

ऐतरेय, कौषीतकी और तैत्तरीय—ये शास्त्र 'आरण्यक' कहलाते हैं। इनमें वर्णित विषयों के अध्ययन के लिए अरण्य का एकान्तवास आवश्यक था, इसलिए इन्हें आरण्यक कहा गया। अरण्य में रह कर साधना करने वाले मुनि भी आरण्यक कहलाते थे।

श्लोक १७

६–श्लोक १७ :

'धन के लिए धर्म नहीं करना चाहिए और धन से धर्म नहीं होता'—इस जैन-दृष्टि से परिचित कुमारों ने जो कहा वह धर्म के उद्देश्य के सर्वथा अनुरूप है। प्रस्तुत श्लोक का प्रतिपाद्य यह है कि धर्म के क्षेत्र में आत्मा के पवित्र आचरणों का ही महत्त्व है; धन, स्वजन और

१–बौधायन धर्मसूत्र, २।६।११।३३-३४।
२–मनुस्मृति, ३।१३१, १८६, १८७।
३–बृहद् वृत्ति, पत्र ३९८ :
'मुन्योः' भावतः प्रतिपन्नमुनिभावयोः।

काम-गुणों का कोई महत्त्व नहीं है। शान्त्याचार्य ने इस विचार के समर्थन में 'वेदेप्युक्तं' लिख कर एक वाक्य उद्धृत किया है—'न सन्तान के द्वारा, न धन के द्वारा किन्तु अकेले त्याग से ही लोगों ने अमृतत्व को प्राप्त किया है'—'न प्रजया न धनेन त्यागेनैकेनामृतत्वमानशुः।'[1]

'गुणोह'—चूर्णि में गुणौघ से अठारह हजार शीलांग[2] और टीका में सम्यक्-दर्शन आदि गुण-समूह का ग्रहण किया गया है।[3]

'बहिंविहारा'—इसका द्रव्य और भाव—दोनों दृष्टियों से अर्थ किया गया है। द्रव्य-दृष्टि से बहिर्विहार का अर्थ है 'नगर आदि के बाहर रहने वाला' और भाव-दृष्टि से इसका अर्थ है 'प्रतिबन्ध रहित विहार करने वाला'।[4]

श्लोक १८

७—श्लोक १८ :

धर्माचरण का मूल आत्मा है। पुरोहित ने सोचा यदि मेरे पुत्र आत्मा के विषय में संदिग्ध हो जाएँ तो इनमें मुनि बनने की प्रेरणा स्वतः समाप्त हो जाएगी। उसने इस भावना से आत्मा के नास्तित्व का दृष्टिकोण उपस्थित करते हुए जो कहा, वही इस श्लोक में है।[5]

'असंतो'—तत्त्व की उत्पत्ति के विषय में दो प्रमुख विचारधाराएँ हैं—

(१) सद्वाद।

(२) असद्वाद।

असद्वादियों के अभिमत में आत्मा उत्पत्ति से पूर्व असत् होती है। कारण-सामग्री मिलने पर वह उत्पन्न होती है, नष्ट होती है, अवस्थित नहीं रहती—जन्म जन्मान्तर को प्राप्त नहीं होती।[6]

श्लोक १९

८—श्लोक १९ :

नास्तिकों के अभिमत में सर्वथा असत् की उत्पत्ति होती ही नहीं। उत्पन्न वही होता है, जो पहले भी और पीछे भी हो। जो पहले

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ४०१।

२—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २२५ :
गुणोहो—अट्ठारस सीलंगसहस्साणि।

३—बृहद् वृत्ति, पत्र ४०१ :
गुणौघं—सम्यग्दर्शनादिगुणसमूहम्।

४—वही, पत्र ४०१ :
बहिः—ग्रामनगरादिभ्यो बहिर्वर्त्तित्वाद् द्रव्यतो भावतश्च क्वचिदप्रतिबद्धत्वाद् विहारः—विहरणं ययोस्तौ बहिर्विहारौ अप्रतिबद्धविहाराविति यावत्।

५—वही, पत्र ४०१ :
आत्मास्तित्वमूलत्वात्सकलधर्मानुष्ठानस्य तन्निराकरणायाह पुरोहितः।

६—वही, पत्र ४०१-४०२ :
'सत्त्वाः' प्राणिनः 'समुच्छंति' त्ति संमूर्च्छन्ति, पूर्वमसन्त एव शरीराकारपरिणतभूतसमुदायत उत्पद्यन्ते, तथा चाहुः—
"पृथिव्यापस्तेजोवायुरिति तत्त्वानि, एतेभ्यश्चैतन्यं, मदाङ्गेभ्यो मदशक्तिवत्," तथा 'नासइ' त्ति नश्यन्ति—अभ्रपटलवत्प्रलयमुपयान्ति 'णावचिट्ठे' त्ति न पुनः अवतिष्ठन्ते—शरीरनाशे सति न क्षणमप्यवस्थितिभाजो भवन्ति।

भी नहीं होता, पीछे भी नहीं होता, वह बीच में भी नहीं होता।[1] आत्मा जन्म से पहले भी होती है और मृत्यु के पश्चात् भी होती है, इसलिए वर्तमान शरीर में उसकी उत्पत्ति को असत् की उत्पत्ति नहीं कहा जा सकता।

नास्तिक लोग आत्मा को इसलिए असत् मानते हैं कि जन्म से पहले उसका कोई अस्तित्व नहीं होता और उसको अनवस्थित इसलिए मानते हैं कि मृत्यु के पश्चात् उसका अस्तित्व नहीं रहता। इसका कारण यह है कि आत्मा न तो शरीर में प्रवेश करते समय दीखती है और न उससे बिछुड़ते समय भी। पिता के इस प्रतिपादन का प्रतिवाद कुमारों ने इन शब्दों में किया—आत्मा नहीं दीखती इतने मात्र से उसका नास्तित्व नहीं माना जा सकता। इन्द्रियों के द्वारा मूर्त-द्रव्य ही जाने जा सकते हैं। आत्मा अमूर्त है इसलिए वह इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य नहीं है, किन्तु मन के द्वारा ग्राह्य है। प्रस्तुत श्लोक में—आत्मा है, वह नित्य है, उसके कर्म का बन्ध होता है और बन्ध के कारण वह बार-बार जन्म और मृत्यु का वरण करती है—आस्तिकता के आधारभूत चार तथ्यों का निरूपण है।

'नो इंदिय'—चूर्णि में 'नो-इंदिय' को एक शब्द माना है इसलिए उसके अनुसार इसका अर्थ मन होता है[2] और टीका में 'नो' और 'इन्द्रिय' को पृथक्-पृथक् माना है।[3]

'अज्झत्थ'—अध्यात्म का अर्थ है 'आत्मा में होने वाला'। मिथ्यात्व आदि आत्मा के आन्तरिक दोष हैं इसलिए उन्हें 'अध्यात्म' कहा जाता है।[4] सूत्रकृतांग में क्रोध आदि को 'अध्यात्म दोष' कहा है।[5]

श्लोक २१

६–अमोघा (अमोहाहिं ग) :

अमोघ का शाब्दिक-अर्थ अव्यर्थ—अचूक है। किन्तु यहाँ अमोघा का प्रयोग रात्रि के अर्थ में किया गया है। महाभारत में इसका अर्थ दिन रात किया है।[6] चूर्णिकार ने एक प्रश्न खड़ा किया है—अमोघा का अर्थ रात ही क्यों? क्या कोई दिन में नहीं मरता? इसके समाधान में उन्होंने बताया है—यह लोक-प्रसिद्ध बात है कि मृत्यु को रात कहा जाता है, जैसे दिन की समाप्ति रात में होती है वैसे ही जीवन

१–(क) आचारांग, १।४।४।४६ :

जस्सनत्थि पुरापच्छा मज्झे तस्स कओ सिया।

(ख) माध्यमिककारिका, ११।२ :

नैवाग्रं नावरं यस्य, तस्य मध्यं कुतो भवेत्।

(ग) माण्डूक्यकारिका, २।६ :

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमाने पि तत् तथा।

२ उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २२६ :

नोइन्द्रियं मनः।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र ४०२ :

'नो' इति प्रतिषेधे इन्द्रियैः—श्रोत्रादिभिर्ग्राह्यः—संवेद्य इन्द्रियग्राह्यः।

४–वही, पत्र ४०२ :

अध्यात्मशब्देन आत्मस्था मिथ्यात्वादय इहोच्यन्ते।

५–सूत्रकृतांग, १।६।२६ :

कोहं च माणं च तहेव मायं, लोभं चउत्थं अज्झत्थदोसा।

६–महाभारत, शान्तिपर्व, २७७।९।

की समाप्ति मृत्यु में होती है।[1] काल-प्रवाह के अर्थ में उत्तराध्ययन में रात्रि शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों में मिलता है।[2] जहाँ रात होती है, वहाँ दिवस अवश्य होता है, इसलिए शान्त्याचार्य ने अमोघा से दिवस का भी ग्रहण किया है।[3]

श्लोक २६

१०–(पच्छा [ग], गमिस्सामो [ग]):

'पच्छा'—पश्चात् शब्द के द्वारा पुरोहित ने आश्रम व्यवस्था की ओर पुत्रों का ध्यान खींचने का यत्न किया है।[4] इसकी व्याख्या के शब्द सहसा कालिदास के इस श्लोक की याद दिला देते हैं—

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां, यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां, योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥ (रघुवंश, १।८)

पिता के कहने का अभिप्राय था कि हम लोग बुढ़ापे में मुनि बनेंगे।

'गमिस्सामो'—यह अनियत-वास का संकेत है। चूर्णिकार ने यहाँ गाँव में एक रात और नगर में पाँच रात रहने का उल्लेख किया है।[5]

श्लोक २८

११–भोग हमारे लिए अप्राप्त नहीं है—हम उन्हें अनेक बार प्राप्त कर चुके हैं (अणागयं नेव य अत्थि किंचि [ग]):

आत्मा को पुनर्-भवि मानने वालों के लिए यह एक बहुत बड़ा तथ्य है। लोग कहते हैं—यह दीक्षित हो रहा है, इसने संसार में आकर क्या देखा है, क्या पाया है? इसे अभी घर में रहना चाहिए। इस बात का उत्तर कुमारों ने आत्मवाद के आधार पर दिया है। उन्होंने कहा—अनादि काल से संसार में परिभ्रमण करने वाली आत्मा के लिए अप्राप्त कुछ भी नहीं है, उसे सब कुछ प्राप्त हो चुका है। पदार्थ की प्राप्ति के लिए उसे घर में रहना आवश्यक नहीं है।[6]

जहाँ मृत्यु न पहुँच पाए वैसा कोई स्थान नहीं है—यह इसका दूसरा अर्थ है।[7]

१–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २२७ :
अमोहा रयणी, किं दिवसतो ण मरति ?, उच्यते—लोकसिद्धं यन्मरतीति (रतिं) वाहरंती य, अहवा सो न दिवसे विणा (रत्तीए) तेण रत्ती भण्णति, अवच्छिन्नत्वाद्वा णियमा रत्ती, कहं मारेती ?

२–उत्तराध्ययन, १०।१; १४।२३-२५।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र ४०३ :
अमोघा 'रयणि' त्ति रजन्य उक्ताः, दिवसाविनाभावित्वात्तासां दिवसाश्च।

४–वही, पत्र ४०४ :
'पश्चाद्' यौवनावस्थोत्तरकालं, कोऽर्थः ?– पश्चिमे वयसि।

५–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २३७ :
गमिस्सामो, अणियत्तवासी गामे एगरातीओ णगरे पंचरातीयो।

६–बृहद् वृत्ति, पत्र ४०४ :
'अनागतम्' अप्राप्तं नैव चास्ति किंचिदिति मनोरममपि विषयसौख्यादि अनादौ संसारे सर्वस्य प्राप्तपूर्वत्वात्ततो न तदर्थमपि गृहावस्थानं युक्तमिति भावः।

७–वही, पत्र ४०४ :
यद्वाऽनागतं यत्र मृत्योरागतिर्नास्ति तन्न किञ्चित्स्थानमस्ति।

श्लोक २६

१२–हे वाशिष्ठि ! (वासिट्ठि ! [ख]) :

गोत्र से सम्बोधित करना गौरव सूचक समझा जाता था, इसलिए पुरोहित ने अपनी पत्नी को 'वाशिष्ठि' कह कर सम्बोधित किया।[१] देखिए— दसवेआलियं (भाग : २), ७।१७ का टिप्पण, संख्या २१ ।

श्लोक ४१

१३–विषय-वासना से दूर (निरामिसा [ग]) :

इस श्लोक में 'निर' के साथ और ४६ वें श्लोक में 'स' और 'निर्' के साथ तथा स्वतंत्र रूप में और ४६ वें श्लोक में 'निर' के साथ—इस प्रकार आमिष शब्द का छह बार प्रयोग हुआ है। ४६ वें श्लोक के प्रथम दो चरणों में वह मांस के अर्थ[२] में तथा शेष स्थानों में आसक्ति के हेतुभूत काम-भोग या धन के अर्थ[३] में प्रयुक्त हुआ है।

बौद्ध-साहित्य में भी धन या भोग के अर्थ में आमिष शब्द का प्रयोग हुआ है।[४] देखिए— उत्तरज्झयणं, ८।५ का टिप्पण, संख्या ६ ।

१४–(परिग्गहारम्भनियत्तदोसा [घ]) :

जो आरम्भ और परिग्रह के दोष से निवृत्त हो गई हो उस स्त्री का विशेषण 'परिग्रहारम्भदोषनिवृत्ता' होता है। शान्त्याचार्य ने वैकल्पिक रूप में 'परिग्रहारम्भनिवृत्ता' और 'अदोषा' ये दो विशेषण भी माने हैं।[५]

श्लोक ४४

१५–वायु की तरह अप्रतिबद्ध विहार करते हैं (लहुभूयविहारिणो [ख]) :

वायु की तरह विहार करने वाला अथवा संयम पूर्वक विहार करने वाला 'लघुभूत विहारी' कहलाता है।[६] मिलाइए— दसवेआलियं (भाग : २), ३।१० का टिप्पण, संख्या ४६ ।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ४०५ :
वाशिष्ठि !—वशिष्टगोत्रोद्भवे, गौरवख्यापनार्थं गोत्राभिधानम् ।

२–वही, पत्र ४१० :
सहामिषेण—पिशितरूपेण वर्त्तत इति सामिषः ।

३–(क) वही, पत्र ४०९ :
निष्क्रान्ता आमिषाद्—गृद्धिहेतोरभिलषितविषयादेः ।

(ख) वही, पत्र ४१० :
'आमिषम्' अभिष्वंगहेतुं धनधान्यादि ।

४–मज्झिमनिकाय, २।२।१०, पृ० २७८ ।

५–बृहद् वृत्ति, पत्र ४०९ :
निवृत्ता—उपरता परिग्रहारम्भदोषनिवृत्ता, यद्वा परिग्रहारम्भनिवृत्ता अतएव चादोषाः—विकृतिविरहिता ।

६–वही, पत्र ४१० :
लघुः—वायुस्तद्वद्भूतं—भवनमेषां लघुभूताः, कोऽर्थः ?—वायूपमाः तथाविधाः सन्तो विहरन्तीत्येवंशीलाः लघुभूतविहारिणः—अप्रतिबद्धविहारिण इत्यर्थः, यद्वा लघुभूतः—संयमस्तेन विहर्तुं शीलं येषां ते तथाविधाः ।

श्लोक ५०

१६–घोर पराक्रम करने लगे (घोरपरक्कमा घ) :

तप के अतिशय की ऋद्धि सात प्रकार की बतलाई गई है। उसका छट्ठा प्रकार 'घोर पराक्रम' है। ज्वर, सन्निपात आदि महा-भयंकर रोगों के होने पर भी जो अनशन, काया-क्लेश आदि में मन्द नहीं होते और भयानक श्मशान, पहाड़ की गुफा आदि में रहने के अभ्यासी हैं वे 'घोर तप' हैं। ये ही जब तप और योग को उत्तरोत्तर बढ़ाते जाते हैं तब 'घोर पराक्रम' कहे जाते हैं। यह व्याख्या तत्त्वार्थ राजवार्तिक में प्राप्त होती है।[1] पचासवें श्लोक के अन्तिम दो चरणों के अनुसार यह उपयुक्त प्रतीत होती है। 'तवं पगिज्झऽहक्खायं घोरं घोरपरक्कमा' इसमें घोरता की भावना निहित है और 'घोर परक्कमा' उसी का अग्रिम रूप है। चूर्णि और टीका में इनका केवल शाब्दिक अर्थ मिलता है।

श्लोक ५२

१७–(सासणे विगयमोहाणं क, पुव्विं भावणभाविया ख) :

इन ६ जीवों ने पूर्व जन्म में जैन-शासन में दीक्षित होकर अनित्य, अशरण आदि भावनाओं के द्वारा अपनी आत्मा को भावित किया था। इन चरणों में उसी तथ्य की सूचना दी गई है।[2]

१–तत्त्वार्थ राजवार्तिक, ३।३६, पृ० २०३।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र ४१२।

अध्ययन १५

सभिक्खुयं

श्लोक १

१–(मोणं [क], सहिए [ख]) :

'मोणं'—मुनि-व्रत का। जो त्रिकालावस्थित जगत् को जानता है, उसे 'मुनि' कहा जाता है। मुनि के भाव या कर्म को मौन कहा जाता है। मौन का बहुप्रचलित अर्थ वचन-गुप्ति है। किन्तु यहाँ उसका अर्थ —समग्र मुनि-धर्म है।[1]

'सहिए'—इसका शब्दार्थ है—युक्त।

हमने इसका अर्थ 'जो दूसरे भिक्षुओं के साथ रहता है' किया है।

चूर्णि :– ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप से युक्त।[2]

बृहद् वृत्ति :– (१) सम्यग्-दर्शन आदि से युक्त, (२) दूसरे साधुओं से युक्त।[3] इसका दूसरा संस्कृत रूप 'स्वहित' भी किया गया है।[4]

सुखबोधा—अन्य साधुओं से समेत।

आचार्य नेमिचन्द्र यहाँ एकल-विहार का प्रतिषेध बतलाते हैं। साधुओं को एकाकी विहार नहीं करना चाहिए—इस तथ्य की पुष्टि में उन्होंने एक गाथा उद्धृत की है—

> एगागियस्स दोसा, इत्थी साणे तहेव पडिणीए।
> भिक्खविसोहिमहव्वय, तम्हा सेविज्ज दोगमणं॥

अर्थात् एकाकी रहने से—

(१) स्त्री प्रसंग की सम्भावना रहती है।

(२) कुत्ते आदि का भय रहता है।

(३) शत्रु का भय रहता है।

(४) भिक्षा की विशुद्धि नहीं रहती।

(५) महाव्रतों के पालन में जागरूकता नहीं रहती ; अतः एकाकी न रह कर साथ में रहना चाहिए।[5]

१–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २३४ :
मन्यते त्रिकालवस्थितं जगदिति मुनिः, मुनिभावो मौनम्।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ४१४ :
मुनेः कर्म मौनं तच्च सम्यक्चारित्रम्।

(ग) सुखबोधा, पत्र २१४ :
मौनं श्रामण्यम्।

२–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २३४ :
ज्ञानदर्शनचारित्रतपोभिः।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र ४१४ :
'सहितः' सम्यग्दर्शनादिभिरन्यसाधुभिर्वेति गम्यते।

४–वही, पत्र ४१४ :
स्वस्मै हितः स्वहितो वा सदनुष्ठानकरणतः।

५–सुखबोधा, पत्र २१४।

इसी अध्ययन के पाँचवें श्लोक के चौथे चरण में 'सहित' शब्द प्रयुक्त हुआ है। वहाँ शान्त्याचार्य ने उसके दो अर्थ किए हैं—

(१) सम्यग्-ज्ञान और क्रिया से युक्त।

(२) हित-युक्त।[1]

पन्द्रहवें श्लोक में भी इसका प्रयोग हुआ है।

२—जो वासना के संकल्प का छेदन करता है (नियाणछिन्ने [ख]) :

निदान का अर्थ है—किसी व्रतानुष्ठान की फल-प्राप्ति के लिए मोहाविष्ट-संकल्प, जैसे—'मेरे साधुपन का यदि फल हो तो मैं देव बनूँ, धनी बनूँ आदि-आदि।' साधक के लिए ऐसा करना निषिद्ध है।

शान्त्याचार्य ने निदान के दो अर्थ किए हैं—

(१) विषयों की आसक्ति।

(२) प्राणातिपात आदि कर्म-बन्धन का कारण।[2]

संयुक्त पद 'नियाणछिन्न' का अर्थ 'अप्रमत्त-संयत' किया गया है।[3]

३—परिचय का (संथवं [ग]) :

इसके दो अर्थ हैं—स्तुति और परिचय। चूर्णिकार और टीकाकारों को यहाँ 'परिचय' अर्थ ही अभीष्ट है।

चूर्णिकार के अनुसार संस्तव दो प्रकार का है—

(१) संवास-संस्तव।

(२) वचन-संस्तव।

असाधु व्यक्तियों के साथ रहना 'संवास-संस्तव' है और असाधु व्यक्तियों के साथ आलाप-संलाप करना 'वचन-संस्तव' है।[4]

अध्ययन २१ श्लोक २१ में संस्तव के प्रकारान्तर से दो भेद किए हैं—

(१) पूर्व-संस्तव।

(२) पश्चात्-संस्तव।

पितृ-पक्ष का सम्बन्ध 'पूर्व-संस्तव' और ससुर-पक्ष, मित्र आदि का सम्बन्ध 'पश्चात्-संस्तव' कहलाता है।[5]

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ४१६ :
सहितः सम्यग्ज्ञानक्रियाभ्यां, यद्वा सह हितेन—आयतिपथ्येन अर्थादनुष्ठानेन वर्त्तत इति सहितः।

२—वही, पत्र ४१४ :
निदानं—विषयाभिष्वंगात्मकं, यदि वा···निदानं—प्राणातिपातादिकर्मबन्धकारणम्।

३—वही, पत्र ४१४ :
छिन्ननिदानो वा अप्रमत्तसंयत इत्यर्थः।

४—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २३४-२३५ :
संस्तवो द्विविधः—संवाससंस्तवः वचनसंस्तवश्च, अशोभनैः सह संवासः, वचनसंस्तवश्च तेषामेव।

५—बृहद् वृत्ति, पत्र ४८७ :
संस्तवश्च पूर्वपश्चात्संस्तवरूपो।

४–जो काम-भोगों की अभिलाषा को छोड़ चुका है (अकामकामे ग) :

चूर्णिकार ने इसका अर्थ 'मोक्ष की कामना करने वाला' किया है।[1] शान्त्याचार्य के अनुसार काम दो प्रकार के होते हैं—इच्छाकाम और मदनकाम। जो इन दोनों की कामना नहीं करता, वह 'अकामकाम' है।[2]

विकल्प में उन्होंने चूर्णिकार का अनुसरण किया है।[3]

श्लोक २

५–(राओवरयं चरेज्ज क, वेयवियाऽऽयरक्खिए ख, पन्ने ग) :

'राओवरयं चरेज्ज'—राओवरयं के संस्कृत रूप दो हो सकते हैं—

(१) रागोपरतम्।

(२) रात्रि-उपरतम्।

प्रथम रूप के अनुसार शान्त्याचार्य ने इस वाक्य का अर्थ 'राग (मैथुन) से निवृत्त होकर विहरण करे' और दूसरे रूप के अनुसार 'रात्रि-भोजन से निवृत्त होकर विहरण करे' किया है।[4]

चूर्णिकार ने 'रात्रि-उपरत' के अनुसार इसका अर्थ 'रात्रि में भोजन न करे, रात्रि में गमन आदि क्रियाएँ न करे' किया है।[5]

नेमिचन्द्र ने शान्त्याचार्य के प्रथम अर्थ का अनुसरण किया है।[6]

'वेयवियाऽऽयरक्खिए'—शान्त्याचार्य ने मुख्य रूप से इन दो शब्दों को एक मान कर इसका अर्थ 'सिद्धान्तों को जान कर उनके द्वारा आत्मा की रक्षा करने वाला' किया है और गौण रूप में इन दोनों शब्दों को अलग-अलग मान कर 'वेयविय' का अर्थ 'ज्ञानवान्' और 'आयरक्खिए' का अर्थ 'सम्यग्-दर्शन आदि के लाभ की रक्षा करने वाला' किया है।[7]

'पन्ने'— चूर्णिकार ने इसका अर्थ 'आय और उपाय की विधि को जानने वाला' किया है।

१–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २३५ :

अकामः—अपगतकामः, कामो द्विविधः—इच्छाकामो मदनकामश्च, अपगतकामस्य या इच्छा तां कामयति, सा च कामेच्छा मोक्षं कामयतीति, प्रार्थयतीत्यर्थः।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र ४१४ :

कामान्—इच्छाकाममदनकामभेदान् कामयते—प्रार्थयते यः स कामकामो, न तथा अकामकामः।

३–वही, पत्र ४१४ :

यद्वाऽकामो—मोक्षस्तत्र सकलाभिलाषनिवृत्तेस्तं कामयते यः स तथा।

४–वही, पत्र ४१४ :

रागः—अभिष्वंगः उपरतो—निवृत्तो यस्मिंस्तद्रागोपरतं यथा भवत्येवं 'चरेद्' विहरेत, क्तान्तस्य परनिपातः प्राग्वत्, अनेन मैथुननिवृत्तिरुक्ता, रागाविनाभावित्वान्मैथुनस्य, यद्वाऽऽवृत्तिन्यायेन 'रातोवरयं'ति रात्र्युपरतं 'चरेत्' भक्षयेदित्यनेनैव रात्रि-भोजननिवृत्तिरप्युक्ता।

५–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २३५ :

रात्रावुपरतं चरेत्, किमुक्तं भवति ?, रात्रौ न भुंक्ते, रात्रौ गतादिक्रियां न कुर्यात्।

६–सुखबोधा, पत्र २१५।

७–बृहद् वृत्ति, पत्र ४१४ :

वेद्यतेऽनेन तत्त्वमिति वेदः—सिद्धान्तस्तस्य वेदनं वित् तया आत्मा रक्षितो—दुर्गतिपतनात्त्रातोऽनेनेति वेदविदात्मरक्षितः, यद्वा वेदं वेत्तीति वेदवित्, तथा रक्षिता आयाः—सम्यग्दर्शनादिलाभा येनेति रक्षितायः।

प्राज्ञ वह होता है जो आय—सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र के लाभ तथा उत्सर्ग, अपवाद, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि की विधियों को जानने वाला हो ।[1]

शान्त्याचार्य और नेमिचन्द्र ने इसका अर्थ 'हेय और उपादेय को जानने वाला' किया है ।[2]

श्लोक ३

६–जो आत्मा का संवरण किए रहता है (आयगुत्ते [ख]) :

शान्त्याचार्य ने इसका मुख्य अर्थ 'शारीरिक अवयवों को नियंत्रित रखने वाला' किया है और गौण रूप में 'आत्म-रक्षक' किया है । उन्होंने एक प्राचीन श्लोक को उद्धृत करते हुए आत्मा का अर्थ 'शरीर' किया है ।[3] नेमिचन्द्र ने 'आत्म-रक्षक' अर्थ मान्य किया है ।[4]

श्लोक ७

७–श्लोक ७ :

इस श्लोक में दस विद्याओं का उल्लेख किया गया है । उनमें दण्ड-विद्या, वास्तु-विद्या और स्वर को छोड़ कर शेष सात विद्याएँ निमित्त के अंग हैं । अंग, स्वर, लक्षण, व्यंजन, स्वप्न, छिन्न, भौम और अन्तरिक्ष—ये अष्टांग निमित्त हैं ।[5] यहाँ व्यंजन का उल्लेख नहीं है ।

वस्त्र, शस्त्र, काठ, आसन, शयन आदि में चूहे, शस्त्र, काँटे आदि से हुए छेद के द्वारा शुभाशुभ का ज्ञान करना छिन्न-निमित्त है ।

स्वरों को सुन कर शुभाशुभ का ज्ञान कर लेना स्वर-निमित्त है ।

भूकम्प आदि के द्वारा अथवा अकाल में होने वाले पुष्प-फल, स्थिर-वस्तुओं के चलन एवं प्रतिमाओं के बोलने से भूमि का स्निग्ध-रूक्ष आदि अवस्थाओं के द्वारा शुभाशुभ का ज्ञान करना अथवा भूमिगत धन आदि द्रव्यों का ज्ञान करना भौम-निमित्त है ।

आकाश में होने वाले गन्धर्व-नगर, दिग्दाह, धूली की वृष्टि आदि के द्वारा अथवा ग्रहों के युद्ध तथा उदय-अस्त के द्वारा शुभाशुभ का ज्ञान करना अंतरिक्ष-निमित्त है ।

१–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २३५ :
'प्राज्ञो'—विदुः, संपन्नो आयोपायविधिज्ञो भवेत्, उत्सर्गापवादद्रव्याद्यापदादिको य उपायः ।

२–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र ४१४ :
'प्राज्ञः' हेयोपादेयबुद्धिमान् ।
(ख) सुखबोधा, पत्र २१५ :
'प्रज्ञ.' हेयोपादेयबुद्धिमान् ।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र ४१५ :
'आत्मा' शरीरम्, आत्मशब्दस्य शरीरवचनस्यापि दर्शनात्, उक्तं हि—
धर्मधृत्यग्निधीन्द्वर्कत्वक्तस्वस्वार्थदेहिषु ।
शीलानिलमनोयत्नैकवीर्येष्वात्मनः स्मृतिः ॥
इति, तेन गुप्त आत्मगुप्तो—न यतस्ततः करणचरणादिविक्षेपकृत्, यद्वा गुप्तो—रक्षितोऽसंयमस्थानेभ्य आत्मा येन स तथा ।

४–सुखबोधा, पत्र २१५ :
'आयगुत्ते' त्ति गुप्तः—रक्षितोऽसंयमस्थानेभ्य आत्मा येन स ।

५–(क) अंगविज्जा, १।२ :
अंगं सरो लक्खणं च वंजणं सुविणो तहा ।
छिण्ण भोम्मंऽतलिक्खाए, एमेए अट्ठ आहिया ॥
(ख) मूलाचार, पिण्डशुद्धि अधिकार, ३० ।
(ग) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, ३।३६ ।

स्वप्न के द्वारा शुभाशुभ का ज्ञान करना स्वप्न-निमित्त है।

शरीर के लक्षणों के द्वारा शुभाशुभ का ज्ञान करना लक्षण-निमित्त है।

शिरः-स्फुरणा आदि के द्वारा शुभाशुभ का ज्ञान करना अंगविकार-निमित्त है।

यष्टि के विभिन्न रूपों के द्वारा शुभाशुभ का ज्ञान करना यष्टि-विद्या है।

प्रासाद आदि आवासों के शुभाशुभ लक्षणों का ज्ञान करना वास्तु-विद्या है।

षड्ज, ऋषभ आदि सात स्वरों के शुभाशुभ निरूपण का अभ्यास करना स्वर-विचय है।

चूर्णि में जो व्याख्या 'स्वर' की है, वह बृहद् वृत्ति में 'स्वर-विचय' की और जो 'स्वर-विचय' की है, वह 'स्वर' की है।[1] निमित्त या विद्या के द्वारा भिक्षा प्राप्त करना 'उत्पादना' नामक एक दोष है, इसलिए कहा है कि विद्याओं के द्वारा जो जीवन नहीं चलाता, वह भिक्षु है।

श्लोक ८

८–(मन्तं क, धूमणेत्तसिणाणं ख):

'मन्तं'—जो देवाधिष्ठित होता है, जिसके आदि में 'ॐ' और अन्त में 'स्वाहा' होता है, जो 'ह्रीं' आदि वर्ण-विन्यासात्मक होता है, उसे 'मंत्र' कहा जाता है।[2]

'धूमणेत्त'—चूर्णिकार ने धूमनेत्र को संयुक्त माना है।[3]

टीकाकारों ने दोनों शब्दों को अलग-अलग मान कर अर्थ किया है। उनके अनुसार 'धूम' का अर्थ है—मनःशिलादि धूप से शरीर

१–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २३६ :

पुरुषः दुंदुभिस्वरो काकस्वरो वा एवमादिस्वरव्याकरणम्।

(ख) वही, पृ० २३६ :

ऋषभगान्धारादीनां स्वराणां विजयः अभ्यासः।

(ग) बृहद् वृत्ति, पत्र ४१६ :

'सरं' ति स्वरस्वरूपाभिधानं,

"सज्जं रवइ मयूरो, कुक्कुडो रिसभं सरं।
हंसो रवति गंधारं, मज्झिमं तु गवेलए॥"

इत्यादि, तथा—

"सज्जेण लहइ विर्त्ति, कयं च न विणस्सई।
गावो पुत्ता य मित्ता य, नारीणं होइ वल्लहो॥
रिसहेण उ ईसरियं, सेणावच्चं धणाणि य।"

(घ) वही, पत्र ४१७ :

स्वरः—षोदकीशिवादिरुतरूपस्तस्य विषयः—तत्सम्बन्धी शुभाशुभनिरूपणाभ्यासः, यथा—

गतिस्तारा स्वरो वामः, पोदक्याः शुभदः स्मृतः।
विपरीतः प्रवेशे तु, स एवाभीष्टदायकः॥

२–बृहद् वृत्ति, पत्र ४१७ :

'मन्त्रम्' ॐकारादिस्वाहापर्यन्तो ह्रींकारादिवर्णविन्यासात्मकस्तम्।

३–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २३७ :

वमनविरेचनधूमनेत्रस्नात्रादिकान्।

को धूपित करना और 'नेत्त' का अर्थ है—नेत्र-संस्कारक अञ्जन आदि से नेत्र आँजना।[1] परन्तु यह अर्थ संगत नहीं लगता। यहाँ मूल शब्द है 'धूमणेत्त'। इसका अर्थ है—धूएँ की नली से धुँआ लेना। विस्तार के लिए देखिए—दसवेआलियं (भाग : २), ३।६ के 'धूवणेत्ति' का टिप्पण, संख्या ४३।

'सिणाणं'—इसका अर्थ 'पुत्र-प्राप्ति के लिए मंत्र-औषधि आदि से संस्कारित जल से स्नान करना' किया गया है।[2]

श्लोक ६

६—(खत्तियगणउग्ग क, भोइय ख) :

'खत्तिय'—शान्त्याचार्य ने क्षत्रियों को 'हैहय' आदि वंशों में उत्पन्न माना है।[3] पुराणों के अनुसार हैहय 'ऐलवंश' या 'चन्द्रवंश' की एक शाखा है।[4] भगवान् ऋषभ ने मनुष्यों के चार वर्ग स्थापित किए थे—

(१) उग्र—आरक्षक।

(२) भोग—गुरुस्थानीय।

(३) राजन्य—समवयस्क या मित्रस्थानीय।

(४) क्षत्रिय—शेष सारी प्रजा।[5]

इस व्यवस्था से लगता है कि कुछ लोगों को छोड़ कर अधिकांश जन क्षत्रिय ही थे। इसीलिए श्रमण-परम्परा में क्षत्रियों का महत्त्व रहा।

'गण'—भगवान् महावीर के काल में अनेक शक्तिशाली गणतंत्र थे। वृज्जी-गणतन्त्र में ६ लिच्छवि और ६ मल्लकी—ये काशी-कोशल के १८ गणराज्य सम्मिलित थे। शान्त्याचार्य ने मल्ल शब्द के द्वारा इसी गणराज्य की ओर संकेत किया है।[6]

'उग्ग'—आरक्षक।[7]

१—(क) बृहद् वृत्ति, पत्र ४१७ :

धूमं—मनःशिलादिसम्बन्धि नेत्तंति—नेत्रशब्देन नेत्रसंस्कारकमिह समीरांजनादि परिगृह्यते।

(ख) सुखबोधा, पत्र २१७।

२—बृहद् वृत्ति, पत्र ४१७ :

स्नानम्—अपत्यार्थं मन्त्रौषधिसंस्कृतजलाभिषेचनम्।

३—वही, पत्र ४१८ :

क्षत्रियाः—हैहेयाद्यन्वयजाः।

४—(क) Ancient Indian Historical Tradition, pp. 85-87.

(ख) भारतीय इतिहास की रूपरेखा, जिल्द १, पृ० १२७-१२९।

५—आवश्यक निर्युक्ति, १९८ :

उग्गा भोगा रायण खत्तिया संग हो भवे चउहा।

आरक्खगुरुवयंसा सेसा जे खत्तिया ते उ॥

६—बृहद् वृत्ति, पत्र ४१८ :

गणाः—मल्लादिसमूहाः।

७—वही, पत्र ४१८ :

उग्राः—आरक्षकादयः।

'भोइय'—भोगिक का अर्थ 'सामन्त' है। शान्त्याचार्य ने इसका अर्थ 'राजमान्य प्रधानपुरुष' किया है।[1] नेमिचन्द्र के अनुसार इसका अर्थ है—विशिष्ट वेशभूषा का भोग करने वाले अमात्य आदि।[2]

श्लोक १४

१०—अति भयंकर (भयभेरवा [ग]) :

शान्त्याचार्य ने भय-भैरव का अर्थ 'अत्यन्त भय उत्पन्न करने वाला' किया है।[3]

अध्ययन २१ (श्लोक १६) में भी 'भयभेरवा' का अर्थ भीषण-भीषणतम है।[4] दशवैकालिक की वृत्ति मे हरिभद्र सूरि ने इसका यही अर्थ किया है।[5]

मज्झिम-निकाय में एक 'भय-भैरव' नाम का सुत्तन्त है।[6] जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति की वृत्ति में आकस्मिक भय को 'भय' और सिंह आदि से उत्पन्न होने वाले भय को 'भैरव' कहा है।[7]

श्लोक १५

११—(खेयाणुगए [ख], अविहेडए [घ]) :

'खेयाणुगए'—चूर्णिकार ने खेद का अर्थ 'विनय, वैयावृत्त्य और स्वाध्याय आदि प्रवृत्तियो मे होने वाला कष्ट' किया है।[8]

शान्त्याचार्य के अनुसार इसका अर्थ 'संयम' है। खेदानुगत अर्थात् जो संयमी है।[9]

'अविहेडए'—चूर्णिकार के अनुसार जो वचन और काया से दूसरों का अपवाद नहीं करता वह 'अविहेटक' होता है।[10]

शान्त्याचार्य ने 'अविहेटक' का अर्थ 'अबाधक' किया है।[11] देखिए—दसवेआलियं (भाग : २), १०।१० टिप्पण, संख्या ३८।

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ४१८ :
भोगिकाः—नृपतिमान्याः प्रधानपुरुषाः।

२—सुखबोधा, पत्र २१७ :
'भोगिकाः' विशिष्टनेपथ्यादिभोगवन्तोऽमात्यादयः।

३—बृहद् वृत्ति, पत्र ४१९ :
भयेन भैरवाः—अत्यन्तसाध्वसोत्पादका भयभैरवाः।

४—वही, पत्र ४८६ :
'भयभैरवाः' भयोत्पादकत्वेन भीषणाः।

५—दशवैकालिक, हारिभद्रीय वृत्ति, पत्र २६७ :
'भैरवभया' अत्यन्तरौद्रभयजनकाः।

६—मज्झिम निकाय, १।१।४, पृ० १३।

७—जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, वृत्ति, पत्र १४३ :
'भयं' आकस्मिकं 'भैरवं' सिंहादिसमुत्थम्।

८—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २३८ :
खेदेन अनुगतो, खेदो विनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायादिषु।

९—बृहद् वृत्ति, पत्र ४१९ :
खेदयत्यनेन कर्मेति खेदः—संयमस्तेनानुगतो—युक्तः खेदानुगतः।

१०—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २३८ :
विहेडनं प्रपंचनं, वाचा कायेन च परापवाद इत्यर्थः, अनपवादी।

११—बृहद् वृत्ति, पत्र ४२० :
'अविहेठकः' न कस्यचिद्विबाधकः।

श्लोक १६

१२—(अमित्ते क, लहुअप्प ग) :

'अमित्ते'—जिसके मित्र नहीं होते। यहाँ मित्र शब्द का प्रयोग आसक्ति के हेतुभूत वयस्य के अर्थ में हुआ है।[1] मुनि को सबके साथ मैत्री रखनी चाहिए किन्तु राग-वृद्धि करने वाले को मित्र नहीं बनाना चाहिए, यही इसका हृदय है।

'लहुअप्प'—थोड़ा और निस्सार। 'लहु' का अर्थ है—निस्सार और 'अल्प' का अर्थ है—थोड़ा।[2]

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ४२० :
अविद्यमानानि मित्राणि—अभिष्वङ्गहेतवो वयस्या यस्यासावमित्रः।

२—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २३८ :
लघूनि—निःसाराणि निष्पावादीनि तान्यपि अल्पानि भक्षते।

अध्ययन १६
ब्रम्भचेरसमाहिठाणं

सूत्र ३

१–सूत्र ३ :

इस अध्ययन में ब्रह्मचर्य के साधनों का निरूपण किया गया है। साधन-शुद्धि के बिना साध्य की सिद्धि नहीं होती। जो ब्रह्मचारी साधनों के प्रति उपेक्षा भाव रखता है, उसका ब्रह्मचर्य नष्ट हो जाता है। उसके नाश की संभावनाएँ इस प्रकार हैं—

(१) शंका, (२) कांक्षा, (३) विचिकित्सा, (४) भेद, (५) उन्माद, (६) दीर्घकालीनरोग—आतंक, (७) धर्म-भ्रंश।

(१) शंका— ब्रह्मचर्य का पालन करने में कोई लाभ है या नहीं ? तीर्थङ्करों ने अब्रह्मचर्य का निषेध किया है या नहीं ? अब्रह्मचर्य के सेवन में जो दोष बतलाए गए हैं, वे यथार्थ हैं या नहीं — इस प्रकार अनेक संशय उत्पन्न होते हैं।

(२) कांक्षा— शंका के पश्चात् उत्पन्न होने वाली अब्रह्मचर्य की अभिलाषा।

(३) विचिकित्सा—चित्त-विप्लव। जब अभिलाषा तीव्र हो जाती है तब मन समूचे धर्म के प्रति विद्रोह करने लग जाता है ; धर्माचरण के प्रति अनेक सन्देह उठ खड़े होते हैं, इसी अवस्था का नाम विचिकित्सा है।

(४) भेद— जब विचिकित्सा का भाव पुष्ट हो जाता है, तब उसके चारित्र का भेद—विनाश होता है।

(५,६) उन्माद और दीर्घकालीनरोग (आतंक) कोई मनुष्य ब्रह्मचारी तभी रह सकता है जब वह ब्रह्मचर्य में अब्रह्मचर्य की अपेक्षा अधिक आनन्द माने। यदि कोई हठपूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन करता है किन्तु इन्द्रिय और मन को आत्मवश रखने में आनन्द की अनुभूति नहीं पाता तो वह उन्माद या रोगातंक से अभिभूत हो जाता है।

(७) धर्म-भ्रंश—इन पूर्व अवस्थाओं से जो नहीं बच पाता वह धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। इसीलिए कहा गया है कि ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य के विघातक निमित्तों से बचे। मूलतः उसके मन में ब्रह्मचर्य के प्रति संदेह ही उत्पन्न नहीं होना चाहिए। उसके होने पर अगली अवस्थाओं से बचना कठिन हो जाता है। ये अवस्थाएं किसी व्यक्ति के एक-दो और किसी के अधिक भी हो जाती हैं।

मिलाइए—दशवैकालिक, ८।५१,५२।

सूत्र ४

२–केवल स्त्रियों के बीच में कथा न करे (नो इत्थीणं कहं) :

टीकाकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—(१) केवल स्त्रियों में कथा न करे तथा (२) स्त्रियों के रूप, जाति आदि की कथा न करे।[1]
मिलाइए—दशवैकालिक, ८।५२ ; स्थानांग, ९।६६३ ; समवायांग, ९।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ४२४ :
नो स्त्रीणामेकाकिनीनामिति गम्यते, 'कथा' वाक्यप्रबन्धरूपा, यदि वा स्त्रीणां कथा,—"कर्णाटी सुरतोपचारचतुरा लाटी विदग्धप्रिया" इत्यादिका, अथवा जातिकुलरूपनेपथ्यभेदाच्चतुर्धा स्त्रीकथा, तत्र जातिर्ब्राह्मण्यादिः कुलम्—उग्रादि रूपं—महाराष्ट्रिकादि संस्थानं—नेपथ्यं—तत्तद्देशप्रसिद्धम्।

सूत्र ६

३—सूत्र ६ :

मिलाइए—दशवैकालिक, ८।५७ ।

सूत्र ७

४—मिट्टी की दीवार···पक्की दीवार (कुड्ड ··भित्त) :

शान्त्याचार्य ने 'कुड्य' का अर्थ खड़िया मिट्टी से बनी हुई भीत,[1] नेमिचन्द्र ने पत्थरों से रचित भीत[2] और चूर्णिकार ने पक्की ईंटों से बनी हुई भीत किया है ।[3]

शान्त्याचार्य और नेमिचन्द्र ने 'भित्ति' का अर्थ 'पक्की ईंटों से बनी भीत'[4] और चूर्णिकार ने 'केतुक' आदि किया है ।[5]

शब्द कोशों के निर्माण-काल में ये दोनों शब्द पर्यायवाची माने जाते रहे हैं ।[6]

लगता है कि 'भित्ति' 'कुड्य' का ही एक प्रकार है । उसके प्रकारों की चर्चा प्राचीन ग्रन्थों में प्राप्त होती है ।

कुड्य का अर्थ है—भीत । वह अनेक प्रकार की होती थी । जैसे—

(१) लिपी हुई भीत ।

(२) बिना लिपी हुई भीत ।

(३) चेलिम कुड्य—वस्त्र की भीत या पर्दा ।

(४) फलकमय कुड्य—लकड़ी के तख्तों से बनी हुई भीत ।

(५) फलकपासित कुड्य—जिसके केवल पार्श्व में तख्ते लगे हों और अन्दर गारे आदि का काम हो ।

(६) मट्ठ—रगड़ कर चिकनी की हुई दीवार ।

(७) चित्त—चित्र युक्त भित्ति ।

(८) कडित—चटाई से बनी हुई दीवार ।

(९) तणकुड्ड—तृण से बनी हुई दीवार आदि आदि ।[7]

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ४२५ :
कुड्यं—खटिकाविरचितम् ।

२—सुखबोधा, पत्र २२१ :
कुड्यं लेष्टुकाविरचितम् ।

३—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २४२ :
पक्केष्टकादि कुड्यम् ।

४—(क) बृहद् वृत्ति, पत्र ४२५ :
भित्तिः—पक्केष्टकाविरचिता ।
(ख) सुखबोधा, पत्र २२१ ।

५—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २४२ :
केतुगादि भित्ती ।

६—अभिधान चिन्तामणि, ४।६९ ।

७—अंगविज्जा, भूमिका, पृ० ५८-५९ ।

सूत्र ६

५—प्रणीत (पणीयं) :

जिससे घृत, तैल आदि की बूंदें टपकती हों अथवा जो धातु वृद्धिकारक हो, उसे 'प्रणीत' कहा जाता है।[1]

मिलाइए—दशवैकालिक, ८।५६।

श्लोक १३

६—श्लोक १३ :

मिलाइए—दशवैकालिक, ८।५६।

१—(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २४२-२४३ :
प्रणीतं—गलत्स्नेहं तैलघृतादिभिः।
(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ४२६ :
'प्रणीतं' गलद्बिन्दु, उपलक्षणत्वादन्यमप्यत्यन्तधातूद्रेककारिणम्।

अध्ययन १७

पावसमणिज्जं

श्लोक ७

१–प्रमार्जन किए बिना (तथा देखे बिना) (अप्पमज्जियं ग) :

'प्रमार्जन' और 'प्रतिलेखन' ये दोनों सम्बन्धित कार्य हैं, इसलिए जहाँ प्रमार्जन का विधान हो वहाँ प्रतिलेखन का विधान स्वयं समझ लेना चाहिए।[1]

श्लोक ८

२–(दवदवस्स चरई क) :

मिलाइए—दशवैकालिक, ५।१।१४।

श्लोक ९,१०

३–श्लोक ९,१० :

देखिए—उत्तराध्ययन, २६।२६,३०।

श्लोक १०

४–जो गुरु का तिरस्कार करता है (गुरुपरिभावए ग) :

जो गुरु के साथ विवाद करता है अथवा गुरु के द्वारा किसी कार्य के लिए प्रेरित किए जाने पर 'आप ही यह कार्य करें, आप ही ने तो हमें ऐसा सिखाया था और आज आप ही इसमें दोष निकालते हैं—अतः यह आपका ही दोष है, हमारा नहीं'—इस प्रकार असभ्य वचनों से जो उन्हें अपमानित करता है, उसे 'गुरुपरिभावक' कहा जाता है।[2]

श्लोक ११

५–भक्त-पान आदि का संविभाग न करने वाला (असंविभागी ग) :

जो गुरु, ग्लान, बाल आदि साधुओं को उचित अशन-पान आदि देता है, वह 'संविभागी' होता है और जो केवल अपने आत्म-पोषण का ही ध्यान रखता है, वह 'असंविभागी' होता है।[3] देखिए—दशवैकालिक, ९।२।२२।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ४३४ :

'अप्रमृज्य' रजोहरणादिनाऽसंशोध्य उपलक्षणत्वाच्चाप्रत्युपेक्ष्य च।

२–वही, पत्र ४३४ :

गुरुपरिभावकः·······किमुक्तं भवति ?—असम्यक्प्रत्युपेक्षमाणोऽन्यद्वा वितथमाचरन् गुरुभिश्चोदितस्तानेव विवदतेऽभिभवति वाऽसभ्यवचनैः, यथा—स्वयमेव प्रत्युपेक्षध्वं, युष्माभिरेव वयमित्थं शिक्षितास्ततो युष्माकमेवैष दोष इत्यादि।

३–वही, पत्र ४३४ :

संविभजति—गुरुग्लानबालादिभ्य उचितमशनादि यच्छतीत्येवंशीलः संविभागी न तथा य आत्मपोषकस्त्वेव सोऽसंविभागी।

श्लोक १२

६—जो कदाग्रह और कलह में (वुग्गहे कलहे ग) :

चूर्णि की भाषा में सामान्य लड़ाई को 'विग्रह' और वाचिक लड़ाई को 'कलह' कहा जाता है।[1]

बृहद् वृत्ति के शब्दों में दण्ड आदि की घात से जनित विरोध को 'व्युद्ग्रह' और वचन आदि से उत्पन्न विरोध को 'कलह' कहा जाता है।[2]

श्लोक १३

७–जो जहाँ कहीं बैठ जाता है (जत्थ तत्थ निसीयई ख) :

इस श्लोक में आसन का विवेक है। 'जहाँ कहीं बैठ जाता है'—इसका आशय है कि सजीव और सरजस्क स्थान पर बैठ जाता है। उपयुक्त स्थान का विवेक दशवैकालिक में है।[3] चूर्णिकार ने इसका संकेत भी दिया है।[4]

श्लोक १४

८—बिछौने (या सोने) के विषय में जो असावधान होता है (संथारए अणाउत्ते ग) :

इसकी व्याख्या में शान्त्याचार्य ने ओघनिर्युक्ति की एक गाथा का उल्लेख किया है।[5] देखिए—उत्तरज्झयणं, २६।११ का टिप्पण।

श्लोक १५

९–विकृतियों का (विगईओ क) :

विकृति और रस ये दोनों समान अर्थवाची हैं। यहां दूध, दही आदि को 'विकृति' कहा है और अध्याय ३० श्लोक २६ में दूध, दही, घी आदि को 'रस' कहा है।[6] विकृति के नौ प्रकार बतलाए गए हैं—

(१) दूध (२) दही, (३) नवनीत, (४) घृत, (५) तैल, (६) गुड़, (७) मधु, (८) मद्य और (९) मांस।[7]

१—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २४९ :
विग्रहः सामान्येन कलहो वाचिकः।

२—बृहद् वृत्ति पत्र, ४३५ :
'वुग्गहे' त्ति व्युद्ग्रहे दण्डादिघातजनिते विरोधे 'कलहे' तस्मिन्नेव वाचिके।

३—दशवैकालिक, ८।५ :
सुद्धपुढवीए न निसिए, ससरक्खम्मि य आसणे।
पमज्जित्तु निसीएज्जा, जाइत्ता जस्स ओग्गहं॥

४—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २४९ :
सुद्धपुढवीए ण निसीएज्जत्ति एतन्न स्मरति।

५—बृहद् वृत्ति, पत्र ४३५ :
'संस्तारके' फलककम्बलादौ, सुप्त इति शेषः, 'अनायुक्तः' "कुक्कुडिपायपसारण आयामेउं पुणोवि आउंटे" इत्याद्यागमार्थानुपयुक्तः।

६—उत्तराध्ययन, ३०।२६ :
खीरदहिसप्पिमाई, पणीयं पाणभोयणं।
परिवज्जणं रसाणं तु, भणियं रसविवज्जणं॥

७—स्थानांग, ९।६७४।

स्थानांग में तैल, घृत, वसा (चर्बी) और नवनीत को स्नेह-विकृति भी कहा गया है ।[1]

इसी सूत्र में मधु, मद्य, मांस और नवनीत को महाविकृति भी कहा गया है ।[2]

दूध, दही आदि विकार बढ़ाने वाले हैं, इसलिए इनका नाम विकृति है ।[3]

विकृति खाने से मोह का उदय होता है ।[4] इसलिए बार-बार उन्हें नहीं खाना चाहिए । देखिए—दशवैकालिक, चूलिका २।७ ।

मद्य और मांस ये दो विकृतियाँ तथा वसा—ये अभक्ष्य हैं । मधु और नवनीत को कुछ आचार्य अभक्ष्य मानते हैं और कुछ आचार्य विशेष स्थिति में उन्हें भक्ष्य भी मानते हैं । यहाँ उन्हीं विकृतियों के बार-बार खाने का निषेध किया गया है, जो भक्ष्य हैं ।

श्लोक १७

१०–(आयरियपरिच्चाई क, परपासण्ड ख, गाणंगणिए ग) :

'आयरियपरिच्चाई'—जो आचार्य को छोड़ देता है । आचार्य मुझे तपस्या में प्रेरित करते हैं तथा आनीत आहार को बाल, ग्लान आदि साधुओं में वितरित कर देते हैं—इन या इन जैसे दूसरे कारणों से जो आचार्य को छोड़ देता है, वह……।[5]

'परपासण्ड'—यहाँ 'पर पासण्ड' का अर्थ सौगत आदि किया गया है ।[6] देखिए—उत्तरज्झयणं, २३।१६ का टिप्पण ।

'गाणंगणिए' भगवान् महावीर की यह व्यवस्था थी कि जो निर्ग्रन्थ जिस गण में दीक्षित हो, वह जीवन-पर्यन्त उसी में रहे । विशेष प्रयोजनवश (अध्ययन आदि के लिए) वह गुरु की आज्ञा से साधर्मिक गणों में जा सकता है ।[7] परन्तु दूसरे गण में संक्रमण करने के पश्चात् छह मास तक वह पुनः परिवर्तन नहीं कर सकता ।[8] छह मास के पश्चात् यदि वह परिवर्तन करना चाहे तो कर सकता है । जो मुनि विशेष कारण के बिना छह मास के भीतर ही परिवर्तन करता है, उसे 'गाणंगणिक' कहते हैं ।[9]

श्लोक १८

११–दूसरों के घर में व्यापृत होता है—उनका कार्य करता है (परगेहंसि वावडे ख) :

चूर्णि में पर गृह-व्यापार का अर्थ 'निमित्त आदि का व्यापार' किया गया है ।[10]

१–स्थानांग, ४।१।२७४ :

चत्तारि सिणेहविगतीओ पन्नत्ताओ तंजहा—तेल्लं घयं वसा णवणीतं।

२ वही, पत्र ४।१।२७४ :

चत्तारि महाविगतीओ पन्नत्ताओ तंजहा—महुं, मंसं, मज्जं, णवणीतं ।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र ४३५ :

विकृतिहेतुत्वाद्विकृती ।

४–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २४६ :

विकृतिं—अशोभनं गतिं नयन्तीति विगतयः, ताश्च क्षीरविगत्यादयः, विगतीमाहारयतः मोहोद्भवो भवति ।

५–बृहद् वृत्ति, पत्र ४३५ :

'आचार्यपरित्यागी' ते हि तपःकर्मणि विषीदन्तमुद्यमयन्ति, आनीतमपि चान्नादि बालग्लानादिभ्यो दापयन्त्यतोऽतीवाहारलौल्यात्तत्परित्यजनशीलः ।

६–वही, पत्र ४३५ :

परान्—अन्यान् पाषण्डान्—सौगतप्रभृतीन् 'मृद्वी शय्या प्रातरुत्थाय पेया' इत्यादिकादभिप्रायतोऽत्यन्तमाहारप्रसक्तान् ।

७ स्थानांग, ७।५४१ ।

८–दशाश्रुतस्कन्ध, २ ।

९–बृहद् वृत्ति, पत्र ४३५-४३६ :

स्वेच्छाप्रवृत्ततया 'गाणंगणिए' त्ति गणाद्गणं षण्मासाभ्यन्तर एव संक्रामतीति गाणंगणिक इत्यागमिकी परिभाषा ।

१०–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २४६-२४७ :

परगृहेषु व्यापारं करोति, निमित्तादीनां च व्यापारं करोति ।

बृहद् वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'जो मुनि आहारार्थी होकर गृहस्थों को आसभाव दिखा कर उनके कार्यों में व्यापृत होता है' किया है।[1]

श्लोक १९

१२–सामुदायिक-भिक्षा (सामुदाणियं ख) :

सामुदायिक-भिक्षा की व्याख्या का एक अंश दशवैकालिक ५।१।२५ में तथा दूसरा अंश इस श्लोक में मिलता है। उसके अनुसार ऊँच और नीच सभी कुलों से भिक्षा लेना सामुदायिक-भिक्षा है। इसके अनुसार ज्ञात और अज्ञात सभी कुलों से भिक्षा लेना सामुदायिक-भिक्षा है।

शान्त्याचार्य ने 'सामुदायिक' के दो अर्थ किए हैं—

(१) अनेक घरों से लाई हुई भिक्षा।

(२) अज्ञात उंछ—अपरिचित घरों से लाई हुइ भिक्षा।[2]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ४३६ :

'परगेहे' अन्यवेश्मनि 'वावरे' त्ति व्याप्रियते—पिण्डार्थी सन् गृहिणामासभावं दर्शयन् स्वतस्तत्कृत्यानि कुरुते।

२–वही, पत्र ४३६ :

समुदानानि—भिक्षास्तेषां समूहः सामुदानिकम्,...'बहुगृहसम्बन्धिनं भिक्षासमूहमज्ञातोञ्छमितियावत्।

अध्ययन १८

संजइज्जं

श्लोक ४

१–(अणगारे तवोधणे [ख]) :

इस पद्य में केवल 'अनगार तपोधन' है, अनगार का नामोल्लेख नहीं हुआ है। किन्तु इसी प्रकरण में निर्युक्तिकार ने अनगार का नाम 'गद्दभालि' बताया है।[1]

श्लोक २०

२–(रट्ठं [क], खत्तिए [ख]) :

'रट्ठं'—राष्ट्र का अर्थ 'ग्राम, नगर आदि का समुदाय'[2] या 'मण्डल'[3] है। प्राचीन काल में 'राष्ट्र' शब्द आज जितने व्यापक अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता था। वर्तमान में राष्ट्र का अर्थ है—पूर्ण प्रभुसत्ता प्राप्त देश। प्राचीन काल में एक ही देश में अनेक राष्ट्र होते थे।[4] उनकी तुलना आज के प्रमण्डलों या राज्य-सरकारों से की जा सकती है। मनुस्मृति में राष्ट्र का प्रयोग कुछ व्यापक अर्थ में भी हुआ लगता है।[5]

'खत्तिए'—यहाँ क्षत्रिय का नाम नहीं बताया गया है। परम्परा के अनुसार यह व्यक्ति पूर्वजन्म में वैमानिक देव था। वहाँ से च्युत होकर क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुआ। उचित बाह्य निमित्त मिलने पर वह विरक्त हुआ और राष्ट्र को छोड़ कर प्रव्रजित हो गया। जनपद विहार करता हुआ संजय-मुनि से मिला और अनेक जिज्ञासाएँ की।[6]

१–उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ३९७ :
अह केसरमुज्जाणे नामेणं गद्दभालि अणगारो।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र ४४२ :
'राष्ट्रं' ग्रामनगरादिसमुदायम्

३–वही, पत्र ४११ :
'राष्ट्रं' मण्डलम्।

४–राजप्रश्नीय वृत्ति, पृ० २७६ :
राज्यम्—राष्ट्रादिसमुदायात्मकम्। राष्ट्रं च जनपदं च।

५–मनुस्मृति, १०।६१ :
यत्र त्वेते परिध्वंसाज्जायन्ते वर्णदूषकाः।
राष्ट्रिकैः सह तद्राष्ट्रं क्षिप्रमेव विनश्यति॥

६–बृहद् वृत्ति, पत्र ४४२ :
'क्षत्रियः' क्षत्रजातिरनिर्दिष्टनामा परिभाषते, संजयमुनिमित्युपस्कारः, स हि पूर्वजन्मनि वैमानिक आसीत्, ततश्च्युतः क्षत्रियकुलेऽजनि, तत्र च कुतश्चित्तथाविधनिमित्ततः स्मृतपूर्वजन्मा तत एव चोत्पन्नवैराग्यः प्रव्रज्यां गृहीतवान्, गृहीतप्रव्रज्यश्च विहरन् संजयमुनिं दृष्ट्वा तद्विमर्शार्थमिदमुक्तवान्।

श्लोक २१,२२

३–श्लोक २१,२२ :

यहाँ क्षत्रिय ने पाँच प्रश्न पूछे—

(१) तुम्हारा नाम क्या है ?

(२) तुम्हारा गोत्र क्या है ?

(३) तुम माहन किसलिए बने हो ?

(४) तुम आचार्यों की प्रतिचर्या कैसे करते हो ?

(५) तुम विनीत कैसे कहलाते हो ?

संजय मुनि ने इनके उत्तर में कहा—

(१) मेरा नाम संजय है।

(२) मेरा गोत्र गौतम है ।

(३) मैं मुक्ति के लिए माहन बना हूँ ।

(४) मैं अपने आचार्य गर्दभालि के आदेशानुसार प्रतिचर्या करता हूँ।

(५) मैं आचार्य के उपदेश का आसेवन करता हूँ, इसलिए 'विनीत' कहलाता हूँ।

२२ वें श्लोक में नाम और गोत्र के उत्तर स्पष्ट शब्दों में हैं। शेष तीन उत्तर 'गद्दभाली ममायरिया, विज्जाचरणपारगा' इन दो चरणों मे समाहित किए गए हैं।[1]

श्लोक २३

४–श्लोक २३ :

इस श्लोक में चार वादों—(१) क्रियावाद, (२) अक्रियावाद, (३) अज्ञानवाद और (४) विनयवाद—के विषय में राजर्षि से पूछा गया है। भगवान् महावीर के समसामयिक सभी वादों का यह वर्गीकरण है। सूत्रकृतांग में इन्हें 'चार समवसरण' कहा गया है।[2] इनके तीन सौ तिरसठ भेद होते हैं।

(१) क्रियावाद : क्रियावादी आत्मा का अस्तित्व मानते है किन्तु वह व्यापक है या अव्यापक, कर्त्ता है या अकर्त्ता, क्रियावान् है या अक्रियावान्, मूर्त्त है या अमूर्त्त—इसमें उन्हें विप्रतिपत्ति रहती है।

(२) अक्रियावाद : जो आत्मा के अस्तित्व को नहीं मानते वे अक्रियावादी हैं। दूसरे शब्दों में इन्हें नास्तिक भी कहा जा सकता है । कई अक्रियावादी आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, परन्तु "आत्मा का शरीर के साथ एकत्व है या अन्यत्व यह नहीं कहा जा सकता"—ऐसा मानते हैं। कई अक्रियावादी आत्मा की उत्पत्ति के अनन्तर ही उसका प्रलय मानते हैं।

(३) अज्ञानवाद : जो अज्ञान से ही सिद्धि मानते हैं वे अज्ञानवादी हैं। इनकी मान्यता है कि कई जगत् को ब्रह्मादि विवर्त्तमय, कई प्रकृति-पुरुषात्मक, कई षड्द्रव्यात्मक, कई चतुःसत्यात्मक, कई विज्ञानमय, कई शून्यमय आदि-आदि मानते हैं। इसी प्रकार आत्मा भी नित्य, अनित्य आदि अनेक प्रकारों से जानी जाती है—इन सबके ज्ञान से क्या ? यह ज्ञान स्वर्ग-प्राप्ति के लिए अनुपयुक्त है, अकिंचित्कर है आदि-आदि।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ४४२-४४३ :

विद्याचरणपारगत्वाच्च तैस्तन्निवृत्तौ मुक्तिलक्षणं फलमुक्तं, ततस्तदर्थं माहनोऽस्मि, यथा च तदुपदेशस्तथा गुरून् प्रतिचरामि, तदुपदेशासेवनाच्च विनीतः।

२–सूत्रकृतांग, १।१२।१ ।

(४) विनयवाद : जो विनय से ही मुक्ति मानते हैं वे विनयवादी हैं, उनकी मान्यता है कि देव, दानव, राजा, तपस्वी, हाथी, घोड़ा, हरिण, गाय, भैंस, शृगाल आदि को नमस्कार करने से क्लेश का नाश होता है, विनय से ही कल्याण होता है अन्यथा नहीं।

क्रियावादियों के १८० भेद, अक्रियावादियों के ८४ भेद, वैनयिकों के ३२ भेद और अज्ञानियों के ६७ भेद मिलते हैं। इस प्रकार इन सबके ३६३ भेद होते हैं।[१]

अकलंक देव ने इन वादों के आचार्यों का भी नामोल्लेख किया है—

कौक्कल, कांठेविद्धि, कौशिक, हरि, श्मश्रुमान्, कपिल, रोमश, हारित, अश्व, मुण्ड, आश्वलायन आदि १८० क्रियावाद के आचार्य व उनके अभिमत हैं।

मरीचि, कुमार, उलूक, कपिल, गार्ग्य, व्याघ्रभूति, वाद्वलि, माठर, मौद्गल्यायन आदि ८४ अक्रियावाद के आचार्य व उनके अभिमत हैं।

साकल्य, वाष्कल, कुथुमि, सात्यमुग्रि, चारायण, काठ, माध्यन्दिनी, मौद, पैप्पलाद, बादरायण, स्विष्ठिकृत, ऐतिकायन, वसु, जैमिनी आदि ६७ अज्ञानवाद के आचार्य व उनके अभिमत हैं।

वशिष्ट, पाराशर, जतुकर्ण, वाल्मीकि, रोमहर्षिणि, सत्यदत्त, व्यास, एलापुत्र, औपमन्यव, इन्द्रदत्त, अयस्थूल आदि ३२ विनयवाद के आचार्य व उनके अभिमत हैं।[२]

इस संसार में भिन्न-भिन्न रुचि वाले लोग हैं। कई क्रियावाद में विश्वास करते हैं और कई अक्रियावाद में।[३] राजर्षि ने कहा—धीर पुरुष क्रियावाद में रुचि रखे और अक्रियावाद का वर्जन करे।[४]

जैन-दर्शन क्रियावादी है पर एकान्त-दृष्टि नहीं है, इसलिए वह सम्यग्वाद है। जिसे आत्मा आदि तत्त्वों में विश्वास होता है, वही क्रियावाद (अस्तित्ववाद) का निरूपण कर सकता है।[५]

श्लोक २८

५–(महापाणे [क], वरिससओवमे [ख], पाली महापाली [ग]) :

'महापाणे'— यह पाँचवें देवलोक का एक विमान है।[६]

'वरिससओवमे'— मनुष्य-लोक में सौ वर्ष की आयु पूर्ण आयु मानी जाती है। इसी दृष्टि से देवलोक की पूर्ण आयु की उससे तुलना की गई है। क्षत्रिय मुनि ने कहा—जैसे मनुष्य यहाँ सौ वर्ष की आयु भोगते हैं, वैसे मैंने वहाँ दिव्य सौ वर्ष की आयु का भोग किया है।[७]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ४४४ :
तत्र ताबच्छतमशीतं क्रियावादिनां, अक्रियावादिनश्च चतुरशीतिसङ्ख्याः, अज्ञानिकाः सप्तषष्टिविधाः, वैनयिकवादिनो द्वात्रिंशत्, एवं त्रिषष्ट्यधिकशतत्रयम्।

२–तत्त्वार्थ राजवार्तिक, ८।१, पृ० ५६२।

३–सूत्रकृतांग, १।१०।१७।

४–उत्तराध्ययन, १८।३३।

५–सूत्रकृतांग, १।१२।२०-२१।

६–बृहद् वृत्ति, पत्र ४४५ :
'महाप्राणे' महाप्राणनाम्नि ब्रह्मलोकविमाने।

७–वही, पत्र ४४५ :
'वरिससतोवमे'त्ति वर्षशतजीविना उपमा—दृष्टान्तो यस्यासौ वर्षशतोपमो मयूरव्यंसकादित्वात्समासः, ततोऽयमर्थः—यथेह वर्षशतजीवी इदानीं परिपूर्णायुरुच्यते, एवमहमपि तत्र परिपूर्णायुरभूवम्।

'पाली महापाली'—पाल जैसे जल को धारण करती है वैसे ही भव-स्थिति जीवन-जल को धारण करती है। इसलिए उसे 'पाली' कहा गया है।

'पाली' को पल्योपम-प्रमाण और 'महापाली' को सागरोपम-प्रमाण माना गया है।[1] यह गणनातीत (उपमेय) काल है। असंख्य-काल का एक पल्य होता है और दस कोडाकोड पल्यों का एक सागर होता है। विशद् जानकारी के लिए देखिए—अनुयोगद्वार, सूत्र १३८।

यहाँ 'महापाली' भव-स्थिति को 'वर्षशतोपमा' माना है। मनुष्य-लोक में सौ वर्ष की आयु पूर्ण आयु मानी जाती है, उसी तरह महाप्राण देवलोक में महापाली परम आयु मानी जाती है। इसीलिए पुनः महापाली को वर्षशतोपम कहा गया। पल्योपम काल को एक पल्य की उपमा से समझाया गया है। पल्य में से एक बाल सौ-सौ वर्षों के अन्तर से निकाला जाता है। इसीलिए उसे 'वर्षशतोपम' कहा हो, यह भी कल्पना की जा सकती है।[2]

श्लोक ३१

६—गृहस्थ-कार्य-सम्बन्धी मंत्रणाओं से (परमन्तेहिं ख) :

मुनि ने कहा—मैं अंगुष्ठ-विद्या आदि प्रश्नों से दूर रहता हूँ, किन्तु गृहस्थ-कार्य-सम्बन्धी मन्त्रणाओं से विशेष दूर रहता हूँ। क्योंकि वे अतिसावद्य होती हैं। अतः मेरे लिए करणीय नहीं होतीं।[3]

श्लोक ५०

७—(सिरसा सिरं घ) :

'सिरसा'—सिर दिए बिना अर्थात् जीवन निरपेक्ष हुए बिना साध्य की उपलब्धि नहीं होती। 'सिरसा'—इस शब्द में 'इष्टं साधयामि पातयामि वा शरीरम्' की प्रतिध्वनि है।

शान्त्याचार्य ने इसके साथ में 'इव' और जोड़ा है।[4]

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ४४५ :

तथाहि—या सा पालिरिव पालिः—जीवितजलधारणाद्भवस्थितिः सा चोत्तरत्र महाशब्दोपादानादिह पल्योपमप्रमाणा।

२—वही, पत्र ४४५-४४६ :

दिवि भवा दिव्या वर्षशतेनोपमा यस्याः सा वर्षशतोपमा, यथा हि वर्षशतमिह परमायुः तथा तत्र महापाली, उत्कृष्टतोऽपि हि तत्र सागरोपमैरेवायुरुपनीयते, न तूत्सर्पिण्यादिभिः, अथवा—

"योजनं विस्तृतः पल्यस्तथा योजनमुत्सृतः।
सप्तरात्रप्ररूढानां, केशाग्राणां स पूरितः ॥१॥
ततो वर्षशते पूर्णे, एकैकं केशमुद्धरेत्।
क्षीयते येन कालेन, तत्पल्योपममुच्यते ॥२॥"

इति वचनाद्वर्षशतैः केशोद्धारहेतुभिरुपमा अर्थात्पल्यविषया यस्याः सा वर्षशतोपमा, द्विविधाऽपि स्थितिः, सागरोपमस्यापि पल्योपमनिष्पाद्यत्वात्, तत्र मम महापाली दिव्या भवस्थितिरासीदित्युपस्कारः, अतस्त्वाहं वर्षशतोपमायुरमूवमिति भावः।

३—वही, पत्र ४४६ :

प्रतीपं क्रामामि प्रतिक्रामामि—प्रतिनिवर्त्ते, केभ्यः ? —'पसिणाणं'ति सुब्व्यत्ययात् 'प्रश्नेभ्यः' शुभाशुभसूचकेभ्योऽङ्गुष्ठप्रश्नादिभ्यः, अन्येभ्यो वा साधिकरणेभ्यः, तथा परे—गृहस्थास्तेषां मन्त्राः परमन्त्राः—तत्कार्यालोचनरूपास्तेभ्यः,……… प्रतिक्रमामि, अतिसावद्यत्वात्तेषाम्।

४—वही, पत्र ४४६ :

शिरसेव—शिरसा शिरःप्रदानेनेव जीवितनिरपेक्षमिति।

'सिर'—शरीर में सबसे ऊँचा स्थान शिर का है। लोक में सबसे ऊँचा मोक्ष है। इसी समानता से शिरःस्थानीय मोक्ष को 'सिर' कहा है।[1]

श्लोक ५२

८–अत्यन्त युक्तियुक्त (अच्चन्तनियाणखमा [क]) :

शान्त्याचार्य ने इसके दो अर्थ किए हैं—

(१) अतिशय निदान (हेतु) युक्त।

(२) अतिशय निदान (कर्म-मल शोधन) में क्षम।[2]

श्लोक ५३

९–संगों से (संग [ग]) :

जिससे कर्म का बन्धन होता है, उसे 'संग' कहते हैं। वह दो प्रकार का है—

(१) द्रव्य संग।

(२) भाव संग।

द्रव्यतः संग पदार्थ होते हैं और भावतः संग होते हैं एकान्तवादी दर्शन।[3]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ४४७ :
'शिरं' ति शिर इव शिरः सर्वजगदुपरिवर्त्तितया मोक्षः।

२–वही, पत्र ४४९ :
अतिशयेन निदानैः—कारणैः, कोऽर्थ ?—हेतुभिर्न तु परप्रत्ययेनैव, क्षमा—युक्ताऽत्यन्तनिदानक्षमा, यद्वा निदानं—कर्ममलशोधनं तस्मिन् क्षमा—समर्थाः।

३–वही, पत्र ४४९-४५० :
सजन्ति—कर्मणा संबध्यन्ते जन्तव एभिरिति संगाः—द्रव्यतो द्रविणादयो भावतस्तु मिथ्यात्वरूपत्वादेत एव क्रियादिवादाः।

अध्ययन १६
मियापुत्तिज्जं
श्लोक १

१–कानन और उद्यान (काणणुज्जाण ख) :

कानन वह होता है जहाँ बड़े वृक्ष हों।[1] उद्यान का अर्थ है—क्रीडा-वन। वृत्तिकार ने उद्यान का अर्थ 'आराम' भी किया है।[2] आराम जन-साधारण के घूमने-फिरने का स्थान होता था और क्रीडा-वन ऐसा स्थान था जहाँ नौका-विहार, खेल-कूद तथा अन्यान्य क्रीडा सामग्री की सुलभता रहती थी। देखिए—दशवैकालिक, ६।१। का टिप्पण, संख्या ४।

श्लोक २

२–बलश्री (बलसिरी क) :

मृगापुत्र के दो नाम थे—बलश्री और मृगापुत्र। 'बलश्री' माता-पिता द्वारा दिया हुआ नाम था और जन-साधारण में वह 'मृगापुत्र' के नाम से प्रसिद्ध था।[3]

३–युवराज (जुवराया घ) :

राजाओं में यह परम्परा थी कि बड़ा पुत्र ही राज्य का अधिकारी होता था। जब वह राज्य का कार्यभार संभालने में समर्थ हो जाता तब उसको 'युवराज-पद' दे दिया जाता। यह राज्य-पद की पूर्व-स्वीकृति का वाचक है।

प्राचीन साहित्य में यह मिलता है कि राज्याभिषेक से पूर्व 'युवराज' भी एक मन्त्री होता था, जो राजा को राज्य-संचालन में सहायता देता था। उसकी विशेष मुद्रा होती थी और उसकी पदवी का सूचक एक निश्चित पद होता था।

'युवराज' को 'तीर्थ' भी कहा गया है। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में १८ तीर्थ गिनाए हैं, उनमें 'युवराज' का उल्लेख भी हुआ है। तीर्थ का अर्थ है—महा-अमात्य।[4]

४–दमीश्वर (दमीसरे घ) :

शान्त्याचार्य ने इसके दो अर्थ दिए हैं—

(१) उद्धत व्यक्तियों का दमन करने वाले राजाओं का ईश्वर।

(२) उपशम शील व्यक्तियों का ईश्वर।

प्रथम अर्थ वार्तमानिक अवस्था का बोधक है और दूसरा भविष्यकाल की अपेक्षा से कहा गया है।[5]

नेमिचन्द्र ने केवल द्वितीय अर्थ ही किया है।[6]

१–सुखबोधा, पत्र २६० :

कान्नानि—बृहद्वृक्षाश्रयाणि वनानि।

२–वही, पत्र २६० :

उद्यानानि—आरामाः क्रीडावनानि वा।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र ४५१ :

बलश्रीः बलश्रीनामा मातापितृविहितनाम्ना लोके च मृगापुत्र इति।

४–कौटिल्य अर्थशास्त्र, १।१२।८, पृ० २१ २३।

५–बृहद् वृत्ति, पत्र ४५१ :

दमिनः—उद्धतदमनशीलास्ते च राजानस्तेषामीश्वरः—प्रभुर्दमीश्वरः, यद्वा दमिनः—उपशमिनस्तेषां सहजोपशमभावत ईश्वरो दमीश्वरः, भाविकालापेक्षं चैतत्।

६–सुखबोधा, पत्र २६० :

'दमीसरि' त्ति दमिनाम्—उपशमिनामीश्वरो दमीश्वरः, भाविकालापेक्षं चैतत्।

श्लोक ३

५—दोगुन्दग (दोगुन्दगो ग) :

'दोगुन्दग' त्रायस्त्रिंश जाति के देव होते हैं। वे सदा भोग-परायण होते हैं।[1] इनकी विशेष जानकारी के लिए देखिए—भगवती, १०।४।

श्लोक ४

६—मणि और रत्न (मणिरयण क) :

सामान्यतः मणि और रत्न पर्यायवाची माने जाते हैं। वृत्तिकार ने इनमें यह भेद किया है कि विशिष्ट माहात्म्य युक्त रत्नों को 'मणि' कहते हैं, जैसे चन्द्रकान्तमणि, सूर्यकान्तमणि आदि-आदि तथा शेष गोमेदक आदि 'रत्न' कहलाते हैं।[2]

७—गवाक्ष (आलोयण ख) :

दशवैकालिक, ५।१।१५ में गवाक्ष के अर्थ में 'आलोय' का प्रयोग हुआ है। यहाँ उसी अर्थ में 'आलोयण' है।

शान्त्याचार्य ने इसका एक अर्थ 'सबसे ऊँची चतुरिका' भी किया है। गवाक्ष या चतुरिका से दिशाओं का आलोकन किया जा सकता है, इसलिए उन्हें 'आलोकन' कहा जाता है।[3]

श्लोक ५

८—नियम (नियम ग) :

महाव्रत, व्रत, नियम—ये सभी साधारणतया संवर के वाचक हैं। किन्तु रूढ़िवशात् इनमें अर्थ-भेद भी है। योग दर्शन सम्मत अष्टांग योग में नियम का दूसरा स्थान है।[4] उसके अनुसार शौच, संतोष, स्वाध्याय, तप और देवताप्रणिधान ये नियम कहलाते हैं।[5]

जैन व्याख्या के अनुसार जिन व्रतों में जाति, देश, काल, समय आदि का अपवाद नहीं रहता वे 'महाव्रत' कहलाते हैं। जो व्रत अपवाद सहित होते हैं वे 'व्रत' कहलाते है। ऐच्छिक व्रतों को 'नियम' कहा जाता है।

शान्त्याचार्य ने 'अभिग्रहात्मक व्रत' को 'नियम' कहा है।[6]

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ४५१ :
दोगुन्दगाश्च त्रायस्त्रिंशाः, तथा च वृद्धाः "त्रायस्त्रिंशा देवा नित्यं भोगपरायणा दोगुंदुगा इति भण्णंति"।

२—बृहद् वृत्ति, पत्र ४५१ :
मणयश्च—विशिष्टमाहात्म्याश्चन्द्रकान्तादयो रत्नानि च—गोमेयकादीनि मणिरत्नानि।

३—वही, पत्र ४५१ :
आलोक्यन्ते दिशोऽस्मिन् स्थितैरित्यालोकनं प्रासादे प्रासादस्य वाऽऽलोकनं प्रासादालोकनं तस्मिन् सर्वोपरिवर्तिचतुरिकाख्ये गवाक्षे।

४—पातंजल योगदर्शन, २।२९ :
यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावंगानि।

५—वही २।३२ :
शौचसंतोषतपस्स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।

६—बृहद् वृत्ति, पत्र ४५१-४५२ :
नियमश्च—द्रव्याद्यभिग्रहात्मकः।

श्लोक ११

६–श्लोक ११ :

इस श्लोक में भोगों को विषफल से उपमित किया गया है। जिस प्रकार विषफल प्रथम स्वाद में अत्यन्त मधुर होते हैं परन्तु परिणाम काल में अत्यन्त कटुक और दुःखदायी होते हैं, उसी प्रकार भोग भी सेवन-काल में मधुर लगते हैं, परन्तु उनका विपाक कटुक होता है और वे अनवच्छिन्न दुःख देने वाले होते हैं।

श्लोक १४

१०–व्याधि और रोगों का (वाहीरोगाण ख) :

अत्यन्त बाधा उत्पन्न करने वाले कुष्ठ जैसे रोगों को 'व्याधि' कहा जाता है और कदाचित् होने वाले ज्वर आदि को 'रोग' कहा जाता है।[१]

श्लोक १७

११–किम्पाक-फल (किम्पागफलाणं क) :

किंपाक एक वृक्ष होता है। उसके फल अत्यन्त स्वादु होते हैं,[२] परन्तु वे कटुकविपाक वाले होते हैं। भोगों की विरसता को बताने के लिए किंपाकफल की उपमा जैन-ग्रन्थों में अनेक स्थलों में मिलती है।

श्लोक ३२

१२–ताड़ना, तर्जना, वध, बन्धन (तालणा क, तज्जणा क, वह ख, बन्ध ख) :

ताड़ना, तर्जना, वध और बन्धन ये चारों परीषह हैं—प्रहार और तिरस्कार से उत्पन्न कष्ट हैं—

(१) ताड़ना—हाथ आदि से मारना।[३]

(२) तर्जना—तर्जनी अंगुली दिखा कर या भौंहें चढ़ा कर तिरस्कार करना या डाँटना।[४]

(३) वध—लकड़ी आदि से प्रहार करना।[५]

(४) बन्धन—मयूर-बन्ध आदि से बाँधना।[६]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ४५४ :
व्याधयः—अतीव बाधाहेतवः कुष्ठादयो, रोगाः—ज्वरादयः।

२–वही, पत्र ४५४ :
किम्पाको—वृक्षविशेषस्तस्य फलान्यतीव सुस्वादानि।

३–वही, पत्र ४५६ :
'ताडना' करादिभिराहननम्।

४–वही, पत्र ४५६ :
तर्जना अंगुलिभ्रमणभ्रूक्षेपादिरूपा।

५–वही, पत्र ४५६ :
वधश्च—लकुटादिप्रहारः।

६–वही, पत्र ४५६ :
बंधश्च—मयूरबन्धादिः।

श्लोक ३३

१३–कापोती-वृत्ति (कबूतर के समान दोष-भीरु वृत्ति) (कावोया [क], वित्ती [क]) :

यहाँ साधु की भिक्षा-वृत्ति को 'कापोती-वृत्ति' कहा गया है। जिस प्रकार कबूतर कण (टीकाकार ने यहाँ कीट का भी उल्लेख किया है, परन्तु कबूतर कीट नहीं चुगते) आदि को ग्रहण करते समय नित्य शंकित रहते हैं, उसी प्रकार साधु भी भिक्षाचर्या में सदा एषणा-दोष आदि की शंका से प्रवृत्त होता है।[1]

इस कापोती-वृत्ति का उल्लेख महाभारत में भी मिलता है—

कुम्भधान्यैरुञ्छशिलैः, कापोतीं चास्थितास्तथा।
यस्मिंश्चैते वसन्त्यर्हास्तद् राष्ट्रमभिवर्धते ॥

(शान्तिपर्व, २४३।२४)

१४–दारुण केश-लोच (केसलोओ य दारुणो [ख]) :

केश-लोच—हाथ से नोच कर बालों को उखाड़ना सचमुच बहुत दारुण होता है। लोच क्यों किया जाए ? यह प्रश्न उपस्थित होता है। इसका तर्क-संगत समाधान देना सम्भवतः कठिन है। यह एक परम्परा है। इसका प्रचलन क्यों हुआ ? इसका समाधान प्राचीन साहित्य में ढूंढ़ना चाहिए।

कल्पसूत्र में कहा गया है कि संवत्सरी के पूर्व लोच अवश्य करना चाहिए। उसकी व्याख्या में लोच करने के कुछ हेतु बतलाए गए हैं—

(१) केश होने पर अप्काय के जीवों की हिंसा होती है।
(२) भींगने से जूंएं उत्पन्न होती है।
(३) खुजलाता हुआ मुनि उनका हनन कर देता है।
(४) खुजलाने से सिर में नख-क्षत हो जाते हैं।
(५) यदि कोई मुनि क्षुर (उस्तरे) या कैंची से बालों को काटता है तो उसे आज्ञा-भंग का दोष होता है।
(६) ऐसा करने से संयम और आत्मा (शरीर) दोनों की विराधना होती है।
(७) जूंएं मर जाती हैं।
(८) नाई अपने क्षुर या कैंची को सचित्त जल से धोता है। इसलिए पश्चात्-कर्म दोष होता है।
(९) जैन-शासन की अवहेलना होती है।

इन हेतुओं को ध्यान में रखते हुए मुनि केशों को हाथ से ही नोच डाले, यही उसके लिए अच्छा है। इस लोच-विधि में आपवादिक विधि का भी उल्लेख है।[2]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ४५६-४५७ :
कपोताः—पक्षिविशेषास्तेषामियं कापोती येयं वृत्तिः—निर्वहणोपायः, यथा हि ते नित्यशंकिताः कणकीटकादिग्रहणे प्रवर्त्तन्ते, एवं भिक्षुरप्येषणादोषशङ्कयैव भिक्षादौ प्रवर्त्तते।

२–सुखबोधिका, पत्र १९०-१९१ :
केशेषु हि अप्कायविराधना, तत्संसर्गाच्च यूकाः सम्मूर्च्छन्ति, ताश्च कण्डूयमानो हन्ति शिरसि नखक्षतं वा स्यात्, यदि क्षुरेण मुण्डापयति कर्त्तर्या वा तदाऽऽज्ञाभंगाद्याः दोषाः संयमात्मविराधना, यूकाश्छिद्यन्ते नापितश्च पश्चात्कर्म करोति शासनापभ्राजना च, ततो लोच एव श्रेयान्।

दिगम्बर-साहित्य में इसके कुछ और हेतु भी बतलाए गए हैं—

(१) राग आदि का निराकरण करने,

(२) अपने पौरुष को प्रगट करने,

(३) सर्वोत्कृष्ट तपश्चरण और

(४) लिंग आदि के गुण का ज्ञापन करने के लिए लोच करे।[1]

राग आदि के निराकरण से इसका सम्बन्ध है—यह अन्वेषण का विषय है। शासन की अवहेलना का प्रश्न सामयिक है। जीवों की उत्पत्ति न हो तथा उनकी विराधना न हो—इसकी सावधानी बरती जा सकती है। इन हेतुओं से लोच की अनिवार्यता साधना कठिन कार्य है। इसमें कोई संदेह नहीं कि यह कष्ट-सहिष्णुता की बहुत बड़ी कसौटी है। इन हेतुओं को जानने के बाद भी हमें यही मानना पड़ता है कि यह बहुत पुरानी परम्परा है।

दशवैकालिक वृत्ति और मूलाराधना में भी लगभग पूर्वोक्त जैसा ही विवरण मिलता है।

काय-क्लेश संसार-विरक्ति का हेतु है। वीरासन, उकडू आसन, लोच आदि उसके मुख्य प्रकार हैं। (१) निर्लेपता, (२) पश्चात्कर्म-वर्जन (३) पुरःकर्म-वर्जन और (४) कष्ट-सहिष्णुता—ये लोच से प्राप्त होने वाले गुण हैं।[2]

केशों को संसाधित न करने से उनमें जूं, लीख आदि उत्पन्न होते हैं। वहाँ से उनको हटाना दुष्कर होता है। सोते समय अन्यान्य वस्तुओं से संघट्टन होने के कारण उन जूं-लीखों को पीड़ा हो सकती है। अन्य स्थल से कीटादिक जन्तु भी वहाँ उनको खाने आते हैं, वे भी दुष्प्रतिहार्य हैं।

लोच से मुण्डत्व, मुण्डत्व से निर्विकारता और निर्विकारता से रत्नत्रयी में प्रबल पराक्रम फोड़ा जा सकता है।

लोच से आत्म-दमन होता है; सुख में आसक्ति नहीं होती; स्वाधीनता रहती है (लोच न करने वाला मस्तक को धोने, सुखाने, तेल लगाने में काल व्यतीत करता है, स्वाध्याय आदि में स्वतंत्र नहीं रहता); निर्दोषता की वृद्धि होती है और शरीर से ममत्व हट जाता है। लोच से धर्म के प्रति श्रद्धा होती है, यह उग्र तप है, कष्ट-सहन का उत्कृष्ट उदाहरण है।[3]

१–मूलाचार टीका, पृ० ३७० :

जीवसम्मूर्च्छनादिपरिहारार्थं रागादिनिराकरणार्थं, स्ववीर्यप्रकटनार्थं, सर्वोत्कृष्टतपश्चरणार्थं, लिंगादिगुणज्ञापनार्थं चेति।

२–दशवैकालिक, हारिभद्रीय वृत्ति, पत्र २८-२९ :

वीरासण उक्कुडुगासणाइ लोआइओ य विण्णेओ।
कायकिलेसो संसारवासनिव्वेअहेउत्ति॥
वीरासणाइसु गुणा कायनिरोहो दया अ जीवेसु।
परलोअमई अ तहा बहुमाणो चेव अन्नेसिं॥
णिस्संगया य पच्छापुरकम्मविवज्जणं च लोअगुणा।
दुक्खसहत्तं नरगादिभावणाए य निव्वेओ॥

तथाऽन्यैरप्युक्तम्—

पश्चात्कर्म पुरःकर्मे(र्मेई)र्यापथपरिग्रहः।
दोषा ह्येते परित्यक्ताः, शिरोलोचं प्रकुर्वता॥

३–मूलाराधना, आश्वास २।८८-९२ :

केसा संसज्जंति हु णिप्पडिकारस्स दुपरिहारा य।
सयणादिसु ते जीवा दिट्ठा आगंतुया य तहा॥
जूगाहिं य लिक्खाहिं य बाधिज्जंतस्स संकिलेसो य।
संघट्टिज्जंति य ते कंडुयणे तेण सो लोचो॥
लोचकदे मुण्डत्ते मुण्डत्ते होइ णिव्वियारत्तं।
तो णिव्वियारकरणो पग्गहिददरंपरक्कमदि॥
अप्पा दमिदो लोएण होइ ण सुहे य संगमुवयादि।
साधीणदा य णिद्दोसदा य देहे य णिम्ममदा॥
आणक्खिदा य लोचेण अप्पणो होदि धम्मसड्ढा य।
उग्गो तवो य लोचो तहेव दुक्खस्स सहणं च॥

श्लोक ३८

१५—साँप जैसे एकाग्र-दृष्टि से (अहीवेगन्तदिट्ठीए [क]) :

सर्प अपने लक्ष्य पर अत्यन्त निश्चल-दृष्टि रखता है, यही कारण है कि उसके द्वारा देखे जाने वाले पदार्थ का उसमें स्थिर प्रतिबिम्ब पड़ता है। वह प्रतिबिम्ब वर्षों तक भी अमिट रहता है। इसी प्रकार साधु को भी अपने लक्ष्य पर निश्चल-दृष्टि से गति करनी चाहिए।

श्लोक ४०

१६—वस्त्र के थैले को (कोत्थलो [ख]) :

हिन्दी में इसे थैला और राजस्थानी में 'कोथला' कहते हैं।

टीकाकार का संकेत है कि यहाँ वस्त्र, कम्बल आदि का 'थैला' ही ग्राह्य है, क्योंकि वही हवा से नहीं भरा जाता। चर्म आदि का थैला तो भरा जा सकता है।[1]

श्लोक ४६

१७—चार अन्त वाले (चाउरन्ते [ख]) :

संसार-रूपी कान्तार के चार अन्त होते हैं—(१) नरक, (२) तिर्यंच, (३) मनुष्य और (४) देव। इसलिए उसे 'चाउरंत' कहा जाता है।[2]

श्लोक ४७-७३

१८—श्लोक ४७-७३ :

इन श्लोकों में नारकीय वेदनाओं का चित्र खींचा गया है। पहले तीन नरकों में परमाधार्मिक देवताओं द्वारा पीड़ा पहुँचाई जाती है और अन्तिम चार में नारकीय जीव स्वयं परस्पर वेदना की उदीरणा करते हैं। परमाधार्मिक देव १५ प्रकार के हैं। उनके कार्य भी भिन्न-भिन्न हैं—

नाम	कार्य
(१) अंब	हनन करना, ऊपर से नीचे गिराना, बींधना आदि २।
(२) अंबर्षि	काटना आदि-आदि।
(३) श्याम	फेंकना, पटकना, बींधना आदि-आदि।
(४) शबल	आँतें, फेफड़े, कलेजा आदि निकालना।
(५) रुद्र	तलवार, भाला आदि से मारना, शूली में पिरोना आदि-आदि।
(६) उपरुद्र	अंग-उपांगों को काटना आदि-आदि।
(७) काल	विविध पात्रों में पकाना।
(८) महाकाल	शरीर के विविध स्थानों से मांस निकालना।
(९) असिपत्र	हाथ, पैर आदि को काटना।

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ४५७ :

कोत्थल इह वस्त्रकम्बलादिमयो गृह्यते, चर्ममयो हि सुखेनैव भ्रियेतेति।

२—वही, पत्र ४५९ :

चत्वारो—देवादिभवा अन्ता—अवयवा यस्यासौ चतुरन्तः—संसारः।

(१०) धनु	कर्ण, ओष्ठ, दाँत को काटना ।
(११) कुम्भ	विविध कुम्भियों में पचाना ।
(१२) बालुक	भूँजना आदि-आदि ।
(१३) वैतरणि	वशा, लोही आदि की नदी में डालना ।
(१४) खरस्वर	करवत, परशु आदि से काटना ।
(१५) महाघोष	भयभीत होकर दौड़ने वाले नैरयिकों का अवरोध करना ।

परमाधार्मिक देवों के ये कार्य इस अध्ययन में वर्णित हैं किन्तु यहाँ परमाधार्मिकों के नाम उल्लिखित नहीं हैं। विशेष वर्णन के लिये देखिए—समवायांग, समवाय १५, वृत्ति, पत्र २८ ; गच्छाचार, पत्र ६४-६५ ।

श्लोक ४९

१९–(कंदुकुम्भीसु क, हुयासणे ग) :

'कंदुकुम्भीसु'—कंदु का अर्थ है—भट्ठा (भाड़)। कुम्भी का अर्थ है—छोटा घड़ा। कंदु-कुम्भी ऐसे पाक-पात्र का नाम है, जो नीचे से चौड़ा और ऊपर से संकड़े मुंह वाला हो।

बृहद् वृत्ति में इसका अर्थ 'लोह आदि धातु से बना हुआ पाक-पात्र' है।[1]

'हुयासणे'—अग्निकायिक जीव दो प्रकार के होते हैं—सूक्ष्म और बादर। बादर अग्नि के जीव नरक में नहीं होते।[2] यहाँ जो अग्नि का उल्लेख है, वह सजीव अग्नि के लिए नहीं किन्तु अग्नि जैसे तप्त और प्रकाशवान् पुद्गलों के लिए है।[3]

श्लोक ५०

२०–वज्रबालुका जैसी कदम्ब नदी की बालू में (वइरवालुए ख, कलम्बवालुयाए ग) :

नरक में वज्रबालुका तथा कदम्बबालुका नाम की नदियाँ हैं। इन नदियों की 'चर' को भी 'वज्रबालुका' व 'कदम्बबालुका' अगणित कहा गया है।[4]

श्लोक ५२

२१–शाल्मलि वृक्ष पर (सिम्बलिपायवे ख) :

इसके लिए 'कूट शाल्मलि' शब्द का भी प्रयोग होता है। देखिए—उत्तराध्ययन, २०।३६। इसका अर्थ है—सेमल का वृक्ष। इसकी त्वचा पर अगणित कांटे होते हैं।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ४५९ :
'कंदुकुम्भीषु' पाकभाजनविशेषरूपासु लोहादिमयीषु ।

२–वही, पत्र ४५९ :
तत्र च बादराग्नेरभावात् पृथिव्या एव तथाविधः स्पर्श इति गम्यते ।

३–वही पत्र ४५९ :
अग्नौ देवमायाकृते ।

४–वही, पत्र ४५९ :
वज्रवालुकानदीसम्बन्धिपुलिनमपि वज्रबालुका तत्र, यद्वा वज्रबद्वालुका यस्मिंस्त (स्मिन् स त) था तस्मिन्नरकप्रदेश इति गम्यते, 'कदम्बबालुकायां च' तथैव कदम्बवालुकानदीपुलिने च महादवाग्निसङ्काश इति योज्यते ।

श्लोक ५४

२२–(कोलसुणएहिं [क], पाडिओ [ग], फालिओ [ग], छिन्नो [ग]) :

'कोलसुणएहिं'—कोलशुनक का अर्थ 'सूअर' किया गया है ।[1] कोल का अर्थ भी 'सूअर' है । इसलिए शुनक का अर्थ 'कुत्ता' किया जा सकता है ।

'पाडिओ'—पातित । इसका अर्थ है—ऊपर से नीचे गिराना ।

'फालिओ'—फाटित । इसका अर्थ है—वस्त्र की तरह फाड़ना ।

'छिन्नो'—छिन्न । इसका अर्थ है—वृक्ष की तरह दो डाल करना ।[2]

श्लोक ५५

२३–(असीहि [क], भल्लीहिं [ख], पट्टिसेहि [ख]) :

'असीहि'—तलवारें तीन प्रकार की होती हैं—असि, खड्ग और ऋष्टि । असि लम्बी, खड्ग छोटी और ऋष्टि दुधारी तलवार को कहा जाता है ।

'भल्लीहिं'—भल्ली (बर्छी) । एक प्रकार का भाला ।

'पट्टिसेहिं'—पट्टिस के पर्यायवाची नाम तीन हैं—खुरोपम, लोह-दण्ड और तीक्ष्णधार ।[3] इनसे उसकी आकृति की जानकारी मिलती है । उसकी नोकें खुरपा की नोकों के समान तीक्ष्ण होती है, यह लोह-दण्ड होता है और इसकी धार तीखी होती है ।

श्लोक ५६

२४–रोझ (रोज्झो [घ]) :

यह देशी शब्द है । इसका अर्थ है—हरिण की एक जाति ।[4] संस्कृत में इसका तत्सम अर्थ है—ऋष्य: । टीकाकार ने पशु विशेष कह कर छोड़ दिया है ।[5]

श्लोक ५८

२५–पंखियों के (पक्खिहिं [ख]) :

नरक में तिर्यंच नहीं होते । यहाँ जो पक्षियों का उल्लेख है, वह देवताओं द्वारा किए गए वैक्रियरूप का है ।[6]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ४६० :
'कोलसुणएहिं' ति सूकरस्वरूपधारिभिः ।

२–वही, पत्र ४६० :
'पातितो' भुवि 'फाटितो' जीर्ण वस्त्रवत् 'छिन्नो' वृक्षवदुभयदंष्ट्राभिरिति गम्यते ।

३–शेषनाममाला, श्लोक १४८-१४९ :
···पट्टिसस्तु खुरोपमः ।
लोहदण्ड स्तीक्ष्ण धार···॥

४–देशीनाममाला, ७।१२ ।

५–बृहद् वृत्ति, पत्र ४६० :
'रोज्झः' पशुविशेषः ।

६–वही, पत्र ४६० :
एते च वैक्रिया एव, तत्र तिरश्चाममभावात् ।

श्लोक ६१

२६–मुषण्डियों से (मुसंढीहिं [क]) :

यह लकड़ी की बनती थी। इसमें गोल लोहे के काँटे जड़े रहते थे।[1]

श्लोक ७२

२७–(तिव्वचण्डप्पगाढाओ [क], घोराओ [ख]) :

इसमे तीव्र, चण्ड, प्रगाढ़ और घोर—ये चार समालोच्य शब्द हैं। नारकीय-वेदना को रस-विपाक की दृष्टि से तीव्र कहा गया है। चण्ड का अर्थ है—उत्कट। दीर्घकालीनता की दृष्टि से उसे प्रगाढ़ कहा गया है। घोर का अर्थ है—रौद्र।[2]

श्लोक ७५

२८–रोगों की चिकित्सा नहीं की जाती (निप्पडिकम्मया [घ]) :

निष्प्रतिकर्मता काय-क्लेश नामक तप का एक प्रकार है।[3] दशवैकालिक (३।४) मे चिकित्सा को अनाचार कहा है। उत्तराध्ययन में कहा है—भिक्षु चिकित्सा का अभिनन्दन न करे (२।३१,३३) तथा जो चिकित्सा का परित्याग करता है, वह भिक्षु है (१५।८)। यहाँ निष्प्रतिकर्मता का जो संवाद है, वह उक्त तथ्यों का समर्थन करता है। निर्ग्रन्थ-परम्परा में निष्प्रतिकर्मता (चिकित्सा न कराने) का विधान रहा है। किन्तु, सम्भवतः यह विशिष्ट अभिग्रहधारी निर्ग्रन्थों के लिए रहा है।

देखिए—दसवेआलियं (भाग २), ३।४ का टिप्पण, संख्या २६।

श्लोक ७६-८३

२९–श्लोक ७६-८३ :

७६ वें श्लोक में 'मियपक्खिणं' पाठ आया है। आगे के श्लोकों में केवल 'मृग' का ही बार-बार उल्लेख हुआ है। यह क्यों ? इसके समाधान में टीकाकार ने बताया है कि मृग प्रायः उपशम-प्रधान होते हैं। इसलिए बार-बार उन्हीं के उदाहरण से विषय को समझाया गया है।[4]

श्लोक ७८

३०–महावन में (महारण्णम्मि [ख]) :

टीकाकार का कथन है कि यहाँ 'महा' शब्द विशेष प्रयोजन से ही लिया गया है। साधारण अरण्य में लोगों का आवागमन रहता है। वहाँ कोई कृपालु व्यक्ति किसी पशु को पीड़ित देख उसकी चिकित्सा कर देता है। जैसे किसी वैद्य ने अरण्य में एक व्याघ्र की आँखों की चिकित्सा की थी। महारण्य में आवागमन न होने से पशुओं की चिकित्सा का प्रसंग ही नहीं आता।[5]

१–शेषनाममाला, श्लोक १५१ :
मुषुण्ढी स्याद् दारुमयी, वृत्तायकीलसंचिता।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र ४६१ :
तीव्रा अनुभागतोऽत एव चण्डाः—उत्कटाः प्रगाढ़ाः—गुरुस्थितिकास्तत एव 'घोराः' रौद्राः।

३–औपपातिक, सूत्र १९ :
सव्वगायपरिकम्मविभूसविप्पमुक्के।

४–बृहद् वृत्ति, पत्र ४६३ :
इह च मृगपक्षिणामुभयेषामुपक्षेपे यन्मृगस्यैव पुनः पुनर्दृष्टान्तत्वेन समर्थनं तत्तस्य प्रायः प्रशमप्रधानत्वादिति सम्प्रदायः

५–वही, पत्र ४६२ :
'महारण्य' इति महाग्रहणममहति ह्यरण्येऽपि कश्चित्कदाचित्पश्येत् दृष्ट्वा च कृपालुश्चिकित्सेदपि, श्रूयते हि केनचिद्भिषजा व्याघ्रस्य चक्षुरुद्घाटितमटव्यामिति।

श्लोक ८०

३१–लता निकुञ्जों ... में (वल्लराणि [घ]) :

यह देश्य शब्द है। इसके सात अर्थ हैं—अरण्य, महिष, क्षेत्र, युवा, समीर, निर्जन-देश और वन।[1]

टीकाकार ने इसके चार अर्थों का निर्देश किया है—अरण्य, निर्जल देश, वन और क्षेत्र।[2] यहाँ वल्लर का अर्थ—गहन (लता-निकुञ्ज) होना चाहिए।

श्लोक ९२

३२–वसूले से काटने और चन्दन लगाने पर सम रहने वाला (वासीचन्दणकप्पो [ग]) :

शान्त्याचार्य के अनुसार 'वासी' और 'चन्दन' शब्द के द्वारा उनका प्रयोग करने वाले व्यक्तियों का ग्रहण किया गया है। कोई व्यक्ति वसूले से छीलता है, दूसरा चन्दन का लेप करता है—मुनि दोनों पर समभाव रखे। यहाँ 'कल्प' शब्द का अर्थ 'सदृश' है।[3] जैन-साहित्य में यह साम्ययोग बार-बार प्रतिध्वनित होता रहा है—

> जो चंदणेण बाहुं आलिंपइ वासिणा वि तच्छेइ।
> संथुणइ जो अ निंदइ महारिसिणो तत्थ समभावा॥
>
> (उपदेशमाला, ९२)

१–देशीनाममाला, ७।८६ :
वल्लरमरण्णमहिसक्खेत्तजुवसमीरणिज्जलवणेसु।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र ४६२ :
उक्तंच—''गहणमवाणियदेसं रण्णे छेत्तं च वल्लरं जाण।''

३–वही, पत्र ४६५ :
वासीचन्दनशब्दाभ्यां च तद्व्यापारकपुरुषावुपलक्षितौ, ततश्च यदि किलैको वास्या तक्षणोति, अन्यश्च गोशीर्षादिना चन्दनेनालिम्पति, तथाऽपि रागद्वेषाभावतो द्वयोरपि तुल्यः, कल्पशब्दस्येह सदृशपर्यायत्वात्।

अध्ययन २०

महानियण्ठिज्जं

श्लोक २

१–रत्नों से (रयणो [क]) :

यहाँ 'रयण' शब्द के दो अर्थ हैं—(१) हीरा, पन्ना आदि रत्न तथा (२) विशिष्ट हाथी, घोड़े ।[1]

राजाओं की ऋद्धि-सिद्धि में विशिष्ट लक्षण-युक्त हाथी-घोड़ों को भी 'रत्न' माना गया है ।

श्लोक ७

२–प्रदक्षिणा (पयाहिणं [ख]) :

इस श्लोक में वन्दन के पश्चात् 'प्रदक्षिणा' का कथन आया है । वन्दन के साथ ही 'प्रदक्षिणा' की विधि रही है तो यहाँ वन्दन के बाद प्रदक्षिणा का कथन कैसे—यह प्रश्न हो सकता है ।

बृहद् वृत्तिकार ने इसका समाधान यों दिया है कि पूज्य व्यक्तियों के दीखते ही वन्दना करनी चाहिए । इसकी सूचना देने के लिए प्रदक्षिणा का उल्लेख बाद में किया गया है ।[2] किन्तु यह समाधान हृदय का स्पर्श नहीं करता । क्या इस श्लोक से यह सूचना नहीं मिलती कि वन्दना के बाद प्रदक्षिणा दी जाती थी ?

श्लोक ९

३–नाथ (नाहो [ख]) :

अप्राप्य वस्तु की प्राप्ति को 'योग' और प्राप्त वस्तु के संरक्षण को 'क्षेम' कहा जाता है । जो योग क्षेम करने वाला होता है, वह 'नाथ' कहलाता है ।[3] अनाथी मुनि ने श्रेणिक से कहा—"गृहस्थ-जीवन में मेरा कोई नाथ नहीं था । मैं मुनि बना और नाथ हो गया—अपना, दूसरों का और सब जीवों का ।"[4]

बौद्ध-साहित्य में १० नाथ-करण धर्मों का निरूपण इस प्रकार मिलता है—

कौन दस धर्म बहुत उपकारक हैं ? दस नाथ-करण धर्म—

(१) आवुसो ! भिक्षु शीलवान्, प्रातिमोक्ष (भिक्षुनियम)-संवर (कवच) से संवृत (आच्छादित) होता है । थोड़ी सी बुराइयों (वद्य) में भी भय-दर्शी, आचार-गोचर-युक्त हो विहरता है, (शिक्षापदों को) ग्रहण कर शिक्षापदों को सीखता है । जो यह आवुसो ! भिक्षु शीलवान्०, यह भी धर्म नाथ-करण (न अनाथ करने वाला) है ।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ४७२ :

रत्नानि—मरकतादीनि प्रवरगजाश्वादिरूपाणि वा ।

२–वही, पत्र ४७३ :

पादवन्दनानन्तरं प्रदक्षिणाऽभिधानं पूज्यानामालोक एव प्रणामः क्रियत इति ख्यापनार्थम् ।

३–वही, पत्र ४७३ :

'नाथः' योगक्षेमविधाता ।

४–उत्तराध्ययन, २०।३५ :

ततो हं नाहो जाओ अप्पणो य परस्स य ।
सव्वेसिं चेव भूयाणं तसाण थावराण य ॥

(२) भिक्षु बहुश्रुत, श्रुतधर, श्रुत-संचयवान् होता है । जो वह धर्म आदि-कल्याण, मध्य-कल्याण, पर्यवसान-कल्याण, सार्थक=सव्यंजन हैं, (जिसे) केवल, परिपूर्ण, परिशुद्ध ब्रह्मचर्य कहते हैं, वैसे धर्म, (भिक्षु) के बहुत सुने, ग्रहण किए, वाणी से परिचित, मन से अनुपेक्षित, दृष्टि से सुप्रतिविद्ध (=अन्तस्तल तक देखे) होते हैं ; यह भी धर्म नाथ-करण होता है ।

(३) भिक्षु कल्याण-मित्र=कल्याण-सहाय=कल्याण-संप्रवंक होता है । जो यह भिक्षु कल्याण-मित्र० होता है, यह भी० ।

(४) भिक्षु सुवच, सौवचस्य (=मधुरभाषिता) वाले धर्मों से युक्त होता है । अनुशासनी (=धर्म-उपदेश) में प्रदक्षिणग्राही=समर्थ (=क्षम) (होता है), यह भी० ।

(५) भिक्षु सब्रह्मचारियों के जो नाना प्रकार के कर्त्तव्य होते हैं, उनमें दक्ष=आलस्य रहित होता है, उनमें उपाय=विमर्श से युक्त, करने में समर्थ=विधान में समर्थ होता है, यह भी ० ।

(६) भिक्षु अभिधर्म (=सूत्र में), अभि-विनय (=भिक्षु-नियमों मे), धर्म-काम (=धर्मेच्छु), प्रिय-समुदाहार (=दूसरे के उपदेश को सत्कार पूर्वक सुनने वाला, स्वयं उपदेश करने में उत्साही), बड़ा प्रमुदित होता है, यह भी ० ।

(७) भिक्षु जैसे तैसे चीवर, पिंडपात, शयनासन, ग्लान-प्रत्यय-भैषज्य-परिष्कार से सन्तुष्ट होता है० ।

(८) भिक्षु अकुशल-धर्मो के विनाश के लिए, कुशल-धर्मों की प्राप्ति के लिए उद्योगी (=आरब्ध-वीर्य), स्थामवान्=दृढ़पराक्रम होता है । कुशल-धर्मों में अनिक्षिप्त=धुर (=भगोड़ा नहीं) होता० ।

(९) भिक्षु स्मृतिमान्, अत्युत्तम स्मृति-परिपाक से युक्त होता है ; बहुत पुराने किए, बहुत पुराने भाषण किए का भी स्मरण करने वाला, अनुस्मरण करने वाला होता है० ।

(१०) भिक्षु प्रज्ञावान् उदय-अस्त गामिनी, आर्य निर्वेधिक (=अन्तस्तल तक पहुँचने वाली), सम्यक्-दुःख-क्षय-गामिनी प्रज्ञा से युक्त होता है ० ।[१]

श्लोक २२

४—(आयरिया क, सत्थकुसला ग) :

'आयरिया'—यहाँ आचार्य शब्द का प्रयोग प्राणाचार्य—वैद्य के लिए हुआ है ।[२]

'सत्थकुसला'— इसके दो अर्थ हो सकते हैं—(१) शास्त्र-कुशल—आयुर्वेद विशारद और (२) शस्त्र-कुशल— शल्य-क्रिया में निपुण ।[३]

श्लोक २३

५—चतुष्पाद (चाउप्पायं ख) :

चिकित्सा के चार पाद होते हैं—वैद्य, औषध, रोगी और रोगी की शुश्रूषा करने वाले । जहाँ इन चारों का पूर्ण योग होता है, उसे 'चतुष्पाद-चिकित्सा' कहते हैं ।[४] स्थानांग में इन चारों अङ्गों को 'चिकित्सा' कहा गया है ।[५]

१—दीघ-निकाय ३।११, पृ० ३१२-३१३ ।

२—बृहद् वृत्ति, पत्र ४७५ :
'आचार्याः' इति प्राणाचार्या वैद्या इति यावत् ।

३—वही, पत्र ४७५ :
'सत्थकुसल' त्ति शस्त्रेषु शास्त्रेषु वा कुशलाः शस्त्रकुशला शास्त्रकुशला वा ।

४—वही, पत्र ४७५ :
'चाउप्पायं' त्ति चतुष्पदां भिषग्भैषजातुरप्रतिचारकात्मकचतुर्भा(ष्कभा)गचतुष्टयात्मिकाम् ।

५—स्थानांग, ४।४।३४३ :
चउव्विहा तिगिच्छा पन्नत्ता, तंजहा—विज्जो ओसधाइं आउरे परिचारते ।

श्लोक ४२

६—सिक्के (कहावणे ख) :

भारतवर्ष का अत्यधिक प्रचलित सिक्का 'कार्षापण' था। मनुस्मृति में इसे ही 'धरण' और 'राजत-पुराण' (चाँदी का पुराण) भी कहा गया है।[1] चाँदी के कार्षापण या पुराण का वजन ३२ रत्ती था। सोने और ताम्बे के 'कर्ष' का वजन ८० रत्ती था। ताम्बे के कार्षापण को 'पण' कहते थे।[2] पाणिनीय सूत्र पर वार्तिक लिखते हुए कात्यायन ने 'कार्षापण' को 'प्रति' कहा है और 'प्रति' से खरीदी जाने वाली वस्तु को 'प्रतिक' कहा गया है। पाणिनि ने इन सिक्कों को 'आहत' कहा है।[3] जातकों में 'कहापण' शब्द पाया जाता है। अष्टाध्यायी में 'कार्षापण' और 'पण' ये दोनों पाए जाते हैं।[4] सम्भव है चाँदी के सिक्कों का 'कार्षापण' और ताम्बे के कर्ष का नाम 'पण' रहा हो।[5]

श्लोक ४५

७—(कोऊहल ख, कुहेडविज्जा ग) :

'कोऊहल'—सन्तान प्राप्ति के लिए विशेष द्रव्यों से मिश्रित जल से स्नान आदि कराने को 'कौतुक' कहा जाता है।[6]

'कुहेडविज्जा'—मिथ्या-आश्चर्य प्रस्तुत करने वाली मन्त्र-तन्त्रात्मक विद्या को 'कुहेटक'-विद्या कहा जाता है।[7] दूसरे शब्दों में इसे 'इन्द्रजाल' कहा जा सकता है।

श्लोक ४७

८—(उद्देसियं कीयगडं नियागं क) :

देखिए—दसवेआलियं, (भाग : २), ३।२ टिप्पण संख्या, ६,१०।

---

१ मनुस्मृति, ८।१३५, १३६ :

पलं सुवर्णाश्चत्वारः पलानि धरणं दश।
द्वे कृष्णले समधृते विज्ञेयो रूप्यमाषकः॥
ते षोडश स्याद्धरणं पुराणश्चैव राजतः।
कार्षापणस्तु विज्ञेयस्ताम्रिकः कार्षिकः पणः॥

२—वही, ८।१३६।

३—पाणिनि अष्टाध्यायी, ५।२।१२०।

४—(क) पाणिनि अष्टाध्यायी, ५।१।२९।
(ख) वही, ५।१।३४।

५—पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० २५७।

६—बृहद् वृत्ति, पत्र ४७९ :
कौतुकं च अपत्याद्यर्थं स्नपनादि।

७—वही, पत्र ४७९ :
कुहेटकविद्या—अलीकाश्चर्यविधायिमन्त्रतन्त्रज्ञानात्मिका।

अध्ययन २१

समुद्दपालीयं

श्लोक १

१–श्रावक (सावए ख) :

भगवान् महावीर का संघ चार भागों में विभक्त था—श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका।[1] भगवान् ने दो प्रकार का धर्म बताया—अगार-चारित्र-धर्म और अनगार-चारित्र-धर्म।[2] जो अगार-चारित्र-धर्म का पालन करता है, वह श्रावक या श्रमणोपासक कहलाता है।

श्लोक २

२–कोविद (विकोविए ख) :

बहुत से श्रावक भी निर्ग्रन्थ प्रवचन के विद्वान् होते थे।[3] औपपातिक सूत्र में श्रावकों को लब्धार्थ, पृष्टार्थ, गृहीतार्थ आदि कहा गया है।[4] राजीमती के लिए भी 'बहुश्रुत' विशेषण प्रयुक्त हुआ है।[5]

३–पोत से व्यापार करता हुआ (पोएण ववहरन्ते ग) :

भारत में नौका द्वारा व्यापार करने की परम्परा बहुत प्राचीन है। ऋग्वेद (१।२५।७; १।४८।३; १।५६।२; १।११६।३; २।४८।३; ७।८८।३-४) में समुद्र में चलने वाली नावों का उल्लेख आता है तथा भुज्युनाविक के बहुत दूर चले जाने पर मार्ग भूल जाने व पूषा की स्तुति करने पर सुरक्षित लौट आने का वर्णन है।

पण्डार जातक (२।१२८,५।७५) में ऐसे जहाजों का उल्लेख है, जिनमें लगभग पाँच सौ व्यापारी यात्रा कर रहे थे; जो कि डूब गए। विनय-पिटक में पूर्ण नामी एक भारतीय व्यापारी के छः बार समुद्र-यात्रा करने का वर्णन है। संयुक्त-निकाय (२।११५,५।५१) व अंगुत्तर-निकाय (४।२७) में छः-छः महीनों तक नाव द्वारा की जाने वाली समुद्र-यात्रा का वर्णन है। दीघ-निकाय (१।२२२) में वर्णन आता है कि दूर-दूर देशों तक समुद्र-यात्रा करने वाले व्यापारी अपने साथ पक्षी रखते थे। जब जहाज स्थल से बहुत दूर पहुँच जाता और भूमि के कोई चिह्न दिखाई नहीं देते, तब उन पक्षियों को छोड़ दिया जाता था। यदि भूमि निकट ही रहती तो वे पक्षी वापस नहीं आते अन्यथा थोड़ी देर तक इधर-उधर उड़कर वापस आ जाते थे।

आवश्यक निर्युक्ति के अनुसार जल-पोतों का निर्माण भगवान् ऋषभ के काल में हुआ था।[6] जैन-साहित्य में 'जलपत्तन' के अनेक उल्लेख मिलते हैं।[7] वहाँ नौकाओं के द्वारा माल आता था।

१–स्थानांग, ४।४।३६३ :

चउव्विहे संघे पं० तं०—समणा समणीओ सावया सावियाओ।

२–**वही**, २।१।७२ :

चरित्तधम्मे दुविहे पं० तं०—अगारचरित्तधम्मे चेव अणगारचरित्तधम्मे चेव।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र ४८२ :

'नैर्ग्रन्थे' निग्रन्थसम्बन्धिनि 'पावयणे'त्ति प्रवचने श्रावकः सः इति पालितो विशेषेण कोविदः—पंडितो विकोविदः।

४–**औपपातिक, सूत्र ४१।**

५–**उत्तराध्ययन**, २२।३२।

६–**आवश्यक निर्युक्ति**, २१४ :

पोता तह सागरंमि वहणाइं।

७–(क) बृहत्कल्प, भाग २, पृ० ३४२।

(ख) आचारांग चूर्णि, पृ० २८१।

सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन आदि में दुस्तर-कार्य की समुद्र-यात्रा से तुलना की गई है।[1] नालन्दा के लेप नामक गाहावई के पास अनेक यान-पात्र थे।[2] सिंहलद्वीप, जावा, सुमात्रा आदि में अनेक व्यापारी जाते थे। ज्ञाता-धर्मकथा (१।६) में जिनपालित और जिनरक्षित के बारह बार लवण-समुद्र की यात्रा करने का उल्लेख है। लवण-समुद्र-यात्रा का प्रलम्ब वर्णन ज्ञाता-धर्मकथा (१।१७) में भी है।

श्लोक ६

४—बहत्तर कलाएँ (बावतरिं कलाओ क):

बहत्तर कलाओ की जानकारी के लिए देखिए—समवायांग, समवाय ७२।

श्लोक ८

५—वध्य-जनोचित मण्डनों से शोभित (वज्झमण्डणसोभागं ग):

इन शब्दों में एक प्राचीन परम्परा का संकेत मिलता है। प्राचीन काल में चोरी करने वाले को कठोर-दण्ड दिया जाता था। जिसे वध की सजा दी जाती थी, उसके गले में कणेर के लाल फूलों की माला पहनाई जाती, उसे लाल कपड़े पहनाए जाते, उसके शरीर पर लाल चन्दन का लेप किया जाता और उसे सारे नगर में घुमाते हुए उसके वध्य होने की जानकारी देते हुए उसे श्मशान की ओर ले जाया जाता था।[3]

श्लोक १३

६—(दयाणुकम्पी क, खन्तिक्खमे ख):

'दयानुकम्पी'—बृहद्वृत्ति के अनुसार दया के दो अर्थ हैं—

(१) हितोपदेश देना।

(२) रक्षा करना।

जो हितोपदेश और सब प्राणियों की रक्षा—अहिंसा रूप दया—में कम्पन-शील होता है, वह 'दयानुकम्पी' कहलाता है।[4]

'खन्तिक्खमे'—जो क्षान्ति से कुवचनों को सहन करता है, वह 'क्षान्ति-क्षम' कहलाता है, किन्तु अशक्ति से सहन करने वाला नहीं।[5]

१—(क) सूत्रकृतांग, १।११।५।

(ख) उत्तराध्ययन, ८।६।

२—सूत्रकृतांग, २।७।६९।

३—(क) सूत्रकृतांग, १।६ वृत्ति, पत्र १५०, चूर्णि, पृ० १८४:

चोरो रक्तकणवीरकृतमुण्डमालो रक्तपरिधानो रक्तचन्दनोपलिप्तश्च प्रहतवध्यडिण्डिमो राजमार्गेण नीयमानः।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ४८३:

वधमर्हति वध्यस्तस्य मण्डनानि—रक्तचन्दनकरवीरादीनि तैः शोभा—तत्कालोचितपरभागलक्षणा यस्यासौ वध्यमण्डन-शोभाकस्तम्।

४—बृहद् वृत्ति, पत्र ४८५:

दयया—हितोपदेशादिनात्मिकया रक्षणरूपया वाऽनु कम्पनशीलो दयानुकम्पी।

५—वही, पत्र ४८५-४८६:

क्षान्त्या न त्वशक्त्या क्षमते—प्रत्यनीकादयुदीरित दुर्वचनादिकं सहत इति क्षान्तिक्षमः।

श्लोक १४

७–कार्य (कालं क) :

यहाँ 'काल' शब्द समयोचित प्रतिलेखनादि कार्य करने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।[1]

श्लोक १५

८–(न सव्व सव्वत्थऽभिरोयएज्जा ग, न यावि···गरहं घ) :

'न सव्व सव्वत्थऽभिरोयएज्जा'—शान्त्याचार्य के अभिमत से इसके दो अर्थ हैं—

(१) जो कुछ देखे उसी को न चाहे ।

(२) एक बार विशेष कारण से जिसका सेवन करे, उसका सर्वत्र सेवन न करे ।[2]

'न यावि···गरहं'—इसका अर्थ है कि मुनि गर्हा (परापवाद) की वाञ्छा न करे । कई व्यक्ति ऐसा मानते थे कि गर्हा (आत्म-गर्हा या हीन भावना) से भी कर्म-क्षय होता है । अतः उस मत का खण्डन करने के लिए गर्हा का ग्रहण किया गया है—ऐसा टीकाकार का अभिमत है ।[3] इसका दूसरा अर्थ यह भी किया गया है कि परापवाद न करे ।

श्लोक २१

९–प्रधानवान् (संयमवान्) (पहाणवं ख) :

यहाँ 'प्रधान' शब्द का प्रयोग संयम के अर्थ में किया गया है । संयम मुक्ति का हेतु है, इसलिए उसे प्रधान कहा गया है । 'प्रधानवान्' अर्थात् संयमी ।[4]

श्लोक २२

१०–विविक्त लयनों (एकान्त स्थानों) का (विवित्तलयणाइ क) :

शान्त्याचार्य ने इसका अर्थ 'स्त्री आदि रहित उपाश्रय' किया है ।[5] लयन का मुख्य अर्थ 'पहाड़ों में कुरेदा हुआ गृह (गुफा)' होता है । 'लेणी' इसी लयण या लेण का अपभ्रंश है ।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ४८६ :
कालमिति—कालोचितं प्रत्युपेक्षणादि कुर्वन्निति शेषः ।

२–वही, पत्र ४८६ :
'न सव्व' त्ति सर्वं वस्तु सर्वत्र स्थानेऽभ्यरोचयत, न यथादृष्टाभिलाषुकोऽभूदिति भावः, यदिवा यदेकत्र पुष्टालम्बनतः सेवितं न तत्सर्वम्—अभिमताहारादि सर्वत्राभिलषितवान् ।

३–वही, पत्र ४८६ :
इह च गर्हातोऽपि कर्मक्षय इति केचिदतस्तन्मतव्यवच्छेदार्थं गर्हाग्रहणं, यद्वा गर्हा—परापवादरूपा ।

४–वही, पत्र ४८७ :
प्रधानः स च संयमो मुक्तिहेतुत्वात् स यस्यास्त्यसौ प्रधानवान् ।

५–वही, पत्र ४८७ :
'विविक्तलयनानि' स्त्र्यादिविरहितोपाश्रयरूपाणि विविक्तत्वादेव च ।

अध्ययन २२
रहनेमिज्जं

श्लोक १

१–राज-लक्षणों से युक्त (रायलक्खणसंजुए [घ]) :

सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार राजा के लक्षण चक्र, स्वस्तिक, अंकुश आदि होते हैं और योग्यता की दृष्टि से त्याग, सत्य, शौर्य आदि गुण।[१] तीसरे श्लोक की वृत्ति में राजा के लक्षण छत्र, चामर, सिंहासन आदि राज-चिह्न बताए गए हैं।[२]

श्लोक ५

२–(लक्खणस्सर [ख], अट्ठसहस्सलक्खणधरो [ग]) :

'लक्खणस्सर'—शान्त्याचार्य ने स्वर के लक्षण सौन्दर्य, गांभीर्य आदि माने हैं।[३]

'अट्ठसहस्सलक्खणधरो'—शरीर के साथ-साथ उत्पन्न होने वाले छत्र, चक्र, अंकुश आदि रेखा-जनित आकारों को 'लक्षण' कहा जाता है।[४] साधारण मनुष्यों के शरीर में ३२, बलदेव, वासुदेव के १०८, चक्रवर्ती और तीर्थङ्कर के १००८ लक्षण होते हैं।[५]

श्लोक ६

३–(वज्जरिसहसंघयणो [क], समचउरंसो [ख]) :

'वज्जरिसहसंघयणो'—संहनन का अर्थ है—अस्थि-बन्धन—हड्डियों के बन्धन। इसके छः प्रकार हैं—

(१) वज्र-ऋषभ-नाराच।

(२) ऋषभ-नाराच।

(३) नाराच।

(४) अर्ध नाराच।

(५) कीलिका।

(६) असंप्राप्तसृपाटिका।[६]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ४८९ :
राजेव राजा तस्य लक्षणानि—चक्रस्वस्तिकाङ्कुशादीनि त्यागसत्यशौर्यादीनि वा।

२–वही, पत्र ४८९ :
राजलक्षणानि—छत्रचामरसिंहासनादीन्यपि गृह्यन्ते।

३–वही, पत्र ४८९ :
लक्षणानि—सौन्दर्यगाम्भीर्यादीनि।

४–प्रवचनसारोद्धार वृत्ति, पत्र ४१० :
जं सरीरेण सह समुप्पन्नं तं लक्खणं।

५–वही वृत्ति, पत्र ४१०-४११।

६–प्रज्ञापना, पद २३।२, सूत्र २९३।

जिसमें सन्धि की दोनों हड्डियाँ आपस में आँटी लगाए हुए हों, उन पर तीसरी हड्डी का वेष्टन हो, चौथी हड्डी की कील उन तीनों को भेद कर रही हुई हो, ऐसे सुदृढ़तम अस्थि-बन्धन का नाम 'वज्र-ऋषभ-नाराच संहनन' है।

'समचउरंसो'—संस्थान का अर्थ है—शरीर की आकृति। उसके छः प्रकार हैं—

(१) समचतुरस्र।
(२) न्यग्रोधपरिमण्डल।
(३) स्वाति (सादि)
(४) वामन।
(५) कुब्ज।
(६) हुण्ड।[1]

पालथी मार कर बैठे हुए जिस व्यक्ति के चारों कोण सम होते हैं, वह 'समचतुरस्र संस्थान' है।

श्लोक ८

४—पिता उग्रसेन (जणओ [क]) :

राजीमती के पिता का नाम उग्रसेन था।[2] उत्तरपुराण के अनुसार उग्रसेन का वंश इस प्रकार है[3]—

शूरसेन
|
शूरवीर
|
अंधकवृष्टि (वृष्णि) — नरवृष्टि (वृष्णि)

अंधकवृष्टि (वृष्णि)
|
समुद्रविजय आदि दश पुत्र (देखिए—श्लोक ११ का टिप्पण)
और दो पुत्रियाँ—कुन्ती, माद्री।

नरवृष्टि (वृष्णि)
|
उग्रसेन, देवसेन, महासेन।

विष्णुपुराण के अनुसार उग्रसेन के ९ पुत्र और ४ पुत्रियाँ थीं।[4]

पुत्रों के नाम—कंस, न्यग्रोध, सुनाम, आनकाह्व, शंकु, सभूमि, राष्ट्रपाल, युद्धतुष्टि और सुतुष्टिमान्।

पुत्रियों के नाम—कंसा, कंसवती, सुतनु और राष्ट्रपालिका।

'सुतनु' राजीमती का दूसरा नाम है। देखिए—श्लोक सैंतीस का टिप्पण।

१—प्रज्ञापना, पद २३।२, सूत्र २९३।

२—बृहद् वृत्ति, पत्र ४९० :
जनकस्तस्याः—राजीमत्या उग्रसेन इत्युक्तम्।

३—उत्तरपुराण, ७०।९३-१००।

४—विष्णुपुराण, ४।१४।२०-२१।

श्लोक ९

५–(सव्वोसहीहि [क], कयकोउयमंगलो [ख], दिव्वजुयल [ग]) :

'सव्वोसहीहि'—शान्त्याचार्य ने स्नान में प्रयुक्त होने वाली निम्न औषधियाँ बतलाई हैं—

(१) जया।

(२) विजया।

(३) ऋद्धि।

(४) वृद्धि आदि।[१]

'कयकोउयमंगलो'—विवाह के पूर्व वर के ललाट से मूशल का स्पर्श करवाना आदि कार्य 'कौतुक' कहलाते हैं और दही, अक्षत, दूब, चन्दन आदि द्रव्य 'मंगल' कहलाते हैं।[२] इनका विवाह आदि मंगल-कार्य में उपयोग होता है।

वाल्मीकीय-रामायण के अनुसार समारोहों पर वर का अलंकरण किया जाता था, जो 'कौतुक-मंगल' कहलाता था।[३]

'दिव्वजुयल'—प्राचीन काल में प्रायः दो ही वस्त्र पहने जाते थे—(१) अन्तरीय—नीचे पहनने के लिए धोती और (२) उत्तरीय—ऊपर ओढ़ने के लिए चद्दर।[४]

श्लोक १०

६–गन्धहस्ती पर (गन्धहत्थि [क]) :

गन्धहस्ती सब हस्तियों में प्रधान होता है, इसीलिए इसे ज्येष्ठक (पट्ट-हस्ती) कहा गया है।[५] इसकी गन्ध से दूसरे हाथी भाग जाते हैं या निर्वीर्य हो जाते हैं।

श्लोक ११

७–दसारचक्र से (दसारचक्केण [ग]) :

समुद्रविजय आदि दस यादव और उनका समूह 'दशार्ह चक्र' कहलाता था।

शान्त्याचार्य तथा अभयदेव सूरि ने 'दसार' का संस्कृत रूप 'दशार्ह' किया है।[६] दशवैकालिक चूर्णि मे 'दसार' शब्द ही प्राप्त है।[७]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ४९० :
सर्वाश्च ता औषधयश्च—जयाविजयार्द्धिवृद्धयादयः सर्वौषधयस्ताभिः।

२–वही, पत्र ४९० :
कौतुकानि—ललाटस्य मुशलस्पर्शनादीनि मंगलानि च—दध्यक्षतदूर्वाचन्दनादीनि।

३–रामायणकालीन संस्कृति, पृ० ३२।

४–बृहद् वृत्ति, पत्र ४९० :
दिव्ययुगलमिति प्रस्तावाद् दूष्ययुगलम्।

५–वही, पत्र ४९० :
ज्येष्ठमेव ज्येष्ठकम्—अतिशयप्रशस्यमतिवृद्धं वा गुणैः पट्टहस्तिनमित्यर्थः।

६–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र ४९० :
'दसारचक्केणं' ति दशार्हचक्रेण यदुसमूहेन।
(ख) अन्तकृद्दशांग १।१, वृत्ति—
दश च तेऽर्हाश्च—पूज्या इति दशार्हाः।

७–दशवैकालिक जिनदास चूर्णि, पृ० ४१ :
जहा दसारा महुराओ जरासिंधुरायभयात् बारवइं गया।

समुद्रविजय, अक्षोभ्य, स्तिमित, सागर, हिमवान्, अचल, धरण, पूरण, अभिचन्द्र, वसुदेव—ये दस भाई थे।[१] उत्तरपुराण में 'धरण' के स्थान में 'धारण' और 'अभिचन्द्र' के स्थान में 'अभिनन्दन' नाम मिलता है।[२] सम्भवतः इन्हीं के कारण 'दसार' शब्द चला किन्तु आगे चलकर वह यदु-समूह के अर्थ में रूढ हो गया। अन्तकृतदशा में 'दसण्हं दसाराणं' पाठ मिलता है। इसमें दसार के साथ दस शब्द और जुड़ा हुआ है। इससे लगता है कि दूसरा शब्द प्रत्येक भाई या यदुवंशी के लिए प्रयुक्त होने लगा था।

श्लोक १३

८–वृष्णिपुङ्गव (वण्हिपुंगवो घ) :

अन्धक और वृष्णि ये दो भाई थे। वृष्णि अरिष्टनेमि के दादा थे। उनसे वृष्णि-कुल का प्रवर्त्तन हुआ। अरिष्टनेमि वृष्णि-कुल में प्रधान पुरुष थे। अतः उन्हें यहाँ वृष्णिपुङ्गव कहा गया है।[3] दशवैकालिक तथा इस अध्ययन के ४३ वें श्लोक में इनका कुल 'अन्धक-वृष्णि' कहा गया है।[४] अन्धक-वृष्णि-कुल दोनों भाइयों के संयुक्त नाम से प्रचलित था।

उत्तरपुराण में 'अंधक वृष्टि' शब्द है और यह एक ही व्यक्ति का नाम है। कुशार्थ (कुशार्त ?) देश के सौर्यपुर नगर के स्वामी सूरसेन के शूरवीर नाम का पुत्र था। उसके दो पुत्र हुए अन्धकवृष्टि और नरवृष्टि। समुद्रविजय आदि अन्धकवृष्टि के पुत्र थे।[५]

देखिए—पृ० १५६ श्लोक ८ का टिप्पण।

१–अन्तकृद्दशांग, १।१, वृत्ति—

दसण्हं दसाराणं ति तत्रैते दश—

समुद्रविजयोऽक्षोभ्य:, स्तिमितः सागरस्तथा।

हिमवानचलश्चैव, धरणः पूरणस्तथा॥

अभिचन्द्रश्च नवमो, वसुदेवश्च वीर्यवान्।

वसुदेवानुजे कन्ये, कुन्ती माद्री च विश्रुते॥

२–उत्तरपुराण, ७०।९५-९७ :

धर्मावान्धकवृष्टेश्च सुभद्रायाश्च सुस्वराः।

समुद्रविजयोऽक्षोभ्यस्ततः स्तिमितसागरः॥

हिमवान् विजयो विद्वान्, अचलो धारणाह्वयः।

पूरणः पूरितार्थीच्छो, नवमोऽप्यभिनन्दनः॥

वसुदेवोऽन्तिमश्चैवं, दशाभूवन् शशिप्रभाः।

कुन्ती माद्री च सोमे वा, सुते प्रादुर्बभूवतुः॥

३–बृहद् वृत्ति, पत्र ४९० :

'वृष्णिपुंगवः' यादवप्रधानो भगवानरिष्टनेमिरितियावत्।

४–दशवैकालिक, २।८।

५–उत्तरपुराण ७०।९२-९४ :

तथा कुशार्थविषये, तद्वंशाम्बरभास्वतः।

अवार्यनिजशौर्येण, निर्जिताशेषविद्विषः।

ख्यातशौर्यपुराधीश-सूरसेनमहीपतेः॥

सुतस्य शूरवीरस्य, धारिण्याश्च तनूद्भवौ।

विख्यातोऽन्धकवृष्टिश्च, पतिर्वृष्टिर्नराधिपात्॥

श्लोक १४-२२

९–श्लोक १४-२२ :

उत्तराध्ययन के अनुसार अरिष्टनेमि ने बाड़ों में रोके हुए जानवरों को देखा, उनके बारे मे सारथि से पूछा। सारथि ने बताया—ये आपके विवाह के भोज के लिए हैं। अरिष्टनेमि ने इसे अपने लिए उचित न समझा। उन्होंने अपने सारे आभरण उतार कर सारथि को दे दिए और वे अभिनिष्क्रमण के लिए तैयार हो गए।

वे जानवर कहाँ रोके हुए थे और किसने रोके थे ? मूल आगम में इसकी कोई चर्चा नहीं है। सुखबोधा के अनुसार वे उग्रसेन के द्वारा विवाह-मण्डप के आस-पास ही बाड़ों में रोके हुए थे।[1]

उत्तरपुराण में इससे भिन्न कल्पना है। उसके अनुसार श्रीकृष्ण ने अरिष्टनेमि को विरक्त करने के लिए बाड़ों में हिरनों को एकत्रित करवाया था। श्रीकृष्ण ने सोचा—नेमिकुमार वैराग्य का कुछ कारण पाकर भोगों से विरक्त हो जाएँगे। ऐसा विचार कर वे वैराग्य का कारण जुटाने का प्रयत्न करने लगे। उनकी समझ में एक उपाय आया। उन्होंने बड़े-बड़े शिकारियों से पकड़वा कर अनेक मृगों का समूह बुलाया और उसे एक स्थान पर इकट्ठा कर उसके चारों ओर बाड़ा लगवा दी तथा वहाँ जो रक्षक नियुक्त किए थे उनसे कह दिया कि यदि भगवान् नेमिनाथ दिशाओं का अवलोकन करने के लिए आएँ और इन मृगों के विषय में पूछें तो उनसे साफ-साफ कह देना कि आपके विवाह में मारने के लिए चक्रवर्ती ने यह मृगों का समूह बुलवाया है।

एक दिन नेमिकुमार चित्रा नामकी पालकी पर आरूढ़ होकर दिशाओं का अवलोकन करने के लिए निकले। वहाँ उन्होंने घोर करुण स्वर से चिल्ला-चिल्लाकर इधर उधर दौड़ते, प्यासे, दीनदृष्टि से युक्त तथा भय से व्याकुल हुए मृगों को देख दयावश वहाँ के रक्षकों से पूछा कि यह पशुओं का बहुत भारी समूह यहाँ एक जगह किसलिए रोका गया है ? उत्तर में रक्षकों ने कहा—"हे देव ! आपके विवाहोत्सव में व्यय करने के लिए महाराज श्रीकृष्ण ने इन्हें बुलाया है।" यह सुनते ही भगवान् नेमिनाथ विचार करने लगे कि ये पशु जंगल में रहते हैं, तृण खाते हैं और कभी किसी का कुछ अपराध नहीं करते हैं फिर भी लोग इन्हें अपने भोग के लिए पीड़ा पहुँचाते हैं। ऐसा विचार कर वे विरक्त हुए और लौट कर अपने घर आ गए। रत्नत्रय प्रकट होने से उसी समय लोकान्तिक देवों ने आकर उन्हें समझाया। अपने पूर्व-भवों का स्मरण कर वे भय से काँप उठे। उसी समय उन्होंने आकर दीक्षा-कल्याण का उत्सव किया।[2]

किन्तु इसकी अपेक्षा उत्तराध्ययन का विवरण अधिक हृदयस्पर्शी है।

श्लोक १५

१०–(जीवियन्तं तु संपत्ते क, मंसट्ठा ख, महापन्ने ग, सारहिं घ) :

'जीवियन्तं तु संपत्ते'—यहाँ निकट भविष्य में मारे जाने वाले या जीवन की अन्तिम दशा में होने वाले प्राणियों को 'मृत्यु-सम्प्राप्त' कहा है।[3]

१–सुखबोधा, पत्र २७९।

२–उत्तरपुराण, ७१।१५२-१६८।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र ४९० :

जीवितस्यान्तो—जीवितान्तो मरणमित्यर्थस्तं संप्राप्तानिव संप्राप्तान्, अतिप्रत्यासन्नत्वादस्य, यद्वा जीवितस्यान्तः—पर्यन्तदेशो भागस्तमुक्तहेतोः संप्राप्तान्।

'मंसट्ठा'—(१) मांस के लिए या (२) मांस से मांस का उपचय होता है इसलिए अपना मांस बढ़ाने के लिए—ये दोनों 'मंसट्ठा' के अर्थ हो सकते हैं ।[1]

'महापन्ने'—इसका प्रकरणगत अर्थ है—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान से सम्पन्न ।[2]

'सारहिं'—अरिष्टनेमि राजभवन से गन्ध-हस्ती पर आरूढ़ होकर चले थे परन्तु सम्भवतः विवाह-मण्डप के समीप पहुंचकर वे रथ पर चढ़ गए—यह इस 'सारथि' शब्द से सूचित होता है या 'महाव्रत' के अर्थ में ही सारथि शब्द प्रयुक्त हुआ है ।[3]

श्लोक १७

११–भद्र (भद्दा ^ख) :

वे प्राणी 'श्रेष्ठ' या 'निरपराध' थे इसलिए उन्हें यहाँ 'भद्र' कहा गया है । कुत्ते, सियार आदि अभद्र माने जाते हैं ।[4]

श्लोक १६

१२–परलोक में (परलोगे ^घ) :

भगवान् अरिष्टनेमि चरम-शरीरी और विशिष्ट-ज्ञानी थे । फिर भी 'परलोक में मेरे लिए श्रेयस्कर नहीं होगा'—यह जो कहा—उसका तात्पर्य यह है कि यह पापकारी प्रवृत्ति है ।[5] किसी भी पापकारी प्रवृत्ति के लिए—'यह परलोक में श्रेयस्कर नहीं होगा'—इस सामान्य उक्ति का प्रयोग किया जाता है ।

परलोक का एक अर्थ पशु-जगत् भी है ।[6] इस सन्दर्भ में प्रस्तुत चरणों का अर्थ—'यह मेरा कार्य पशु-जगत् के प्रति कल्याणकर नहीं होगा'—यह भी किया जा सकता है ।

श्लोक २२

१३–शिविका रत्न में (सीयारयणं ^ख) :

इस शिविका का नाम 'उत्तरकुरु' था और इसका निर्माण देवों ने किया था ।[7]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ४९०-४९१ :
'मांसार्थं' मांसनिमित्तं च भक्षयितव्यान् मांसस्यैवातिगृद्धिहेतुत्वेन तद्भक्षणनिमित्तत्वादेवमुक्तं, यद्वा 'मांसेनैव मांसमुपचीयते' इति प्रवादतो मांसमुपचितं स्यादिति मांसार्थम् ।

२–वही, पत्र ४९१ :
महती प्रज्ञा— प्रक्रमान्मतिश्रुतावधिज्ञानत्रयात्मिका यस्यासौ महाप्रज्ञः ।

३–वही, पत्र ४९१ :
'सारथिं' प्रवर्त्तयितारं प्रक्रमाद्गन्धहस्तिनो हस्तिपकमितियावत्, यद्वाऽत एव तदा रथारोहणमनुमीयत इति रथप्रवर्त्तयितारम्

४–वही, पत्र ४९१ :
'भद्दा उ' त्ति 'भद्रा एव' कल्याणा एव न तु श्वशृगालादया एव कुत्सिताः, अनपराधतया वा भद्राः ।

५–वही, पत्र ४९१-४९२ :
नैव 'निस्सेसं' त्ति 'निःश्रेयसं' कल्याणं परलोके भविष्यति, पापहेतुत्वादस्येति भावः, भवान्तरेषु परलोकभीरुत्वस्यात्यन्तमभ्यस्तत-यैवमभिधानमन्यथा चरमशरीरत्वादतिशयज्ञानित्वाच्च भगवतः कुत एवंविधचिन्तावसरः ?

६–आचारांग, २।११, चूर्णि पृ० ३७१ ।

७–बृहद् वृत्ति, पत्र ४९२ :
'शिबिकारत्नं' देवनिर्मितमुत्तरकुरुनामकमिति गम्यते ।

श्लोक ३०

१४–श्लोक ३० :

भगवान् अरिष्टनेमि दीक्षा लेकर जनपद में विचरण करने लगे। उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। जब वे विचरण करते हुए पुनः द्वारका आए तब राजीमती ने उनकी देशना सुनी। पहले ही वह विरक्त थी, फिर विशेष विरक्त हुई। तत्पश्चात् उसने जो किया वह इस श्लोक में वर्णित है।[1]

१५–कंघी से (फणग ख) :

यह देशी शब्द है। इसका अर्थ है—कंघी।[2] सूत्रकृतांग में इसी अर्थ में 'फणिह' शब्द प्रयुक्त हुआ है।[3]

श्लोक ३५

१६–भुजाओं के गुम्फन से वक्ष को ढाँक कर (बाहाहिं काउं संगोफं ग) :

संगोप का अर्थ है—भुजाओं का परस्पर गुम्फन—स्तनों पर मर्कट बंध लगाना।[4]

नेमिचन्द्राचार्य ने इसका अर्थ 'पंकुटीबन्ध' किया है। उनके अनुसार इसका संस्कृत रूप 'संगोफ' है।[5]

श्लोक ३७

१७–सुतनु ! (सुयणू ! ग) :

इस शब्द से राजीमती को आमन्त्रित किया गया है। चूर्णि और टीकाओं में इसका कोई विशेष अर्थ नहीं है।

विष्णुपुराण के अनुसार उग्रसेन की चार पुत्रियों में एक का नाम सुतनु था।[6] सम्भव है यह राजीमती का दूसरा नाम रहा हो।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ४९३ :
इत्थं चासौ तावदवस्थिता यावदन्यत्र प्रविहृत्य तत्रैव भगवानाजगाम, तत उत्पन्नकेवलस्य भगवतो निशम्य देशनां विशेषत उत्पन्नवैराग्या किं कृतवतीत्याह—'अहे' त्यादि।

२–वही, पत्र ४९३ :
फणकः—कङ्कतकः।

३–सूत्रकृतांग, १।४।२।११ :
संडासगं च फणिहं च, सीहलिपासगं च आणाहि।

४–बृहद् वृत्ति, पत्र ४९४ :
'संगोपं' परस्परबाहुगुम्फनं स्तनोपरिमर्कटबन्धमितियावत्।

५–सुखबोधा, पत्र २८३ :
'संगोफं' पंकुटीबन्धमरूपम्।

६–विष्णुपुराण ४।१४।२१ :
कंसाकंसवतीसुतनुराष्ट्रपालिकाह्वाश्चोग्रसेनस्य तनूजाः कन्याः।

श्लोक ४३

१८–भोजराज की (भोयरायस्स क) :

विष्णुपुराण में कंस को भोजराज कहा है।[1] कीर्तिराज (वि० १४९५ से पूर्ववर्ती) द्वारा रचित नेमिनाथ चरित में उग्रसेन को भोजराज तथा राजीमती को भोज-पुत्री या भोजराज-पुत्री कहा गया है।[2] कुछ प्रतियों में 'भोगरायस्स' पाठ मिलता है। वहाँ या तो लिपिदोष के कारण ऐसा हुआ है अथवा यह हो सकता है कि किसी परम्परा में 'ज' को 'ग' आदेश कर 'भोगरायस्स' पाठ किया गया। जहाँ 'भोगरायस्स' पाठ है वहाँ भी उसका संस्कृत रूप 'भोजराजस्य' ही होना चाहिए।

१–विष्णु पुराण, ३।५।२१।

२–नेमिनाथ चरित :

इतश्चाऽऽभोज कुल्याऽऽशो, भोजराजांगभूरभूत्।
उग्रसेनो महीजानिर्धारिणीसमन्वितः ॥९।४३॥
स्निग्धां विदग्धां नृपभोजपुत्रीं, साम्राज्यलक्ष्मीं स्वजनं च हित्वा।
पितृननुज्ञाप्य च माननीयान्, बभूव दीक्षाऽभिमुखोऽथ नेमिः ॥१०।४४॥
अथ भोजनरेन्द्रपुत्रिका, प्रविमुक्ता प्रभुणा तपस्विनी।
व्यलपद् गलदश्रुलोचना, शिथिलांगा लुठिता महीतले ॥११।१॥

अध्ययन २३

केसिगोयमिज्जं

श्लोक २

१–कुमार-श्रमण (कुमारसमणे ग) :

कुमार शब्द का सम्बन्ध 'कुमार श्रमण' और 'केशीकुमार'—इस प्रकार दोनों रूपों में किया जा सकता है। शान्त्याचार्य ने प्रथम रूप मान्य किया है।[1]

श्लोक ११

२–आचार-धर्म की व्यवस्था (आयारधम्मपणिही ग) :

यहाँ 'आचार' का अर्थ है—वेष-धारण आदि बाह्य क्रिया-कलाप और प्रणिधि का अर्थ है—व्यवस्थापन। इसका समग्र अर्थ है—बाह्य क्रिया-कलापरूप धर्म का व्यवस्थापन।[2] बाह्य क्रिया-कलापों को धर्म इसलिए कहा है कि वे भी आत्मिक-विकाश के हेतु बनते हैं।

श्लोक १२

३–श्लोक १२ :

मिलाइए—स्थानांग ४।१।२६६।

श्लोक १३

४–(अचेलगो क, सन्तरुत्तरो ख) :

'अचेलगो'—इसके दो अर्थ हैं—

(१) साधना का वह प्रकार जिसमें वस्त्र नहीं रखे जाते।

(२) साधना का वह प्रकार जिसमें श्वेत और अल्प-मूल्य वाले वस्त्र रखे जाते हैं।

यहाँ अचेलक शब्द के द्वारा इन दोनों अर्थों की सूचना दी गई है।[3]

'सन्तरुत्तरो'—शान्त्याचार्य ने 'अन्तर' का अर्थ विशेषित (विशेषता युक्त) और 'उत्तर' का अर्थ प्रधान किया है। दोनों की तुलना में इसका अर्थ यह होता है कि भगवान् महावीर ने अचेल या कुचेल (केवल श्वेत और अल्प-मूल्य वस्त्र वाले) धर्म का निरूपण किया

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ४९८ :
केशिनामा कुमारश्चासावपरिणीततया श्रमणश्च तपस्वितया कुमारश्रमणो।

२–वही, पत्र ४९९ :
आचरणमाचारो—वेषधारणादिको बाह्यः क्रियाकलाप इत्यर्थः स एव सुगतिधारणाद्धर्मः, प्राप्यते हि बाह्यक्रियामात्रादपि नवमग्रैवेयकमितिकृत्वा, तस्य प्रणिधिः—व्यवस्थापनमाचारधर्मप्रणिधिः।

३–देखो, 'सन्तरुत्तरो' का पहला पाद-टिप्पण।

और भगवान् पार्श्वनाथ ने प्रमाण और वर्ण की विशेषता से विशिष्ट तथा मूल्यवान् वस्त्र वाले धर्म का अर्थात् सचेल धर्म का निरूपण किया।[1]

आचारांग (१।८।४।५१) तथा कल्पसूत्र (सू० २५६) में 'संतरुत्तर' शब्द मिलता है। शीलांकसूरि ने आचारांग के 'संतरुत्तर' शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है—उत्तर अर्थात् प्रावरणीय, सान्तर अर्थात् भिन्न-भिन्न समयों में। मुनि अपनी आत्मा को तोलने के लिए सान्तरोत्तर भी होता है। वह वस्त्र को क्वचित् काम में लेता है, क्वचित् पास में रखता है और सर्दी की आशंका से उसका विसर्जन नहीं करता।[2]

कल्पसूत्र के चूर्णिकार और टिप्पणकार ने 'अन्तर' शब्द के तीन अर्थ किए हैं—(१) सूती वस्त्र, (२) रजोहरण और (३) पात्र तथा उत्तर शब्द के दो अर्थ किए हैं—(१) कम्बल और (२) ऊपर ओढ़ने का वस्त्र-उत्तरीय।[3] वहाँ प्रकरण प्राप्त अर्थ यह है कि भीतर सूती कपड़ा और ऊपर ऊनी कपड़ा ओढ़कर भिक्षा के लिए जाए। शान्त्याचार्य ने जो अर्थ किया है वह कुचेल शब्द की तुलना में संगत हो सकता है किन्तु अचेल के साथ उसकी पूरी संगति नहीं बैठती। वर्षा के समय भीतर सूती कपड़ा और उसके ऊपर ऊनी कपड़ा ओढ़कर बाहर जाने की परम्परा रही है।[4] शान्त्याचार्य ने भी ३० वें श्लोक के लिंग शब्द का अर्थ वर्षा-कल्प आदि रूप-वेष किया है[5] और ३२ वें श्लोक के 'नानाविध-विकल्पन' एवं 'यात्रार्थ' की व्याख्या में भी इसका उल्लेख किया है।[6] यहाँ अचेल और सचेल का वर्णन है इसलिए अन्तर का अर्थ अंतरीय—अधोवस्त्र और उत्तर का अर्थ उत्तरीय—ऊपर का वस्त्र भी किया जा सकता है।

इस प्रकार सान्तरोत्तर के तीन अर्थ प्राप्त होते हैं—

(१) उत्तराध्ययन बृहद् वृत्ति—श्वेत और अल्प मूल्य वस्त्र का निरूपण करने वाला धर्म।

(२) आचारांग वृत्ति—वस्त्र को क्वचित् ओढ़ने वाला और क्वचित् अपने पास में रखने वाला।

(३) कल्पसूत्र चूर्णि और टिप्पण—सूती वस्त्र को भीतर और ऊनी वस्त्र को ऊपर ओढ़कर भिक्षा के लिए जाने वाला।

ये तीनों अर्थ भिन्न दिशाओं में विकसित हुए हैं।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ५०० :
'अचेलकश्च' उक्तन्यायेनाविद्यमानचेलकः कुत्सितचेलको वा यो धर्मो वर्धमानेन देशित इत्यपेक्ष्यते, तथा 'जो इमो' त्ति पूर्ववद् यश्चायं सान्तराणि—वर्द्धमानस्वामिसत्कयतिवस्त्रापेक्षया कस्यचित्कदाचिन्मानवर्णविशेषतो विशेषितानि उत्तराणि च—महाधनमूल्यतया प्रधानानि प्रक्रमाद्वस्त्राणि यस्मिन्नसौ सान्तरोत्तरो धर्मः पार्श्वेन देशित इतीहापेक्ष्यते।

२–आचारांग १।८।४।५१ वृत्ति, पत्र २५२—
अथवा क्षेत्रादिगुणाद् हिमकणिनि वाते वाति सति आत्मपरितुलनार्थं शीतपरीक्षार्थं च सांतरोत्तरो भवेत्—सान्तरमुत्तरं—प्रावरणीयं यस्य स तथा, क्वचित् प्रावृणोति क्वचित् पार्श्ववर्ति बिभर्त्ति, शीताशंकया नाद्यापि परित्यजति।

३–(क) कल्पसूत्र चूर्णि, सूत्र २५६।
(ख) कल्पसूत्र टिप्पनक, सूत्र २५६।

४–(क) ओघनिर्युक्ति, गाथा ७२६ वृत्ति।
(ख) धर्मसंग्रह वृत्ति, पत्र ६६ :
कम्बलस्य च वर्षासु बहिर्निर्गतानां तात्कालिकवृष्ट्यप्कायरक्षणमुपयोगः, यतो बालवृद्धग्लाननिमित्तं वर्षत्यपि जलधरे भिक्षार्थं असह्योच्चारप्रस्रवणपरिष्ठापनार्थं च निःसरतां कम्बलावृतदेहानां न तथाविधाप्कायविराधनेति।

५–बृहद् वृत्ति, पत्र ५०३ :
लिंगं—वर्षाकल्पादिरूपो वेषः।

६–(क) वही, पत्र ५०३ :
'नानाविधविकल्पनं' प्रक्रमान्नानाप्रकारोपकरणपरिकल्पनं, नानाविधं हि वर्षाकल्पाद्युपकरणं यथावद्यतिष्वेव संभवतीति।
(ख) वही, पत्र ५०३ :
यात्रा—संयमनिर्वाहस्तदर्थं, विना हि वर्षाकल्पादिकं वृष्ट्यादौ संयमबाधैव स्यात्।

श्लोक १७

५—(पंचमं कुसतणाणि ख) :

यहाँ पाँच प्रकार के तृणों का उल्लेख किया गया है—

(१) शाली—कमल शाली आदि का पलाल।

(२) व्रीहिक—साठी चावल आदि का पलाल।

(३) कोद्रव—कोद्रव धान्य, कोदो का पलाल।

(४) रालक—कंगु का पलाल।

(५) अरण्य-तृण—श्यामाक आदि।[1]

श्लोक १९

६—(पासण्डा ख) :

पासंड शब्द श्रमण का पर्यायवाची नाम है।[2] जैन और बौद्ध-साहित्य में 'पाषंड' शब्द श्रमण-सम्प्रदाय के अर्थ में प्रयुक्त होता था। आवश्यक (४) में 'परपासंड प्रसंसा' और 'परपासंड संथवो' ये प्रयोग मिलते हैं। उत्तराध्ययन १७।१७ में 'परपासण्ड' शब्द प्रयुक्त हुआ है। यहाँ पाषंड के साथ 'पर' शब्द है, उससे 'आत्म-पाषंड' और 'पर-पाषंड'—ये दो प्रकार स्वयं फलित हो जाते हैं।

अशोक अपने बारहवें शिलालेख में कहता है—"देवोंका प्रिय प्रियदर्शी राजा सब प्रकार के श्रमणों की (पार्षडियों को), परिव्राजकों की और गृहस्थों की दान-धर्म से तथा अन्य अनेक प्रकारों से पूजा करता है। पर देवोंका-प्रिय दान और पूजा को उतना महत्त्व नहीं देता जितना सब पार्षडियों की सार-वृद्धि को। सार-वृद्धि के अनेक प्रकार हैं। उसका मूल है वाचा-गुप्ति। उदाहरणार्थ आत्म-पाषण्डि की भरमार न करे और पर-पाषण्डि की निन्दा न होने दे। यदि कोई झगड़े का कारण उपस्थित हो भी जाए तो उसे महत्त्व न दे। 'पर-पाषंड' का मान रखना अनेक प्रकार से उचित है। ऐसा करने से वह 'आत्म-पाषंड' की निश्चय से अभिवृद्धि करता है और 'पर-पाषंड' पर भी उपकार करता है।"

स्थानांग १०।७६० में दस धर्मों में चौथा धर्म 'पाषंड-धर्म' है। अभयदेव सूरी ने इसका अर्थ—'पाखंडियों का आचार' किया है।[3] स्थानांग १०।७६१ में दस प्रकार के स्थविर बतलाए गए हैं। उनसे तुलना करने पर पाषण्ड का अर्थ 'धर्म सम्प्रदाय' होना चाहिए।

ग्राम-धर्म	ग्राम-स्थविर।
नगर-धर्म	नगर-स्थविर।
राष्ट्र-धर्म	राष्ट्र-स्थविर।
पाषंड-धर्म	प्रशास्तृ-स्थविर।
कुल-धर्म	कुल-स्थविर।
गण-धर्म	गण-स्थविर।
संघ-धर्म	संघ-स्थविर।

१—प्रवचनसारोद्धार, गाथा ६१५ :
तणपणगं पुण भणियं जिणेहिं जियरागदोसमोहेहिं।
साली वीहि कोद्दव रालय रण्णे तिणाइं च॥

२—दशवैकालिक निर्युक्ति गाथा १६४, १६५।

३—स्थानांग १०।७६० वृत्ति, पत्र ४८९ :
पाखण्डधर्म्मः पाखण्डिनामाचारः।

संख्याक्रम से प्रशास्तृ-स्थविर चौथा है। इसका अर्थ है—धर्मोपदेशक। दस धर्मों में इसकी संख्याक्रम से पाषंड-धर्म से तुलना होती है, इसलिए इसका अर्थ 'धर्म-सम्प्रदाय' ही होना चाहिए।

शान्त्याचार्य ने यहाँ[1] और तिरसठवें[2] श्लोक की व्याख्या में पाषण्ड का अर्थ 'व्रती' किया है।

मनुस्मृति में पाषण्ड का प्रयोग गर्हित अर्थ में हुआ है।[3] उसका तात्पर्य श्रमण-परम्परा के अर्चित शब्द का अर्थापकर्ष करना ही हो सकता है।

श्लोक २६

७–(उज्जुजडा क, वंकजडा ख, उज्जुपन्ना ग) :

'उज्जुजडा'—ऋजु और जड़। प्रथम तीर्थङ्कर के साधु 'ऋजु-जड़' होते हैं। वे स्वभावतः ऋजु होते हैं, अतः उन्हें तत्त्व का बोध कराना अत्यन्त दुष्कर होता है।[4]

'वंकजडा'—वक्र और जड़। अन्तिम तीर्थङ्कर के मुनि 'वक्र-जड़' होते हैं। वे स्वभावतः वक्र होते हैं, उनके लिए तत्त्व का पालन अत्यन्त दुष्कर होता है।[5]

'उज्जुपन्ना'—ऋजु और प्राज्ञ। मध्यवर्ती बाईस तीर्थङ्करों के मुनि 'ऋजु-प्राज्ञ' होते हैं। वे स्वभावतः सरल, सुबोध्य और आचार-प्रवण होते हैं।[6]

स्थानाङ्ग में बताया गया है कि प्रथम तथा अन्तिम तीर्थङ्कर के शासन में पाँच स्थान दुर्गम होते हैं—

(१) धर्म-तत्त्व का आख्यान करना।

(२) तत्त्व का अपेक्षा की दृष्टि से विभाग करना।

(३) तत्त्व का युक्तिपूर्वक निदर्शन करना।

उत्पन्न परीषहों को सहन करना।

(५) धर्म का आचरण करना।[7]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ५०१ :

पाषण्डं—व्रतं तद्योगात् 'पाषण्डाः' शेषव्रतिनः।

२–वही, पत्र ५०८ :

कुप्रवचनेषु—कपिलादिप्ररूपितकुत्सितदर्शनेषु पाषण्डिनो—व्रतिनः।

३–मनुस्मृति, ४।३० :

पाषण्डिनो विकर्मस्थान्बैडालव्रतिकाञ्छठान्।
हैतुकान्बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्॥

४–बृहद् वृत्ति, पत्र ५०२ :

'उज्जुजड्डे' त्ति, ऋजवश्च प्राञ्जलतया जडाश्च तत एव दुष्प्रतिपाद्यतया ऋजुजडाः।

५–वही, पत्र ५०२ :

'वक्कजड्डा य' त्ति, वक्राश्च वक्रबोधतया जडाश्च तत एव स्वकानेककुविकल्पतो विवक्षितार्थप्रतिपत्त्यक्षमतया वक्रजडाः।

६–वही, पत्र ५०२।

'ऋजुप्रज्ञाः' ऋजवश्च ते प्रकर्षेण जानन्तीति प्रज्ञाश्च सुखेनैव विवक्षितमर्थं ग्राहयितुं शक्यन्त इति ऋजुप्रज्ञाः।

७–स्थानाङ्ग, ५।१।३९६।

मध्यवर्ती तीर्थङ्करों के शासन में पाँच स्थान सुगम होते हैं—

(१) धर्म-तत्त्व का आख्यान करना।

(२) तत्त्व का अपेक्षा दृष्टि से विभाग करना।

(३) तत्त्व का युक्तिपूर्वक निदर्शन करना।

(४) उत्पन्न परीषहों को सहन करना।

(५) धर्म का आचरण करना।[1]

श्लोक ५५

८—साहसिक (साहसिओ क) :

सूत्रकार के समय में इसका अर्थ 'बिना विचारे काम करने वाला' रहा है।[2] तदन्तर इसके अर्थ का उत्कर्ष हुआ और आज इसका अर्थ 'साहस वाला' किया गया जाता है।

१—स्थानाङ्ग, ५।१।३९६।

२—बृहद् वृत्ति, पत्र ५०७ :

सहसा असमीक्ष्य प्रवर्त्तत इति साहसिकः।

अध्ययन २४

पवयण-माया

श्लोक १

१–आठ प्रवचन-माताएँ (अट्ठ पवयणमायाओ क) :

'मायाओ' शब्द के 'माताः' और 'मातरः'—ये दो संस्कृत रूप किए जा सकते हैं। पाँच समितियों और तीन गुप्तियों—इन आठों में सारा प्रवचन समा जाता है, इसलिए इन्हें 'प्रवचन-माता' कहा जाता है। इन आठों से प्रवचन का प्रसव होता है, इसलिए इन्हें 'प्रवचन-माता' कहा जाता है। पहले में 'समाने' का अर्थ है और दूसरे में 'माँ' का।[1] इसी अध्ययन के तीसरे श्लोक में 'समाने' के अर्थ में प्रयोग है।[2] 'माँ' का अर्थ वृत्ति में ही मिलता है।

श्लोक ३

२–आठ समितियाँ (अट्ठ समिईओ क) :

इसमें 'समितियाँ' आठ बतलाई गई हैं। प्रश्न होता है कि समितियाँ पाँच ही हैं तो यहाँ आठ का कथन क्यों ?

टीकाकार ने इसका समाधान करते हुए कहा है कि 'गुप्तियाँ' केवल निवृत्त्यात्मक ही नहीं होतीं, किन्तु प्रवृत्त्यात्मक भी होती हैं इसी अपेक्षा से उन्हे समिति कहा गया है। जो समित होता है वह नियमतः गुप्त होता है और जो गुप्त होता है वह समित होता भी है और नहीं भी।[3]

श्लोक ७

३–युग-मात्र (गाड़ी के जुए जितनी) (जुगमित्तं ख) :

'युग' का अर्थ है शरीर या गाड़ी का जुआ। चलते समय साधु की दृष्टि युग-मात्र होनी चाहिए अर्थात् शरीर या गाड़ी के जुए जितनी लम्बी होनी चाहिए। जुआ जैसे प्रारम्भ में संकड़ा और आगे से विस्तृत होता है वैसे ही साधु की दृष्टि होनी चाहिए।[4] युग-मात्र का

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ५१३-५१४ :
ईर्यासमित्यादयो माता अभिधीयन्ते 'मातम्'—अन्तरवस्थितं 'खलु' निश्चितं 'प्रवचनं' द्वादशाङ्गं 'यत्र' इति यासु। तदेवं निर्युक्तिकृता मातशब्दो निक्षिप्तः, यदा तु 'माय' त्ति पदस्य मातर इति—संस्कारस्तदा द्रव्यमातरो जनन्यो भावमातरस्तु समितयः, एताभ्यः प्रवचनप्रसवात्, उक्तं हि—'एया पवयणमाया दुवालसंगं पसूयातो' त्ति।

२–उत्तराध्ययन, २४।३ :
दुवालसंगं जिणक्खायं, मायं जत्थ उ पवयणं।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र ५१४ :
गुप्तीनामपि 'प्रवचनविधिना मार्गव्यवस्थापनमुन्मार्गगमननिवारणं गुप्ति' रिति वचनात्कथंचित्सच्चेष्टात्मकत्वात्समितिशब्दवाच्यत्वमस्तीत्येवमुपन्यासः, यत्तु भेदेनोपादानं तत्समितीनां प्रवीचाररूपत्वेन गुप्तीनां प्रवीचाराप्रवीचारात्मकत्वेनान्योऽन्यं कथंचिद्भेदात्, तथा चागमः —

"समिओ णियमा गुत्तो गुत्तो समियत्तणंमि भइयव्वो।
कुसलवइमुदीरंतो जं वइगुत्तोऽवि समिओऽवि॥"

४–दशवैकालिक, ५।१।३, जिनदास चूर्णि पृ० १६८।

दूसरा अर्थ है 'चार हाथ प्रमाण'। इसका तात्पर्य है कि मुनि चार हाथ प्रमाण भूमि को देखता हुआ चले।[1] विशुद्धिमार्ग में भी भिक्षु को युगमात्र-दर्शी कहा है—"इसलिए लोलुप स्वभाव को त्याग, आँखें नीची किए, युगमात्र-दर्शी—चार हाथ तक देखनेवाला हो। धीर (भिक्षु) संसार में इच्छानुरूप विचरने का इच्छुक सपदानचारी बने।"[2] आयुर्वेद के ग्रन्थों में भी युगमात्र भूमि को देखकर चलने का विधान है।[3] मिलाइए—दसवेआलियं (भाग : २), ५।१।३ का टिप्पण, संख्या १५।

कहीं-कहीं 'युग' के स्थान पर 'कुक्कुट के उड़ान की दूरी जितनी भूमि पर दृष्टि डालकर चलने' की बात मिलती है। इस प्रकार चलने वाले भिक्षु 'कौक्कुटिक' कहलाते थे।[4]

श्लोक १२

४–परिभोगैषणा में दोष-चतुष्क (परिभोयंमि चउक्कं ग) :

इस चरण में यह बताया गया है कि मुनि परिभोग-एषणा में चार वस्तुओं—(१) पिंड, (२) शय्या-वसति, (३) वस्त्र और (४) पात्र—का विशोधन करे।[5]

दशवैकालिक (६।४७) में अकल्पनीय पिंड आदि चारों को लेने का निषेध किया गया है। प्रकारान्तर से चतुष्क के द्वारा संयोजना आदि दोषों का ग्रहण किया गया है। यद्यपि भोजन के संयोजना, अप्रमाण, अंगार, धूम, कारण आदि पाँच दोष हैं, फिर भी शान्त्याचार्य ने अंगार और धूम दोनों को एक-कोटिक मान यहाँ इनकी संख्या चार मानी है।

श्लोक १३

५–(ओहोवहोवग्गहियं क, भण्डगं ख) :

'ओहोवहोवग्गहियं'—उपधि दो प्रकार के होते हैं—

(१) ओघ-उपधि।

(२) औपग्रहिक-उपधि।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ५१५ :
'युगमात्रं च' चतुर्हस्तप्रमाणं प्रस्तावात्क्षेत्रं प्रेक्षेत।

२–विशुद्धिमार्ग, १।२, पृ० ६८ :
लोलुप्पचारंच पहाय तस्मा ओक्खित्तचक्खू युगमत्तदस्सी।
आकङ्खमानो भुवि सेरिचारं चरेय्य धीरो सपदानचारं॥

३–अष्टांगहृदय, सूत्र स्थान २।३२ :
विचरेद् युगमात्रदृक्।

४–पाणिनि अष्टाध्यायी ४।४।४६।

५–बृहद् वृत्ति, पत्र ५१७ :
'परिभोग' इति परिभोगैषणायां चतुष्कं पिण्डशय्यावस्त्रपात्रात्मकम्, उक्तं हि—'पिंडं सेज्जं च वत्थं च, चउत्थं पायमेव य' त्ति, विशोधयेत्, इह चतुष्कशब्देन, तद्विषय उपभोग उपलक्षितः, ततस्तं विशोधयेदिति, कोऽर्थः?—उद्गमादिदोषरहितः शुद्धमेव चतुष्कं परिभुञ्जीत, यद्विवोद्गमादीनां दोषोपलक्षणत्वात् 'उग्गम' त्ति उद्गमदोषान् 'उप्पायणं' ति उत्पादनादोषान् 'एसण' त्ति एषणादोषान् विशोधयेत्, 'चतुष्कं च' संयोजनाप्रमाणाङ्गारधूमकारणात्मकम्, अङ्गारधूमयोर्मोहनीयान्तर्गतत्वेनैकतया विवक्षितत्वात्।

जो स्थायी रूप से अपने पास रखा जाता है उसे 'ओघ-उपधि' और जो विशेष कारण वश रखा जाता है उसे 'औपग्रहिक-उपधि' कहा जाता है।[१]

जिन-कल्पिक मुनियों के बारह, स्थविर-कल्पिक मुनियों के चौदह और साध्वियों के पच्चीस ओघ-उपधि होते हैं। इससे अधिक उपधि रखे जाते हैं, वे सब औपग्रहिक होते हैं।[२]

'भण्डगं' (भण्डक) का अर्थ 'उपकरण' है। ओघनिर्युक्ति के अनुसार उपधि, उपग्रह, संग्रह, प्रग्रह, अवग्रह, भण्डक, उपकरण और करण—ये सब पर्यायवाची हैं।[३]

श्लोक १६-१८

६—श्लोक १६-१८ :

इन श्लोकों में परिष्ठापन विधि का समुचित निर्देश हुआ है। मुनि कहाँ और कैसे परिष्ठापन करे, इसकी विधि बतलाते हुए कहा है कि गाँव और उद्यानों से दूरवर्ती स्थानों में, कुछ समय पूर्व दग्ध स्थानों में मल आदि का विसर्जन करे। क्योंकि स्वल्पकाल पूर्व के दग्ध-स्थान ही सर्वथा अचित्त (जीव-रहित) होते हैं। जो चिरकाल दग्ध होते है, वहाँ पृथ्वीकाय आदि के जीव पुनः उत्पन्न हो जाते हैं।[४]

पन्द्रह कर्मादानों में 'दव-दाह' एक प्रकार है। यह दो प्रकार का होता है—

(१) व्यसन से—अर्थात् फल की अपेक्षा किये बिना ही वनों को अग्नि से जला डालना।

(२) पुण्य-बुद्धि से—अर्थात् कोई व्यक्ति मरते समय यह कह कर मरे की मेरे मरने के बाद इतने धर्म-दीपोत्सव अवश्य करना। ऐसी स्थिति में भी वन आदि जलाये जाते थे। अथवा धान्य आदि की समृद्धि के लिये खेतों में उगे हुए तृण आदि जलाये जाते थे।[५]

उपर्युक्त प्रवृत्तियाँ उस समय प्रचलित थीं, अतः मुनियों को दग्ध-स्थान सहज मिल जाते थे।

१–ओघनिर्युक्ति, गाथा ६६७।
ओहे उवग्गहंमि य दुविहो उवही उ होइ नायव्वो।

२–वही, गाथा ६७१-६७७।

३–वही, गाथा ६६६ :
उवही उवग्गहे संगहे य तह पग्गहुग्गहे चेव।
भंडग उवगरणे य करणे वि य हुंति एगट्ठा॥

४–बृहद् वृत्ति, पत्र ५१८ :
'अचिरकालकृते च' दाहादिना स्वल्पकालनिर्वर्त्तिते, चिरकालकृते हि पुनः संमूर्छन्त्येव पृथ्वीकायादयः।

५–प्रवचन सारोद्धार, गाथा २६६ वृत्ति, पत्र ६२।

अध्ययन २५
जन्नइज्जं

श्लोक ४

१–यज्ञ (जन्नं ग) :

यज्ञ वैदिक परम्परा का आधार है। शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ को सबसे श्रेष्ठ-कर्म कहा है।[१]

कर्म-काण्डी मीमांसकों का अभिमत है कि जो यज्ञ को छोड़ देता है, वह श्रौत-धर्म से वञ्चित हो जाता है। भगवान् महावीर के समय यज्ञों का प्रचलन अधिक था। केवल उत्तराध्ययन में ही यज्ञों का विरोध दो स्थलों में पाया जाता है। श्रौत-यज्ञों के बन्द होने में जैन मुनियों के प्रयत्न बहुत महत्त्वपूर्ण रहे हैं।

लोकमान्य तिलक के अनुसार—"उपनिषदों में प्रतिपादित ज्ञान के कारण मोक्ष-दृष्टि से इन कर्मों की गौणता आ चुकी थी (गीता २।४१-४६)। यही गौणता अहिंसा-धर्म का प्रचार होने पर आगे अधिकाधिक बढ़ती गई। भागवत-धर्म में स्पष्टतया प्रतिपादित किया गया है कि यज्ञ-याग वेद-विहित हैं, तो भी उनके लिए पशु-वध नहीं करना चाहिए। धान्य से ही यज्ञ करना चाहिए। (देखिए—महाभारत शान्तिपर्व ३३६।१० और ३३७)। इस कारण (तथा कुछ अंशों में आगे जैनियों के भी ऐसे ही प्रयत्न करने के कारण) श्रौत-यज्ञ मार्ग की आज-कल यह दशा हो गई है कि काशी सरीखे बड़े-बड़े धर्म-क्षेत्रों में भी श्रौताग्निहोत्र पालन करने वाले अग्नि-होत्री बहुत ही थोड़े दीख पड़ते हैं और ज्योतिष्टोम आदि पशु यज्ञों का होना तो दस-बीस वर्षों में कभी-कभी सुन पड़ता है।"[२]

धर्मानन्द कौशाम्बी के अनुसार यज्ञ के उन्मूलन की दिशा में पहला प्रयत्न भगवान् पार्श्व ने किया : "इस प्रकार के लम्बे-चौड़े यज्ञ लोगों को कितने अप्रिय होते जा रहे थे, इसके और भी बहुत-से उदाहरण बौद्ध साहित्य में मिलते हैं। इन यज्ञों से ऊब कर जो तापस जंगलों में चले जाते थे वे यदि कभी ग्रामों में आते भी थे तो लोगों को उपदेश देने के फेर में नहीं पड़ते थे। पहले पहल ऐसा प्रयत्न सम्भवतः पार्श्वनाथ ने किया। उन्होंने जनता को दिखा दिया कि यज्ञ याग धर्म नहीं, चार याम ही सच्चा धर्म-मार्ग है। यज्ञ-याग से ऊबी हुई सामान्य जनता ने तुरन्त इस धर्म को अपनाया।"[३]

श्लोक ७

२–विप्र, द्विज (विप्पा क, दिया ख) :

सामान्यतः 'विप्र' और 'द्विज'—ये दोनों शब्द 'ब्राह्मण' के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। किन्तु इनके निरुक्त भिन्न-भिन्न हैं। जो व्यक्ति ब्राह्मण-जाति में उत्पन्न होते हैं उन्हें 'विप्र' कहा जाता है। यह 'जाति-वाचक' संज्ञा है। जो व्यक्ति ब्राह्मण-जाति में उत्पन्न होते हैं और योग्य वय को प्राप्त हो यज्ञोपवीत धारण करते हैं—संस्कारित होते हैं, उन्हें 'द्विज' कहा जाता है। यह एक विशिष्ट संस्कार है जो कि दूसरा जन्म ग्रहण करने के सदृश माना जाता है।[४]

१–शतपथ ब्राह्मण १।७।४।५ :
यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म।
२–गीता रहस्य, पृ० ३०५।
३–भारतीय संस्कृति और अहिंसा, पृ० ६१।
४–बृहद् वृत्ति, पत्र ५२३ :
विप्रा जातितः, ये 'द्विजाः' संस्कारापेक्षया द्वितीयजन्मानः।

यह भी सम्भव है कि जो वेदों के ज्ञाता होते थे, उन्हें 'विप्र' और जो यज्ञ आदि करने-कराने में निपुण होते थे, उन्हें 'द्विज' कहा जाता था। यह भाव स्वयं प्रस्तुत श्लोक के प्रथम और द्वितीय चरण में स्पष्ट है---

जे य वेयविऊ विप्पा,

जन्नट्ठा य जे दिया।

३–ज्योतिष आदि वेद के छहों अंगों को जानने वाले (जोइसंगविऊ ग) :

शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिष—ये छः वेदांग कहलाते हैं। इनमें शिक्षा वेद की नासिका है, कल्प हाथ, व्याकरण मुख, निरुक्त श्रोत्र, छन्द पैर और ज्योतिष नेत्र हैं। इसीलिए वेद-शरीर के ये अंग कहलाते हैं। इनके द्वारा वेदार्थ को समझने में मूल्यवान् सहायता प्राप्त होती है। वेद के प्रधान प्रतिपाद्य यज्ञों से ज्योतिष का विशिष्ट सम्बन्ध है।

आचार्य ज्योतिष (श्लोक ३६) में कहा गया है—"यज्ञ के लिए वेदों का अवतरण है और काल के उपयुक्त सन्निवेश से यज्ञों का सम्बन्ध है, इसलिए ज्योतिष को 'काल-विधायक-शास्त्र' कहा जाता है। फलतः ज्योतिष जानने वाला ही यज्ञ का ज्ञाता है।"[1] इसीलिए यहाँ ज्योतिषांग का प्रयोग किया गया है।[2]

श्लोक ६

४–श्लोक ९ :

यह श्लोक दशवैकालिक, अ० ५।२ के २७ और २८ श्लोक के उपदेश की याद दिलाता है :

बहुं परघरे अत्थि विविहं खाइमसाइमं।

न तत्थ पंडिओ कुप्पे इच्छा देज्ज परो न वा॥

सयणासण वत्थं वा भत्तपाणं व संजए।

अदेंतस्स न कुप्पेज्जा पच्चक्खे वि य दीसओ॥

श्लोक १०

५–श्लोक १० :

यह श्लोक सूत्रकृताङ्ग के निम्न अंश से तुलनीय है :

'से भिक्खू धम्मं किट्टमाणे—नन्नत्थ कम्मनिज्जरट्ठए धम्ममाइक्खेज्जा' (२।१)

श्लोक ११

६–श्लोक ११ :

इस श्लोक के चारों चरणों में 'मुह' शब्द का प्रयोग हुआ है। पहले और तीसरे चरण में प्रयुक्त 'मुह' का अर्थ 'प्रधान' और दूसरे तथा चौथे चरण में उसका अर्थ 'उपाय' है।[3]

श्लोक १६

७–श्लोक १६ :

इस श्लोक में चौदहवें श्लोक में पूछे गए चार प्रश्नों के उत्तर दिए गए हैं। पहला प्रश्न है—वेदों में प्रधान तत्त्व क्या है ? इसके

१–वैदिक साहित्य, पृ० २३३।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र ५२३ :

अत्र च ज्योतिषस्योपादानं प्राधान्यख्यापकम्।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र ५२४।

उत्तर में कहा गया है—वेदों में प्रधान तत्त्व अग्निहोत्र है । अग्निहोत्र का अर्थ विजयघोष जानता था किन्तु जयघोष उसे अग्निहोत्र का वह अर्थ समझाना चाहते थे जिसका प्रतिपादन आरण्यक-काल में होने लगा था । आत्म-यज्ञ के संदर्भ में जयघोष ने कहा है—"दही का सार जैसे नवनीत होता है वैसे ही वेदों के सार आरण्यक हैं । उनमें सत्य, तप, संतोष, संयम, चारित्र, आर्जव, क्षमा, धृति, श्रद्धा और अहिंसा—यह दस प्रकार का धर्म बतलाया गया है । वही सही अर्थ में अग्निहोत्र है ।" इससे यह फलित होता है कि जैन-मुनियों की दृष्टि में वेदों की अपेक्षा आरण्यकों का अधिक महत्त्व था । वेदों को वे पशुबन्ध—छाग आदि पशुओं के वध के हेतुभूत मानते थे ।[1] आरण्यक-काल में वैदिक-ऋषियों का झुकाव आत्म-यज्ञ की ओर हुआ, इसलिए जयघोष ने वेदों की अपेक्षा आरण्यकों की विशेषता का प्रतिपादन किया । शान्त्याचार्य ने आरण्यक तथा ब्रह्माण्डपुराणात्मक विद्या को ब्राह्मण-सम्पदा माना है ।[2]

दूसरा प्रश्न है यज्ञ का उपाय (प्रवृत्ति—हेतु) क्या है ? इसके उत्तर में कहा गया है—यज्ञ का उपाय 'यज्ञार्थी' है । इस बात को विजयघोष भली-भाँति जानता था किन्तु जयघोष ने उसे यह बताया कि आत्म-यज्ञ के संदर्भ में इन्द्रिय और मन का संयम करने वाले याजक की प्रधानता है ।

तीसरा प्रश्न है—नक्षत्रों में प्रधान क्या है ? इसके उत्तर में कहा गया—नक्षत्रों में प्रधान चन्द्रमा है । इसकी तुलना गीता के—**नक्षत्राणामहं शशी** (१०।२१) में होती है ।

चौथा प्रश्न है—धर्मों का उपाय (आदि कारण) कौन है ? इसके उत्तर में कहा गया—धर्मों का उपाय काश्यप है । यहाँ काश्यप शब्द के द्वारा भगवान् ऋषभ का ग्रहण किया गया है । वृत्तिकार ने इसके समर्थन में एक आरण्यक-वाक्य उद्धृत किया है—"**तथा चारण्यकम्—ऋषभ एव भगवान् ब्रह्मा, तेन भगवता ब्रह्मणा स्वयमेव चीर्णानि ब्रह्माणि, यदा च तपसा प्राप्तः पदं यद् ब्रह्मकेवलं तदा च ब्रह्मर्षिणा प्रणीतानि, कानि पुनस्तानि ब्रह्माणि ?**"[3] इत्यादि ।

किन्तु यह वाक्य किस आरण्यक का है यह हमें ज्ञात नहीं हो सका । वृत्ति-रचनाकाल में हो सकता है, यह किसी आरण्यक में हो और वर्तमान संस्करणों में प्राप्त न हो । या यह भी हो सकता है कि जिन प्रतियों में यह वाक्य प्राप्त था वे आज उपलब्ध न हों ।

वृत्तिकार ने अपने प्रतिपाद्य का समर्थन ब्रह्माण्डपुराण के द्वारा भी किया है ।[4]

स्थानाङ्ग में सात मूल गोत्र बतलाए गए हैं । उनमें पहला काश्यप है ।[5] भगवान् ऋषभ ने वार्षिक तप के पारणा में 'काश्य' अर्थात् रस पिया था, इसलिए वे 'काश्यप' कहलाए । मुनि सुव्रत और नेमिनाथ इन दो तीर्थङ्करों के अतिरिक्त सभी तीर्थङ्कर काश्यप गोत्री थे ।[6]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ५२८ :

पशूनां—छागानां बन्धो—विनाशाय नियमनं यैर्हेतुभिस्तेऽमी पशुबन्धाः, 'श्वेतं छागमालभेत वायव्यां दिशि भूतिकाम' इत्यादिवाक्योपलक्षिताः ।

२–वही, पत्र ५२६ :

विद्यते—ज्ञायते आभिस्तत्त्वमिति विद्या—आरण्यकब्रह्माण्डपुराणात्मिकास्ता एव ब्राह्मणसम्पदो, विद्या ब्राह्मणसम्पदः, तात्त्विक-ब्राह्मणानां हि निष्किंचनत्वेन विद्या एव सम्पदः ।

३–वही, पत्र ५२५ ।

४–वही, पत्र ५२५ :

"इह हि इक्ष्वाकुकुलवंशोद्भवेन नाभिसुतेन मरुदेव्या नन्दनेन महादेवेन ऋषभेण दशप्रकारो धर्मः स्वयमेव चीर्णः, केवलज्ञानलम्भाच्च महर्षिणो ये परमेष्ठिनो वीतरागाः स्नातका निर्ग्रन्था नैष्ठिकास्तेषां प्रवर्तित आख्यातः प्रणीतस्त्रेतायामादौ ।"

५–स्थानाङ्ग ७।५५१ :

सत्त मूलगोत्ता पं० तं०—कासवा, गोतमा, वच्छा, कोच्छा, कोसिता, मंडवा, वासिट्ठा ।

६–वही, ७।५५१ वृत्ति :

काशे भवः काश्यः—रसस्तं पीतवानिति काश्यपस्तदपत्यानि काश्यपाः, मुनिसुव्रतनेमिवर्जा जिनाः ।

धनंजय नाममाला में भगवान् महावीर का नाम 'अन्त्य-काश्यप'[1] है। भगवान् ऋषभ 'आदि-काश्यप' हुए। उनसे धर्म का प्रवाह चला, वे धर्मों के आदि-कारण हैं, इसलिए उन्हें धर्मों का आदि-कारण कहा गया है।[2]

सूत्रकृताङ्ग के एक श्लोक से इस तथ्य की पुष्टि होती है। वहाँ कहा गया है कि अतीत में जो तीर्थंकर हुए तथा भविष्य में जो होंगे वे सब 'काश्यप' के द्वारा प्ररूपित धर्म का अनुसरण करेंगे।[3]

१–धनंजय नाममाला, श्लोक ११५ :
सन्मतिर्महतिर्वीरो, महावीरोऽन्त्यकाश्यपः।
नाथान्वयो वर्धमानो, यत्तीर्थमिह साम्प्रतम् ॥

२–बृहद् वृत्ति, पत्र ५२५ :
धर्माणां 'काश्यपः' भगवानृषभदेवः 'मुखम्' उपायः कारणात्मकः, तस्यैवादितत्प्ररूपकत्वात्।

३–सूत्रकृताङ्ग, १।२।३।२० :
अभविंसु पुरा वि भिक्खवो आएसा वि भवंति सुव्वया।
एयाइं गुणाइं आहु ते कासवस्स अणुधम्मचारिणो ॥

अध्ययन २६
सामायारी

श्लोक १-७

१–श्लोक १-७ :

दस सामाचारी का वर्णन भगवती (२५।७), स्थानाङ्ग (१०।७४९) और आवश्यक निर्युक्ति में भी है। उत्तराध्ययन में सामाचारी का क्रम उनसे भिन्न है। उनकी प्रथम तीन सामाचारियों को यहाँ छठा, सातवाँ और आठवाँ स्थान प्राप्त है। नौवें सामाचारी का नाम भी भिन्न है। भगवती आदि में उसका नाम 'निमंत्रण' है। यहाँ उसका नाम 'अभ्युत्थान' है।

आवश्यक निर्युक्ति में सामाचारी तीन प्रकार की बतलाई गई है—(१) ओघ सामाचारी, (२) दस-विध सामाचारी और (३) पद-विभाग सामाचारी।[1]

'ओघ सामाचारी' का प्रतिपादन ओघनिर्युक्ति में है। उसके सात द्वार हैं—(१) प्रतिलेखन, (२) पिण्ड, (३) उपधि-प्रमाण, (४) अनायतन(अस्थान)-वर्जन, (५) प्रतिसेवना—दोषाचरण, (६) आलोचना और (७) विशोधि।[2]

'पद-विभाग सामाचारी' छेद सूत्रों में कथित विषय है। 'दस-विध सामाचारी' का वर्णन इस अध्ययन में है।

आवश्यकी, नैषेधिकी

सामान्य विधि यह है कि मुनि जहाँ ठहरा हो उस उपाश्रय से बाहर न जाए। विशेष विधि के अनुसार आवश्यक कार्य होने पर वह उपाश्रय से बाहर जा सकता है। किन्तु बाहर जाते समय इस सामाचारी का ध्यान रखते हुए वह आवश्यकी करे—आवश्यकी का उच्चारण करे।[3] 'आवश्यक कार्य के लिए बाहर जा रहा हूँ'—इसे निरन्तर ध्यान में रखे, अनावश्यक कार्य में प्रवृत्ति न करे। आवश्यकी का प्रतिपक्ष शब्द है नैषेधिकी। कार्य से निवृत्त होकर जब वह स्थान में प्रवेश करे तो नैषेधिकी का उच्चारण करे। 'मैं आवश्क कार्य से निवृत्त हो चुका हूँ, अब मैं प्रवृत्ति के समय कोई अकरणीय कार्य हुआ हो उसका निषेध करता हूँ, उससे अपने आपको दूर करता हूँ'—इस भावना के साथ वह स्थान में प्रवेश करता है।[4] यह साधुओं के गमनागमन की सामाचारी है। गमन और आगमन काल में उसका लक्ष्य अबाधित रहे इसका इन दो सामाचारियों में सम्यक् चिन्तन है।

१–आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ६६५।

२–ओघनिर्युक्ति, २ :

पडिलेहणं च पिंडं, उवहिपमाणं अणाययणवज्जं।
पडिसेवण मालोअण, जह य विसोही सुविहियाणं ॥

३–बृहद् वृत्ति, पत्र ५३४ :

'गमने' तथाविधालम्बनतो बहिर्निःसरणे आवश्यकेषु—अशेषावश्यकर्त्तव्यव्यापारेषु सत्सु भवाऽऽवश्यकी, उक्तं हि—

"आवस्सिया उ आवस्सएहिं सव्वेहिं जुत्तजोगस्स" त्यादि, तां 'कुर्याद्' विदध्यात्।

४–वही, पत्र ५३४ :

स्थीयतेऽस्मिन्निति स्थानम्—उपाश्रयस्तस्मिन् प्रविशन्निति शेषः, कुर्यात्, कां ?—'नैषेधिकीं' निषेधनं निषेधः—पापानुष्ठानेभ्य आत्मनो व्यावर्त्तनं तस्मिन् भवा नैषेधिकी, निषिद्धात्मन एतत्सम्भवात्, उक्तं हि—

"जो होइ निसिद्धप्पा निसीहिया तस्स भावओ होइ।"

आपृच्छा, प्रतिपृच्छा

सामान्य विधि यह है कि उच्छ्‌वास और निःश्वास के सिवाय शेष सब कार्यों के लिए गुरु की आज्ञा लेनी चाहिए।[1] यहाँ आज्ञा के दो स्थान बतलाए गए हैं—

(१) स्वयंकरण।

(२) परकरण।

प्रथम प्रवृत्ति को 'स्वयंकरण' तथा अपर प्रवृत्ति को 'परकरण' कहा जाता है। स्वयंकरण के लिए आपृच्छा (प्रथम बार पूछने) तथा परकरण के लिए प्रतिपृच्छा (पुनः पूछने) का विधान है।[2]

आवश्यक निर्युक्ति के अनुसार प्रथम बार या द्वितीय बार किसी भी प्रवृत्ति के लिए गुरु से आज्ञा प्राप्त करने को 'आपृच्छा' कहा जाता है। प्रयोजनवश पूर्व-निषिद्ध कार्य करने की आवश्यकता होने पर गुरु से उसकी आज्ञा प्राप्त करने को 'प्रतिपृच्छा' कहा जाता है।[3] गुरु के द्वारा किसी कार्य पर नियुक्त किए जाने पर उसे प्रारम्भ करते समय पुनः गुरु की आज्ञा लेनी चाहिए—यह भी प्रतिपृच्छा का आशय है।[4]

छन्दना, अभ्युत्थान

मुनि को भिक्षा में जो प्राप्त हो उसके लिए अन्य साधुओं को निमंत्रित करना चाहिए तथा जो आहार प्राप्त न हो उसे लाने जाए तब दूसरे साधुओं से पूछना चाहिए 'क्या मैं आपके लिए भोजन लाऊँ?' इन दोनों सामाचारियों को 'छन्दना' और 'अभ्युत्थान' कहा जाता है।[5] अभ्युत्थान के अर्थ में निमंत्रण का भी प्रयोग किया जाता है।[6]

इच्छाकार

संघीय व्यवस्था में परस्पर सहयोग लिया-दिया जाता है, किन्तु वह बल-प्रेरित न होकर इच्छा-प्रेरित होना चाहिए।[7] औत्सर्गिक-विधि

१-बृहद् वृत्ति, पत्र ५३५ :
उच्छ्‌वासनिःश्वासौ विहाय सर्वकार्येष्वपि स्वपरसम्बन्धिषु गुरवः प्रष्टव्याः।

२-वही, पत्र ५३४ :
आङिति—सकलकृत्याभिव्याप्त्या प्रच्छना आप्रच्छना—इदमहं कुर्यां न वेत्येवंरूपा तां स्वयमित्यात्मनः करणं—कस्यचिद्विवक्षितकार्यस्य निर्वर्त्तनं स्वयंकरणं तस्मिन्, तथा 'परकरणे' अन्यप्रयोजनविधाने प्रतिप्रच्छना।

३-आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ६९७ :
आपुच्छणा य कज्जे, पुव्वनिसिद्धेण होइ पडिपुच्छा।

४-बृहद् वृत्ति, पत्र ५३४ :
गुरुनियुक्तोऽपि हि पुनः प्रवृत्तिकाले प्रतिपृच्छत्येव गुरुं, स हि कार्यान्तरमप्यादिशेत् सिद्धं वा तदन्यतः स्यादिति।

५-वही, पत्र ५३४,५३५ :
(क) छन्दना प्राग्गृहीतद्रव्यजातेन शेषयतिनिमन्त्रणात्मिका।
(ख) अभीत्याभिमुख्येनोत्थानम्—उद्यमनमभ्युत्थानं तच्च......आचार्यग्लानबालादीनां यथोचिताहारभेषजादिसम्पादनम्, इह च सामान्याभिधानेऽप्यभ्युत्थानं निमन्त्रणारूपमेव परिगृह्यते।

६-आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ६९७ :
पुव्वगहिएण छंदण, निमंतणा होअगहिएणं।

७-(क) आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ६७३ :
अहयं तुब्भं एअं, कज्जं तु करेमि इच्छकारेणं।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ५३५ :
इच्छा—स्वकीयोऽभिप्रायस्तया करणं—तत्कार्यनिर्वर्त्तनमिच्छाकारः, 'सारणे' इत्यौचित्यत आत्मनः परस्य वा कृत्यं प्रति प्रवर्त्तने, तत्रात्मसारणे यथेच्छाकारेण युष्मच्चिकीर्षितं कार्यमिदमहं करोमीति।

के अनुसार बल प्रयोग सर्वथा वर्जित है। बड़ा साधु छोटे साधु से और छोटा साधु बड़े साधु से कोई काम कराना चाहे तो उसे 'इच्छाकार' का प्रयोग करना चाहिए—'यदि आपकी इच्छा हो तो मेरा काम आप करें', ऐसा कहना चाहिए।[1] आपवादिक-मार्ग में आज्ञा और बलाभियोग का व्यवहार भी किया जा सकता है।[2]

मिथ्याकार

साधक के द्वारा भूल होना संभव है किन्तु अपनी भूल का भान होते ही उसे 'मिथ्याकार' का प्रयोग करना चाहिए।[3] जो दुष्कृत को मिथ्या मानकर उससे निवृत्त होता है, उसी का दुष्कृत मिथ्या होता है।

तथाकार

जो मुनि कल्प और अकल्प को जानता है, महाव्रत में स्थित होता है, उसे 'तथाकार' का प्रयोग करना चाहिए। गुरु जब सूत्र पढ़ाएँ, सामाचारी आदि का उपदेश दें, सूत्र का अर्थ बताएँ अथवा कोई बात कहे तब तथाकार का प्रयोग करना चाहिए—'आप जो कहते हैं वह अवितथ है—सच है' यों कहना चाहिए।[4]

उपसंपदा

प्राचीन काल में साधुओं के अनेक गण थे। किन्तु व्यवस्था की दृष्टि से एक गण का साधु दूसरे गण में नहीं जा सकता था।[5] इसके कुछ अपवाद भी थे। आपवादिक-विधि के अनुसार तीन कारणों से दूसरे गण में जाना विहित था। दूसरे गण में जाने को उपसंपदा कहा जाता था। ज्ञान की वर्त्तना (पुनरावृत्ति या गुणन), संधान (त्रुटित ज्ञान को पूर्ण करने) और ग्रहण (नया ज्ञान प्राप्त करने) के लिए जो उपसंपदा स्वीकार की जाती उसे 'ज्ञानार्थ उपसंपदा' कहा जाता था। इसी प्रकार दर्शन की वर्त्तना (स्थिरीकरण), संधान और दर्शन विषयक शास्त्रों के ग्रहण के लिए जो उपसंपदा स्वीकार की जाती, उसे 'दर्शनार्थ उपसंपदा' कहा जाता था। वैयावृत्त्य और तपस्या की विशिष्ट आराधना के लिए जो उपसंपदा स्वीकार की जाती, उसे 'चारित्रार्थ उपसंपदा' कहा जाता था।[6]

१—आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ६७७ :
आणा बलाभिओगो, निग्गंथाणं न कप्पए काउं।
इच्छा पउंजिअव्वा, सेहे रायणिए य तहा॥

२—वही, गाथा ६७७ वृत्ति, पत्र ३४४ :
अपवादतस्त्वाज्ञाबलाभियोगावपि दुर्विनीते प्रयोक्तव्यौ, तेन च सहोत्सर्गतः संवास एव न कल्पते, बहुस्वजनादिकारणप्रतिबद्धतया त्वपरित्याज्ये अयं विधिः, प्रथममिच्छाकारेण योज्यते, अकुर्वन्नाज्ञया पुनर्बलाभियोगेनेति।

३—वही, गाथा ६८२ :
संजमजोगे अब्भुट्ठिअस्स, जं किंचि वितहमायरिअं।
मिच्छा एअंति विआणिऊण मिच्छत्ति कायव्वं॥

४—वही, गाथा ६८९ :
वायणपडिसुणणाए, उवएसे सुत्तअत्थकहणाए।
अवितहमेअंति तहा, पडिसुणणाए अ तहकारो॥

५—बृहद् वृत्ति, पत्र ५३५ :
'अच्छणे' त्ति आसने प्रक्रमाबाचार्यान्तराविसन्निधौ अवस्थाने उप—सामीप्येन सम्पादनं—गमनं सम्पदाविवाविबपि उपसंपद्—इयन्तं कालं भवदन्तिके मयाऽऽसितव्यमित्येवंरूपा।

६—आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ६९८,६९९ :
उवसंपया य तिविहा, नाणे तह दंसणे चरित्ते अ।
दंसणनाणे तिविहा, दुविहा य चरित्तअट्ठाए॥
वत्तणा संधणा चेव, गहणं सुत्तत्थतदुभए।
वेयावच्चे खमणे, काले आवकहाइ अ॥

श्लोक ८

२—(पुव्विल्लंमि चउब्भाए [क], आइच्चंमि समुट्ठिए [ख]) :

'पुव्विल्लंमि चउब्भाए' यह आठवें तथा इक्कीसवें दोनों श्लोकों का प्रथम चरण है। शान्त्याचार्य ने आठवें श्लोक की व्याख्या में इसका अर्थ 'पौन-पौरुषी'[1] तथा इक्कीसवें की व्याख्या में इसका अर्थ 'प्रथम-प्रहर'[2] किया है। किन्तु बाईसवें श्लोक में पात्र-प्रतिलेखना का निर्देश है, वहाँ पौन-पौरुषी के लिए 'पोरिसीए चउब्भाए' पाठ है और इक्कीसवें श्लोक में जहाँ वस्त्र-प्रतिलेखना का निर्देश है, वहाँ 'पुव्विल्लंमि चउब्भाए' पाठ है। अतः आठवें श्लोक में वस्त्र-प्रतिलेखना का ही निर्देश होना चाहिए। स्वाध्याय या वैयावृत्य का निर्देश वस्त्र-प्रतिलेखना के पश्चात् आचार्य से लिया जाता है।[3]

शान्त्याचार्य ने 'पुव्विल्लंमि चउब्भाए' का वैकल्पिक अर्थ 'प्रथम-प्रहर' में तथा 'भण्डयं पडिलेहित्ता' का अर्थ 'वस्त्र-प्रतिलेखना' किया है।[4] इक्कीसवें श्लोक के संदर्भ में यह वैकल्पिक अर्थ ही संगत लगता है।

जयाचार्य के अनुसार दिन के प्रथम चतुर्थ भाग का अर्थ 'प्रथम प्रहर का प्रथम चतुर्थ भाग' है।[5] साधारणतया यह कालमान सूर्योदय के २ घड़ी ४८ मिनट तक का है। ३ घण्टा १२ मिनट का प्रहर होने से ४८ मिनट का कालमान पूरा चौथा भाग होता है। जब दिन का प्रहर ३ घण्टा ३० मिनट का होता है, उस समय चौथा भाग ५२½ मिनट का होता है। उस समय ४८ मिनट चौथे भाग से कुछ कम होता है।

जयाचार्य का अभिप्राय उत्तरवर्ती साहित्य और परम्परा पर आधारित है। प्राचीन परम्परा के अनुसार वस्त्र-प्रतिलेखना सूर्योदय के साथ समाप्त हो जाती थी। इसीलिए शान्त्याचार्य ने लिखा है कि बहुतर प्रकाश होने से सूर्य के अनुत्थान या अनुदय को ही उत्थान या उदय कहा गया है।[6]

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ५३६ :
'पुव्विल्लंमि'त्ति पूर्वस्मिंश्चतुर्भागे आदित्ये 'समुत्थिते' समुद्गते, इह च यथा दशाविकलोऽपि पटः पट एवोच्यते, एवं किञ्चिदूनोऽपि चतुर्भागश्चतुर्भाग उक्तः, ततोऽयमर्थः—बुद्ध्या नभश्चतुर्धा विभज्यते, तत्र पूर्वदिक्संबद्धे किञ्चिदूननभश्चतुर्भागे यदादित्यः समुदेति तदा, पादोनपौरुष्यामित्युक्तं भवति।

२—वही, पत्र ५४० :
'पूर्वस्मिंश्चतुर्भागे' प्रथमपौरुषीलक्षणे प्रक्रमाद् दिनस्य।

३—ओघनिर्युक्ति वृत्ति, पत्र ११५ :
उक्ता वस्त्रप्रत्युपेक्षणा, तत्समाप्तौ च किं कर्त्तव्यमित्यत आह—'समत्तपडिलेहणाए सज्झाओ' समाप्तायां प्रत्युपेक्षणायां स्वाध्यायः कर्त्तव्यः सूत्रपौरुषीत्यर्थः पादोनप्रहरं यावत्। इदानीं पात्रप्रत्युपेक्षणामाह।

४—बृहद् वृत्ति, पत्र ५३६ :
यद्वा पूर्वस्मिन्नभश्चतुर्भागे आदित्ये समुत्थिते इव समुत्थिते, बहुतरप्रकाशीभवनात्तस्य, भाण्डमेव भाण्डकं ततस्तदिव धर्मप्रविघ्नोपार्जनाहेतुत्वेन मुखवस्त्रिकावर्षाकल्पादीह भाण्डकमुच्यते, तत्प्रतिलेख्य।

५—उत्तराध्ययन जोड़, पत्र ३७ :
दिवस तणा पहिला पोहर है मांहि। धुरला चोथा भाग में ताहि।
एतले दोय घड़ी ने दिपेह। सूर्य उग्यां थी ए लेह॥ ३२॥
वस्त्रादिक उपगरण सुमंड। पडिलेही इसी रीत सुमंड।
पडिलेहणा किया पछे तिवार। गुरु प्रति वंदि करी नमस्कार॥३३॥

६—बृहद् वृत्ति, पत्र ५३६।

ओघनिर्युक्ति में प्रभातकालीन प्रतिलेखना-काल के चार अभिमतों का उल्लेख मिलता है—

(१) सूर्योदय का समय—प्रभास्फाटन का समय।
(२) सूर्योदय के पश्चात्—प्रभास्फाटन होने के पश्चात्।
(३) परस्पर जब मुख दिखाई दे।
(४) जिस समय हाथ की रेखा दिखाई दे।[1]

ये अनादेश माने गए हैं। निर्णायक पक्ष यह है कि प्रतिक्रमण के पश्चात्—

(१) मुख-वस्त्रिका, (२) रजोहरण, (३-४) दो निषद्याएँ—एक सूत्र की आभ्यन्तर निषद्या और दूसरी बाहरी पाद-प्रोञ्छन, (५) चोलपट्टक, (६-७-८) तीन उत्तरीय, (९) संस्तारक पट्ट और (१०) उत्तर-पट्ट की प्रतिलेखना के अनन्तर ही सूर्योदय हो जाय, वह उस (प्रतिलेखना) का काल है।[2] बहुमान्य अभिमत यही रहा है।

३—भाण्ड-उपकरणों की (भण्डयं ग) :

पौन-पौरुषी की प्रतिलेखना के प्रकरण में 'भण्डक' का अर्थ 'पात्र आदि उपकरण' तथा प्रभातकालीन प्रतिलेखना के प्रकरण में उसका अर्थ 'पछेवड़ी आदि उपकरण' होता है।

४—प्रतिलेखना करे (पडिलेहित्ता ग) :

प्रतिलेखना और प्रमार्जना ये दोनों परस्पर सम्बन्धित है। जहाँ प्रतिलेखना का निर्देश होता है, वहाँ प्रमार्जना स्वयं आ जाती है और जहाँ प्रमार्जना का निर्देश होता है, वहाँ प्रतिलेखना स्वयं प्राप्त होती है। प्रतिलेखना का अर्थ है 'दृष्टि से देखना' और प्रमार्जन का अर्थ है 'झाड़कर साफ करना'। पहले प्रतिलेखना और तत्पश्चात् प्रमार्जना की जाती है।

प्रतिलेखनीय

शरीर (खड़े होते, बैठते और सोते समय), उपाश्रय, उपकरण, स्थण्डिल (मल-मूत्र के परिस्थापन की भूमि), अवष्टम्भ और मार्ग—ये प्रतिलेखनीय हैं—इनकी प्रतिलेखना की जाती है।[3] उपकरण-प्रतिलेखना दो प्रकार की होती है—(१) वस्त्र-प्रतिलेखना और (२) पात्र-प्रतिलेखना।[4] पात्र-प्रतिलेखना का क्रम और विधि तेईसवें श्लोक में प्रतिपादित है। वस्त्र-प्रतिलेखना की विधि चौबीस से अठाईसवें श्लोक तक प्रतिपादित है। ओघनिर्युक्ति में गाथा २८८ से २९५ (पत्र ११७-११९) तक पात्र-प्रतिलेखना का विवरण है और गाथा २६४ से २६६ (पत्र १०८-१११) तक वस्त्र-प्रतिलेखना का विवरण है।

१—ओघनिर्युक्ति, वृत्ति गा० २६९,२७० :
अरुणावासग पुव्वं परोप्परं पाणिपडिलेहा।
एते उ अणाएसा अंधारे उग्गएविहु न दीसे॥

२-(क) ओघनिर्युक्ति, गा० २७० :
मुहरयनिसिज्जचोले, कप्पतिगदुपट्टथुई सूरो।
(ख) प्रवचनसारोद्धार, गाथा ५९० वृत्ति, पत्र १६६ :
प्रतिक्रमणकरणानन्तरं अनुद्गते सूरे—सूर्योद्गमादर्वाग्।
(ग) धर्मसंग्रह, पृ० २२ :
प्रतिलेखना सूर्येनुद्गते एव कर्त्तव्या।

३—ओघनिर्युक्ति, गाथा २६३ :
ठाणे उवगरणे य, थंडिलउवथंभमग्गपडिलेहा।
किंमाई पडिलेहा, पुव्वण्हे चेव अवरण्हे॥

४—ओघनिर्युक्ति भाष्य, गाथा १५८ :
उवगरण वत्थपाए, वत्थे पडिलेहणं तु वोच्छामि।
पुव्वण्हे, अवरण्हे, मुहणंतगमाइ पडिलेहा॥

प्रतिलेखना-काल

वस्त्र-प्रतिलेखना के दो काल हैं—पूर्वाह्ण (प्रथम-प्रहर) और अपराह्ण (चतुर्थ-प्रहर)।[1] पात्र-प्रतिलेखना का काल भी यही है।[2] काल-भेद से प्रतिलेखना के तीन काल हो जाते हैं—

(१) प्रभात, (२) अपराह्ण—तीसरे प्रहर के पश्चात् और (३) उद्घाट-पौरुषी—पौन-पौरुषी।[3]

मुख-पोतिका आदि दस उपकरणों का प्रतिलेखना-काल प्रभात समय (प्रतिक्रमण के पश्चात्—सूर्योदय से पूर्व) है। तीसरा प्रहर बीतने पर चौदह उपकरणों की प्रतिलेखना का समय आता है। चौदह प्रतिलेखनीय उपकरणों का विवरण निम्न प्रकार पाया जाता है :

ओघनिर्युक्ति	*प्रवचनसारोद्धार*
(१) पात्र	(१) मुख-पोतिका
(२) पात्रबंध	(२) चोलपट्टक
(३) पात्र-स्थापन	(३) गोच्छग
(४) पात्र-केसरिका	(४) पात्र-प्रतिलेखनिका
(५) पटल	(५) पात्र-बंध
(६) रजस्त्राण	(६) पटल
(७) गुच्छग	(७) रजस्त्राण
(८-१०) तीन पछेवड़ी	(८) पात्र-स्थापन
(११) रजोहरण	(९) मात्रक
(१२) मुख-वस्त्रिका	(१०) पात्र

१–(क) ओघनिर्युक्ति भाष्य, गाथा १५८ वृत्ति :

पूर्वाह्णे वस्त्रप्रत्युपेक्षणा भवत्यपराह्णे च।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ५३७ :

तृतीयायां भिक्षाचर्या, पुनश्चतुर्थ्यां स्वाध्यायम्, उपलक्षणत्वात्तृतीयायां भोजनबहिर्गमनादीनि, इतरत्र तु प्रतिलेखनास्थण्डिल-प्रत्युपेक्षणादीनि गृह्यन्ते।

२–(क) ओघनिर्युक्ति भाष्य, गाथा १७३ वृत्ति :

पात्रप्रत्युपेक्षणामाह—'चरिमाए' चरमायां पादोनपौरुष्यां प्रत्युपेक्षेत 'ताहे' त्ति 'तदा' तस्मिन् काले स्वाध्यायानन्तरं पात्रकद्वितयं प्रत्युपेक्षेत।

(ख) उत्तराध्ययन २६।२२, ३६।

३–प्रवचनसारोद्धार, गाथा ५९०-५९२ :

पडिलेहणाण गोसावरण्हउग्घाडपोरिसीसु तिगं।
तत्थ पढमा अणुग्गय सूरे पडिक्कमणकरणाओ॥
मुहपोत्ति चोलपट्टो कप्पतिगं दो निसिज्ज रयहरणं।
संथारुत्तरपट्टो दस पेहाऽणुग्गए सूरे॥
उवगरणचउद्दसगं पडिलेहिज्जइ दिणस्स पहरतिगे।
.... ॥

(१३) मात्रक	(११) रजोहरण
(१४) चोलपट्टक[1]	(१२-१४) तीन पछेवड़ी[2]

पौन-पौरुषी के समय ७ उपकरणों की प्रतिलेखना की जाती थी । वे उपकरण ये हैं—

ओघनिर्युक्ति	*प्रवचनसारोद्धार*
(१) पात्र	(१) मुखपोतिका
(२) पात्र-बंध	(२) गोच्छग
(३) पात्र-स्थापन	(३) पटल
(४) पात्र-केसरिका	(४) पात्र-केसरिका
(५) पटल	(५) पात्र-बंध
(६) रजस्त्राण	(६) रजस्त्राण
(७) गुच्छग[3]	(७) पात्र-स्थापन[4]

श्लोक ११

५–उत्तर गुणों (स्वाध्याय आदि) की (उत्तरगुणे ग) :

पाँच महाव्रत मूल गुण हैं । स्वाध्याय, ध्यान आदि उनकी अपेक्षा उत्तरगुण कहलाते हैं । उत्तरगुण का सामान्य काल-विभाग इस प्रकार बतलाया गया है :

प्रथम प्रहर में—स्वाध्याय ।

द्वितीय प्रहर में—ध्यान—पढ़े हुए विषय का अर्थ-चिन्तन अथवा मानसिक एकाग्रता का अभ्यास ।

तीसरे प्रहर में—भिक्षाचरी, उत्सर्ग आदि ।

चतुर्थ प्रहर में—फिर स्वाध्याय ।

यह दिनचर्या की स्थूल रूपरेखा है । इसमें मुख्य कार्यों का निर्देश किया गया है । प्रतिलेखना, वैयावृत्त्य आदि आवश्यक विधियों का इसमें उल्लेख नहीं है । प्रतिलेखना का उल्लेख २१-२२ वें श्लोक में स्वतंत्र-रूप से किया गया है ।

यह विभाग उस समय का है जब आगम—सूत्र लिखित नहीं थे । उन्हें कण्ठस्थ रखने के लिए अधिक समय लगाना होता था । संभवतः इसीलिए प्रथम और चतुर्थ प्रहर में स्वाध्याय की व्यवस्था की गई । इन्हे 'सूत्र-पौरुषी' भी कहा जाता था । दूसरे प्रहर में अर्थ समझा जाता था । इसीलिए उसे 'अर्थ-पौरुषी' कहा जाता था । जब भिक्षुओं के लिए एक वक्त भोजन—एक बार खाने की व्यवस्था थी तब भिक्षा के लिए तीसरा प्रहर ही सर्वाधिक उपयुक्त था और उस समम जनता के भोजन का समय भी सम्भवतः यही था । कुछ आचार्यों के अभिमत में यह अभिग्रहधारी भिक्षुओं की विधि है ।[5] अठारहवें श्लोक में कथित नींद लेने की विधि से तुलना करने पर उक्त अभिमत संगत लगता है ।

१–ओघनिर्युक्ति, गाथा ६६८-६७० :

पत्तं पत्ताबंधो, पायट्ठवणं च पायकेसरिया ।
पडलाइं रयत्ताणं च, गुच्छओ पायनिज्जोगो ॥
तिन्नेव य पच्छागा, रयहरणं चेव होइ मुहपत्ती ।
एसो दुवालसविहो, उवही जिणकप्पियाणं तु ॥
एए चेव दुवालस, मत्तग अइरेग चोलपट्टो य ।
एसो चउद्दसविहो, उवही पुण थेरकप्पम्मि ॥

२–प्रवचनसारोद्धार, गाथा ५९२ वृत्ति, पत्र १६६ ।

३–ओघनिर्युक्ति, गाथा ६६८ ।

४–प्रवचनसारोद्धार, गाथा ५९२ वृत्ति, पत्र १६६ ।

५–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र ५४३ ।

(ख) उत्तराध्ययन जोड़, ढाल २६।३८-४६ ।

छेद-सूत्रों द्वारा प्रथम एवं चरम प्रहर की भिक्षा का भी समर्थन होता है।[1] ओघनिर्युक्ति में आपवादिक-विधि के अनुसार दो-तीन बार की भिक्षा का भी विधान मिलता है।[2] यह भी हो सकता है कि ये आपवादिक-विधियाँ छेद-सूत्रों के रचना-काल में मान्य हुई हों।

ओघनिर्युक्ति के अनुसार नींद लेने की विधि विभिन्न व्यक्तियों की अपेक्षा से इस प्रकार है—प्रथम और चतुर्थ प्रहर में सब साधु स्वाध्याय करते हैं, बिचले दो प्रहरों में नींद लेते हैं। वृषभ-साधु दूसरे प्रहर में भी जागते हैं, वे केवल तीसरे प्रहर ही सोते हैं। आचार्य तीसरे प्रहर में स्वाध्याय करते हैं।[3] शयन-विधि के इन विभिन्न प्रकारों को देखते हुए इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि तीसरे प्रहर में सोने की विधि या तो किसी विशिष्ट साधु-वर्ग के लिए है या ओघनिर्युक्ति का विधान पूर्वकालीन नहीं है।

मुनि के लिए सोने की निर्युक्ति-कालीन-विधि इस प्रकार है—

पहला प्रहर पूरा बीतने पर गुरु के पास जाए। "इच्छामि खमासमणो वंदिउं जावणिज्जाए निसीहियाए मत्थएण वंदामि, खमासमणा ! बहु पडिपुण्णा पोरिसी, अणु जाणह राइसंथारयं"—यह पाठ बोल कर सोने की आज्ञा माँगे। फिर प्रस्रवण करे। जहाँ सोने का स्थान हो वहाँ जाए। उपकरणों पर जो डोर बांधी हुई हो उसे खोले। संस्तार-पट्ट और उत्तर-पट्ट का प्रतिलेखन कर उन्हें उरु (साथल) पर रख दे। फिर सोने की भूमि का प्रतिलेखन और प्रमार्जन करे। वहाँ संस्तार-पट्ट बिछाए, उस पर उत्तर-पट्ट बिछाए। मुख-वस्त्रिका से उपरले शरीर का और रजोहरण से निचले शरीर का प्रमार्जन करे। उत्तरीय वस्त्र को बाएँ पार्श्व में रख दे। बिछौने पर बैठता हुआ पास में बैठे हुए ज्येष्ठ साधुओं की आज्ञा ले, फिर तीन बार सामायिक पाठ का उच्चारण कर सोए। बाँह का सिरहाना करे। बाएँ पार्श्व से सोए। पैर पसारे तब मुर्गी की भाँति पहले आकाश में पसारे, वैसे न रह सके तब भूमि का प्रमार्जन कर पैर नीचे रख दे। पैरों को समेटे तब ऊरु-संधि का प्रमार्जन करे।[4]

श्लोक १२

६—प्रहर (पोरिसिं क) :

पौरुषी के प्रकरण में 'पुरुष' शब्द के दो अर्थ हैं—(१) पुरुष-शरीर और (२) शंकु। पुरुष के द्वारा उसका माप होता है, इसलिए उसे 'पौरुषी' कहा जाता है।[5] शंकु २४ अंगुल प्रमाण का होता है और पैर से जानु तक का प्रमाण भी २४ अंगुल होता है।[6] जिस दिन वस्तु की छाया उसके प्रमाणोपेत होती है, वह दिन दक्षिणायन का प्रथम दिन होता है।[7] युग के प्रथम वर्ष (सूर्य-वर्ष) के श्रावण बदी १ को शंकु की छाया, शंकु के प्रमाण २४ अंगुल पड़ती है। १२ अंगुल प्रमाण का एक पाद होने से शंकु की छाया दो पाद होती है।

१—बृहद् कल्प, ५।६।

२—ओघनिर्युक्ति भाष्य, गाथा १४९ :

एवंपि अपरिचत्ता, काले खवणे अ असहुपुरिसे य।
कालो गिम्हो उ भवे, खमगो वा पढमबिइएहिं॥

३—ओघनिर्युक्ति, गाथा ६६० :

सव्वेवि पढमजामे, दोन्नि उ वसभा उ आइमा जामा।
तइओ होइ गुरूणं, चउत्थओ होइ सव्वेसिं॥

४—बृहद् वृत्ति, पत्र ५३८,५३९।

५—काल लोकप्रकाश, २८।९९२ :

शंकुः पुरुषशब्देन, स्याद्देहः पुरुषस्य वा।
निष्पन्ना पुरुषात् तस्मात्, पौरुषीत्यपि सिद्ध्यति॥

६—वही, २८।१०११ :

चतुर्विंशत्यंगुलस्य, शंकोश्छाया यथोदिता।
चतुर्विंशत्यंगुलस्य, जानोरपि तथा भवेत्॥

७—वही, २८।९९३ :

स्वप्रमाणं भवेच्छाया, यदा सर्वस्य वस्तुनः।
तदा स्यात् पौरुषी, याम्या-यानस्य प्रथमे दिने॥

युग के प्रथम सूर्य-वर्ष में श्रावण बदी १ को दो पग प्रमाण छाया होती है और माघ बदी ७ को चार पग प्रमाण।

दूसरे चन्द्र-वर्ष में श्रावण बदी १३ से वृद्धि प्रारम्भ और माघ सुदी ४ से हानि प्रारम्भ है।

तीसरे वर्ष में श्रावण सुदी १० से वृद्धि प्रारम्भ और माघ बदी १ से हानि प्रारम्भ।

चौथे वर्ष में श्रावण बदी ७ से वृद्धि प्रारम्भ और माघ बदी १३ से हानि प्रारम्भ। पाँचवें वर्ष मे श्रावण सुदी से वृद्धि प्रारम्भ और माघ सुदी १० से हानि प्रारम्भ।

पौरुषी का कालमान

पौरुषी का कालमान एक नहीं है। वह दिन सापेक्ष होता है। जब दिन का कालमान बढ़ता है तब पौरुषी का कालमान भी बढ़ता है। दिन का कालमान घटने से वह भी घट जाता है। दिन का $\frac{१}{४}$ भाग पौरुषी (प्रहर) होता है। दिन का कालमान जघन्य १२ मुहूर्त का होता है और उत्कृष्ट में १८ मुहूर्त का। इसलिए प्रहर का कालमान जघन्य १२ — ४ = ३ मुहूर्त और उत्कृष्ट में १८ — ४ = ४$\frac{१}{२}$ मुहूर्त का होता है।[१]

प्रतिदिन $\frac{१}{१२२}$ मुहूर्त पौरुषी बढ़ती व घटती है।[२] और एक अयन में १८३ अहोरात्र होते हैं। इसलिए एक अयन में $\frac{१८३ \times १}{१२२}$ = $\frac{३}{२}$ = १$\frac{१}{२}$ मुहूर्त कालमान बढ़ता है। जघन्य तीन मुहूर्त + १$\frac{१}{२}$ = ४$\frac{१}{२}$ मुहूर्त।

पौरुषी का उत्कृष्ट कालमान एक अयन में ४$\frac{१}{२}$ ही होगा। दिन की पौरुषी बढ़ने से रात्रि की पौरुषी घटती है। जब दिन की पौरुषी ४$\frac{१}{२}$ मुहूर्त की होती है तब रात्रि की पौरुषी का कालमान तीन मुहूत का होता है। रात्रि की पौरुषी बढ़ने से दिन की पौरुषी घटती है। जब रात्रि की पौरुषी ४$\frac{१}{२}$ मुहूर्त की होती है तब दिन की पौरुषी का कालमान तीन मुहूत का होता है।

श्लोक १३

७–श्लोक १३ :

एक वर्ष में दो अयन होते हैं—(१) दक्षिणायन और (२) उत्तरायण। दक्षिणायन श्रावण मास में प्रारम्भ होता है और उत्तरायण माघ मास में।

एक मास में छाया ४ अंगुल प्रमाण बढ़ती है।[३] उत्तरायण के प्रथम दिन तक वह ४ पाद प्रमाण हो जाती है। उत्तरायण के बाद वह उसी क्रम से घटती हुई दक्षिणायन के प्रथम दिन तक वापस दो पाद प्रमाण हो जाती है। इस गणित से चैत्र और आश्विन में तीन पाद प्रमाण छाया होती है।

१–विशेषावश्यक भाष्य, गाथा २०७० .
पोरिसीमाणमनियय, दिवस निसा वुड्ढि हाणि भावओ।
हीणं तिण्णि मुहुत्तद्धपंचमाणमुक्कोसं॥

२–वही, गाथा २०७१
वुड्ढी बावीसुत्तर-सय भागोपइदिणं मुहुत्तस्स।
एवं हाणी विसया, अयण दिन मागओ नेया॥

३–(क) ओघनिर्युक्ति, गाथा २८३।
(ख) समवायांग, समवाय ३०।
(ग) चन्द्रप्रज्ञप्ति, प्राभृत १०,११।

१२ मास की पौरुषी छाया का प्रमाण

समय	पाद अंगुल	समय	पाद-अंगुल
अषाढ पूर्णिमा	२ ०	पोष पूर्णिमा	४-०
सावण पूर्णिमा	२-४	माघ पूर्णिमा	३-८
भाद्रपद पूर्णिमा	२-८	फाल्गुन पूर्णिमा	३ ४
आश्विन पूर्णिमा	३-०	चैत्र पूर्णिमा	३-०
कार्तिक पूर्णिमा	३-४	वैशाख पूर्णिमा	२-८
मृगसर पूर्णिमा	३-८	ज्येष्ठ पूर्णिमा	२ ४

श्लोक १४

८—श्लोक १४ :

सात दिनों मे एक अंगुल, पक्ष में दो अंगुल और मास में चार अंगुल प्रमाण छाया को बढना माना है, वह व्यवहार या स्थूल-दृष्टि से है। वहाँ पूर्ण दिन ग्रहण किया है। शेष दिन की विवक्षा नही की है। जयाचार्य ने इसी भाव को स्पष्ट करते हुए उत्तराध्ययन की जोड मे लिखा है—"सात दिनो मे दो पग से एक अंगुल अधिक छाया तब बढती है जब कि पक्ष १४ दिनो का हो। यदि पक्ष १५ दिनों का हो तो ७½ दिन-रात मे एक अंगुल छाया बढती जाती है।"[१]

सूर्य-वर्ष के एक अयन में १८३ अहोरात्र होते हैं। एक अयन में दो पाद अर्थात् २४ अंगुल छाया बढने से एक अहोरात्र में $\frac{२४}{१८३}$ अंगुल बढ़ती है। एक अंगुल छाया बढ़ने में उसे $\frac{१८३}{२४}$ अर्थात् ७⅝ दिन लगते हैं। ओघनिर्युक्ति में भी एक दिन में अंगुल के सातवें भाग से कम वृद्धि मानी है।[२] ज्योतिष्करण्डक में एक तिथि में $\frac{४}{३१}$ अंगुल प्रमाण छाया बढती हुई मानी गई है।[३] लोक-प्रकाश में और ज्योतिष्करण्डक के फलित मे कोई अन्तर नहीं है। केवल विवक्षा का भेद है। पहले में अहोरात्र की अपेक्षा से है और दूसरे में तिथि की अपेक्षा से। अहोरात्र की उत्पत्ति सूर्य से होती है और तिथि की उत्पत्ति चन्द्रमा से।[४]

१—उत्तराध्ययन जोड़, २६।५१,५२ :
तेह थकी दिन सातरे बे पग आंगुल अधिक।
पोहर दिवस तब थात रे, दिन चवदै नो पख तदा॥
जो पनरे दिन नों पख रे, तो साढ़ा सात अहोनिशे।
हुवै पौरिसी लक्ष रे, बे पग इक आंगुल अधिक॥

२—ओघनिर्युक्ति, गाथा २८४ वृत्ति :
दिवसे दिवसे अंगुलस्स सत्तमो भागो किंचिदूणो वड्ढइ।

३—काल लोक प्रकाश, २८।१०२६ :
यत्तु ज्योतिष्करण्डादौ, वृद्धिहान्यो निरूपिताः।
चत्वारोऽङ्गुलस्यांशा, एकत्रिंशत् समुद्भवाः॥

४—वही, २८।७६५,७६६ :
यद्वैकोऽप्यहोरात्रः, सूर्यजातो द्विधाकृतः।
दिनरात्रिविभेदेन, संज्ञाभेदप्रकल्पनात्॥
तथैव तिथिरेकापि, शशिजाता द्विधा कृता।
दिनरात्रिविभेदेन, संज्ञाभेदप्रकल्पनात्॥

६१ अहोरात्र से ६२ तिथियाँ होती हैं ।[१] ६२ तिथियों में ६१ अहोरात्र होने से एक तिथि में $\frac{६१}{६२}$ अहोरात्र होते हैं । प्रत्येक अहोरात्र में अगली तिथि का $\frac{१}{६२}$ भाग प्रवेश करता है । अतः ६१ वें अहोरात्र में ६२ वीं तिथि समा जाती है ।

१ अहोरात्र में $\frac{८}{६१}$ अंगुल प्रमाण छाया बढ़ती है । इसलिए ६१ अहोरात्र में $\frac{८}{६१} \times ६१ = ८$ अंगुल ।

१ तिथि में $\frac{४}{३१}$ अंगुल प्रमाण छाया बढ़ती है इसलिए ६२ तिथियों में $\frac{४}{३१} \times ६२ = ८$ अंगुल ।

इस प्रकार ८ अंगुल छाया बढ़ने में ६१ अहोरात्र या ६२ तिथियों का कालमान लगता है । ६१ अहोरात्र ६२ तिथियों के समान होने से दोनों के फलित होने में कोई अन्तर नहीं है ।

श्लोक १५

१–श्लोक १५ :

साधारणतया एक मास में ३० अहोरात्र होते हैं और एक पक्ष में १५ अहोरात्र । किन्तु आषाढ, भाद्रपद, कार्तिक, पौष, फाल्गुन और वैशाख मास के कृष्ण पक्ष में १ अहोरात्र कम होता है । अतः इनका पक्ष १४ अहोरात्र का ही होता है । एक वर्ष में ६ रात्रियाँ अवम होती हैं । लोकप्रकाश में भी ऐसा ही माना है ।[२] इसका कारण यह है कि एक अहोरात्र के कालमान से $\frac{१}{६२}$ भाग कम तिथि का कालमान है, अर्थात् $\frac{६१}{६२}$ अहोरात्र में एक तिथि पूरी होती है । इस प्रकार ६१ अहोरात्र में ६२ तिथियाँ होती हैं । प्रत्येक अहोरात्र में अगली तिथि का $\frac{१}{६२}$ भाग प्रवेश करता है । अतः ६१ वें अहोरात्र में ६२ वीं तिथि समा जाती है ।[३] इस गणित से ३६६ अहोरात्रों में ६ तिथियाँ क्षय हो जाती हैं ।

लौकिक व्यवहार के अनुसार वर्षा ऋतु का प्रारम्भ आषाढ़ मास में होता है । इसे प्रधानता देकर ६१ वें अहोरात्र अर्थात् भाद्र कृष्ण पक्ष में तिथि का क्षय माना है । इस प्रकार ६१-६१ अहोरात्र मे होने वाला तिथि-क्षय भाद्र, कार्तिक, पौष, फाल्गुन और वैशाख मास में होता है । ज्योतिष्करण्डक में भी वर्षा ऋतु का प्रारम्भ आषाढ़ मास से मानकर तिथि-क्षय का वर्णन है ।

१–काल लोकप्रकाश, २८।७८३ वृत्ति :

द्वाषष्ट्या हि तिथिभिः परिपूर्णा एकषष्टिरहोरात्रा भवन्ति ।

२–काल लोकप्रकाश, २८।७८४,७८५ :

युगेऽवमरात्राणां, स्वरूपं किंचिदुच्यते ।
भवंति ते च षड् वर्षे, तथा त्रिंशद्युगेऽखिले ॥
एकैकस्मिन्नहोरात्रे, एको द्वाषष्टिकल्पितः ।
लभ्यतेऽवमरात्रांश एकवृद्ध्या यथोत्तरम् ॥

३–वही, २८।८०० :

एवं च द्वाषष्टितमी, प्रविष्टा निखिला तिथिः ।
एक षष्टिभागकल्पा त्रैकषष्टितमे दिने ॥

लोकप्रकाश में युग के प्रथम वर्ष के प्रथक मास श्रावण को प्रधान माना है। उसके अनुसार आसोज, मृगसर, माघ, चैत्र, ज्येष्ठ और श्रावण मास में तिथि-क्षय होता है। युग के पाँचों वर्षों का यंत्र इस प्रकार है—

युग पूर्वार्ध

वर्ष	प्रथम चंद्र वर्ष								द्वि० चंद्र वर्ष				अर्धअभिवर्धित		
मास	आसो०	माग०	माघ	चैत्र	ज्येष्ठ	श्रा०	आ०	माग०	माघ	चैत्र	ज्येष्ठ	श्रा०	आ०	मार्ग०	पोष दूसरा
पक्ष	कृष्ण	कृष्ण	कृष्ण	कृष्ण	कृष्ण	कृष्ण	कृष्ण		शु०	शु०	शु०	शु०	शु०	शु०	शु०
अवम तिथि	१	३	५	७	९	११	१३	०	२	४	६	८	१०	१२	१४
पात तिथि	२	४	६	८	१०	१२	१४	१	३	५	७	९	११	१३	१५

युग पश्चिमार्ध

वर्ष	अर्ध अभिवर्धित			चन्द्र वर्ष						अभिवर्धित वर्ष					
मास	चैत	ज्येष्ठ	श्रा०	आ०	मार्ग०	माघ	चैत्र	ज्येष्ठ	श्रा०	आ०	माग	माघ	चैत्र	ज्येष्ठ	आषाढ दूसरा
पक्ष	कृ०	कृ०	कृ०	कृ०	कृ०	कृ०	कृ०	कृ०	शु०	शु०	शु०	शु०	शु०	शु०	शुक्ल
अवम तिथि	१	३	५	७	९	११	१३	०	२	४	६	८	१०	१२	१४
पात तिथि	१	४	६	८	१०	१२	१४	१	३	५	७	९	११	१३	१५

श्लोक १६

१०—श्लोक १६ :

पौरुषी के पाद अर्थात् ¼ भाग कम को पादोन-पौरुषी कहते हैं। पौरुषी की छाया में यंत्र निर्दिष्ट अंगुल जोड़ने से पादोन पौरुषी की छाया का मान होता है। सरलता के लिए १२ महीनों के तीन-तीन मास के चार त्रिक किए गए हैं—

पहला त्रिक— ज्येष्ठ, आषाढ़ और श्रावण।

दूसरा त्रिक— भाद्रव, आसोज और कार्तिक।

तीसरा त्रिक— मृगसर, पौष और माघ।

चतुर्थ त्रिक— फाल्गुन, चैत्र और वैशाख।

प्रथम त्रिक के मासों के पौरुषी प्रमाण में ६ अंगुल जोड़ने से उन मासों के पादोन-पौरुषी का छाया-प्रमाण होता है। इसी प्रकार दूसरे त्रिक के मासों में ८ अंगुल, तीसरे त्रिक के मासों में १० अंगुल और चौथे त्रिक के मासों में ८ अंगुल बढ़ाने से उन-उन मासों का पादोन-पौरुषी छाया-प्रमाण आता है। यंत्र इस प्रकार है—

पौरुषी छाया प्रमाण					पादोन-पौरुषी छाया प्रमाण	
पाद	अंगुल		अंगुल		पाद	अंगुल
२	४	+	६	=	२	१०
२	०	+	६	=	२	६
२	४	+	६	=	२	१०
२	८	+	८	=	३	४
३	०	+	८	=	३	८
३	४	+	८	=	४	०
३	८	+	१०	=	४	६
४	०	+	१०	=	४	१०
३	८	+	१०	=	४	६
३	४	+	८	=	४	०
३	०	+	८	=	३	८
२	८	+	८	=	३	४

यह श्लोक ओघनिर्युक्ति में ज्यों का त्यों प्राप्त है।[1]

११—ज्येष्ठ (जेट्ठामूले क) :

यहाँ 'जेट्ठामूले' शब्द में दो नक्षत्रों का योग है। जो नक्षत्र चन्द्रमा को निशी के अन्त तक पहुँचाता है, वह जब आकाश के चतुर्थ भाग में आता है, उस समय प्रथम पौरुषी का कालमान होता है। इसी प्रकार वह नक्षत्र जब सम्पूर्ण क्षेत्र का अवगाहन कर लेता है, तब चारों प्रहर बीत जाते हैं।

जो नक्षत्र पूर्णिमा को उदित होता है और चन्द्रमा को रात्रि के अन्त तक पहुँचाता है, उसी नक्षत्र के नाम पर महीनों के नाम रखे गए हैं। श्रावण और ज्येष्ठ मास इसके अपवाद हैं। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में इसका स्पष्ट व विस्तृत वर्णन है।

प्रथम मास श्रावण को ४ नक्षत्र पार लगाते हैं।

उत्तराषाढ नक्षत्र श्रावण के १४ दिन रात तक।
अभिजित् नक्षत्र ७ दिन-रात।
श्रवण नक्षत्र ८ दिन-रात।
धनिष्ठा नक्षत्र १ दिन रात।

भाद्रव मास को ४ नक्षत्र।

धनिष्ठा १४ दिन-रात।
शतभिषग् ७ दिन-रात।
पूर्वाभाद्र पद ८ दिन-रात।
उत्तराभाद्रपद १ दिन-रात।

१-ओघनिर्युक्ति, गाथा २८६।

आसोज मास को ३ नक्षत्र।

उत्तराभाद्रपद १४ दिन-रात।

रेवति १५ दिन-रात।

अश्विनी १ दिन-रात।

कार्तिक मास को ३ नक्षत्र :

अश्विनी १४ दिन-रात।

भरणी १५ दिन-रात।

कृत्तिका १ दिन-रात।

मृगसिर मास को तीन नक्षत्र :

कृत्तिका १४ दिन-रात।

रोहिणी १५ दिन-रात।

मृगसिर १ दिन-रात।

पोष मास को ४ नक्षत्र :

मृगसिर १४ दिन-रात।

आर्द्रा ८ दिन-रात।

पुनर्वसु ७ दिन-रात।

पुष्य १ दिन-रात।

माघ मास को ३ नक्षत्र :

पुष्य १४ दिन-रात।

अश्लेषा १५ दिन-रात।

मघा १ दिन-रात।

फाल्गुन मास को ३ नक्षत्र :

मघा १४ दिन-रात।

पूर्वा फाल्गुनी १५ दिन-रात।

उत्तरा फाल्गुनी १ दिन-रात।

चैत्र मास को ३ नक्षत्र :

उत्तराफाल्गुनी १४ दिन-रात।

हस्त १५ दिन-रात।

चित्रा १ दिन-रात।

वैसाख मास को ३ नक्षत्र :

चित्रा १४ दिन-रात।

स्वाति १५ दिन-रात।

विशाखा १ दिन-रात।

ज्येष्ठ मास को ४ नक्षत्र

विशाखा १४ दिन-रात।

अनुराधा ८ दिन-रात।

ज्येष्ठा ७ दिन-रात।

मूल १ दिन-रात।

आषाढ़ मास को ३ नक्षत्र

मूल १४ दिन-रात।

पूर्वाषाढ़ा १५ दिन-रात।

उत्तराषाढ़ा १ दिन-रात।[1]

श्लोक १६,२०

१२–श्लोक १९,२० :

इन दो श्लोकों में काल-ग्रहण की विधि बतलाई गई है। मुनि की दिन-चर्या का यह प्रमुख सूत्र है कि वह सब कार्य ठीक समय पर करे—'काले कालं समायरे' (दशवैकालिक ५।२।४)। जिस प्रकार वैदिक परम्परा में काल-विज्ञान का मूल यज्ञ है वैसे ही जैन-परम्परा में उसका मूल साधुओं की दिनचर्या है।

रात के चार भाग है—

(१) प्रादोषिक।

(२) अर्द्धरात्रिक।

(३) वैरात्रिक।

(४) प्राभातिक।[2]

प्रादोषिक और प्राभातिक इन दो प्रहरों में स्वाध्याय किया जाता है। अर्द्धरात्रि मे ध्यान और वैरात्रिक में शयन किया जाता है।

१–जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, वक्ष ७ सूत्र १६२।

२–(क) ओघनिर्युक्ति, गाथा ६५८ वृत्ति, पत्र २०५ :

कालानां चतुष्कं कालचतुष्कं तत्रैकः प्रादोषिकः द्वितीयोऽर्द्धरात्रिकः तृतीयो वैरात्रिकः चतुर्थः प्राभातिकः काल इति, एतस्मिन् कालचतुष्के नानात्वं प्रदर्श्यते, तत्र प्रादोषिककाले सर्व एव समकं स्वाध्यायं प्रस्थापयन्ति, शेषेषु तु त्रिषु कालेषु समकं एककालं स्वाध्यायं प्रस्थापयन्ति विषमं वा—न युगपद्वा स्वाध्यायं प्रस्थापयन्तीति।

(ख) ओघनिर्युक्ति गाथा, ६६२,६६३ :

पाओसिय अड्ढरत्ते, उत्तरदिसि पुव्व पेहए कालं।
वेरत्तियंमि भयणा, पुव्वदिसा पच्छिमे काले॥
सज्झायं काऊणं, पढमबितियासु दोसु जागरणं।
अन्नं वावि गुणंती, सुणंति झायन्ति वाऽसुद्धे॥

श्लोक २१,२२

१३–श्लोक २१,२२ :

'पुव्विल्लंमि चउब्भाए' यहाँ 'आइच्चमि समुट्ठिए' इतना शेष है।[1] तथा 'पोरिसीए चउब्भाए' यहाँ 'अवशिष्यमाण' इतना शेष है।[2] 'अपडिक्कमित्ता कालस्स' यहाँ कायोत्सर्ग किए बिना ही पात्र-प्रतिलेखना का विधान है। उसका तात्पर्य यह है कि चतुर्थ पौरुषी में फिर स्वाध्याय करना है। कायोत्सर्ग एक कार्य की समाप्ति पर ही किया जाता है।[3]

श्लोक २३

१४–श्लोक २३ :

इस श्लोक में पात्र सम्बन्धी तीन उपकरणों—(१) मुख-वस्त्रिका, (२) गोच्छग और (३) वस्त्र (पटल) का उल्लेख है। ओघनिर्युक्ति में पात्र सम्बन्धी सात उपकरणों का उल्लेख मिलता है—(१) पात्र, (२) पात्र-बन्ध, (३) पात्र-स्थापन, (४) पात्र-केसरिका, (५) पटल, (६) रजस्त्राण और (७) गोच्छग।

इन्हें पात्र-निर्योग (पात्र-परिकर) कहा जाता है।[4] पात्र को बाँधने के लिए पात्र बन्ध, उसे रज आदि से बचाने के लिए पात्र-स्थापन रखा जाता है।[5] पात्र-केशरिका का अर्थ 'पात्र की मुख-वस्त्रिका' है।[6] इससे पात्र की प्रतिलेखना की जाती है।[7]

भिक्षाटन काल में स्कन्ध और पात्र को ढाँकने के लिए तथा पुष्प-फल, रज-रेणु आदि से बचाव करने के लिए पटल रखा जाता है।[8]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ५४० :
'पूर्वस्मिश्चतुर्भागे' प्रथमपौरुषीलक्षणे प्रक्रमाद् दिनस्य प्रत्युपेक्ष्य 'भाण्डकं' प्रावृट्वर्षाकल्पादि उपधिमादित्योदय-समय इति शेषः।

२–वही, पत्र ५४० :
द्वितीयसूत्रे च पौरुष्याश्चतुर्थभागेऽवशिष्यमाण इति गम्यते, ततोऽयमर्थः पादोनपौरुष्यां भाजनं प्रतिलेखयेदिति सम्बन्ध.।

३–वही, पत्र ५४० :
स्वाध्यायादुपरतश्चेत्कालस्य प्रतिक्रम्यैव कुर्यात्तरमारब्धव्यमित्याशंक्येताह आह—अप्रतिक्रम्य कालस्य, तत्प्रतिक्रमार्थं कायोत्सर्गमविधाय, चतुर्थपौरुष्यामपि स्वाध्यायस्य विधास्यमानत्वात्।

४–ओघनिर्युक्ति, गाथा ६७४ :
पत्तं पत्ताबंधो, पायट्ठवणं च पायकेसरिया।
पडलाइं रयत्ताणं च, गोच्छओ पायनिज्जोगो॥

५–वही, गाथा ६९५ :
रयमाविरक्खणट्ठा, पत्तट्ठवणं जिणेहिं पन्नत्तं।

६–वही, गाथा ६९६ वृत्ति—
'केसरिकाऽपि'—पात्रक-मुखवस्त्रिकाऽपि।

७–वही, गाथा ६९६ :
पाय-पमज्जणहेउं, केसरिया ।

८–(क) वही, गाथा ७०१ वृत्ति—
स्कन्धः पात्रकं आच्छाद्यते यावता तत्प्रमाणं पटलानामिति।

(ख) वही, गाथा ७०२ :
पुप्फ-फलोदय-रयरेणु-सउण-परिहार-पाय-रक्खट्ठा।
लिंगस्स य संवरणे, वेदोदयरक्खणे पडला॥

चूहों तथा अन्य जीव-जन्तुओं, बरसात के पानी आदि से बचाव के लिए रजस्त्राण रखा जाता है।[1] पटलों का प्रमार्जन करने के लिए गोच्छग होता है।[2] इनमें पात्र-स्थापन और गोच्छग ऊन के तथा मुख-वस्त्रिका कपास की होती है।[3]

श्लोक २४-२८

१५—श्लोक २४-२८ :

प्रतिलेखना के तीन अंग हैं—

(१) प्रतिलेखना—वस्त्रों को आँखों से देखना।

(२) प्रस्फोटना—झटकाना।

(३) प्रमार्जना—प्रमार्जन करना, वस्त्र पर जीव-जन्तु हों, उन्हें हाथ में लेकर यतना-पूर्वक एकान्त में रख देना।

२५वें श्लोक में अनर्तित आदि छह प्रकार बतलाए गए हैं। वे स्थानांग (६।५०३) के अनुसार अप्रमाद-प्रतिलेखना के प्रकार हैं। इनमें 'अमोसली' शब्द मुशल से उत्पन्न है। अनाज कूटते समय मुशल जैसे ऊपर, नीचे और तिरछे में जाता है वैसे वस्त्र को नहीं ले जाना चाहिए। 'पुरिम' (पूर्व) शब्द का रूढ़ अर्थ है—'वस्त्र के दोनों ओर तीन-तीन विभाग कर उसे झटकाना'।

'खोटक' का अर्थ है—'प्रमार्जन'। वे प्रत्येक पूर्व में तीन-तीन बार किए जाते हैं। इस प्रकार एक भाग में नौ खोटक होते हैं, दोनों में अठारह।

२६ वें श्लोक में आरभटा आदि छह प्रकार बतलाए गए हैं। वे स्थानांग (६।५०३) के अनुसार प्रमाद प्रतिलेखना के प्रकार हैं। इनमें वेदिका के पाँच प्रकार हैं—

(१) उर्ध्ववेदिका—दोनों जानुओं पर हाथ रखकर प्रतिलेखना करना।

(२) अधोवेदिका—दोनों जानुओं के नीचे हाथ रखकर प्रतिलेखना करना।

(३) तिर्यग्-वेदिका—दोनों जानुओं के बीच में हाथ रखकर प्रतिलेखना करना।

(४) उभय-वेदिका—दोनों जानुओं को दोनों हाथों के बीच रखकर प्रतिलेखना करना।

(५) एक-वेदिका—एक जानु को दोनों हाथों के बीच रखकर प्रतिलेखना करना।

दृष्टि डालना, छह पूर्व करना—छह बार झटकाना और अठारह खोटक करना—अठारह बार प्रमार्जन करना—इस प्रकार प्रतिलेखना के (१+६+१८) २५ प्रकार होते हैं।[4]

१—ओघनिर्युक्ति, गाथा ७०४ :

मूसयरजउक्केरे, वासे सिण्हा रए य रक्खट्ठा।

होंति गुणा रयत्ताणे, पादे पादे य एक्केकं॥

२—वही, गाथा ६९५ :

होइ पमज्जणहेउं तु, गोच्छओ भाण-वत्थाणं।

३—वही, गाथा ६९४, वृत्ति—

अत्र च पात्रस्थापनकं गोच्छकश्च एते द्वे अपि ऊर्णामये वेदितव्ये, मुखवस्त्रिका क्षोमिया।

४—(क) बृहद् वृत्ति, पत्र ५४०-५४२।

(ख) स्थानांग, ६।५०३ वृत्ति।

अठाइसवें श्लोक के अनुसार प्रतिलेखना के आठ विकल्प होते हैं। उनमें पहला प्रशस्त है, शेष सभी अप्रशस्त[1]—

(१) न्यून नहीं	अतिरिक्त नहीं	विपर्यास नहीं	प्रशस्त
(२) न्यून नहीं	अतिरिक्त नहीं	विपर्यास है	अप्रशस्त
(३) न्यून नहीं	अतिरिक्त है	विपर्यास नहीं	,,
(४) न्यून नहीं	अतिरिक्त है	विपर्यास है	,,
(५) न्यून है	अतिरिक्त नही	विपर्यास नहीं	,,
(६) न्यून है	अतिरिक्त नहीं	विपर्यास है	,,
(७) न्यून है	अतिरिक्त है	विपर्यास नही	,,
(८) न्यून है	अतिरिक्त है	विपर्यास है	,,

१६—वस्त्र (वत्थं ख) :

यहाँ 'वस्त्र' शब्द उत्तरीय आदि वस्त्र के अर्थ में प्रयुक्त है। इससे पहले तेईसवें श्लोक में जो वस्त्र शब्द है वह पात्र के उपकरण—पटल के अर्थ में प्रयुक्त है।[2] इन सबकी प्रतिलेखना का प्रकार एक जैसा ही है।

श्लोक ३२

१७—श्लोक ३२ :

इस श्लोक में छह कारणों से मुनि को आहार करना चाहिए, ऐसा कहा गया है—

(१) क्षुधा की वेदना उत्पन्न होने पर।

(२) वैयावृत्त्य के लिए।

(३) ईर्या-पथ के शोधन के लिए।

(४) संयम-यात्रा के निर्वाह के लिए।

(५) अहिंसा के लिए।

(६) धर्म-चिन्तन के लिए।

मिलाइए—स्थानांग, ६।५००

१-बृहद् वृत्ति, पत्र ५४२।

२-वही, पत्र ५४० :

'वस्त्रं' पटलकल्पं, जातावेकवचनं, पटलकप्रक्रमेऽपि सामान्यवाचकवस्त्रशब्दाभिधानं सर्वकल्पानामपि प्रत्युपेक्षणायामयमेव विधिरिति ख्यापनार्थम्।

मूलाचार में तीसरे कारण 'इरियट्ठाए' के स्थान पर 'किरियट्ठाए' पाठ मिलता है।[1] उसका अर्थ 'क्रिया के लिए—षडावश्यक आदि क्रिया का प्रतिपालन करने के लिए' किया गया है।[2]

यह अन्तर यदि लिपि-दोष के कारण न हुआ हो तो यही मानना होगा कि उत्तराध्ययन में प्रतिपादित तीसरे कारण से आचार्य वट्टकेर सहमत नहीं हैं। बौद्ध-ग्रन्थों में आहार लेने या करने की मर्यादा का उल्लेख करते हुए कहा गया है—भिक्षु क्रीडा के लिए, मद के लिए, मण्डन करने के लिए, विभूषा के लिए—आहार न करे। परन्तु शरीर को कायम रखने के लिए, रोग के उपशमन के लिए, ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए (शासन-ब्रह्मचर्य और मार्ग-ब्रह्मचर्य के लिए) इस प्रकार आहार करता हुआ मैं भूख से उत्पन्न वेदना को क्षीण करूंगा और नई वेदना को उत्पन्न नहीं करूंगा, ऐसा करने से मेरी यात्रा (संयम-यात्रा या शारीरिक यात्रा) और प्रासु विहार-चर्या भी चलती रहेगी।[3]

१८–वेदना (वेयण °)

भूख के समान कोई कष्ट नहीं है। भूखा आदमी वैयावृत्य (सेवा) नहीं कर सकता ; ईर्या का शोधन नहीं कर सकता, प्रेक्षा आदि संयम-विधियों का पालन नहीं कर सकता, उसका बल क्षीण हो जाता है ; गुणन और अनुप्रेक्षा करने में वह अशक्त हो जाता है इसलिए भगवान् ने कहा कि वेदना की शांति के लिए मुनि आहार करे।[4]

श्लोक ३४

१९–श्लोक ३४ :

इस श्लोक में छह कारणों से आहार नहीं करना चाहिए ऐसा कहा गया है—

(१) आतंक—ज्वर आदि आकस्मिक हो जाने पर।

(२) राजा आदि का उपसर्ग हो जाने पर।

(३) ब्रह्मचर्य की तितिक्षा—सुरक्षा के लिए।

(४) प्राणि-दया के लिए।

(५) तपस्या के लिए।

(६) शरीर का व्युत्सर्ग करने के लिए।

मिलाइए—स्थानांग ६।५००

ओघनिर्युक्ति भाष्य, गाथा २९३,२९४

१–मूलाचार, ६।६० :

वेयणवेज्जावच्चे किरियाठाणे य संजमट्ठाए।
तध पाणधम्मचिंता कुज्जा एदेहिं आहारं॥

२–मूलाचार, ६।६० वृत्ति :

क्रियार्थं षडावश्यकक्रिया मम भोजनमन्तरेण न प्रवर्तन्ते इति ताः प्रतिपालयामीति भुंक्ते।

३–विसुद्धिमार्ग १।१।३१, पाद टिप्पण ८ :

पटिसंखा योनिसो पिण्डपातं पटिसेवति, नेव दवाय, न मदाय, न मण्डनाय, न विभूसनाय, यावदेव इमस्स कायस्स ठितिया यापनाय विहिंसूपरतिया ब्रह्मचरियानुग्गहाय, इति पुराणं च वेदनं पटिहंखामि, नवं च वेदनं न उप्पादेस्सामि, यात्रा च मे भविस्सति फासुविहारो चाति।

४–ओघनिर्युक्ति, भाष्य, गाथा २९०,२९१ :

नत्थि छुहाए सरिसया, वेयण भुंजेज्ज तप्प-समणट्ठा।
छाओ वेयावच्चं, न तरइ काउं अओ भुंजे॥
इरियं नवि सोहेइ, पेहाईयं च संजमं काउं।
थामो वा परिहायइ, गुणणुप्पेहासु य असत्तो॥

श्लोक ३५

२०–श्लोक ३५ :

मुनि जब भिक्षा के लिए जाए तब अपने सब उपकरणों को साथ ले जाए—यह 'औत्सर्गिक विधि' है। यदि सब उपकरणों को साथ ले जाने में असमर्थ हो तो आचार-भण्डक लेकर जाए—यह 'आपवादिक विधि' है।

निम्नलिखित छः आचार-भण्डक कहलाते हैं—

(१) पात्र।

(२) पटल।

(३) रजोहरण।

(४) दण्डक।

(५) दोकल्प—एक ऊनी और एक सूती पछेवड़ी।

(६) मात्रक।[1]

इस श्लोक का निर्युक्ति व भाष्य-काल में जो अर्थ था, वह टीका-काल में बदल गया।

शान्त्याचार्य ने अवशेष का अर्थ केवल 'पात्रोपकरण' किया है। वैकल्पिक रूप में अवशेष का अर्थ 'समस्त उपकरण' भी किया है किन्तु उन्हें भिक्षा में साथ ले जाना चाहिए, इसकी मुख्य रूप से चर्चा नहीं की है।[2]

२१–प्रदेश तक (विहारं घ) :

शान्त्याचार्य ने विहार का अर्थ 'प्रदेश' किया है।[3] व्यवहार-भाष्य की वृत्ति में विहार-भूमि का अर्थ 'भिक्षा-भूमि' मिलता है।[4] 'विहारं विहारए'—इसका अर्थ है—'भिक्षा के निमित्त पर्यटन करे'।

१–ओघनिर्युक्ति भाष्य, गाथा २२७ और वृत्ति :

सव्वोवगरणमाया, असहू आयारभंडगेण सह।

तत्रोत्सर्गतः सर्वमुपकरणमादाय भिक्षागवेषणां करोति, अथासौ सर्वेण गृहीतेन भिक्षामटितुमसमर्थस्तत आचारभण्डकेन समं, आचारभण्डकं—पात्रकं पटलानि रजोहरणं दण्डकः कल्पद्वयं—और्णिकः क्षौमिकश्च मात्रकं च, एतद्गृहीत्वा याति।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र ५४४ :

'अवशेषं' भिक्षाप्रक्रमात्पात्रनिर्योगोद्धरितं, च शब्दस्य गम्यमानत्वादवशेषं च पात्रनिर्योगमेव, यद्वापगतं शेषमपशेषं, कोऽर्थः ?—समस्तं, भाण्डकम् उपकरणं 'गिज्झ' त्ति गृहीत्वा चक्षुषा प्रत्युपेक्षेत, उपलक्षणत्वात्प्रतिलेखयेच, इह च विशेषत इति गम्यते, सामान्यतो ह्यप्रत्युपेक्षितस्य ग्रहणमपि न युज्यत एव यतीनाम्, उपलक्षणत्वच्चास्य तदादाय।

३–वही, पत्र ५४४ :

विहरन्त्यस्मिन् प्रदेश इति विहारस्तम्।

४–व्यवहार-भाष्य, ४।४० और वृत्ति :

महती वियारभूमी, विहारभूमी य सुलभवित्ती य।
सुलभा वसही य जहिं, जहण्णयं वासखेत्तं तु॥

अत्र च महती विहारभूमिर्भिक्षानिमित्तं परिभ्रमणभूमिः...।

अध्ययन २७

खलुंकिज्जं

श्लोक १

१–(थेरे क, गणहरे क, गग्गे क, पडिसंधए घ) :

'थेरे'—शान्त्याचार्य ने 'थिरकरणा पुण थेरो' के आधार पर इसका अर्थ 'धर्म में अस्थिर व्यक्तियों को स्थिर करने वाला' किया है।[1] दशवैकालिक (९।४।१) की चूर्णि में स्थविर का अर्थ 'गणधर' किया गया है।[2] परन्तु यहाँ वह अर्थ नहीं है क्योंकि इसका अगला शब्द 'गणहरे' है। साधारणतः जो मुनि प्रव्रज्या और वय में वृद्ध होते हैं उन्हें 'स्थविर' कहा जाता है। मुनि के लिए 'स्थविर कल्प' नामक आचार विशेष का भी उल्लेख आया है जिसका अर्थ है 'गच्छ में रहने वाले मुनियों का आचार'।

'गणहरे'—इसके प्रमुख अर्थ दो हैं—(१) तीर्थंकर के प्रमुख शिष्य और (२) अनुपम ज्ञानादि के धारक अचार्य।[3] यहाँ द्वितीय अर्थ अभिप्रेत है।

'गग्गे—इसके दो संस्कृत रूप होते हैं—गर्ग और गार्ग्य। गर्ग व्यक्तिवाची शब्द है और गार्ग्य गोत्र सम्बन्धी। शान्त्याचार्य ने इसका संस्कृत रूप गार्ग्य देकर इसका अर्थ 'गर्गसगोत्रः' किया है। नेमिचन्द्र ने इसे 'गर्ग' शब्द मानकर 'गर्गनामा' ऐसा अर्थ किया है।[4] स्थानांग सूत्र में गौतम-गोत्र के अन्तर्गत गर्ग-गोत्र का उल्लेख हुआ है।[5] इसलिए शान्त्याचार्य वाला अर्थ ही संगत लगता है। सरपेन्टियर ने लिखा है—यह गर्ग शब्द अति प्राचीन है और वैदिक-साहित्य में इसका प्रयोग हुआ है। इसके निकट के शब्द गार्गी और गार्ग्य भी ब्राह्मण युग में सुविदित रहे। संभव है कि उस समय में गर्ग नाम वाला कोई ब्राह्मण मुनि रहा हो और जैनों ने उस नाम का अनुकरण कर अपने साहित्य में उसका प्रयोग किया हो। उत्तराध्ययन में आए हुए 'कपिल' आदि शब्द के विषय में भी ऐसा ही हुआ है।[6] किन्तु ब्राह्मण लोग जैन-शासन में प्रव्रजित होते थे, इसलिए ब्राह्मण मुनि के नाम का अनुकरण कर यह अध्ययन लिखा गया। इस अनुमान के लिए कोई पुष्ट आधार प्राप्त नहीं है।

'पडिसंधए'—शान्त्याचार्य ने इसका अर्थ 'कर्मोदय से नष्ट हुई अविनीत शिष्यों की समाधि का पुनः संधान करना—जोड़ना'[7] और

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ५५०।

२–अगस्त्य चूर्णि :
थेरो पुण गणहरो।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र ५५० :
गणं—गुणसमूहं धारयति—आत्मन्यवस्थापयतीति गणधरः।

४–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र ५५० :
'गार्ग्यः' गर्गसगोत्रः।
(ख) सुखबोधा, पत्र ३१६ :
गर्गः गर्गनामा।

५–स्थानांग, ७।५५१ :
जे गोयमा ते सत्तविधा प० तं०–ते गोयमा, ते गग्गा, ते भारद्दा, ते अंगिरसा, ते सक्कराभा, ते भक्खराभा, ते उदत्ताभा।

६—The Uttarādhyayana Sūtra, p. 372.

७–बृहद् वृत्ति, पत्र ५५० :
'प्रतिसंधत्ते' कर्मोदयात् त्रुटितमपि संघट्टयति, तथाविधशिष्याणामिति गम्यते।

नेमिचन्द्र ने 'शिष्यों द्वारा तोड़ी गई समाधि का पुनः अपने आप में संधान करना'[1] किया है। इस अध्ययन की दृष्टि से दोनों अर्थ उचित हैं।

श्लोक ३

२–अयोग्य बैलों को (खलुंके क) :

'खलुंक 'और' खुलंक'—ये दोनों रूप प्रचलित हैं। नेमिचन्द्र ने इसका अर्थ 'दुष्ट बैल' किया है।[2] स्थानांग वृत्ति में भी खलुंक का अर्थ 'अविनीत' किया गया है।[3] खलुंक का अर्थ 'घोड़ा' भी होता है।[4]

सरपेन्टियर ने लिखा है—संभव है यह शब्द 'खल' से सम्बन्धित रहा हो और प्रारम्भ में 'खल' शब्द के भी ये ही—वक्र, दुष्ट आदि अर्थ रहे हों। परन्तु इसकी प्रामाणिक व्युत्पत्ति अज्ञात ही है। अनुमानतः यह शब्द 'खलोक्ष' का निकटवर्ती रहा है। जैसे—खल-विहग का दुष्ट पक्षी के अर्थ में प्रयोग होता है, वैसे ही खल-उक्ष का दुष्ट बैल के अर्थ में प्रयोग हुआ हो।[5]

'खलुंक' शब्द के अनेक अर्थ निर्युक्ति की गाथाओं (४८६-४६४) में मिलते हैं—

(१) जो बैल अपने जुए को तोड़कर उत्पथगामी हो जाते हैं, उन्हें खलुंक कहा जाता है—यह गाथा ४८६ का भावार्थ है।

(२) ४६० वीं गाथा में खलुंक का अर्थ वक्र, कुटिल, जो नमाया नहीं जा सकता आदि किया गया है।

(३) ४६१ वीं गाथा में हाथी के अंकुश, करमंदी, गुल्म की लकड़ी और लालवृन्त के पंखे आदि को खलुंक कहा गया है।

(४) ४६२ वीं गाथा में दंस, मश्क, जोंक आदि को खलुंक कहा गया है।

(५) ४६३ और ४६५ वीं गाथाओं में गुरु के प्रत्यनीक, शबल, असमाधिकर, पिशुन, दूसरों को संतप्त करने वाले, अविश्वस्त आदि शिष्यों को खलुंक कहा गया है।[6]

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि दुष्ट, वक्र आदि के अर्थ में 'खलुंक' शब्द का प्रयोग होता है। जब यह मनुष्य या पशु के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है तब इसका अर्थ होता है—दुष्ट मनुष्य या पशु, अविनीत मनुष्य या पशु और जब यह लता, गुल्म, वृक्ष आदि के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है, तब इसका अर्थ वक्र लता या वृक्ष, ठूँठ, गाँठों वाली लकड़ी या वृक्ष होता है।

श्लोक ४

३–(एगं डसइ पुच्छंमि क) :

शान्त्याचार्य और नेमिचन्द्र ने इसका सम्बन्ध क्रुद्ध गाड़ी-वाहक—सारथि से किया है।[7] परन्तु प्रकरण की दृष्टि से यह संगत नहीं लगता। डॉ० हरमन जेकोबी ने इसका सम्बन्ध दुष्ट बैल के साथ जोड़ा है।[8] क्योंकि अगला सारा प्रकरण बैलों से सम्बन्धित है। अतः यह ठीक है।

१–सुखबोधा, पत्र ३१६ :
'प्रतिसन्धत्ते' कुशिष्यैस्त्रोटितमपि सङ्घट्टयति आत्मन इति गम्यते।

२–वही, पत्र ३१६ :
खलुंकान् गलिवृषभान्।

३–स्थानांग, ४।३।३२७ वृत्ति, पत्र २३८ :
खलुंको—गलिरविनीतः।

४–अभिधानप्पदीपिका, ३७० :
घोटको, (तु) खलुंको (च)।

५. The Uttarādhayayana Sūtra, p. 372.

६–बृहद् वृत्ति, पत्र ५४८-५५०।

७–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र ५५१।
(ख) सुखबोधा, पत्र ३१७।

८–The Sacred Books of the East, Vol. XLV, Uttarādhyayana, p. 150, Foot note 2.

श्लोक ५

४–तरुण गाय की ओर (बालगवी घ) :

शान्त्याचार्य ने इसके दो अर्थ किए हैं—(१) युवा गाय और (२) दुष्ट बैल।[1] प्रथम अर्थ संगत लगता है।

श्लोक ७

५–छिनाल (छिन्नाले क) :

'छिन्नाले' का अर्थ है 'जार'। भारतवर्ष में घोड़ा-गाड़ी-वाहक इसका बहुधा प्रयोग करते हैं। यह गाली वाचक शब्द है। इसका स्त्रीलिंग में भी प्रयोग होता है, यथा—छिनाली, छिनाल स्त्री, छिन्ना आदि।[2] पुंश्चली को छिनाल कहते हैं।

छिनालिआ-पुत्र की संस्कृत छाया 'पुंश्चलिपुत्रक' दी है—ऐसा सरपेन्टियर ने लिखा है।[3] टीकाकार इसका अर्थ 'तथाविधदुष्टजातिः' करते हैं।[4]

६–रास को (सेल्लिं क) :

यह देशी शब्द है। इसका अर्थ है 'रज्जु'।[5] सम्भव है इस शब्द का सम्बन्ध अपभ्रंश शब्द 'सेल्लु' से हो, जिसका उल्लेख हेमचन्द्राचार्य ने प्राकृत-व्याकरण (४।३८७) में किया है। पिशल ने 'सेल्लु' का अर्थ हल किया है। सरपेन्टियर ने इस अर्थ के आधार पर यह अनुमान किया है कि यह हल का कोई भाग होना चाहिए।[6] देशीनाममाला में 'सेल्लु' के दो अर्थ किए गए हैं—(१) मृग-शिशु और (२) बाण।[7]

श्लोक ९

७–(इड्ढीगारविए क, रसगारवे ख, सायागारविए ग) :

देखिए—३१।४ का टिप्पण।

श्लोक १०

८–श्लोक १० :

डॉ० हरमन जेकोबी ने इस श्लोक के विषय में यह अनुमान किया है कि मूलतः यह श्लोक 'आर्या' छन्द में था परन्तु कालान्तर में इसे 'अनुष्टुप छन्द' में बदलने का प्रयत्न किया गया।[8] टीकाओं में इस विषयक कोई उल्लेख नहीं है।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ५५१ :
(क) 'बालगवी वए'त्ति 'बालगवीम्' अवृद्धां गाम्।
(ख) यद्विाऽऽर्षत्वाद्वालगवीति व्यालगवो—दुष्टबलीवर्दः।

२–देशीनाममाला, ३।२७, पृ० १४०।

३–The Uttarādhyayana Sūtra, p. 373.

४–बृहद् वृत्ति, पत्र ५५१ :
'छिन्नालः' तथाविधिदुष्टजातिः।

५–बृहद् वृत्ति, पत्र ५५१ :
'सिल्लिं' ति रश्मिं संयमतरज्जुमितियावत्।

६–The Uttarādhyayana Sūtra, p. 373.

७–देशीनाममाला, ८।५७ :
मिगसिसुसरेसु सेल्लो।

८–The Sacred Books of the East, Vol. XLV, Uttarādhyayana, p. 151, Foot note 1.

९–अपमान-भीरु (ओमाणभीरुए ख) :

इसका तात्पर्य है कि जिस किसी के घर में वह भिक्षा के लिए नहीं जाता क्योंकि उसे प्रतिपल अपमानित होने का भय रहता है।[१] शान्त्याचार्य ने 'ओमाणभीरुए' का वैकल्पिक अर्थ 'प्रवेश-भीरु' किया है।[२]

श्लोक १३

१०–(पलिउंचन्ति क) :

इसका तात्पर्यार्थ समझाते हुए शान्त्याचार्य ने लिखा है कि आदेश के अनुसार कार्य न होने पर गुरु अपने शिष्य को इसका कारण पूछते हैं तब शिष्य कहता है—"आपने हमें इस कार्य के लिए कब कहा था ?" अथवा वह यों कह देता है—"हम वहाँ गए थे परन्तु वह वहाँ नहीं मिली।" यह अपलाप करना है।[३] डॉ० हर्मन जेकोबी ने इस अर्थ को मान्य नहीं किया है। उनके अनुसार इसका अर्थ है 'आदेशानुसार कार्य नहीं किया।'[४] मूल धातु को देखते हुए परिकुंच का अर्थ मायापूर्ण प्रयोग या अपलाप ही होना चाहिए।

११–राजा की बेगार (रायवेट्ठिं ग) :

'रायवेट्ठिं' का अर्थ है 'राजा की बेगार'।[५] राजस्थान में इसे 'बेठ' कहते हैं। (विट्ठि>वेट्ठि>बेठ) यह देशी शब्द है। देशीनाममाला में इसका अर्थ 'प्रेषण' किया है।[६] उपदेशरत्नाकर (६।११) में इसका अर्थ 'बेगार' किया है। प्राचीन समय में यह परम्परा थी कि राजा या जमींदार गाँव के प्रत्येक व्यक्ति से बिना पारिश्रमिक दिए ही काम कराते थे। बारी-बारी से सबको कार्य करना पड़ता था। इसी की ओर यह शब्द संकेत करता है। डॉ० हरमन जेकोबी 'विट्ठि' का अर्थ 'भाड़ा'—'किराया' करते हैं।[७] किन्तु यहाँ यह उपयुक्त नहीं है।

श्लोक १५

१२–खिन्न होकर (समागओ ख) :

'समागओ' के अर्थ में नेमिचन्द्र का मत शान्त्याचार्य से भिन्न है। शान्त्याचार्य ने समागत का अर्थ 'श्रमागत' (श्रम-प्राप्त) किया है[८] और नेमिचन्द्र ने इसका अर्थ 'संयुक्त' किया है।[९]

—

१–सुखबोधा, पत्र ३१७ :
अपमानभीरुः भिक्षां भ्रमन्नपि न यस्य तस्यैव गृहे प्रवेष्टुमिच्छति।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र ५५२ :
'ओमाणं' ति प्रवेशः स च स्वपक्षपरपक्षयोस्तद्भीरुर्गृहिप्रतिबन्धेन मा मां प्रविशन्तमवलोक्यान्ये साधवः सौगतादयो वाऽत्र प्रवेक्ष्यन्तीति।

३–वही, पत्र ५५३ :
'पलिउंचंति' त्ति तत्प्रयोजनानिष्पादने पृष्टाः सन्तोऽपह्नुवते— क्व वयमुक्ताः ?, गता वा तत्र वयं, न त्वसौ दृष्टेति।

४–The Sacred Books of the East, Vol. XLV, Uttarādhyayana, p. 151.

५–बृहद् वृत्ति, पत्र ५५३ :
'राजवेष्टिमिव' नृपतिहठप्रवर्त्तितकृत्यमिव।

६–देशीनाममाला, २।४३, पृ० ६६।

७–The Sacred Books of the East, Vol. XLV, Uttarādhyayana, p. 151, foot Note No 3.

८–बृहद् वृत्ति, पत्र ५५३ :
श्रमं—खेदमागतः—प्राप्तः श्रमागतः।

९–सुखबोधा, पत्र ३१७ :
समागताः—संयुक्ताः।

अध्ययन २८
मोक्खमग्गगई

श्लोक २

१-श्लोक २ :

इस श्लोक में मोक्ष के चार मार्ग—(१) ज्ञान, (२) दर्शन, (३) चारित्र और (४) तप—का नाम निर्देश है। 'तप' चारित्र का ही एक प्रकार है किन्तु इसके कर्म-क्षय करने की विशिष्ट शक्ति होने के कारण इसे यहाँ स्वतंत्र स्थान दिया गया है।[1] उमास्वाति ने "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग:"[2]—इस सूत्र में तपस्या को स्वतंत्र स्थान नहीं दिया है। इस प्रकार मोक्ष-मार्ग की संख्या के सम्बन्ध में दो परम्पराएँ प्राप्त हैं। इनमें केवल अपेक्षा-भेद है। तप को चारित्र के अन्तर्गत मान लेने पर मोक्ष के मार्ग तीन बन जाते हैं और इसे स्वतंत्र मान लेने पर चार।

बौद्ध-साहित्य में अष्टांगिक-मार्ग को मुक्ति का कारण माना गया है। (१) सम्यक् दृष्टि, (२) सम्यक् संकल्प, (३) सम्यक् वचन, (४) सम्यक् कर्मान्त, (५) सम्यक् आजीव, (६) सम्यक् व्यायाम, (७) सम्यक् स्मृति और (८) सम्यक् समाधि—ये अष्टांगिक-मार्ग कहलाते हैं।[3]

श्लोक ४

२-श्लोक ४ :

इस श्लोक में जैनदर्शनाभिमत पाँच ज्ञानों—(१) श्रुतज्ञान, (२) आभिनिबोधिकज्ञान, (३) अवधिज्ञान, (४) मनःज्ञान (मनःपर्यव ज्ञान) और (५) केवलज्ञान—का उल्लेख हुआ है। इसी ग्रन्थ (३३।४) में ज्ञानावरण के भेदों में उन पांच ज्ञानों का उल्लेख हुआ है। वहाँ भी यही क्रम है। साधारणतः ज्ञान के उल्लेख का क्रम है—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव और केवल। परन्तु इस श्लोक में श्रुत के बाद आभिनिबोधिक (मति) का उल्लेख हुआ है। टीकाकारों ने इसका कारण बतलाते हुए कहा है कि शेष सभी ज्ञानों (मति, अवधि, मनःपर्यव और केवल) का स्वरूप-ज्ञान इस श्रुतज्ञान से ही होता है। अतः इसकी प्रधानता दिखाने के लिए ऐसा किया गया है।[4] इसकी पुष्टि अनुयोगद्वार सूत्र से भी होती है।[5] यह भी सम्भव है कि छन्द की दृष्टि से ऐसा किया गया हो।

१-बृहद् वृत्ति, पत्र ५५६ :

इह च चारित्रभेदत्वेऽपि तपसः पृथगुपादानमस्यैव क्षपणं प्रत्यसाधारणहेतुत्वमुपदर्शयितुं, तथा च वक्ष्यति—'तवसा (उ) विसुज्झइ'।

२-तत्त्वार्थ सूत्र, १।१।

३-संयुत्तनिकाय (३४।३।५।१), भाग २, पृ० ५०५।

४-(क) बृहद् वृत्ति, पत्र ५५७।

(ख) सुखबोधा, पत्र ३१९।

५-अनुयोगद्वार, सूत्र २ :

तत्थ चत्तारि नाणाइं ठप्पाइं ठवणिज्जाइं णो उद्दिसंति णो समुद्दिसंति णो अणुण्णविज्जंति, सुयनाणस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णा अणुओगो य पवत्तइ।

'आभिनिबोधिकज्ञान' मतिज्ञान का ही पर्यायवाची है। नन्दी सूत्र में दोनों शब्दों का प्रयोग हुआ है।[1] अनुयोगद्वार में केवल 'आभिनिबोधिक' का ही प्रयोग है। नंदी में ईहा, उपोह, विमर्श, मार्गणा, गवेषणा, संज्ञा, स्मृति, मति और प्रज्ञा को आभिनिबोधिक ज्ञान माना है।[2] तत्त्वार्थ (१।१३) में मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और आभिनिबोध को एकार्थक माना गया है।

मति और श्रुत अन्योन्याश्रित हैं—'जत्थ आभिणिबोहियनाणं तत्थ सुयनाणं, जत्थ सुयनाणं तत्थाभिणिबोहियनाणं'—जहाँ मति है, वहाँ श्रुत है और जहाँ श्रुत है, वहाँ मति है।[3]

श्रुतज्ञान मति-पूर्वक ही होता है, परन्तु मतिज्ञान श्रुत-पूर्वक नहीं होता।[4] सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक में भी इसी मत का समर्थन है।[5] श्रुतज्ञान मति पूर्वक ही होता है, जबकि मतिज्ञान के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह श्रुत-पूर्वक ही हो।[6] जिनभद्र कहते हैं कि जो ज्ञान श्रुतानुसारी है, वह भाव-श्रुत है, शेष मति है।[7]

मतिज्ञान दो प्रकार का है—(१) श्रुत-निश्रित और (२) अश्रुत-निश्रित।[8]

श्रुत निश्रित के चार भेद हैं—(१) अवग्रह, (२) ईहा, (३) अवाय और (४) धारणा।[9] इन्हें सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष भी कहा गया है।[10]

अश्रुत-निश्रित के चार भेद हैं—(१) औत्पत्तिकी, (२) वैनयिकी, (३) कर्मजा और (४) पारिणामिकी।[11]

पाँच इन्द्रिय और मन के साथ अवग्रह आदि का गुणन करने से मतिज्ञान २८ प्रकार का होता है। चक्षु और मन का व्यंजनावग्रह नहीं होता।[12] तालिका इस प्रकार होती है :

१–नन्दी सूत्र (संशोधित प्रति), सूत्र ३४,३५।

२–वही, गाथा ७७ :

ईहा अपोह वीमंसा, मग्गणा य गवेसणा।
सन्ना सई मई पन्ना, सव्वं आभिणिबोहियम्॥

३–वही, सूत्र ३५।

४–वही, सूत्र ३५।

५–सर्वार्थसिद्धि, १।३० ; तत्त्वार्थ राजवार्तिक, १।९।

६–तत्त्वार्थ सूत्र १।३१ भाष्य :

श्रुतज्ञानस्य मतिज्ञानेन नियतः सहभावः तत्पूर्वकत्वात्। यस्य श्रुतज्ञानं तस्य नियतं मतिज्ञानं, यस्य तु मतिज्ञानं तस्य श्रुतज्ञानं स्याद् वा न वेति।

७–विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १०० :

इन्दिय मणो निमित्तं, जं विण्णाणं सुयाणुसारेण।
निययत्थुत्तिसमत्थं, तं भावसुयं मई इयरा॥

८–नंदी सूत्र (संशोधित प्रति), सूत्र ३७।

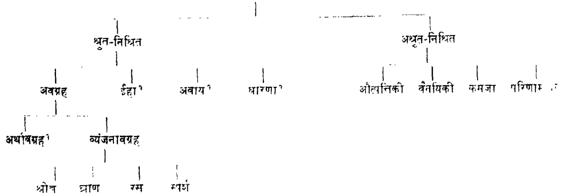
९–वही, सूत्र ३९।

१०–जैन तर्कभाषा, पृ० २।

११–नंदी सूत्र (संशोधित प्रति), गाथा ५८-७१।

१२–वही, सूत्र ४०-४२।

आभिनिबोधिक [मति] ज्ञान



सिद्धसेन दिवाकर श्रुतज्ञान को मतिज्ञान से भिन्न नहीं मानते। उनके अनुसार उनको भिन्न मानने से वैयर्थ्य और अतिप्रसंग दोष आते हैं।[2]

सिद्धसेन दिवाकर की यह मान्यता निराधार नहीं है। क्योंकि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान—दोनों की कारण-सामग्री एक है। इन्द्रिय और मन दोनों के साधन हैं तथा श्रुतज्ञान मति के ही आगे की एक अवस्था है। श्रुत मति-पूर्वक ही होता है—इन सभी अपेक्षाओं से श्रुत को अलग मानने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। श्रुत 'शब्द-ज्ञान' है। इसकी अपनी विशेषता है। कारण-सामग्री एक होने पर भी मतिज्ञान केवल वर्तमान को ही ग्रहण करता है। परन्तु श्रुतज्ञान का विषय 'त्रैकालिक' है। इसका विशेष सम्बन्ध 'मन' से रहता है। सारा आगम-ज्ञान श्रुतज्ञान है। इस अपेक्षा से इसका भिन्न निरूपण भी युक्ति-संगत है।

प्रमाण के दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान—इन दोनों का परोक्ष में समावेश किया गया है और शेष तीनों—अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान का प्रत्यक्ष में।[3]

परोक्ष प्रमाण के पाँच भेद हैं—स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान और आगम।[4]

इनमें प्रथम चार मतिज्ञान के प्रकार हैं और आगम श्रुतज्ञान है। वस्तुतः ज्ञान एक ही है—केवलज्ञान। शेष सभी ज्ञान की अविकसित अवस्था के द्योतक हैं। सभी का अन्तर्भाव केवलज्ञान में सहज ही हो जाता है।

एक अपेक्षा से ज्ञान दो प्रकार का है—इन्द्रिय-ज्ञान और अतीन्द्रिय-ज्ञान। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान इन्द्रिय-ज्ञान हैं। अवधि, मनःपर्यव और केवल—अतीन्द्रिय-ज्ञान हैं।

अथवा ज्ञान तीन हैं—(१) मति-श्रुत, (२) अवधि-मनःपर्यव, (३) केवलज्ञान।

मति-श्रुत की एकात्मकता के बारे में पहले लिखा जा चुका है। अवधि और मनःपर्यव भी विषय की दृष्टि से एक हैं, इसीलिए इस अपेक्षा से उन्हें एक विभाग में मान लेना अयुक्त नहीं है। केवलज्ञान की अपनी स्वतंत्र सत्ता है ही।

श्रुतज्ञान

आप्त पुरुष द्वारा प्रणीत आगम या अन्य शास्त्रों से जो ज्ञान होता है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं अथवा शब्द, संकेत आदि से होने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान है अथवा वाच्य और वाचक के सम्बन्ध से होने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान साक्षर होने के साथ-साथ वचनात्मक होता है।

१—प्रत्येक के श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रस, स्पर्श और नोइन्द्रिय-मन ये छः भेद हैं।

२—वैयर्थ्यातिप्रसंगाभ्यां, न मत्यभ्यधिकं श्रुतम्।

३—नंदी सूत्र (संशोधित प्रति), सूत्र ३, ६, ३३।

४—प्रमाणनयतत्त्वालोक, ३।२।

मतिज्ञान साक्षर हो सकता है, वचनात्मक नहीं श्रुत ज्ञान त्रैकालिक होता है, उसका विषय प्रत्यक्ष नहीं होता। शब्द के द्वारा उसके वाच्यार्थ को जानना और शब्द के द्वारा ज्ञात अर्थ को फिर से प्रतिपादित करना—यही इसकी समर्थता है। मति और श्रुत में कार्य-कारणभाव सम्बन्ध है। मति कारण है और श्रुत कार्य। श्रुतज्ञान का वास्तविक कारण श्रुत-ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम है। मतिज्ञान उसका बहिरंग कारण है।

श्रुतज्ञान के दो प्रकार हैं—अंग-बाह्य और अंग-प्रविष्ट।

तीर्थङ्कर द्वारा उपदिष्ट और गणधरों द्वारा प्रणीत शास्त्र अंग-प्रविष्ट कहलाते हैं। स्थविर या आचार्यों द्वारा प्रणीत शास्त्र अंग-बाह्य कहलाते हैं। अंग-प्रविष्ट के बारह भेद हैं।[१] अंग-बाह्य के कालिक, उत्कालिक आदि अनेक भेद हैं।[२]

आवश्यक निर्युक्ति में कहा गया है कि जितने अक्षर हैं और उनके जितने विविध संयोग हैं, उतने ही श्रुतज्ञान के भेद हैं।[३] इसके मुख्य भेद १४ हैं—

(१) अक्षर श्रुत
(२) अनक्षर श्रुत
(३) संज्ञी श्रुत
(४) असंज्ञी श्रुत
(५) सम्यक् श्रुत
(६) मिथ्या श्रुत
(७) सादि श्रुत
(८) अनादि श्रुत
(९) सपर्यवसित श्रुत
(१०) अपर्यवसित श्रुत
(११) गमिक श्रुत
(१२) अगमिक श्रुत
(१३) अंग-प्रविष्ट श्रुत
(१४) अनंग-प्रविष्ट श्रुत।[४]

विशेष विवरण के लिए देखिए—नंदी सूत्र (संशोधित प्रति), सूत्र ५१-६७।

अवधिज्ञान

यह नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष-ज्ञान का एक प्रकार है।[५] यह मूर्त द्रव्यों को साक्षात् जानता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अवधियों से यह बंधा रहता है, अतः इसे अवधिज्ञान कहते हैं।

इसके दो प्रकार हैं—भव-प्रत्ययिक और क्षायोपशमिक।

देव और नारक को होने वाला अवधिज्ञान 'भव-प्रत्ययिक' कहलाता है। यह जन्म-जात होता है अर्थात् देवगति और नरकगति में उत्पन्न होते ही यह ज्ञान हो जाता है। तिर्यञ्च और मनुष्य को उत्पन्न होने वाला अवधिज्ञान 'क्षायोपशमिक' कहलाता है। दोनों में आवरण का क्षयोपशम तो होता ही है।[६] अन्तर केवल प्राप्ति के प्रकार में होता है। भव-प्रत्ययिक में जन्म ही प्रधान निमित्त होता है और क्षायोपशमिक में वर्तमान साधना ही प्रधान निमित्त होती है। अवधिज्ञान के छह प्रकार हैं—

(१) अनुगामी—जो सर्वत्र अवधिज्ञानी का अनुगमन करे।
(२) अननुगामी—उत्पत्ति-क्षेत्र के अतिरिक्त क्षेत्र में जो न रहे।

१–नंदी सूत्र (संशोधित प्रति), सूत्र ६६।
२–वही, सूत्र ६८-७३।
३–आवश्यक निर्युक्ति, गाथा १७ :
पत्तेयमक्खराइं, अक्खरसंजोगा जत्तियालोए।
एवइया सुयनाणे, पयडीओ होंति नायव्वा॥
४–नंदी सूत्र (संशोधित प्रति), सूत्र ५५।
५–वही, सूत्र ६।
६–वही, सूत्र ७-८।

(३) वर्द्धमान—उत्पत्ति-काल से जो क्रमशः बढ़ता रहे ।

(४) हीयमान—जो क्रमशः घटता रहे ।

(५) प्रतिपाती—उत्पन्न होकर जो वापस चला जाए ।

(६) अप्रतिपाती—जो आजीवन रहे अथवा केवलज्ञान उत्पन्न होने तक रहे ।[1]

विस्तृत वर्णन के लिए देखिए—नंदी सूत्र (संशोधित प्रति), सूत्र ४-२२ ।

मनःपर्यवज्ञान

यह मन के पर्यायों को साक्षात् करने वाला ज्ञान है । इसके दो भेद हैं—ऋजुमति और विपुलमति ।

यह द्रव्य की अपेक्षा से मन रूप में परिणत पुद्गल को, क्षेत्र की अपेक्षा से मनुष्य क्षेत्र तक, काल की अपेक्षा से असंख्य काल तक के अतीत और भविष्य को और भाव की अपेक्षा से मनोवर्गणा की अनन्त अवस्थाओं को जानता है ।[2]

मनःपर्यव के विषय में दो परम्पराएं हैं । एक परम्परा यह मानती है कि मनःपर्यवज्ञानी चिन्तित अर्थ का प्रत्यक्ष कर लेता है ।[3] दूसरी परम्परा यह मानती है कि मनःपर्यवज्ञानी मन की विविध अवस्थाओं का तो प्रत्यक्ष करता है, किन्तु उनके अर्थ को अनुमान से जानता है ।[4] आधुनिक भाषा में इसे मनोविज्ञान का विकसित रूप कहा जा सकता है ।

अवधि और मनःपर्यव

दोनों ज्ञान रूपी द्रव्य तक सीमित हैं, अपूर्ण हैं । इन्हें विकल-प्रत्यक्ष कहा जाता है । चार दृष्टियों से दोनों में भिन्नता है—

(१) विषय की दृष्टि से—मनःपर्यवज्ञान अवधिज्ञान की अपेक्षा सूक्ष्मता से और विशदता से जानता है । अवधिज्ञान का विषय सभी रूपी द्रव्य हैं, मनःपर्यवज्ञान का विषय केवल मन है ।

(२) क्षेत्र की दृष्टि से—अवधिज्ञान का विषय अंगुल के असंख्यातवें भाग से लेकर सारा लोक है, मनःपर्यव का विषय मनुष्य लोक पर्यन्त है ।

(३) स्वामी की दृष्टि से—अवधिज्ञान का स्वामी देव, नारक, मनुष्य और तिर्यञ्च कोई भी हो सकता है, मनःपर्यवज्ञान का अधिकारी केवल मुनि ही हो सकता है ।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि दोनों एक ही ज्ञान की दो अवस्थाएं हैं । मति-श्रुत की तरह इन्हें भी कथंचित् एक मान लेना अयुक्त नहीं है ।

केवलज्ञान

यह पूर्ण ज्ञान है । इसे सकल-प्रत्यक्ष कहा जाता है । इसका विषय है—सर्व द्रव्य और सर्व पर्याय । केवलज्ञान प्राप्त होने पर ज्ञान एक ही रह जाता है ।

श्लोक ६

३- जो गुणों का आश्रय होता है, वह द्रव्य है (गुणाणमासओ दव्वं क) :

जो गुणों का आश्रय—अनन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड है, वह द्रव्य है । यह आगम-कालीन परिभाषा है ।

१—नंदी सूत्र (संशोधित प्रति), सूत्र ९ ।

२—वही, सूत्र २४-२५ ।

३—सर्वार्थसिद्धि, १।९ ।

४—विशेषावश्यक भाष्य, गाथा ८१७ वृत्ति, पत्र २६४ ।

उत्तरवर्ती साहित्य में द्रव्य की जो परिभाषा हुई, उसमें कुछ अधिक जुड़ा है। वह दो प्रकार से प्राप्त होती है—

(१) जो गुण-पर्यायवान् है, वह द्रव्य है।[1]

(२) जो सत् है (या उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है), वह द्रव्य है।[2]

वाचक उमास्वाति ने 'पर्याय' शब्द और अधिक जोड़ा है, उसकी तुलना महर्षि कणाद के 'क्रिया' शब्द से होती है।[3] दूसरी परिभाषा जैन-परम्परा की अपनी मौलिक है।

जैन-साहित्य में 'द्रव्य' शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है—

द्रव्य—जिसमें पूर्व रूप का प्रलय और उत्तर रूप का निर्माण होता रहता है।

द्रव्य—सत्ता का अवयव।

द्रव्य—सत्ता का विकार।

द्रव्य—गुण-समूह।

द्रव्य—भावी पर्याय के योग्य।

द्रव्य—भूत पर्याय के योग्य।[4]

वैशेषिक दर्शन के अनुसार जिसमें 'क्रिया और गुण हों और जो समवायी कारण हो', उसे द्रव्य कहते हैं।[5] उनके द्वारा सम्मत छह पदार्थों में 'द्रव्य' एक पदार्थ है। 'द्रव्य' आश्रय है; गुण और कर्म उस पर आश्रित हैं। वैशेषिकों ने द्रव्य नौ माने हैं[6] और उनको तीन श्रेणियों में विभक्त किया है—

(१) प्राकृत— पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश।

(२) अप्राकृत—अचेतन—काल और देश।

(३) चेतन— आत्मा और मन।[7]

पाश्चात्य दार्शनिक प्लेटो ने पाँच परतम—जातियाँ मानी हैं—(१) द्रव्य, (२) अन्यत्व, (३) विभिन्नता, (४) गति और (५) अगति।[8] इनकी संगति जैन पारिभाषिक शब्दों में इस प्रकार है—अन्यत्व अस्तित्व का सूचक है। विभिन्नता नास्तित्व का सूचक है। गति उत्पाद और व्यय की तथा अगति ध्रौव्य को सूचक है।

१–तत्त्वार्थ सूत्र, ५।३७ :
गुणपर्यायवद् द्रव्यम्।

२–(क) तत्त्वार्थ सूत्र, ५।२९ :
उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्।

(ख) पंचास्तिकाय, १० :
दव्वं सल्लक्खणियं, उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं।
गुणपज्जयासयं वा, तं जं भण्णंति सव्वण्हू॥

३–वैशेषिक दर्शन, १।१।१५।

४–विशेषावश्यक भाष्य, गा० २८।

५–वैशेषिक दर्शन, १।१।१५ :
क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्।

६–वही, १।१।१५।

७–दर्शन संग्रह, पृ० १६३।

८–वही, पृ० १६०।

अरस्तू ने दस परतम—जातियाँ मानी हैं—(१) द्रव्य, (२) गुण, (३) मात्रा, (४) सम्बन्ध, (५) क्रिया, (६) आक्रान्ता, (७) देश, (८) काल, (९) स्वामित्व और (१०) स्थिति।[1]

स्पिनोजा ने कहा—सारी सत्ता एक द्रव्य ही है। उसमें अनन्त गुण हैं, परन्तु हम अपनी सीमाओं के कारण केवल दो गुणों—चिन्तन और विस्तार से—परिचित हैं। चिन्तन क्रिया है और विस्तार गुण।[2] इस तरह यह वैशेषिक दर्शन के निकट आ जाता है। द्रव्य के लिए स्पिनोजा ने 'सब्सटेन्स' (Substance) शब्द का प्रयोग किया है।[3] इसका अर्थ है—नीचे खड़ा होने वाला, सहारा देने वाला। आशय यह है कि सब्सटेन्स गुणों का सहारा या आलम्बन है। उसके अनुसार द्रव्य या सत् के लिए बहुवचन का प्रयोग अनुचित है। सत् या द्रव्य एक ही है और जो कुछ भी है इसके अन्तर्गत आ जाता है।

कुमारिल के अनुसार 'जिसमें क्रिया और गुण हों', वह द्रव्य है। उनके अनुसार द्रव्य के ११ भेद हैं—(१) पृथ्वी, (२) जल, (३) तेज, (४) वायु, (५) आकाश, (६) दिक्, (७) काल, (८) आत्मा, (९) मन और (१०) अन्धकार तथा (११) शब्द।

डेकार्ट ने दो द्रव्य माने हैं—आत्मा और प्रकृति।[4] इन्हीं को उन्होंने सत् की दो परमगतियाँ कहा है। आत्मा—चेतन है और विस्तार रहित है। प्रकृति—अचेतन है और विस्तार इसका तत्त्व है।

४—जो किसी एक द्रव्य के आश्रित रहते हैं, वे गुण होते हैं (एगदव्वस्सिया गुणा ख) :

'जो एक द्रव्य के आश्रित होते हैं, वे गुण कहलाते हैं'—यह गुण की आगम-कालीन परिभाषा है। तत्त्वार्थ-सूत्रकार ने द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः[5] जो द्रव्य में रहते हों तथा स्वयं निर्गुण हों, वे गुण हैं—ऐसी परिभाषा की है। इसमें 'निर्गुण' शब्द अधिक आया है। इसकी तुलना महर्षि कणाद के 'अगुणवान्' शब्द से की जा सकती है।[6] द्रव्य के आश्रय में रहने वाला वही 'गुण' गुण है जिसमें दूसरे गुणों का सद्भाव न हो अथवा जो निर्गुण हो। अन्यथा घट में रहा हुआ पानी भी घट द्रव्य का गुण बन जाता है।

यह माना जाता है कि प्राचीन युग में 'द्रव्य' और 'पर्याय' ये दो शब्द ही प्रचलित थे। तार्किक युग में 'गुण' शब्द पर्याय के भिन्न अर्थ में प्रयुक्त हुआ ऐसा जान पड़ता है। कई आगम-ग्रन्थों में गुण और पर्याय शब्द भी मिलते हैं। परन्तु गुण 'पर्याय' का ही एक भेद है। अतः दोनों का अभेद मानना भी अयुक्त नहीं है। सिद्धसेन दिवाकर, आचार्य हेमचन्द्र, उपाध्याय यशोविजयजी आदि मनीषी विद्वानों ने गुण और पर्याय के अभेद का समर्थन किया है। उनका तर्क है कि आगमों में गुण-पद का यदि पर्याय-पद से भिन्न अर्थ अभिप्रेत होता तो जैसे भगवान् ने द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दो प्रकार से देशना की है, वैसे ही तीसरी गुणार्थिक देशना भी करते। किन्तु ऐसा नहीं किया गया इसलिए प्राचीनतम परम्परा में 'गुण' पर्याय का अर्थ-वाची रहा है। उत्तराध्ययन में पर्याय लक्षण गुण से पृथक् किया गया है। इसे उत्तरकालीन विकास माना जा सकता है। द्रव्य के दो प्रकार के धर्म होते हैं—(१) सहभावी और (२) क्रमभावी।

सहभावी धर्म 'गुण' कहलाता है और क्रमभावी धर्म 'पर्याय'। 'गुण' द्रव्य का व्यवच्छेदक धर्म होता है, अन्य द्रव्यों से पृथक् सत्ता स्थापित करता है। वह दो प्रकार का होता है—

(१) सामान्य और (२) विशेष।

१—दर्शन संग्रह, पृ० १६१।
२—वही, पृ० १६१।
३—तत्त्वज्ञान, पृ० ४३।
४—वही, पृ० ४७।
५—तत्त्वार्थ सूत्र, ५।४०।
६—वैशेषिक दर्शन, १।१।१६ :
द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्।

सामान्य गुण छह हैं—(१) अस्तित्व, (२) वस्तुत्व, (३) द्रव्यत्व, (४) प्रमेयत्व, (५) प्रदेशत्व और (६) अगुरुलघुत्व ।

विशेष गुण सोलह हैं—(१) गति-हेतुत्व, (२) स्थिति-हेतुत्व, (३) अवगाह-हेतुत्व, (४) वर्तना-हेतुत्व, (५) स्पर्श, (६) रस, (७) गन्ध, (८) वर्ण, (९) ज्ञान, (१०) दर्शन, (११) सुख, (१२) वीर्य, (१३) चेतनत्व, (१४) अचेतनत्व, (१५) मूर्तत्व और (१६) अमूर्तत्व ।

द्रव्य छह हैं—(१) धर्मास्तिकाय, (२) अधर्मास्तिकाय, (३) आकाशास्तिकाय, (४) काल, (५) पुद्गलास्तिकाय और (६) जीवास्तिकाय । इन छहों में द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, नित्यत्व आदि सामान्य धर्म पाए जाते हैं । ये इनके सामान्य गुण हैं । ये द्रव्य के लक्षण नहीं बनते । इन छहों द्रव्यों में एक-एक व्यवच्छेदक-धर्म—विशेष-धर्म भी है । जैसे—धर्मास्तिकाय का—गति-हेतुत्व गुण, अधर्मास्तिकाय का—स्थिति-हेतुत्व गुण, आकाशास्तिकाय का—अवगाहना-हेतुत्व गुण आदि-आदि ।

वैशेषिक मत में संसार की सब वस्तुएँ सात विभागों में बाँटी गई हैं । उनमें 'गुण' भी एक विभाग है । उनका मत है कि कार्य का असमवायि कारण 'गुण' है अर्थात् अनपेक्ष होने पर भी जो कारण नहीं बनता, वह 'गुण' है । ये गुण चौबीस हैं—(१) रूप, (२) रस, (३) गन्ध, (४) स्पर्श, (५) संख्या, (६) परिमाण, (७) पृथक्त्व, (८) संयोग, (९) विभाग, (१०) परत्व, (११) अपरत्व, (१२) गुरुत्व, (१३) द्रवत्व, (१४) स्नेह, (१५) शब्द, (१६) ज्ञान, (१७) सुख, (१८) दुःख, (१९) इच्छा, (२०) द्वेष, (२१) प्रयत्न, (२२) धर्म, (२३) अधर्म और (२४) संस्कार ।

गुण द्रव्य ही में रहते हैं । वे दो प्रकार के हैं—(१) विशेष और (२) साधारण । रूप, रस, गन्ध, शब्द, ज्ञान, सुख आदि विशेष गुण हैं ।

प्रभाकर २१ गुण मानते हैं । वैशेषिक मत के २४ गुणों में से संख्या, विभाग, पृथक्त्व तथा द्वेष के स्थान पर 'वेग' का समावेश किया गया है ।

भट्ट मत में १३ गुण माने गए हैं—(१) रूप, (२) रस, (३) गन्ध, (४) स्पर्श, (५) परिणाम, (६) पृथक्त्व, (७) संयोग, (८) विभाग, (९) परत्व, (१०) गुरुत्व, (११) अपरत्व, (१२) द्रवत्व और (१३) स्नेह ।[1]

सांख्य मत में सत्त्व, रजस् और तमस्—ये तीन गुण माने गए हैं । उनका मत है कि इन्हीं तीन गुणों के संस्थान-भेद से वस्तुओं में भेद होता है । सत्त्व का स्वरूप है—प्रकाश तथा हलकापन, तमस् का धर्म है—अवरोध, गौरव, आवरण आदि और 'रजस्' का धर्म है—सतत क्रियाशील रहना ।

५—पर्याय का (पज्जवाणं ग) :

जो द्रव्य और पर्याय दोनों के आश्रित होता है, उसे 'पर्याय' कहा जाता है । विशेष के दो भेद हैं—गुण और पर्याय ।

द्रव्य का जो 'सहभावी-धर्म' है, वह 'गुण' है और जो 'क्रमभावी-धर्म' है, वह 'पर्याय' है ।[2] इसे 'पर्यव' भी कहा जाता है । न्यायालोक की तत्त्वप्रभा विवृत्ति में पर्याय की परिभाषा करते हुए लिखा है—"जो उत्पन्न होता है, विपत्ति (विनाश) को प्राप्त होता है अथवा जो समग्र द्रव्य को व्याप्त करता है, उसे 'पर्याय' (पर्यव) कहते हैं ।"[3] नयप्रदीप में भी यही व्याख्या दी गई है ।[4] वादिवेताल शाँति सूरि के अनुसार समस्त द्रव्यों और समस्त गुणों में जो व्याप्त होते हैं, उन्हें 'पर्यव' कहा जाता है ।[5]

न्यायालोक की परिभाषा का प्रथम अंश 'क्रमभावी-धर्म' की अपेक्षा से है और द्वितीय अंश 'सहभावी-धर्म' की अपेक्षा से है ।

१—गंगानाथ झा, पूर्व मीमांसा, पृ० ६५

२—प्रमाणनयतत्त्वालोक, ५।७-८ ।

३—न्यायालोक,तत्त्वप्रभा विवृत्ति, पत्र २०३ :

पर्येत्युत्पत्तिं विपत्तिं चाप्नोति, पर्यवति वा व्याप्नोति समस्तमपि द्रव्यमिति पर्यायः पर्यवो वा ।

४—नयप्रदीप, पत्र ९९ :

पर्येति उत्पादमुत्पत्तिं विपत्तिं च प्राप्नोतीति पर्यायः ।

५—बृहद् वृत्ति, पत्र ५५७ :

परि—सर्वतः—द्रव्येषु गुणेषु सर्वेष्ववन्ति—गच्छन्तीति पर्यवाः ।

परिवर्तन जीव में भी होता है और अजीव में भी। इसके आधार पर परिवर्तन के दो रूप बनते हैं—(१) जीव-पर्याय और (२) अजीव-पर्याय।

परिवर्तन स्थूल भी होता है और सूक्ष्म भी। इसके आधार पर परिवर्तन के दो रूप बनते हैं—(१) व्यञ्जन-पर्याय और (२) अर्थ-पर्याय। स्थूल और कालान्तरस्थायी पर्याय को 'व्यञ्जन-पर्याय' कहते हैं तथा सूक्ष्म और वर्तमानकालवर्ती पर्याय को 'अर्थ-पर्याय' कहते हैं।

परिवर्तन स्वभाव से भी होता है और पर-निमित्त से भी। इसके आधार पर परिवर्तन के दो रूप बनते हैं—(१) स्वभाव-पर्याय और (२) विभाग-पर्याय। अगुरुलघुत्व आदि पर्याय स्वाभाविक हैं और मनुष्य, देव, नारक आदि वैभाविक पर्याय हैं। इन प्रत्येक का अनन्त, असंख्यात और संख्यात भाग गुण-वृद्धि से तीन, तथा अनन्त, असंख्यात और अनन्त भाग गुण-हानि से तीन—यों छह-छह प्रकार करने से पर्याय के बारह भेद हो जाते हैं।

प्रथम कोटि के दो रूप परिवर्तन की सीमा का सूचन करते हैं। परिवर्तन जीव और अजीव दोनों में होता है। यह विश्व जीव-अजीवमय है। इसलिए कहना होगा कि समूचा विश्व परिवर्तन का क्षेत्र है।

द्वितीय कोटि के दो रूप परिवर्तन के स्वरूप का बोध कराने वाले हैं। परिवर्तन व्यक्त और अव्यक्त दोनों प्रकार का होता है।

तृतीय कोटि के दो रूपों में परिवर्तन के दो कारणों का निर्देशन है।

एकत्व, पृथक्त्व, संख्या, संस्थान, संयोग, विभाग आदि पर्याय के लक्षण हैं।[1]

कहा है कि लोक का सामर्थ्य ही ऐसा है कि उसके अन्त तक पहुँचते ही जीव-पुद्गल की गति स्खलित हो जाती है। अतः धर्म और अधर्म का फल ही क्या है?

आचार्य सिद्धसेन की उक्ति में तार्किकता है पर दर्शन की परिपूर्णता नहीं है। उन्होंने इस प्रश्न का समाधान प्रस्तुत नहीं किया कि धर्म और अधर्म को माने बिना लोक और अलोक का विभाजन कैसे होगा? वस्तुतः ये दो ही द्रव्य लोक-अलोक की सीमा-रेखाएँ हैं।

ये द्रव्य की दृष्टि से एक द्रव्य हैं; क्षेत्र की दृष्टि से समूचे लोक में व्याप्त हैं; काल की दृष्टि से अनादि-अनन्त हैं; भाव की दृष्टि से अमूर्त हैं; गुण की दृष्टि से धर्म—गति-सहायक है और अधर्म—स्थिति-सहायक।

वैज्ञानिकों में सबसे पहले न्यूटन ने गति-तत्त्व (medium of motion) को स्वीकार किया। प्रसिद्ध गणितज्ञ अलबर्ट आइंस्टीन ने भी गति-तत्त्व स्थापित किया है। उन्होंने कहा—"लोक परिमित है, लोक के परे अलोक अपरिमित है। लोक के परिमित होने का कारण यह है कि द्रव्य अथवा शक्ति लोक के बाहर नहीं जा सकती। लोक के बाहर उस शक्ति—द्रव्य—का अभाव है जो गति में सहायक होता है।"[2] वैज्ञानिक गति-तत्त्व को 'ether' (ईथर) कहते हैं। इस ईथर के स्वरूप और उसकी उपयोगिता के विषय में सभी वैज्ञानिक एक मत नहीं हैं।[3]

श्लोक ७

६–श्लोक ७ :

इस श्लोक में 'लोक' क्या है, इसका समाधान दिया गया है। जैन-दृष्टि से जो धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीवमय है, वह लोक है। इसी आगम के अन्य स्थलों में तथा दूसरे आगमों में भी 'लोक' की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ आई हैं। कहीं धर्मास्तिकाय को लोक

१–उत्तराध्ययन, २८।१३।

२–Cosmology Old and New, pp. 43-44.

३–विशेष जानकारी के लिए देखिए—(1) The Short History of Science (by Dempiyan), (2) The Nature of the Physical World (by Sir Eddington) and (3) Mysterious Universe (by Sir James Jeans).

कहा गया है,[1] तथा कहीं जीव और अजीव को लोक कहा गया है।[2] कहीं कहा है—लोक पंचास्तिकायमय है।[3] इन परिभाषाओं का निरूपण अपेक्षा-भेद से किया गया है, अतः इन सबमें कोई विरोध नहीं है।

७—धर्म-अधर्म (धम्मो अहम्मो क) :

जैन-साहित्य में जहाँ धर्म-अधर्म शब्द का प्रयोग शुभ-अशुभ के अर्थ में होता है, वहाँ दो स्वतंत्र द्रव्यों के अर्थ में भी होता है। यहाँ उनका प्रयोग द्रव्य के अर्थ में है। धर्म अर्थात् गति-तत्त्व, अधर्म अर्थात् स्थिति-तत्त्व। नौवें श्लोक में इनकी परिभाषा करते हुए कहा है—धर्म का लक्षण है गति और अधर्म का लक्षण है स्थिति।[4] भगवती में भी यह संक्षिप्त परिभाषा मिलती है।[5] वहाँ इनके कार्य पर प्रकाश डालने वाला एक संवाद भी है—

गौतम ने भगवान् से पूछा—"भगवन् ! धर्मास्तिकाय से क्या होता है ?"

भगवान् ने कहा—"गौतम ! जीवों के गमन, आगमन, भाषा, उन्मेष, मन-वचन और काया के योगों की प्रवृत्ति तथा इसी प्रकार के दूसरे चल-भाव धर्मास्तिकाय से ही होते हैं।"[6]

जीवों की स्थिति, निषीदन, शयन, मन का एकत्व-भाव तथा इसी प्रकार के अन्य स्थिर-भाव अधर्मास्तिकाय से होते हैं।[7]

सिद्धसेन दिवाकर इन्हें स्वतंत्र द्रव्य मानने की आवश्यकता नहीं समझते। वे लिखते हैं—

प्रयोगविस्रसाकर्म, तदभावस्थितिस्तथा।
लोकानुभाववृत्तान्तः, किं धर्माधर्मयोः फलम् ॥[8]

इसका तात्पर्यार्थ है—गति दो प्रकार की होती है—(१) प्रायोगिक और (२) स्वाभाविक। जीव और पुद्गल में दोनों प्रकार की गति होती है। अतः गति के लिए धर्मास्तिकाय की कोई उपयोगिता नहीं रहती। उसी प्रकार गति का अभाव ही स्थिति है। उसमें भी अधर्मास्तिकाय का कोई उपयोग नहीं है। यहाँ यह भी प्रश्न होता है कि यदि गति-स्थिति स्वतंत्र है तो फिर जीव या पुद्गल अलोक में क्यों नहीं जा सकते ? इसका समाधान भी उक्त श्लोक में आ गया है।

श्लोक ८

८—श्लोक ८ :

संख्या की दृष्टि से द्रव्यों के दो वर्गीकरण हैं—(१) एक संख्या वाला और (२) अनेक संख्या वाला। धर्म, अधर्म और आकाश

१—भगवती, २।१०।
२—(क) उत्तराध्ययन, ३६।२।
(ख) स्थानांग, २।४।१३०।
३—(क) भगवती, १३।४।
(ख) लोक-प्रकाश, २।३।
४—उत्तराध्ययन, २८।९ :
गइलक्खणो उ धम्मो, अहम्मो ठाणलक्खणो।
५—भगवती, १३।४ :
गइलक्खणेणं धम्मत्थिकाए।
ठाणलक्खणेणं अधम्मत्थिकाए ॥
६—वही, १३।४।
७—वही, १३।४।
८—निश्चयद्वात्रिंशिका, श्लो० २४।

संख्या से एक हैं तथा पुद्गल और जीव संख्या से अनेक । यह विभाग निष्कारण नहीं है । जो व्यापक होता है वह एक ही होता है, उसमें विभाग नहीं होते । 'एकं ब्रह्म'—मानने वाले ब्रह्म को व्यापक मानते हैं । उसी प्रकार धर्म-अधर्म सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं तथा आकाश लोक और अलोक दोनों में । अतः व्यक्तिशः ये एक द्रव्य हैं ।

श्लोक १०

६—काल का (कालो क) :

काल छह द्रव्यों में एक द्रव्य भी है और जीव-अजीव की पर्याय भी है ।[1] ये दोनों कथन सापेक्ष हैं, विरोधी नहीं । निश्चय-दृष्टि में काल जीव-अजीव की पर्याय है और व्यवहार-दृष्टि में वह द्रव्य है । उसे द्रव्य मानने का कारण उसकी उपयोगिता है । वह परिणाम का हेतु है, यही उसका उपकार है । इसी कारण वह द्रव्य माना जाता है । काल के समय (अविभाज्य-विभाग) अनन्त हैं ।[2]

काल को जीव-अजीव की पर्याय या स्वतंत्र द्रव्य मानना—ये दोनों मत आगम-ग्रन्थों में तथा उत्तरवर्ती-साहित्य में पाए जाते हैं । प्रस्तुत श्लोक के अनुसार काल का लक्षण है वर्तना है—'वत्तणालक्खणो कालो ।' उमास्वाति ने काल का लक्षण—'वर्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य' (तत्त्वार्थ ५।२) दिया है । इसकी आंशिक तुलना वैशेषिक दर्शन के 'अपरस्मिन्नपरं, युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिंगानि' (२।२।२६)—इस सूत्र से की जा सकती है ।

श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार व्यावहारिक-काल मनुष्य क्षेत्र प्रमाण है और औपचारिक द्रव्य है । नैश्चयिक-काल लोक-अलोक प्रमाण है ।

दिगम्बर-परम्परा के अनुसार 'काल' लोकव्यापी और अणुरूप है ।[3] काल को स्वतंत्र न मानने की परम्परा प्राचीन मालूम पड़ती है । क्योंकि लोक क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर श्वेताम्बर और दिगम्बर ग्रन्थों में एक-सा ही है कि 'लोक पंचास्तिकायमय है ।'[4] जैनेतर दर्शनों में काल के सम्बन्ध में नैश्चयिक और व्यावहारिक दोनों पक्ष मिलते हैं । नैयायिक और वैशेषिक काल को सर्वव्यापी और स्वतंत्र द्रव्य मानते हैं ।[5] सांख्य, योग तथा वेदान्त आदि दर्शन काल को स्वतंत्र द्रव्य न मान कर उसे प्रकृति-पुरुष का ही रूप मानते हैं । पहला पक्ष व्यवहार मूलक है और दूसरा निश्चय-दृष्टि मूलक ।

श्वेताम्बर-परम्परा की दृष्टि से औपचारिक और दिगम्बर-परम्परा की दृष्टि से वास्तविक काल के उपकार या लिंग पाँच हैं—(१) वर्तना, (२) परिणाम, (३) क्रिया, (४) परत्व और (५) अपरत्व ।[6]

१—स्थानांग, २।४।९५ :
समयाति वा, आवलियाति वा, जीवाति वा, अजीवाति वा पवुच्चति ।

२—तत्त्वार्थ सूत्र, ५।४० :
सोऽनन्तसमयः ।

३—द्रव्यसंग्रह, २२ :
लोगागासपदेसे, एक्केक्के जे ठिया हु एक्केक्का ।
रयणाणं रासी इव, ते कालाणू असंखदव्वाणि ॥

४—(क) भगवती, १३।४ ।
(ख) पंचास्तिकाय, गाथा ३ ।
(ग) तत्त्वार्थ, भाष्य ३।६ ।

५—(क) न्यायकारिका, ४५ :
जन्यानां जनकः कालो, जगतामाश्रयो मतः ।
(ख) वैशेषिक दर्शन, २।२।६-१० ।

६—तत्त्वार्थ सूत्र, ५।२२ ।

नैयायिकों के अनुसार परत्व, अपरत्व आदि काल के लिंग हैं।[१] और वे वैशेषिकों द्वारा प्रस्तुत काल सम्बन्धी वर्णन को मान्य करते हैं।[२] वैशेषिक दर्शन ने पूर्व, अपर, युगपत्, अयुगपत्, चिर और क्षिप्र—ये काल के लिंग माने हैं।[३] काल सम्बन्धी यह पहला सूत्र है। इसके द्वारा वे काल-तत्त्व को स्वतंत्र स्थापित करते हैं और आगे के तीन सूत्रों से इसको द्रव्य, नित्य, एक और समस्त कार्यों के निमित्त रूप से वर्णित करते हैं।[४]

नैयायिकों ने काल को नित्य माना है परन्तु मध्वाचार्य ने काल का प्रकृति से उत्पन्न होना और उसी में लय होना माना है।[५] प्रलय-काल में भी काल की उत्पत्ति मानी जाती है और इसीलिए काल का आठवाँ हिस्सा 'प्रलय-काल' कहलाता है।[६] काल में भी काल होता है—जैसे, 'इदानीं प्रातः कालः'। यहाँ इदानीं काल-वाचक है।[७] काल सबका आधार है। अनित्य होने पर भी काल का प्रवाह नित्य है। यह सब कार्यों की उत्पत्ति का कारण भी है।[८]

पूर्व मीमांसा के समर्थ व्याख्याकार पार्थसार्थ मिश्र शास्त्रदीपिका की युक्तिस्नेहप्रपूरणी सिद्धान्तचन्द्रिका में काल तत्त्व विषयक मान्यता को स्पष्ट करते हुए वैशेषिक दर्शन की मान्यता को स्वीकार करते हैं। केवल एक बात में भेद है—वैशेषिक काल को परोक्ष मानते हैं, मीमांसक प्रत्यक्ष मानते हैं।

सांख्य दर्शन में 'काल' नामक कोई स्वतंत्र तत्त्व नहीं। उनके अनुसार काल प्राकृतिक परिणमन मात्र है। जड़ जगत् प्रकृति का विकार है। इस विकार और परिणाम के आधार पर ही सांख्यों ने विश्वगत समस्त काल-साध्य व्यवहारों की उत्पत्ति मानी है।[९]

डॉ० आईन्स्टीन के अनुसार आकाश और काल कोई स्वतंत्र तथ्य नहीं हैं। ये द्रव्य या पदार्थ के धर्म मात्र हैं। उन्होंने वस्तु का अस्तित्व चार दिशाओं में—लम्बाई, चौड़ाई, गहराई और ऊँचाई—माना है। वस्तु का रेखागणित (ऊँचाई, लम्बाई, चौड़ाई) में प्रसार आकाश है और उसका क्रमानुगत प्रसार काल है। काल और आकाश दो भिन्न तथ्य नहीं हैं। ज्यों-ज्यों काल बीतता है, त्यों-त्यों वह लम्बा होता जा रहा है। काल आकाश-सापेक्ष है। काल की लम्बाई के साथ-साथ आकाश का भी प्रसार हो रहा है। इस प्रकार काल और आकाश दोनों वस्तु धर्म हैं।[१०] काल अस्तिकाय नहीं है, क्योंकि उसका स्कन्ध या तिर्यक् प्रचय नहीं होता। काल के अतीत समय नष्ट हो जाते हैं, अनागत समय अनुत्पन्न होते हैं इसलिए उसका स्कन्ध नहीं होता। वर्तमान समय एक होता है, इसलिए उसका तिर्यक-प्रचय नहीं होता।

दिगम्बर-परम्परा के अनुसार कालाणुओं की संख्या लोकाकाश के तुल्य है।[११]

१—न्यायकारिका, ४६ :
परापरत्वधीहेतुः क्षणादिः स्यादुपाधितः।

२—पंचाध्यायी, पृ० २५४ :
विशेषकालाकाशेष्वप्येवं प्रसंगः :

३—वैशेषिक, सूत्र २।२।६।

४—वही, सूत्र २।२।७,८,९।

५—पदार्थसंग्रह, पृ० ६३।

६—मध्वसिद्धान्तसार, पृ० ६३।

७—वही, पृ० ६५।

८—पदार्थसंग्रह, पृ० ६५।

९—सांख्य प्रवचन, २।१२ :
दिक्कालावाकाशादिभ्यः।

१०—मानव की कहानी, पृ० १२४५।

११—द्रव्यसंग्रह, २२।

काल के विभाग

काल चार प्रकार का होता है—

(१) प्रमाणकाल—पदार्थ मापने का काल।

(२) यथायुर्निवृत्तिकाल—
(३) मरणकाल—
} जीवन के अवस्थान को यथायुर्निवृत्ति काल और उसके 'अन्त' को मरणकाल कहते हैं।

(४) अध्वाकाल— सूर्य, चन्द्र आदि की गति से सम्बन्धित काल।[1]

काल के अन्य विभागों की जानकारी के लिए देखिए—अनुयोगद्वार, सूत्र १३४-१४०।

१०—जीव का लक्षण है उपयोग (जीवो उवओगलक्खणो ख)

संक्षेप में जीव का लक्षण 'उपयोग है'। उपयोग का अर्थ है—चेतना की प्रवृत्ति। चेतना के दो भेद हैं—(१) ज्ञान और (२) दर्शन। इनके आधार पर उपयोग के दो रूप होते हैं—(१) साकार और (२) अनाकार।

विश्व में दो प्रकार के पदार्थ हैं—(१) जड़ और (२) चेतन। इन दोनों में भेद करने वाला गुण 'उपयोग' है। जिसमें उपयोग है—ज्ञान, दर्शन की प्रवृत्ति है, वह जीव है और जिसमें यह नहीं है, वह अजीव है।

इसके अगले श्लोक में जीव के लक्षण का विस्तार से निरूपण हुआ है। उसमें कहा गया है कि ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग जीव के लक्षण हैं। इन सबको हम दो भागों में बाँट सकते हैं। यह कहा जा सकता है कि जीव के लक्षण दो हैं—(१) वीर्य और (२) उपयोग। ज्ञान और दर्शन का उपयोग में समावेश हो जाता है तथा चारित्र और तप का वीर्य में। इस प्रकार अपेक्षा-भेद से दोनों श्लोकों में जीव के लक्षण का निरूपण किया गया है।

गति, घटना, बढ़ना, फैलना आदि चेतन के लक्षण नहीं बन सकते। ये सभी क्रियाएँ चेतन और अचेतन दोनों में होती हैं। ज्ञान-दर्शन की प्रवृत्ति ही उनकी भेद-रेखा हो सकती है।

श्लोक १२

११-श्लोक १२ :

इस श्लोक में पुद्गल के १० लक्षण गिनाए गए हैं। उनमें चार—वर्ण, रस, गंध और स्पर्श—पुद्गल के गुण हैं और शेष छह—शब्द, अंधकार, उद्योत, प्रभा, छाया और आतप—पुद्गल के परिणाम या कार्य हैं। लक्षण दोनों ही बनते हैं। गुण सदा साथ ही रहते हैं, कार्य निमित्त मिलने पर अभिव्यक्त होते हैं। ये चारों गुण परमाणु और स्कन्ध—दोनों में विद्यमान रहते हैं परन्तु शब्द आदि कार्य स्कन्धों के ही होते हैं।[2]

१२-शब्द (सद्द क) :

जैन-दर्शन के अनुसार शब्द पौद्गलिक, मूर्त्त और अनित्य है।[3] यह पुद्गल का लक्षण या परिणाम माना जाता है।[4] शब्द का अर्थ है—पुद्गलों के संघात और विघात से होने वाले ध्वनि-परिणाम।[5]

१—स्थानांग, ४।१।२६४।

२—तत्त्वार्थ राजवार्तिक, पृ० २३४ :

स्पर्शादयः परमाणूनां स्कन्धानां च भवन्ति, शब्दादयस्तु स्कन्धानामेव व्यक्तिरूपेण भवन्ति।

३—भगवती, १३।७ :

रूवी भंते ! भासा, अरूवी भासा ? गोयमा ! रूवी भासा नो अरूवी भासा।

४—नवतत्त्व-साहित्य संग्रह, भाग २, पृ० २२ :

शब्दान्धकारोद्योतप्रभाच्छायाऽऽतपवर्णगन्धरसस्पर्शा एते पुद्गलपरिणामाः पुद्गललक्षणं चेति भावः।

५—स्थानांग, २।३।८१।

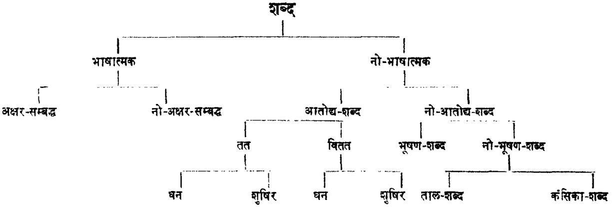
काय-योग के द्वारा शब्द-प्रायोग्य पुद्‌गलों का ग्रहण होता है और वे शब्द-रूप में परिणत होते हैं। परन्तु जब वे वाक्-प्रयत्न द्वारा मुख से बोले जाते हैं तभी उन्हें 'शब्द' संज्ञा से व्यवहृत किया जाता है। जब तक उनका वचन-योग के द्वारा विसर्जन नहीं हो जाता तब तक उन्हें शब्द नहीं कहा जाता।

शब्द के तीन प्रकार हैं—(१) जीव-शब्द, (२) अजीव-शब्द और (३) मिश्र-शब्द। जीव-शब्द आत्म-प्रयत्न का परिणाम है और वह भाषा या संकेतमय होता है। अजीव-शब्द केवल अव्यक्त ध्वन्यात्मक होता है। मिश्र दोनों के संयोग से होता है।

तत्त्वार्थ भाष्य के अनुसार शब्द के छह प्रकार हैं—(१) तत, (२) वितत, (३) घन, (४) शुषिर, (५) संघर्ष और (६) भाषा।[1]

शब्द के दस प्रकार हैं—(१) निर्हारी, (२) पिंडिम, (३) रूक्ष, (४) भिन्न, (५) जर्जरित, (६) दीर्घ, (७) ह्रस्व, (८) पृथक्त्व, (९) काकिणी और (१०) किंकिणीस्वर।[2]

शब्द जीव के द्वारा भी होता है और अजीव के द्वारा भी होता है। अजीव का शब्द अनक्षरात्मक ही होता है। जीव का शब्द साक्षर और निरक्षर दोनों प्रकार का होता है। इनके वर्गीकरण के लिए निम्न यंत्र देखिए—



शब्द की उत्पत्ति पुद्‌गलों के संघात-विघात और जीव के प्रयत्न—इन दोनों हेतुओं से होती है। इसलिए प्रकारान्तर से इसके दो वर्ग बनते हैं—(१) वैस्रसिक और (२) प्रायोगिक।

(१) वैस्रसिक—पुद्‌गलों के संघात-विघात से होने वाला।

(२) प्रायोगिक—जीव के प्रयत्न से होने वाला।

शब्द प्रसरणशील है। उससे दो व्यक्ति सम्बन्धित होते हैं—वक्ता और श्रोता। इसलिए इन दोनों की मीमांसा आवश्यक होती है कि वक्ता कैसे बोलता है और श्रोता उसे कैसे सुनता है? पुद्‌गलों की अनेक वर्गणाएँ हैं। उनमें एक भाषा-वर्गणा है। कोई भी प्राणी जब बोलने का प्रयत्न करता है, तब वह सबसे पहले भाषा-वर्गणा के परमाणु-स्कन्धों को ग्रहण करता है, उन्हें भाषा के रूप में परिणत करता है और उसके पश्चात् उनका विसर्जन करता है। इस विसर्जन को 'भाषा' कहा जाता है।[3]

शब्द गतिशील है, इसलिए वह वक्ता के मुँह से निकलते ही लोक में फैलने लगता है। वक्ता का प्रयत्न तीव्र होता है तो शब्द के परमाणु-स्कन्ध भिन्न होकर फैलते हैं और यदि उसका प्रयत्न मंद होता है तो शब्द के परमाणु-स्कन्ध अभिन्न होकर फैलते हैं। जो भिन्न होकर फैलते हैं, वे सूक्ष्म हो जाते हैं और दूसरे-दूसरे अनन्त परमाणु-स्कन्धों को प्रभावित कर लोकान्त तक फैल जाते हैं। जो अभिन्न होकर फैलते हैं, वे असंख्य योजन तक पहुँच कर नष्ट हो जाते हैं—भाषा रूप से च्युत हो जाते हैं।[4]

१–तत्त्वार्थ, सूत्र ५।२४, भाष्य पृ० ३५६।

२–स्थानांग, १०।७०५।

३–भगवती, १३।७ :
भासिज्जमाणी भासा।

४–प्रज्ञापना, पद ११।

१३-अन्धकार (अन्धयार क) :

जैन-दृष्टि के अनुसार अन्धकार पुद्गल द्रव्य है, क्योंकि इसमें गुण है। जो-जो गुणवान् होता है वह-वह द्रव्य होता है, जैसे आलोक आदि।[१] वह प्रकाश की तरह भावात्मक द्रव्य है, अभावात्मक नहीं। जिस प्रकार प्रकाश का भास्कर रूप और उष्ण स्पर्श प्रसिद्ध है, उसी प्रकार अंधकार का कृष्ण रूप और शीत स्पर्श प्रसिद्ध है।

गणधर गौतम ने भगवान् से पूछा—"भगवन्! क्या दिन में उद्योत और रात्रि में अन्धकार होता है?"

भगवान् ने कहा—"हाँ गौतम! दिन में उद्योत और रात्रि में अन्धकार होता है।"

"ऐसा क्यों होता है भगवन्?" गौतम ने पूछा।

भगवान् ने कहा—"गौतम! दिन में शुभ-पुद्गल शुभ-पुद्गल परिणाम में परिणत होते हैं और रात्रि में अशुभ-पुद्गल अशुभ-पुद्गल परिणाम में परिणत होते हैं। इसलिए दिन में उद्योत और रात्रि में अन्धकार होता है।"[२]

अन्धकार पुद्गल का लक्षण है—कार्य है, इसलिए वह पौद्गलिक है।[३] वह पुद्गल का एक पर्याय है।[४] वैद्यक शास्त्र में भी अन्धकार को स्वतंत्र मान कर उसके गुण का उल्लेख किया है। अन्धकार समस्त रोगों को करने वाला होता है।[५] अन्धकार भयावह, तिक्त और दृष्टि के तेज का आवारक होता है।[६] वैयाकरणों ने अन्धकार को अनुरूप माना है।[७] कई अन्य दार्शनिक भी अन्धकार को द्रव्य मानते हैं।[८]

मध्वाचार्य ने अन्धकार को स्वतंत्र द्रव्य माना है। वे कहते हैं—यह तेज का अभाव नहीं है। यह प्रकाश का नाशक है। नील रूप तथा चलन रूप क्रिया के आश्रय होने के कारण 'अन्धकार' मूर्त्त द्रव्य है।[९]

१—न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ६६९।

२—भगवती, ५।९।२२०।

३—(क) स्याद्वादमंजरी (कारिका ५) :

न च तमसः पौद्गलिकत्वमसिद्धम्, चाक्षुषत्वाऽन्यथानुपपत्तेः प्रदीपालोकवत्...रूपवत्त्वाच्च स्पर्शवत्त्वमपि प्रतीयते शीतस्पर्शप्रत्ययजनकत्वात्।

(ख) रत्नाकरावतारिका, पृ० ६९ :

तमः स्पर्शवत्, रूपवत्त्वात्, पृथिवीवत्. न च रूपवत्त्वमसिद्धं अन्धकारः कृष्णोयमिति कृष्णाकारप्रतिभासात्।

४—द्रव्यसंग्रह, गाथा १६।

५—राजनिघण्टु कोष, सत्वादिरेकविंशवर्गः, ३८ :

आतपः कटुको रूक्षः, छाया मधुरशीतला।
त्रिदोषशमनी ज्योत्स्ना, सर्वव्याधिकरं तमः॥

६—राजवल्लभकोष, ५।२२ :

तमो भयावहं तिक्तं, दृष्टितेजोवरोधनम्।

७—वाक्यपदीय, १।१११ :

अणवः सर्वशक्तित्वाद् भेदसंसर्गवृत्तयः।
छायातपतमः शब्दभावेन परिणामिनः॥

८—(क) विधिविवेकन्यायकर्णिका, टीका, पृ० ६९-७९ :

(ख) मानमेयोदय, पृ० १५२ :

गुणकर्मविसदृभावादस्तीति प्रतिभासतः।
प्रतियोग्यस्मृतश्चैव भावरूपं ध्रुवं तमः॥

(ग) तत्त्वप्रदीपिका चित्सुखी, ५५।२८ :

तमाल श्यामल ज्ञाने निर्बाध जागृति स्फुटे।
द्रव्यान्तरं तमः कस्मादकस्मादपलप्यते॥

(घ) प्रशस्तपाद भाष्य की व्योमवती टीका, पृ० ४९।

(ङ) स्याद्वाद रत्नाकर, पृ० ८५१-८५५।

९—मध्व सिद्धान्तसार पृ० ६०।

अंधकार जड प्रकृति रूप उपादान से उत्पन्न होता है और वह इतना घनीभूत हो जाता है[1] कि दूसरे कठोर द्रव्य के समान वह भी हथियार से काटा जाता है।[2] महाभारत के युद्ध में जब सूर्य चमक रहा था, उसी समय श्रीकृष्ण ने अन्धकार को उत्पन्न किया। भाव रूप द्रव्य होने के कारण ही ब्रह्मा ने इसका पान किया था। स्वतंत्र रूप से इसकी उपलब्धि लोगों को होती है और वह अन्य वस्तुओं को ढाँक देता है, इसलिए इसका भाव रूप होना निश्चित है।[3]

कुमारिल भट्ट ने अन्धकार को 'अभावात्मक' माना है।[4]

संक्षेप में नैयायिक, वैशेषिक[5] और प्रभाकर दर्शन-प्रणाली में अंधकार को अभावात्मक माना गया है। जैन, भर्तृहरि, भाट्ट और सांख्य-दर्शन उसे भावात्मक मानते हैं। आयुर्वेद-शास्त्र सांख्य से प्रभावित है, इसलिए उसके प्रणेताओं ने अन्धकार को भावात्मक माना है। विज्ञान में मानी जाने वाली इन्फ्रा अल्ट्रा रेज (Intra ultra rays) और अंधकार में कुछ साम्य संभव है।

१४–छाया (छाया ख) :

प्रत्येक स्थूल पौद्गलिक पदार्थ चय-उपचयधर्मक और रश्मिवान् होता है। इसका तात्पर्य है कि पौद्गलिक वस्तु का प्रति समय चय उपचय होता रहता है और उसमें से तदाकार रश्मियाँ निकलती रहती हैं। यथायोग्य निमित्त मिलने पर ये रश्मियाँ प्रतिबिम्बित होती हैं। इस प्रतिबिम्ब को 'छाया' कहते हैं।

छाया के दो प्रकार हैं—(१) तद्वर्णादिविकार और (२) प्रतिबिम्ब। दर्पण आदि स्वच्छ पदार्थों में जो ज्यों का त्यों आकार देखा जाता है, उसे तद्वर्णादिविकार छाया कहते हैं और अन्य द्रव्यों पर अस्पष्ट प्रतिबिम्ब मात्र पड़ना प्रतिबिम्ब रूप छाया है।

मीमांसाकार यह मानते हैं—दर्पण में छाया नहीं पड़ती, किन्तु नेत्र की किरणें दर्पण से टकरा कर वापिस आती हैं और अपने मुख को देखती हैं।[6]

राजवल्लभकोष (५।२०) में 'छाया दाहश्रमस्वेदहरा मधुरशीतला' कहा गया है। यही बात राजनिघण्टुकोष में भी कही गई है।

न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका (पृ० ३४५) में छाया को 'अभावरूप' माना गया है। विशेष विवरण के लिए देखिए—न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ६६७-६७२।

कुमारिल भट्ट प्रतिबिम्ब को अभावरूप मानते हैं।[7]

१–माधव सिद्धान्तसार, पृ० ६१।
२–पदार्थसंग्रह, पृ० ६१।
३–वही, पृ० ६१।
४–मीमांसा श्लोकवार्तिक न्यायरत्नाकराख्या टीका, पृ० ७४० :
किमिद तमो नाम ? द्रव्यगुणनिष्पत्तिवैधर्म्याद् अभावस्तमः इति।
५–(क) वैशेषिक, सूत्र ५।२।१९
द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्यादभावस्तमः।
(ख) वैशेषिक सूत्रोपस्कार, ५।२।२०
उद्भूतरूपवद्यावत्तेज संसर्गाभावस्तम.।
६–मीमांसा श्लोकवार्तिक, १८०-१८१ :
अत्र ब्रूमो यदा तावज्जले सौर्येण तेजसा।
स्फुरता चाक्षुषं तेजः प्रतिस्रोत.प्रवर्तितम्॥
स्वदेशमेव गृह्णाति सवितारमनेकधा।
भिन्नमूर्तिर्यथाभावं तथास्यानेकता कुत॥
७–तत्त्वसंग्रहपञ्जिका, पृ० ४१८, ६१७
...अतो नास्त्येव किञ्चिद् वस्तु भूतं प्रतिबिम्बकं नाम।

श्लोक १४

१५-श्लोक १४ :

इस श्लोक में नौ तत्त्वों का उल्लेख हुआ है। वस्तुवृत्त्या तत्त्व दो ही हैं—(१) जीव और (२) अजीव।

नौ तत्त्व इन दो विभागों में समाविष्ट हो जाते हैं। यथा—जीव, आस्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष—जीव में। अजीव, पुण्य, पाप और बन्ध—अजीव में।

आस्रव आदि आत्मा के ही विशेष परिणाम हैं और पुण्य, पाप आदि पौद्‌गलिक कर्म अजीव के ही विशेष परिणाम हैं। जिस प्रकार लोक की व्यवस्था के लिए छह द्रव्य आवश्यक हैं, उसी प्रकार आत्मा के आरोह और अवरोह को जानने के लिए नौ तत्त्व उपयोगी हैं। इनके बिना आत्मा के विकास या ह्रास की प्रक्रिया बुद्धिगम्य नहीं हो सकती।

दिगम्बर-ग्रन्थों में नौ तत्त्वों के स्थान पर सात तत्त्व माने गए हैं। पुण्य-पाप को बन्ध के अन्तर्गत माना गया है। दोनों मान्यताएँ आपेक्षिक हैं, उनमें स्वरूप-भेद कुछ भी नहीं है।

नौ तत्त्व तथा उनके भेद-प्रभेद

जीव

- संसारी
  - प्रत्येक
    - एकेन्द्रिय
    - द्वीन्द्रिय
    - त्रीन्द्रिय
    - चतुरिन्द्रिय
    - पंचेन्द्रिय
  - साधारण
    - एकेन्द्रिय (वनस्पति)
- मुक्त

अजीव

- पुण्य
- पाप
- बन्ध
- धर्मास्तिकाय
- अधर्मास्तिकाय
- आकाशास्तिकाय
- काल
- पुद्गलास्तिकाय

पुण्य (शुभ कर्म)

- अन्नपुण्य
- पानपुण्य
- लयनपुण्य
- शयनपुण्य
- वस्त्रपुण्य
- मनपुण्य
- वचनपुण्य
- कायपुण्य
- नमस्कारपुण्य

पाप (अशुभ कर्म)

- प्राणातिपात
- मृषावाद
- अदत्तादान
- मैथुन
- परिग्रह
- क्रोध
- मान
- माया
- लोभ
- राग
- द्वेष
- कलह
- अभ्याख्यान
- पैशुन्य
- पर-परिवाद
- रति-अरति
- माया
- मृषा
- मिथ्या-दर्शन-शल्य

आस्रव

आस्रव—शुभ-अशुभ कर्म को ग्रहण करने वाला जीव का अध्यवसाय, परिणाम एवं प्रवृत्ति को 'आस्रव' कहा जाता है ।

सांख्य-योग में वर्णित 'क्लेश' आस्रव के अति निकट है । महर्षि पतञ्जलि ने कहा है—'कर्म वासना का मूल क्लेश है ।'[1] बौद्ध-दर्शन में अविद्या को अनादि दोष माना है । इस अविद्या के जो निमित्त आत्म-परिणामों के प्रेरक बनते हैं, उन्हें 'आसव' कहा जाता है । आसव का अर्थ है—मद उत्पन्न करने वाला रस । ये आसव चार हैं—(१) काम-आसव, (२) भव-आसव, (३) दृष्टि-आसव और (४) अविद्या आसव ।

(१) काम-आसव— शब्दादि विषयों को प्राप्त करने की इच्छा-वासना या राग ।

(२) भव-आसव— जीवन की अभिलाषा ।

(३) दृष्टि-आसव— बौद्ध-दृष्टि से विपरीत दृष्टि का सेवन ।

(४) अविद्या-आसव— अनित्य पदार्थों में नित्यता की बुद्धि ।

आस्रव (१)

- मिथ्यात्व
- अव्रत
- प्रमाद
- कषाय
- योग
  - मनोयोग
    - शुभ
    - अशुभ
  - वचनयोग
    - शुभ
    - अशुभ
  - काययोग
    - शुभ
    - अशुभ

आस्रव (२)

- सांपरायिक
  - इन्द्रिय (५)
  - कषाय (४)
  - अव्रत (५)
  - क्रिया (२५)
- ऐर्यापथिक

संवर (आस्रव-निरोध) (१)

- सम्यक्त्व
- व्रत
- अप्रमाद
- अकषाय
- अयोग

संवर (२)

- सर्वसंवर
- देशसंवर

१—योगदर्शन, २।१२ :

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ।

निर्जरा (तप)

निर्जरा—तपस्या के द्वारा कर्मों का विच्छेद होने पर जो आत्मा की निर्मलता होती है, उसे 'निर्जरा' कहते हैं। निर्जरा के साधन को भी निर्जरा कहा जाता है। उसके आधार पर इसके बारह भेद होते हैं—

निर्जरा
- बाह्य
  - अनशन
  - ऊनोदरिका
  - भिक्षाचरिका
  - रसपरित्याग
  - कायक्लेश
  - प्रतिसंलीनता
- आभ्यन्तर
  - प्रायश्चित
  - विनय
  - वैयावृत्य
  - स्वाध्याय
  - ध्यान
  - व्युत्सर्ग

मोक्ष—जैन-दृष्टि के अनुसार 'समस्त कर्मों का क्षय कर अपने आत्म-स्वभाव में रमण करना' मोक्ष है। आत्मा का स्वभाव है—ज्ञान, दर्शन और पवित्रता। इन तीनों की पूर्णता ही मोक्ष है। जैन-दृष्टि के अनुसार मुक्त-जीवों के वास-स्थान को भी मोक्ष कहा गया है। सिद्धालय, मुक्ति, ईषत् प्रागभारा पृथ्वी आदि उसके अपर नाम हैं। यह स्थान मनुष्य क्षेत्र के बराबर लम्बा-चौड़ा है। इसके मध्य भाग की मोटाई आठ योजन की है और अन्तिम भाग मक्खी के पर से भी अधिक पतला है और वह लोक के अग्रभाग में स्थित है। उसका आकार सीधे छत्ते जैसा है और वह श्वेत स्वर्णमयी है।

बौद्ध-दर्शन में तृष्णा के आत्यन्तिक क्षय को 'मोक्ष' कहा है। धम्मदिन्ना नामक भिक्षुणी ने निर्वाण के सम्बन्ध में प्रश्न करने पर विशाख को इस प्रकार उत्तर दिया—

विशाख—आर्ये ! विद्या का क्या प्रतिभाग है ?

धम्मदिन्ना—विमुक्ति०।

विशाख—विमुक्ति का क्या प्रतिभाग है ?

धम्मदिन्ना—निर्वाण०।

विशाख—और निर्वाण का क्या प्रतिभाग है ?

धम्मदिन्ना—विशाख ! ब्रह्मचर्य निर्वाण पर्यन्त है, निर्वाण-परायण है, निर्वाण-पर्यवसान है।[1]

भाट्टमत के अनुसार भोगायतन—शरीर, भोग-साधन—इन्द्रियाँ और भोग्य-विषय—इन तीनों के आत्यन्तिक नाश को मोक्ष कहा गया है।[2] अथवा 'प्रपञ्च सम्बन्ध के विलय' को मोक्ष कहा गया है। मोक्षावस्था में जीव में न सुख है, न आनन्द और न ज्ञान है—'तस्मात् निःसम्बन्धो निरानन्दश्च मोक्षः।'[3] मुक्तावस्था में आत्मा में 'ज्ञानशक्तिमात्र' ज्ञान रहता है। साथ ही साथ उसकी सत्ता तथा द्रव्यत्व आदि धर्म तो उसमें रहते ही हैं। यही आत्मा का निजी-स्वरूप है, जिससे वह मोक्ष में स्थित रहता है—

'यदस्य स्वं नैजं रूपं ज्ञानशक्तिसत्ताद्रव्यत्वादि तस्मिन्नवतिष्ठेत।'[4]

१—मज्झिमनिकाय, चूलवेदल्ल सुत्त (१।५।४), पृ० १८३।

२—शास्त्रदीपिका, पृ० १२५ :

त्रिविधस्यापि बन्धस्यात्यन्तिको विलयो मोक्षः।

३—वही, पृ० १२५-१३०।

४—वही, पृ० १३०।

प्रभाकर धर्म तथा अधर्म का सम्पूर्ण नाश होने से देह के आत्यन्तिक उच्छेद को 'मोक्ष' कहते हैं।[1] इनका मत है कि आत्म-ज्ञान के द्वारा धर्माधर्म का नाश होता है और वही मुक्ति है। मुक्तावस्था में जीव की सत्ता मात्र रहती है।[2]

भास्कर वेदान्त के अनुसार उपाधियों से मुक्त होकर अपने स्वाभाविक स्वरूप को धारण करना मोक्ष है। इसके दो भेद हैं—(१) सद्योमुक्ति और (२) क्रम-मुक्ति। जो साक्षात् कारण-स्वरूप-ब्रह्म की उपासना करने पर मुक्ति पाते हैं, वह 'सद्योमुक्ति' है और जो कार्य-स्वरूप-ब्रह्म के द्वारा मुक्ति पाते हैं, उनकी मुक्ति 'क्रम-मुक्ति' है अर्थात् वे देवयान मार्ग से अनेक लोकों में घूमते हुए मुक्त होते हैं।[3] मुक्त-जीव मन के द्वारा मुक्ति में आनन्द का अनुभव करता है। मुक्त-दशा मे 'सम्बोध' या 'ज्ञान' आत्मा में रहता ही है। ध्यान, धारणा और समाधि मुक्ति के साधन हैं।

रामानुजाचार्य ने तीन प्रकार की जीवात्माएँ मानी है—(१) बद्ध, (२) मुक्त और (३) नित्य। उनके अभिमतानुसार सत्प्रवृत्तियो के द्वारा जीव ईश्वर के पास जाता है, तब उसमें सब तरह के, सभी अवस्था के उपयुक्त भगवान् के प्रति सेवक-भाव तथा स्नेह आविर्भूत हो जाता है और इन सबका अनुभव जीव को होने लगता है। ऐसे 'जीव' मुक्त कहलाते हैं। ये 'मुक्त जीव' ब्रह्म के समान भोग करते हैं। ये भी अनेक है तथा सब लोको में अपनी इच्छा से विचरण करते है।[4] मुक्तावस्था में मुक्त-पुरुषो का ज्ञान कभी-कभी व्यापक रहता है।[5]

निम्बार्काचार्य ने दो प्रकार के मुक्त-जीव माने है—नित्य-मुक्त और दूसरे वे जो सत्कर्म करते हुए पूर्व-जन्म के कर्मों का भोग सम्पन्न कर ससार के बधन से मुक्त हो जाते है। मुक्त होने पर ये सब अर्चिरादि मार्ग से 'पर ज्योति' स्वरूप को पा कर अपने यथार्थ स्वरूप में प्रकट हो जाते है और पुन ससार में नही जाते। इनमें से कई केवल आत्म-साक्षात्कार करके ही तृप्त हो जाते है और कई ईश्वर तुल्य बन जाते हैं। इनके अनुसार मुक्त-जीव भी भोग भोगते है।[6]

मध्वाचार्य के अनुसार मुक्त-जीव अपनी इच्छा से शुद्ध सत्त्वमय देह धारण कर यथेष्ठ भोग का अनुभव करते हैं और पुन स्वेच्छा से उसे त्याग देते है। किसी-किसी के मत में मुक्त-जीव पाँच भौतिक शरीर के द्वारा भी भोग कर सकता है। यह शरीर उसका 'स्वेच्छा-स्वीकृत शरीर' कहलाता है।[7] इसके अनुसार संसार तथा मोक्ष दोनों ही अवस्था में जीवों में भी परस्पर भेद है। परमात्मा इन सबसे भिन्न है।[8] ज्ञान की तरतमता के कारण परम आनन्द की अनुभूति में भी तारतम्य रहता है।

सांख्य के अनुसार प्रकृति का वियोग हो जाना ही मोक्ष है अथवा विवेक-ख्याति या विवेक-बुद्धि को प्राप्त करना मुक्ति है। मोक्षावस्था में भी प्रकृति का सात्त्विक अंश रहता है। मुक्ति में मुक्त-जीवों की संख्या अनन्त है।[9]

वैष्णव तंत्र

मोक्ष प्राप्ति के लिए जीव को भगवद्-भक्ति द्वारा शरणागति प्राप्त करनी चाहिए।[10] मुक्त-दशा मे जीव ब्रह्म से एकाकार हो जाता है और उसका पुनरावर्तन नहीं होता।[11] 'ब्रह्मभावापत्ति' मुक्ति का अपर नाम है।

१—प्रकरणपंचिका, पृ० १५६ :
आत्यन्तिकस्तु देहोच्छेदो मोक्षः।
२—वही, पृ० १५६-१५७।
३—भास्कर भाष्य।
४—यतिपतिमतदीपिका, पृ० ३२-३६।
५—तत्त्वत्रयभाष्य, पृ० ३५-३६।
६—वेदान्तपारिजात सौरभ, ४।४।१३,१५।
७—मध्वसिद्धान्तसार, पृ० ३६-३७।
८—पदार्थसंग्रह, पृ० ३२।
९—सांख्यकारिका, ७० की माठर वृत्ति।
१०—अहिर्बुध्न्यसंहिता, ३७।२७-३१।
११—वही, ६।२७-२८।

शैव तंत्र

'क्रिया' मुक्ति का साधन है, 'ज्ञान' नहीं। अनुग्रह शक्ति द्वारा जीव संसार के बन्धन से छूट सकता है।[१]

शाक्त तंत्र

'भोगात्मक-साधना' से मुक्ति प्राप्त होती है।[२] भोग और मोक्ष में कोई अन्तर नहीं है। इस मत में माता, भगिनी और पुत्री का भोग करने वालों को भी मुक्ति प्राप्त हो सकती है, ऐसा विधान है।[३]

वैशेषिक

द्रव्य, गुण आदि षट्पदार्थों में ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है।[४] 'धर्म' मोक्ष का साधन है, इससे तत्व-ज्ञान और मोक्ष की प्राप्ति होती है।[५]

न्याय-दर्शन

प्रमाण-प्रमेय आदि सोलह पदार्थों के ज्ञान से मिथ्या-ज्ञान नष्ट हो जाता है। तदनन्तर राग-द्वेष और मोह का नाश होता है। इससे धर्म-अधर्म रूप प्रवृत्ति का नाश होता है। इससे जन्म का क्षय होता है और इससे दुःख क्षय होता है। दुःख का अत्यन्त क्षय ही मुक्ति है—अपवर्ग है।[६] मुक्तावस्था में बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा संस्कार का मूलोच्छेद हो जाता है।[७]

इस प्रकार भारतीय तत्त्व-चिन्तन में मोक्ष विषयक अनेक मान्यताएँ प्राप्त होती हैं।

श्लोक १६

१६-श्लोक १६ :

इस श्लोक में दस रुचियों का उल्लेख हुआ है। रुचि का अर्थ है—सत्य की श्रद्धा।[८] इन दस रुचियों में विभिन्न अपेक्षाओं से होने वाले सम्यक्त्व के विभिन्न रूपों का वर्गीकरण किया गया है। स्थानांग में इन्हें 'सराग सम्यग्-दर्शन' कहा है।[९] तत्त्वार्थ राजवार्तिक में दस प्रकार के दर्शन-आर्य बतलाए गए हैं।[१०]

१—सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० १७४-१८९।

२—श्री गुह्यसमाजतंत्र, पृ० २७ :

दुष्करैर्नियमैस्तीव्रैः, सेव्यमानो न सिद्धयति।
सर्वकामोपभोगैस्तु, सेवयंश्चाशु सिद्धयति॥

३—वही, अध्याय ५।

४—वैशेषिक सूत्र, १।१।४।

५—वही, १।१।२।

६—न्यायसूत्र, १।१।२२।

७—जयन्तन्यायमंजरी, पृ० ५०८।

८—बृहद्वृत्ति, पत्र ५६३।

९—स्थानांग, १०।७५१।

१०—तत्त्वार्थ राजवार्तिक, ३।३६, पृ० २०१।

ये दस दर्शन-आर्य दस रुचियों से कुछ समान और कुछ भिन्न हैं—

उत्तराध्ययन	तत्त्वार्थ राजवार्तिक
(१) निसर्ग-रुचि	आज्ञा-रुचि दर्शन-आर्य—वीतराग की आज्ञा में विश्वास होने के कारण जिन्हें सम्यग्-दर्शन प्राप्त हुआ हो।
(२) उपदेश-रुचि	मार्ग-रुचि दर्शन-आर्य—मोक्ष-मार्ग सुनने से जिन्हें सम्यग्-दर्शन प्राप्त हुआ हो।
(३) आज्ञा-रुचि	उपदेश-रुचि दर्शन-आर्य—तीर्थङ्कर आदि के पवित्र आचरण के उपदेश को सुन कर जिन्हें सम्यग्-दर्शन प्राप्त हुआ हो।
(४) सूत्र-रुचि	सूत्र-रुचि दर्शन-आर्य—आचारांग आदि सूत्रों को सुनने से जिन्हें सम्यग्-दर्शन प्राप्त हुआ हो।
(५) बीज-रुचि	बीज-रुचि दर्शन-आर्य—बीज पदों के निमित्त से जिन्हें सम्यग्-दर्शन प्राप्त हुआ हो।
(६) अभिगम-रुचि	संक्षेप-रुचि दर्शन-आर्य—जीव आदि पदार्थों के संक्षिप्त निरूपण से बोध प्राप्त कर जिन्हें सम्यग्-दर्शन प्राप्त हुआ हो।
(७) विस्तार-रुचि	विस्तार-रुचि दर्शन-आर्य—जीव आदि पदार्थों के विस्तृत निरूपण से बोध प्राप्त कर जिन्हें सम्यग्-दर्शन प्राप्त हुआ हो।
(८) क्रिया-रुचि	अर्थ-रुचि दर्शन-आर्य—वचन विस्तार के बिना केवल अर्थ-ग्रहण से जिन्हें सम्यग्-दर्शन प्राप्त हुआ हो।
(९) संक्षेप-रुचि	अवगाढ़-रुचि दर्शन-आर्य—आचारांग आदि बारह अंगों (द्वादशांगी) में जिनका श्रद्धान अति दृढ़ हो।
(१०) धर्म-रुचि	परम-अवगाढ़ दर्शन-आर्य—परम अवधि, केवलज्ञान, दर्शन से प्रकाशित जीव आदि पदार्थों के ज्ञान से जिनकी आत्मा निर्मल हो।

श्लोक ३१

१७—श्लोक ३१ :

सम्यग्-दर्शन का अर्थ है—सत्य की आस्था, सत्य की रुचि। वह दो प्रकार का होता है—(१) नैश्चयिक और (२) व्यावहारिक। नैश्चयिक-सम्यग्-दर्शन का सम्बन्ध केवल आत्मा की आन्तरिक शुद्धि या सत्य की आस्था से होता है। व्यावहारिक-सम्यग्-दर्शन का सम्बन्ध संघ, गण या सम्प्रदाय से भी होता है।

सम्यग्-दर्शन के आठ अंगों का निरूपण इन दोनों दृष्टियों को सामने रख कर किया गया है। सम्यग्-दर्शन के आठ अंग ये हैं—(१) निःशंकित, (२) निष्कांक्षित, (३) निर्विचिकित्सा, (४) अमूढ़-दृष्टि, (५) उपबृंहण, (६) स्थिरीकरण, (७) वात्सल्य और (८) प्रभावना।

सम्यग्-दर्शन के पाँच अतिचार हैं—(१) शंका, (२) कांक्षा, (३) विचिकित्सा, (४) पर-पाषण्ड-प्रशंसा और (५) पर-पाषण्ड-संस्तव।

आचार का उल्लंघन अतिचार होता है और 'अतिचार' का वर्जन आचार। आचार के अंग आठ हैं और अतिचार के पाँच। इस संख्या-भेद पर सहज ही प्रश्न होता है।

श्रुतसागर सूरि ने इसका समाधान किया है। उनके अनुसार, व्रत और शीलों के पाँच-पाँच अतिचार बतलाए हैं। अतः अतिचारों के वर्णन में सम्यग्-दर्शन के पाँच ही अतिचार बतलाए गए हैं। शेष तीन अतिचारों का मिथ्यादृष्टि-प्रशंसा और मिथ्यादृष्टि-संस्तव में अन्तर्भाव हो जाता है। जो मिथ्या-दृष्टियों की प्रशंसा और स्तुति करता है, वह मूढ़-दृष्टि तो है ही। वह उपबृंहण नहीं करता, स्थितिकरण नहीं करता।

उससे वात्सल्य और प्रभावना भी संभव नहीं है।[1] इस भावना के अनुसार सम्यग्-दर्शन के आठ आचारात्मक और आठ अतिचारात्मक अंग होते हैं।

(१) निःशंकित और शंका

शंका का अर्थ संदेह भी होता है और भय भी। इन दोनों अर्थों के आधार पर इसकी व्याख्या हुई है। शान्त्याचार्य, हरिभद्र सूरि, अभयदेव सूरि, हेमचन्द्राचार्य, नेमिचन्द्राचार्य, स्वामी समन्तभद्र और शिवकोट्याचार्य ने शंका का अर्थ 'संदेह' किया है।[2] आचार्य कुन्दकुन्द ने शंका का अर्थ 'भय' किया है।[3] श्रुतसागर सूरि ने दोनों अर्थ किये हैं।[4] संक्षेप में—

(१) जिन भाषित-तत्व के प्रति जो संदेह होता है, वह शंका है।

(२) जिसका मन सात प्रकार के भयों से व्यथित होता है—वह शंका है। यह सम्यग्-दर्शन का अतिचार है। निश्शंकित सम्यग्-दर्शन का आचार है। सम्यग्-दृष्टि को असंदिग्ध और अभय होना चाहिए।

(२) निष्कांक्षित और कांक्षा

कांक्षा के दो अर्थ मिलते हैं—(१) एकान्त-दृष्टि वाले दर्शनों के स्वीकार की इच्छा[5] और (२) धर्माचरण के द्वारा सुख-समृद्धि पाने की इच्छा[6]।

विजयोदया के अनुसार भोग और सुख-संपदा की जो इच्छा है, वह सम्यग्-दर्शन का अतिचार नहीं है किन्तु दर्शन, व्रत आदि के द्वारा भोग प्राप्ति की इच्छा करना अतिचार है।[7] निष्कांक्षित सम्यग्-दर्शन का आचार है।

१–तत्त्वार्थ, ७।२३, श्रुतसागरीय वृत्ति, पृ० २४८।

२–(क) बृहद्वृत्ति, पत्र ५६७ :

शङ्कनं शङ्कितं—देशसर्वशङ्कात्मकं तस्याभावो निःशङ्कितम्।

(ख) श्रावकधर्मप्रकरण, वृत्ति पत्र २० :

भगवदर्हत्प्रणीतेषु धर्माधर्माकाशादिष्वत्यन्तगहनेषु मतिमान्द्यादिभ्योऽनवधार्यमाणेषु संशय इत्यर्थः किमेवं स्यान्‍ ? नैवम् इति।

(ग) स्थानांग, ३।४।२२३, वृत्ति पत्र १७६ :

शंकितो—देशतः सर्वतो वा संशयवान्।

(घ) योगशास्त्र, २।१७।

(ङ) प्रवचनसारोद्धार, पत्र ६९।

(च) रत्नकरंड श्रावकाचार, १ ११।

(छ) मूलाराधना, १।४४ विजयोदया

शंका—संशयप्रत्यय किंस्विदित्यनवधारणात्मकः।

३–समयसार, गाथा २२८ :

सम्मद्दिट्ठी जीवा, णिस्संका होंति णिब्भया तेण।
सत्तभयविप्पमुक्का, जम्हा तम्हा दु णिस्संका॥

४–तत्त्वार्थ, ७।२३, वृत्ति :

तत्र शंका—यथा निर्ग्रन्थानां मुक्तिरुक्ता तथा सग्रन्थानामपि गृहस्थादीनां किं मुक्तिर्भवति इति शंका। अथवा, भयप्रकृतिः शंका।

५–पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, २४ :

इह जन्मनि विभवादीन्यमुत्र चक्रित्वकेशवत्वादीन्।
एकान्तवाददूषितपरसमयानपि च नाकांक्षेत्॥

६–तत्त्वार्थ, ७।२३, वृत्ति :

इहपरलोकभोगाकांक्षणं कांक्षा।

७–मूलाराधना, १।४४ विजयोदया :

न कांक्षामात्रमतीचारः किन्तु दर्शनाद् व्रतादानाद्देवपूजायास्तपसश्च जातेन पुण्येन ममेदं कुलं, रूपं, वित्तं, स्त्रीपुत्रादिकं, शत्रुमर्दनं, स्त्रीत्वं, पुंस्त्वं वा सातिशयं स्यादिति कांक्षा इह गृहीता, एषा अतिचारो दर्शनस्य।

(३) निर्विचिकित्सा और विचिकित्सा

विचिकित्सा के भी दो अर्थ मिलते हैं—(१) धर्म के फल में संदेह[1] और (२) जुगुप्सा—घृणा।[2]

आचार्य अमृतचन्द्र के अनुसार भूख-प्यास, शीत-उष्ण आदि नाना प्रकार के भावों तथा मल आदि पदार्थों में घृणा नहीं करनी चाहिए।[3]

स्वामी समन्तभद्र के शब्दों में स्वभावत: अपवित्र किन्तु रत्नत्रयी से पवित्र शरीर में ग्लानि न करना, गुणों में प्रीति करने का नाम निर्विचिकित्सा है।[4]

अमितगति श्रावकाचार में तीसरा अतिचार निन्दा है।[5] हेमचन्द्राचार्य ने भी विचिकित्सा का वैकल्पिक अर्थ 'निन्दा' किया है।[6]

(४) अमूढ़-दृष्टि और पर-पाषण्ड-प्रशंसा, पर-पाषण्ड-संस्तव—

मूढ़ता का अर्थ है—मोहमयी दृष्टि। स्वामी समन्तभद्र ने उसे तीन भागों में विभक्त किया है :

(१) लोक-मूढ़ता—नदी-स्नान आदि में धार्मिक विश्वास।

(२) देव-मूढ़ता—राग-द्वेष-वशीभूत देवों की उपासना।

(३) पाषण्ड-मूढ़ता—हिंसा में प्रवृत्त साधुओं का पुरस्कार।[7]

१–प्रवचनसारोद्धार, २६८ वृत्ति, पत्र ६४ :

विचिकित्सा—मतिविभ्रम: युक्त्यागमोपपन्नेऽप्यर्थे फलं प्रति सम्मोह:।

२–वही, २६८ वृत्ति, पत्र ६४ :

यद्वा विद्वज्जुगुप्सा—मलमलिना एते इत्यादिसाधुजुगुप्सा।

३–पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, २५ :

क्षुत्तृष्णाशीतोष्णप्रभृतिषु नानाविधेषु भावेषु।
द्रव्येषु पुरीषादिषु, विचिकित्सा नैव करणीया॥

४–रत्नकरण्डक श्रावकाचार, १।१३ :

स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रिते।
निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सिता॥

५–अमितगति श्रावकाचार, ७।१६ :

शंकाकांक्षा निंदा, परशंसासंस्तवा मला पंच।
परिहर्तव्या: सद्भि:, सम्यक्त्वविशोधिभि: सततम्॥

६–योगशास्त्र, २।१७ वृत्ति, पत्र ६७ :

यद्वा विचिकित्सा निन्दा सा च सदाचारमुनिविषया यथा अस्नानेन प्रस्वेदजलक्लिन्नमलत्वाद् दुर्गन्धिवपुष एत इति।

७–रत्नकरण्डक श्रावकाचार, १।२२, २३, २४ :

आपगासागरस्नानमुच्चय: सिकताश्मनाम्।
गिरिपातोऽग्निपातश्च, लोकमूढं निगद्यते॥
वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेषमलीमसा:।
देवता यदुपासीत, देवतामूढमुच्यते॥
सग्रन्थारम्भहिंसानां, संसारावर्तवर्तिनाम्।
पाषण्डिनां पुरस्कारो, ज्ञेयं पाषण्डिमोहनम्॥

आचार्य हरिभद्र के अनुसार एकान्तवादी तीर्थिकों की विभूति देख कर जो मोह उत्पन्न होता है, उसे 'मूढ़ता' कहा जाता है।[1] मिथ्या-दृष्टि की प्रशंसा और उसका संस्तव ये दोनों मूढ़ता के ही परिणाम हैं।

स्वामी समन्तभद्र ने मूढ़ता का अर्थ 'कुपथगामियों का सम्पर्क और उनकी स्तुति' किया है।[2]

मूलाराधना में 'पर-पाषण्ड-संस्तव' के स्थान पर 'अनायतन-सेवा' का प्रयोग किया गया है। अनायतन के छह प्रकार हैं—(१) मिथ्यात्व, (२) मिथ्या-दृष्टि, (३) मिथ्या-ज्ञान, (४) मिथ्या-ज्ञानी, (५) मिथ्या-चारित्र और (६) मिथ्या-चारित्री। इनकी सेवा को 'अनायतन-सेवा' कहा जाता है।[3] प्रवचन सारोद्धार में इसे 'परतीर्थिकोपसेवन' कहा है।[4]

आचार्य हेमचन्द्र ने संस्तव का अर्थ परिचय किया है।[5] परिचय और सेवा ये लगभग समान हैं।

श्रुतसागर सूरि ने संस्तव का अर्थ स्तुति किया है। उनके अनुसार मानसिक श्लाघा—प्रशंसा और वाचिक श्लाघा—संस्तव है।[6]

(५) उपबृंहण

सम्यग्-दर्शन की पुष्टि करने को 'उपबृंहण' कहा जाता है। वसुनन्दि ने 'उपबृंहण' के स्थान पर 'उपगूहन' माना है। उसका अर्थ है—प्रमादवश हुए दोषों का प्रचार न करना व अपने गुणों का गोपन करना।[7]

१–श्रावकधर्मविधि प्रकरण, ५८-६० :
इड्ढीओ णेगविहा, विज्जाजणिया तवोमयाओ य।
वेउव्वियलद्धिकया, नहगमणाई य दट्ठूणं ॥
पूयं च असणपाणाइवत्थपत्ताइएहिं विविहेहिं।
परपासंडत्थाणं, सक्कोलयाइणं दट्ठूणं ॥
धिज्जाईयगिहीणं, पासत्थाईण वावि दट्ठूणं।
जस्स न मुज्झइ दिट्ठी, अमूढदिट्ठिं तयं बिंति ॥

२ रत्नकरण्डक श्रावकाचार, १।१४ :
कापथे पथि दुःखानां, कापथस्थेऽप्यसम्मतिः।
असंपृक्तिरनुत्कीर्तिरमूढा दृष्टिरुच्यते ॥

३–मूलाराधना, १।४४ :
सम्मत्तादीचारा, संका कंखा तहेव विदिगिंछा।
परदिट्ठीण पसंसा, अणायदणसेवणा चेव ॥
विजयोदया—
अणायदणसेवणा चेव—अनायतनं षड्विधं मिथ्यात्वं, मिथ्यादृष्टयः, मिथ्याज्ञानं, तद्वन्तः, मिथ्याचारित्रं मिथ्याचारित्रवन्त इति।

४–प्रवचनसारोद्धार, २७३ वृत्ति, पत्र ७० :
संका कंखा य तहा, वितिगिच्छा अन्नतित्थियपसंसा।
परतित्थिओवसेवणमइयारा पंच सम्मत्ते ॥
'परतीर्थिकोपसेवनं'—परतीर्थिकैः सह एकत्र संवासात् परस्परालापादिजनितः परिचयः।

५–योगशास्त्र, २।१७ वृत्ति, पत्र ६७ :
तैर्मिथ्यादृष्टिभिरेकत्र संवासात्परस्परालापादिजनितः परिचयः संस्तवः।

६–तत्त्वार्थ वृत्ति (श्रुतसागरी), ७।२३ :
मिथ्यादृष्टीनां मनसा ज्ञानचारित्रगुणोद्भावनं प्रशंसा, विद्यमानानामविद्यमानानां मिथ्यादृष्टिगुणानां वचनेन प्रकटनं संस्तव उच्यते।

७–वसुनन्दि श्रावकाचार, ४८ :
णिस्संका णिक्कंखा, णिव्विदिगिंछा अमूढदिट्ठी य।
उवगूहण ठिदियरणं, वच्छल्ल पहावणा चेव ॥

आचार्य अमृतचन्द्र ने उपगूहन को उपबृंहण का ही एक प्रकार माना है। उनके अनुसार अपने आत्म-गुणों (मृदुता आदि) की वृद्धि करना तथा पराए दोषों का निगूहन करना—ये दोनों उपबृंहण के अंग हैं।[1]

(६) स्थिरीकरण

धर्म-मार्ग या न्याय-मार्ग से विचलित हो रहे व्यक्तियों को पुनः उसी मार्ग में स्थिर करना यह 'स्थिरीकरण' या 'स्थितिकरण' है।[2]

(७) वात्सल्य

मोक्ष के कारणभूत धर्म, अहिंसा और साधर्मिकों में वत्सल-भाव रखना, उनकी यथायोग्य प्रतिपत्ति रखना, साधर्मिक साधुओं को आहार, वस्त्र आदि देना, गुरु, ग्लान, तपस्वी, शैक्ष, पाहुने साधुओं की विशेष सेवा करना—यह वात्सल्य है।[3]

(८) प्रभावना

तीर्थ की उन्नति हो वैसी चेष्टा करना, रत्नत्रयी—सम्यग् दर्शन, ज्ञान, चारित्र से अपनी आत्मा को प्रभावित करना, जिन-शासन की महिमा बढ़ाना—यह 'प्रभावना' है।[4] आठ प्रकार के व्यक्ति प्रभावक माने जाते हैं—

(१) प्रवचनी—द्वादशांगी धर, युगप्रधान आगम-पुरुष।

(२) धर्मकथी—धर्म-कथा-कुशल।

(३) वादी—वाद-विद्या में निपुण।

(४) नैमित्तिक—निमित्तविद्।

(५) तपस्वी—तपस्या करने वाला।

(६) विद्याधर—प्रज्ञप्ति आदि विद्याओं का पारगामी।

(७) सिद्ध—सिद्धिप्राप्त।

(८) कवि—कवित्व-शक्ति-सम्पन्न।[5]

१–पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, २७ :
धर्मोऽभिवर्द्धनीयः, सदात्मनो मार्दवादिभावनया।
परदोषनिगूहनमपि विधेयमुपबृंहणगुणार्थम्॥

२–(क) प्रवचनसारोद्धार, २६८ वृत्ति, पत्र ६४ :
स्थिरीकरणं तु धर्माद्विषीदतां तत्रैव चाटुवचनचातुर्याद्वस्थापनम्।

(ख) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, २८ :
कामक्रोधमदादिषु, चलयितुमुदितेषु वर्त्मनो न्याय्यात्।
श्रुतमात्मनः परस्य च, युक्त्या स्थितिकरणमपि कार्यम्॥

(ग) रत्नकरण्डक श्रावकाचार, १।१६ :
दर्शनाच्चरणाद्वापि, चलतां धर्मवत्सलैः।
प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थितिकरणमुच्यते॥

३–बृहद् वृत्ति, पत्र ५६७ :
वत्सलभावो वात्सल्यं—साधर्मिकजनस्य भक्तपानादिनोचितप्रतिपत्तिकरणम्।

४–वही, पत्र ५६७ :
प्रभावना च—तथा तथा स्वतीर्थोन्नतिहेतुचेष्टासु प्रवर्त्तनात्मिका।

५–योगशास्त्र, २।१६ वृत्ति, पत्र ६५।

आचार्य हरिभद्र ने सिद्ध के स्थान में अतिशय-ऋद्धि-सम्पन्न और कवि के स्थान में राजाओं द्वारा सम्मत व्यक्ति को प्रभावक माना है ।[1]

सम्यक्त्व के पाँच भूषण माने जाते हैं—(१) स्थैर्य, (२) प्रभावना, (३) भक्ति, (४) जिन-शासन में कौशल और (५) तीर्थ-सेवा ।[2]

स्थैर्य, प्रभावना और भक्ति क्रमशः स्थिरीकरण, प्रभावना और वात्सल्य हैं । जिन-शासन में कौशल और तीर्थ-सेवा भी वात्सल्य के विविध रूपों का स्पर्श करते हैं ।

सम्यग्-दर्शन के आठों अंग सत्य की आस्था के परम अंग हैं । कोई भी व्यक्ति शंका (भय या संदेह), कांक्षा (आसक्ति या वैचारिक अस्थिरता), विचिकित्सा (घृणा या निन्दा), मूढ़-दृष्टि (अपनी नीति के विरोधी विचारों के प्रति सहमति) से मुक्त हुए बिना सत्य की आराधना कर नहीं सकता और उसके प्रति आस्थावान् रह नहीं सकता । स्व-सम्मत धर्म या साधर्मिकों का उपबृंहण, स्थिरीकरण, वात्सल्य और प्रभावना किए बिना कोई व्यक्ति सत्य की आराधना करने में दूसरों का सहायक नहीं बन सकता । इस दृष्टि से ये आठों अंग बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं ।

श्लोक ३२-३३

१८-श्लोक ३२-३३ :

जिससे कर्म का चय रिक्त होता है, वह चारित्र है । यह 'चारित्र' शब्द का निरुक्त है । ३५वें श्लोक में बताया गया है—चारित्र से निग्रह होता है । रिक्त करना और निग्रह करना वस्तुतः एक नहीं है । प्रश्न होता है यह भेद क्यों ?

शान्त्याचार्य ने इसके समाधान में लिखा है—तपस्या भी चारित्र के अन्तर्गत है, इसलिए चारित्र के दो कार्य होते हैं—(१) कर्म का निग्रह और (२) कर्म-चय का रिक्तीकरण ।[3]

(१-२) सामायिक और छेदोपस्थापनीय—

चारित्र के पाँच प्रकार बतलाए गए हैं । वस्तुतः वह एक ही है । ये भेद विशेष दृष्टियों से किए गये हैं । सर्व सावद्य प्रवृत्ति का त्याग किया जाता है, वह सामायिक चारित्र है । छेदोपस्थापनीय आदि चारित्र इसी के विशेष रूप हैं ।[4] बाईस तीर्थङ्करों ने सामायिक चारित्र का उपदेश दिया था । छेदोपस्थानीय का उपदेश भगवान् ऋषभ और भगवान् महावीर ने दिया था ।[5]

१–श्रावकधर्मविधि प्रकरण, श्लोक ६७ :

अइसेसइड्ढि धम्मकहिवाइआयरियखवगनेमित्ती ।
विज्जारायागणसम्मया य तित्थं पभावेंति ॥

२–योगशास्त्र, २।१६ :

स्थैर्यं प्रभावना भक्तिः, कौशलं जिनशासने ।
तीर्थसेवा च पंचास्य, भूषणानि प्रचक्षते ॥

३–बृहद् वृत्ति, पत्र ५६९ :

'एतद्' अनन्तरोक्तं सामायिकादि चयस्य—राशेः प्रस्तावात्कर्मणां रिक्तं—विरेकोऽभाव इतियावत् तत्करोतीत्येवंशीलं चयरिक्तकरं चारित्रमिति नैरुक्तो विधिः, आह—वक्ष्यति—"चरित्तेण णिगिण्हाति तवेण य वि (परि) सुज्झति' त्ति" कथं न तेनास्य विरोधः?, उच्यते, तपसोऽपि तत्त्वतश्चारित्रान्तर्गतत्वात् ।

४–तत्त्वार्थ राजवार्तिक ९।१८ :

सर्वसावद्यनिवृत्तिलक्षणसामायिकापेक्षया एकं व्रतं, भेदपरतंत्रच्छेदोपस्थापनापेक्षया पंचविधं व्रतम् ।

५–(क) मूलाचार, ७।३६ :

बावीसं तित्थयरा, सामाइयं संजमं उवदिसंति ।
छेदोवट्ठावणियं पुण, भयवं उसहो य वीरो य ॥

(ख) आवश्यक निर्युक्ति, १२४६ ।

सामायिक-चारित्र दो प्रकार का होता है—

(१) इत्वर—भगवान् ऋषभ और भगवान् महावीर के शिष्यों के यह इत्वर—अल्पकाल के लिए होता है। इसकी स्थिति सात दिन, चार मास या छह मास है। तत्पश्चात् इसके स्थान पर छेदोपस्थापनीय-चारित्र स्वीकार किया जाता है।

(२) यावत्कथिक—शेष बाईस तीर्थङ्करों के शिष्यों के सामायिक-चारित्र यावज्जीवन के लिए होता है।[1]

श्रुतसागर सूरि ने तत्त्वार्थ वृत्ति में इसके दो भेद—परिमित-काल और अपरिमित-काल—किए हैं। स्वाध्याय आदि के समय जो सामायिक किया जाता है, वह परिमित-काल-सामायिक होता है। ईर्यापथ आदि में अपरिमित-काल-सामायिक होता है।[2]

पूर्व पर्याय (सामायिक-चारित्र) का छेद कर महाव्रतों में उपस्थित करने को 'छेदोपस्थापनीय' कहा जाता है।[3] सामायिक-चारित्र स्वीकार करते समय सर्व सावद्य योग का त्याग किया जाता है, सावद्य योग का विभागशः त्याग नहीं किया जाता। छेदोपस्थापनीय में विभागशः त्याग किया जाता है। पाँच महाव्रतों का पृथक्-पृथक् त्याग किया जाता है, इसलिए आचार्य वीरनन्दि ने छेद का अर्थ भेद या विभाग किया है।[4] पूज्यपाद के अनुसार तीन गुप्ति (मनो-वाक्-काय), पाँच समिति (ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेप और उत्सर्ग) तथा पाँच महाव्रत (अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह)—इन तेरह भेद वाले चारित्र का निरूपण भगवान् महावीर ने किया था। उनके पूर्ववर्ती तीर्थङ्करों ने ऐसे विभागात्मक चारित्र का निरूपण नहीं किया था।[5]

श्रुतसागर सूरि ने संकल्प-विकल्प के त्याग को भी छेदोपस्थापनीय माना है।[6] छेदोपस्थापनीय के दो प्रकार होते हैं—

(१) सातिचार—दोष सेवन करने वाले मुनि को पुनः महाव्रतों का आरोपण कराया जाता है, वह सातिचार-छेदोपस्थापनीय होता है।

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ५६८

एतच्च द्विधा—इत्वरं यावत्कथिकं च, तत्रेत्वरं भरतैरावतयोः प्रथमचरमतीर्थंकरतीर्थयोरनुपस्थापनायां छेदोपस्थापनीयचारित्रभावेन तत्र तद्व्यपदेशाभावात, यावत्कथिकं च तयोरेव मध्यमतीर्थंकरतीर्थेषु महाविदेहेषु चोपस्थापनाया अभावेन तद्व्यपदेशस्य यावज्जीवमपि सम्भवात।

२—तत्त्वार्थ, ९।१८ वृत्ति :

तत्र सामायिकं द्विप्रकारम्—परिमितकालमपरिमितकालञ्चेति। स्वाध्यायादौ सामायिकग्रहणं परिमितकालम्। ईर्यापथादावपरिमितकालं वेदितव्यम्।

३—बृहद् वृत्ति, पत्र ५६८।

४—आचारसार, ५।६-७ :

व्रत-समिति-गुप्तिगैः, पंच पंच त्रिभिर्मतैः।
छेदे भेदे ह्युपेत्यार्थ, स्थापनं स्वस्थितिक्रिया॥
छेदोपस्थापनं प्रोक्तं, सर्वसावद्यवर्जने।
व्रतं हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्म संगेष्वसंगमः॥

५—चारित्रभक्ति, श्लोक ७ :

तिस्रः सत्तमगुप्तयस्तनुमनोभाषानिमित्तोदयाः।
पंचेर्यादिसमाश्रयाः समितयः पंचव्रतानीत्यपि॥
चारित्रोपहितं त्रयोदशतयं पूर्वं न दिष्टं परै-
राचारं परमेष्ठिनो जिनपते वीरान् नमामो वयम्॥

६—तत्त्वार्थ, ९।१८ वृत्ति :

संकल्पविकल्पनिषेधो वा छेदोपस्थापना भवति।

(२) निरतिचार—शैक्ष (नव-दीक्षित) मुनि सामायिक-चारित्र के पश्चात् अथवा एक तीर्थङ्कर के तीर्थ में से दूसरे तीर्थङ्कर के तीर्थ में दीक्षित होने वाले मुनि, जो छेदोपस्थापनीय-चारित्र स्वीकार करते हैं, वह निरतिचार होता है।[1]

(३) परिहार विशुद्धि— यह दो प्रकार का होता है—(१) निर्विशमानक और (२) निर्विष्टकायिक।

इसकी आराधना नौ साधु मिल कर करते हैं। इसका काल-मान अठारह मास का है। प्रथम छह माहों में चार साधु तपस्या करते हैं, चार साधु सेवा करते हैं और एक वाचनाचार्य (गुरुस्थानीय) रहता है। दूसरी छह माहों में तपस्या करने वाले सेवा और सेवा करने वाले तपस्या में संलग्न हो जाते हैं। तीसरी छह माहों में वाचनाचार्य तप करते हैं, एक साधु वाचनाचार्य हो जाता है, शेष सेवा में संलग्न होते हैं। तपस्या में संलग्न होते हैं वे 'निर्विशमानक' और जो कर चुकने हैं वे 'निर्विष्टकायिक' कहलाते है। उनकी तपस्या का क्रम इस प्रकार है—

जघन्य	मध्यम	उत्कृष्ट
(१) ग्रीष्म — उपवास	बेला	तेला
(२) शिशिर— बेला	तेला	चौला
(३) वर्षा—तेला	चौला	पंचौला

पारणा में आचामाम्ल (आम्ल-रस के साथ एक अन्न व जल लेकर) तप किया जाता है। जो तप में संलग्न नहीं होते, वे सदा आचामाम्ल करते हैं। उनकी चारित्रिक विशुद्धि विशिष्ट होती है। परिहार का अर्थ 'तप' है। तप से विशेष शुद्धि प्राप्त की जाती है।[2]

श्रुतसागर सूरि ने परिहार का अर्थ 'प्राण-वध की निवृत्ति' किया है। जिसमें अहिंसा की विशिष्ट साधना हो, वह परिहार-विशुद्धि-चारित्र है। उनके अनुसार जिस मुनि की आयु बत्तीस वर्ष की हो, जो बहुत काल तक तीर्थङ्कर के चरणों में रह चुका हो, प्रत्याख्यान नामक नवम पूर्व में कहे गए सम्यक् आचार को जानने वाला हो, प्रमाद-रहित हो और तीनों सन्ध्याओं को छोड़ कर केवल दो गव्यूति (चार मील) गमन करने वाला हो, उस मुनि के परिहार-विशुद्धि-चारित्र होता है। तीर्थङ्कर के पाद-मूल में रहने का काल वर्ष-पृथक्त्व (तीन वर्ष से अधिक और नौ वर्ष से कम) है।[3]

(४१५) सूक्ष्म संपराय और यथाख्यात

सामायिक या छेदोपस्थापनीय-चारित्र की आराधना करते-करते क्रोध, मान और माया के अणु उपशान्त या क्षीण हो जाते हैं, लोभाणुओं का सूक्ष्म रूप में वेदन होता है, उस समय की चारित्र-स्थिति को 'सूक्ष्म-संपराय चारित्र' कहा जाता है।[4] चौदह गुणस्थानों में सूक्ष्म संपराय नामक दसवाँ गुणस्थान यही है। जब क्रोध, मान, माया और लोभ सर्वथा उपशान्त या क्षीण हो जाते हैं, उस समय की चारित्र-स्थिति को 'यथाख्यात चारित्र' कहा जाता है। यह वीतराग-चारित्र है। गुणस्थानों में यह चारित्र दो भागों में विभक्त है। 'उपशमात्मक-यथाख्यात चारित्र' उपशान्त-मोह नामक ग्यारहवें और 'क्षयात्मक-यथाख्यात चारित्र' क्षीण-मोह नामक बारहवें आदि गुणस्थान में समाते हैं।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ५६८ :
छेदः—सातिचारस्य यतेर्निरतिचारस्य वा शिक्षकस्य तीर्थान्तरसम्बन्धिनो वा तीर्थान्तरं प्रतिपद्यमानस्य पूर्वपर्यायव्यवच्छेदरूपस्तद्युक्तोपस्थापना महाव्रतारोपणरूपा यस्मिंस्तच्छेदोपस्थापनम्।

२–(क) स्थानांग ५।४२८ वृत्ति, पत्र ३२४।
(ख) प्रवचनसारोद्धार, ६०२-६१०।

३–तत्त्वार्थ, ९।१८ वृत्ति :
परिहरणं परिहारः प्राणिवधनिवृत्तिरित्यर्थः। परिहारेण विशिष्टा शुद्धिः कर्ममलकलङ्कप्रक्षालनं यस्मिन् चारित्रे तत्परिहार-विशुद्धिः चारित्रमिति वा विग्रहः। तल्लक्षणं यथा—द्वात्रिंशद्वर्षजातस्य बहुकालतीर्थकरपादसेविनः प्रत्याख्याननामधेयनवम-पूर्वप्रोक्तसम्यगाचारवेदिनः प्रमादरहितस्य अतिपुष्कलचर्यानुष्ठायिनस्तिस्रः सन्ध्या वर्जयित्वा द्विगव्यूतिगामिनो मुनेः परिहार-विशुद्धिचारित्रं भवति।··· त्रिवर्षादुपरि नववर्षाभ्यन्तरे वर्षपृथक्त्वमुच्यते।

४–बृहद् वृत्ति, पत्र ५६८ :
सूक्ष्मः—किट्टीकरणतः संपर्येति—पर्यटति अनेन संसारमिति संपरायो—लोभाख्यः कषायो यस्मिंस्तत्सूक्ष्मसम्परायम्।

अध्ययन २६

सम्मत्तपरक्कमे

सूत्र १,२

१–संवेग (मोक्ष की अभिलाषा) से···निर्वेद से (संवेगेणं···निव्वेएणं) :

सम्यग्-दर्शन के पाँच लक्षणों में संवेग दूसरा और निर्वेद तीसरा है। संवेग का अर्थ है 'मोक्ष की अभिलाषा'[1] और निर्वेद का अर्थ है 'संसार-त्याग की भावना या काम-भोगों के प्रति उदासीन-भाव।'[2]

श्रुतसागर सूरि ने निर्वेद के तीन अर्थ किए हैं—(१) संसार-वैराग्य, (२) शरीर-वैराग्य और (३) भोग-वैराग्य।[3]

प्रस्तुत दो सूत्रों में कहा गया है कि संवेग से धर्म-श्रद्धा उत्पन्न होती है और निर्वेद से विषय-विरक्ति। इन परिणामों के अनुसार संवेग और निर्वेद की उक्त परिभाषाएँ समीचीन हैं। कई आचार्य संवेग का अर्थ 'भव-वैराग्य' और निर्वेद का अर्थ 'मोक्षाभिलाषा' भी करते हैं। किन्तु इस प्रकरण में वे फलित नहीं होते।

विसुद्धिमग्ग दीपिका के अनुसार जो मनोभाव उत्तम-वीर्य वाली आत्मा को वेग के साथ कुशलाभिमुख करता है, वह 'संवेग' कहलाता है।[4] इसका अभिप्राय भी मोक्षाभिलाषा से भिन्न नहीं है।

संवेग और धर्म-श्रद्धा का कार्य-कारण-भाव है। मोक्ष की अभिलाषा होती है तब धर्म में रुचि उत्पन्न होती है और जब धर्म में रुचि उत्पन्न हो जाती है तब मोक्ष की अभिलाषा विशिष्टतर हो जाती है। जब संवेग विशिष्टतर होता है तब अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ क्षीण हो जाते हैं, दर्शन विशुद्ध हो जाता है।

जिसका दर्शन विशुद्ध हो जाता है, उसके कर्म का बन्ध नहीं होता। वह उसी जन्म में या तीसरे जन्म में अवश्य ही मुक्त हो जाता है। 'कम्मं न बंधई' इस पर शान्त्याचार्य ने लिखा है कि अशुभ-कर्म का बन्ध नहीं होता।[5] सम्यग्-दृष्टि के अशुभ-कर्म का बंध नहीं होता, ऐसा नहीं कहा जा सकता। अशुभ-योग की प्रवृत्ति छठे गुणस्थान तक हो सकती है और कषाय जनित अशुभ-कर्म का बन्ध दसवें गुणस्थान तक होता है। इसलिए इसे इस रूप में समझना चाहिए कि जिसका दर्शन विशुद्ध हो जाता है, अनन्तानुबन्धी चतुष्क सर्वथा क्षीण हो जाता है, उसके नये सिरे से मिथ्या-दर्शन के कर्म-परमाणुओं का बन्ध नहीं होता। वह उसी जन्म में या तीसरे जन्म में अवश्य ही मुक्त हो जाता है। इसका सम्बन्ध दर्शन की उत्कृष्ट आराधना से है। जघन्य और मध्यम आराधना वाले अधिक जन्मों तक संसार में रह सकते हैं। किन्तु उत्कृष्ट आराधना वाले

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ५७७ :
संवेगो—मुक्त्यभिलाषः।

२–वही, पत्र ५७८ :
'निर्वेदेन' सामान्यतः—संसारविषयेण कदाऽसौ त्यक्ष्यामीत्येवंरूपेण।

३–षट् प्राभृत, पृ० ३६३ ; मोक्ष प्राभृत ८२ टीका :
निर्वेदः संसार-शरीर-भोग-विरागता।

४–विसुद्धिमग्ग दीपिका ८, पृ० ६८ :
'संवेगो' ति उत्तमविरियं यं पुग्गलं वेगेन कुसलाभिमुखं करोति।

५–बृहद् वृत्ति, पत्र ५७७ :
'कर्म' प्रस्तावादशुभप्रकृतिरूपं 'न बध्नाति'।

तीसरे जन्म का अतिक्रमण नहीं करते। यह तथ्य भगवती (८।१०) से भी समर्थित है। गौतम ने पूछा—"भगवन्! उत्कृष्ट दर्शनी कितने जन्म में सिद्ध होता है?" भगवान् ने कहा—"गौतम! वह उसी जन्म में ही सिद्ध हो जाता है और यदि उस जन्म में न हो तो तीसरे जन्म में अवश्य हो जाता है।"

जैन साधना-पद्धति का पहला सूत्र है—मिथ्यात्व-विसर्जन या दर्शन-विशुद्धि। दर्शन की विशुद्धि का हेतु संवेग है, जो नैसर्गिक भी होता है और आधिगमिक भी। साधना का दूसरा सूत्र है—प्रवृत्ति-विसर्जन या आरम्भ-परित्याग। उसका हेतु निर्वेद है। जब तक निर्वेद नहीं होता, तब तक विषय-विरक्ति नहीं होती और उसके बिना आरम्भ का परित्याग नहीं होता। दशवैकालिक निर्युक्ति में भिक्षु के सतरह लिङ्ग बताए गए हैं, वहाँ संवेग और निर्वेद को प्रथम स्थान दिया गया है।

सूत्र ४

२—श्लाघा, गुण-प्रकाशन, भक्ति और बहुमान के द्वारा (वण्णसंजलणभत्तिबहुमाणयाए) :

वर्ण, सञ्ज्वलन, भक्ति और बहुमान—ये चारों विनय-प्रतिपत्ति के अंग हैं। वर्ण का अर्थ है 'श्लाघा'।[1] कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लोक—ये चारों पर्याय-शब्द हैं। इनमें कुछ अर्थ-भेद भी है।[2]

सञ्ज्वलन का अर्थ है 'गुण-प्रकाशन'।[3]

भक्ति का अर्थ है 'हाथ जोड़ना, गुरु के आने पर खड़ा होना, आसन देना आदि-आदि।'[4]

बहुमान का अर्थ है 'आन्तरिक अनुराग।'[5]

दशवैकालिक चूर्णि में भक्ति और बहुमान में जो अन्तर है, उसे एक उदाहरण द्वारा समझाया है।[6]

सूत्र ५

३—माया, निदान और मिथ्या-दर्शन-शल्य को (मायानियाणमिच्छादंसणसल्लाणं) :

जो मानसिक वृत्तियाँ और अध्यवसाय शल्य (अन्तर्व्रण) की तरह क्लेशकर होते हैं, उन्हें 'शल्य' कहा जाता है। वे तीन हैं—

(१) माया।

(२) निदान—तप के फल की आकांक्षा करना, भोग की प्रार्थना करना।[7]

(३) मिथ्या-दर्शन—मिथ्या-दृष्टिकोण।

१-बृहद् वृत्ति, पत्र ५७९ :
वर्णः—श्लाघा।

२-दसवेआलियं (भाग २), सार्थ सटिप्पण, पृ० ५०९।

३-बृहद् वृत्ति, पत्र ५७९ :
सञ्ज्वलनं—गुणोद्भासनम्।

४-वही, पत्र ५७९ :
भक्तिः—अञ्जलिप्रग्रहादिका।

५-वही, पत्र ५७९ :
बहुमानम्—आन्तरप्रीतिविशेषः।

६-दशवैकालिक, जिनदास चूर्णि, पृ० ९९।

७-बृहद् वृत्ति, पत्र ५७९ :
निदानं—ममातस्तपःप्रभृत्यादेरिदं स्यात् इति प्रार्थनात्मकम्।

ये तीनो मोक्ष-मार्ग के विघ्न और अनन्त ससार के हेतु हैं। स्थानांग (१०।७३३) मे कहा है—आलोचना वही व्यक्ति कर सकता है, जो मायावी नही होता।

सूत्र ६

४–परिणाम-धारा को (करणगुणसेढिं) :

संक्षेप मे 'करण-सेढि' का अर्थ है 'क्षपक-श्रेणि'। मोह-विलय की दो प्रक्रियाएँ हैं। जिसमें मोह का उपशम होते-होते वह सर्वथा उपशान्त हो जाता है, उसे 'उपशम-श्रेणि' कहा जाता है। जिसमे मोह क्षीण होते-होते पूर्ण क्षीण हो जाता है, उसे 'क्षपक-श्रेणि' कहा जाता है। उपशम-श्रेणि से मोह का सर्वथा उद्घात नही होता, इसलिए यहाँ क्षपक-श्रेणि ही प्राप्त है।[1] करण का अर्थ 'परिणाम' है। क्षपक-श्रेणि का प्रारम्भ आठवें गुणस्थान मे होता है। वहाँ परिणाम-धारा वैसी शुद्ध होती है, जैसे पहले कभी नही होती। इसीलिए आठवें गुणस्थान को 'अपूर्व-करण' कहा जाता है। अपूर्व-करण से जो गुण-श्रेणि प्राप्त होती है, उसे 'करण-गुण-श्रेणि' कहा जाता है।[2] यह जब प्राप्त होती है तब मोहनीय-कर्म के परमाणुओं की स्थिति अल्प हो जाती है और उनका विपाक मन्द हो जाता है। इस प्रकार मोहनीय-कर्म निर्वीर्य बन जाता है।

सूत्र ७

५–अनादर को (अपुरक्कारं) :

यहाँ 'अपुरक्कार'-अपुरस्कार का अर्थ 'अनादर' या 'अवज्ञा' है। यह व्यक्ति गुणवान् है, कभी भूल नही करता—इस स्थिति का नाम पुरस्कार है। अपने प्रमादाचरण को दूसरो के सामने प्रस्तुत करने वाला इससे विपरीत स्थिति को प्राप्त होता है, वही अपुरस्कार है।

६–अनन्त-विकास का घात करने वाले ज्ञानावरण आदि कर्मों की परिणतियों को (अणन्तघाइपज्जवे) :

आत्मा के चार गुण अनन्त है—(१) ज्ञान, (२) दर्शन, (३) वीतरागता और (४) वीर्य। इनके आवारक परमाणुओ को ज्ञानावरण और दर्शनावरण, सम्मोहक प्रमाणुओं को मोह तथा विघातक प्रमाणुओ को अन्तराय-कर्म कहा जाता है। उनकी अनन्त-परिणतियो से आत्मा के अनन्त गुण आवृत्त, सम्मोहित और प्रतिहत होते हैं।

सूत्र १२

७–कायोत्सर्ग—ध्यान की मुद्रा से (काउस्सग्गेणं) :

सामाचारी-अध्ययन में कायोत्सर्ग को 'सर्व-दुःख विमोचक' कहा है।[3] शान्त्याचार्य ने कायोत्सर्ग का अर्थ—'आगमोक्त-नीति के अनुसार शरीर को त्याग देना' किया है।[4] क्रिया-विसर्जन और ममत्व-विसर्जन ये दोनो आगमोक्त-नीति के अग हैं।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ५८० :
प्रक्रमात्क्षपकश्रेणिरेव गृह्यते।

२–वही, पत्र ५७९ :
करणेन—अपूर्वकरणेन गुणहेतुका श्रेणिः करणगुणश्रेणिः।

३–उत्तराध्ययन, २६।३८, ४१, ४६, ४९।

४–बृहद् वृत्ति, पत्र ५८१ :
कायः—शरीरं तस्योत्सर्गः—आगमोक्तनीत्या परित्यागः कायोत्सर्गः।

सूत्र १४

८—स्तव और स्तुति (थवथुइ) :

सामान्यतः 'स्तुति' और 'स्तव' इन दोनों का अर्थ 'भक्ति और बहुमानपूर्ण श्रद्धाञ्जलि अर्पित करना' है। किन्तु साहित्य-शास्त्र की विशेष परम्परा के अनुसार एक, दो या तीन श्लोक वाली श्रद्धाञ्जलि को 'स्तुति' और तीन से अधिक श्लोक वाली श्रद्धाञ्जलि को 'स्तव' कहा जाता है। कुछ लोग सात श्लोक तक की श्रद्धाञ्जलि को भी स्तुति मानते हैं।[1]

सूत्र १५

९—काल-प्रतिलेखना···से (कालपडिलेहणयाए) :

श्रमण की दिन-चर्या में काल-मर्यादा का बहुत बड़ा स्थान रहा है। दशवैकालिक में कहा है—"वह सब काम ठीक समय पर करे।"[2] यही बात सूत्रकृतांग में कही गई है।[3] व्यवहार में बताया गया है—अस्वाध्याय में स्वाध्याय न किया जाए।[4] काल-ज्ञान के प्राचीन साधनों में 'दिक्-प्रतिलेखन' और 'नक्षत्र-अवलोकन' भी प्रमुख थे। मुनि स्वाध्याय से पूर्व काल की प्रतिलेखना करते थे। जिन्हें नक्षत्र-विद्या का कुशल ज्ञान होता, वे इस कार्य के लिए नियुक्त होते थे। यांत्रिक घड़ियों के अभाव में इस कार्य को बहुत महत्त्व दिया जाता था। विशेष विवरण के लिए देखिए—ओघनिर्युक्ति, गा० ६४१-६५४।

सूत्र १६

१०—मार्ग (सम्यक्त्व) (मग्गं) :

शान्त्याचार्य ने मार्ग के तीन अर्थ किये हैं—(१) सम्यक्त्व,[5] (२) सम्यक्त्व एवं ज्ञान[6] और (३) मुक्ति-मार्ग।[7]

मार्ग-फल का अर्थ 'ज्ञान' किया गया है।[8] उत्तराध्ययन (२८।२) में ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—इन चारों को 'मार्ग' कहा है। प्रायश्चित्त के प्रकरण में मार्ग का अर्थ सम्यक्त्व अधिक उपयुक्त है। प्रायश्चित्त तपस्या-मय होता है, इसलिये तप उसका परिणाम नहीं हो

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ५८१ :
एगदुगतिसिलोगा (थुइओ) अन्नेसिं जाव हुंति सत्तेव।
देविंदत्थवमाई तेण परं थुत्तया होंति॥

२—दशवैकालिक, ५।२।४ :
काले कालं समायरे।

३—सूत्रकृतांग, २।१।१५ :
अन्नं अन्नकाले, पाणं पाणकाले, वत्थं वत्थकाले, लेणं लेणकाले, सयणं सयणकाले।

४—व्यवहार सूत्र, ७।१०६ :
नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा असज्झाए सज्झायं करित्तए।

५—बृहद् वृत्ति, पत्र ५८३ :
मार्गः—इह ज्ञानप्राप्तिहेतुः सम्यक्त्वम्।

६—वही, पत्र ५८३ :
यद्वा मार्गं—चारित्रप्राप्तिनिबन्धनतया दर्शनज्ञानाख्यम्।

७—वही, पत्र ५८३ :
अथवा 'मार्गं च' मुक्तिमार्गं क्षायोपशमिकदर्शनादि।

८—वही, पत्र ५८३ :
तत्फलं च ज्ञानम्।

सकता।[1] चारित्र (आचार-शुद्धि) इसी सूत्र में आगे प्रतिपादित है। शेष ज्ञान और दर्शन (सम्यक्त्व) दो रहते हैं। उनमें दर्शन 'मार्ग' है और उसकी विशुद्धि से ज्ञान विशुद्ध होता है, इसलिए वह 'मार्ग-फल' है।

आचार्य वट्टकेर ने श्रद्धान (दर्शन) को प्रायश्चित्त का एक प्रकार माना है।[2] वृत्तिकार वसुनन्दि ने उसके दो अर्थ किए हैं—(१) तत्त्व रुचि का परिणाम और (२) क्रोध आदि का परित्याग।[3]

सूत्रकार का आशय यह है कि प्रायश्चित्त से दर्शन की विशिष्ट विशुद्धि होती है। इसलिये ज्ञान और दर्शन को प्रायश्चित्त भी माना जा सकता है और परिणाम भी।

सूत्र १७

११–सूत्र १७ :

सत्य की प्राप्ति उसी व्यक्ति को होती है, जो अभय होता है। भय के हेतु हैं—राग और द्वेष। उनसे वैर-विरोध बढ़ता है। वैर-विरोध होने पर आत्मा की सहज प्रसन्नता नष्ट हो जाती है। सब जीवों के साथ मैत्री-भाव नहीं रहता। मन भय से भर जाता है। इस प्रकार व्यक्ति सत्य से दूर हो जाता है।

जो सत्य को पाना चाहता है, उसके मन में राग-द्वेष की गाँठ तीव्र नहीं होती। वह सबके साथ मैत्री-भाव रखता है। उसकी आत्मा सहज प्रसन्नता से परिपूर्ण होती है।[4] उससे प्रमादवश कोई अनुचित व्यवहार हो जाता है तो वह तुरन्त उसके लिए अनुताप प्रकट कर देता है—क्षमा माँग लेता है। जिस व्यक्ति में अपनी भूल के लिए अनुताप व्यक्त करने की क्षमता होती है, उसी में सहज प्रसन्नता, मैत्री और अभय—ये सभी विकसित होते हैं।

सूत्र १८

१२–सूत्र १८ :

स्वाध्याय[5] के पाँच प्रकार हैं—

(१) वाचना— अध्यापन करना।[6]

(२) प्रतिपृच्छा— अज्ञात-विषय की जानकारी या ज्ञात-विषय की विशेष जानकारी के लिए प्रश्न करना।

(३) परिवर्तना— परिचित-विषय को स्थिर रखने के लिए बार-बार दोहराना।[7]

(४) अनुप्रेक्षा— परिचित और स्थिर विषय पर चिन्तन करना।[8]

(५) धर्म-कथा— स्थिरीकृत और चिन्तित-विषय का उपदेश करना।

१९वें से लेकर २३वें सूत्र तक स्वाध्याय के इन्हीं पाँच प्रकारों के परिणाम बतलाए गए हैं।

१–मूलाचार, पंचाचाराधिकार, गाथा १६४ :
पायच्छित्तं त्ति तवो, जेण विसुज्झदि हु पुव्वकयपावं।

२–वही, गाथा १६५।

३–वही, गाथा १६५ वृत्ति :
श्रद्धानं तत्त्व-रुचौ परिणामः क्रोधादिपरित्यागो वा।

४–तुलना कीजिए—योग-दर्शन, समाधि-पाद ३३ :
मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।

५–उत्तराध्ययन, ३०।३४।

६–बृहद् वृत्ति, पत्र ५८४ :
वाचना—पाठनम्।

७–वही, पत्र ५८४ :
परावर्त्तना—गुणनम्।

८–वही, पत्र ५८४ :
अनुप्रेक्षा—चिन्तनिका।

सूत्र १९

१३—तीर्थ-धर्म का अवलम्बन करता है (तित्थधम्मं अवलम्बइ) :

शान्त्याचार्य ने तीर्थ के दो अर्थ किए हैं—(१) गणधर और (२) प्रवचन। भगवती में चतुर्विध संघ को 'तीर्थ' कहा गया है।

गौतम ने पूछा—"भंते ! तीर्थ को तीर्थ कहा जाता है या तीर्थङ्कर को तीर्थ कहा जाता है ?"

भगवान् ने कहा—"गौतम ! अर्हत् तीर्थ नहीं होते, वे तीर्थङ्कर होते हैं। चतुर्वर्ण श्रमण-संघ—साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविकाओं का संघ—तीर्थ कहलाता है।"[1]

आवश्यक निर्युक्ति में प्रवचन का एक नाम तीर्थ है।[2] इस प्रकार तीर्थ के तीन अर्थ हुए। इनके आधार पर तीर्थ-धर्म के तीन अर्थ होते हैं—

(१) गणधर का धर्म—शास्त्र-परम्परा को अविच्छिन्न रखना।[3]

(२) प्रवचन का धर्म—स्वाध्याय करना।[4]

(३) श्रमण-संघ का धर्म।

यहाँ अध्यापन के प्रकरण में प्रथम अर्थ ही उपयुक्त लगता है।

तीर्थ शब्द की विशेष जानकारी के लिए देखिए—विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १०३२-१०५१।

सूत्र २०

१४—कांक्षा-मोहनीय-कर्म (कंखामोहणिज्जं कम्मं) :

शान्त्याचार्य ने काङ्क्षा-मोहनीय का अर्थ 'अनाभिग्रहिक-मिथ्यात्व' किया है।[5] अभयदेव सूरि के अनुसार इसका अर्थ है—मिथ्यात्व मोहनीय।[6]

सत्य की व्याख्या करने वाले अनेक मतवाद हैं। उनके जाल में फंस कर मनुष्य मिथ्या-दृष्टिकोणों की ओर झुक जाता है। इस झुकाव का मुख्य कारण काङ्क्षा-मोहनीय-कर्म होता है। विशद जानकारी के लिए देखिए—भगवती, १।३।

१—भगवती, २०।८ :

तित्थं भंते ! तित्थं तित्थगरे तित्थं ? गोयमा ! अरहा ताव नियमं तित्थगरे, तित्थं पुण चाउवन्नाइन्ने समण संघे, तं जहा समणा समणीओ सावगा सावियाओ।

२—आवश्यक निर्युक्ति, गाथा १३४ :

सुय धम्म तित्थ मग्गो, पावयणं पवयणं च एगट्ठा।
सुत्तं तंतं गंथो, पाढो सत्थं च एगट्ठा॥

३—बृहद् वृत्ति, पत्र ५८४ :

तीर्थमिह गणधरस्तस्य धर्मः—आचारः श्रुतधर्मप्रदानलक्षणस्तीर्थधर्मः।

४—वही, पत्र ५८४ :

यदि वा तीर्थं—प्रवचनं श्रुतमित्यर्थस्तद्धर्मः—स्वाध्यायः।

५—वही, पत्र ५८४ :

काङ्क्षामोहनीयं कर्म अनभिग्रहिकमिथ्यात्वरूपम्।

६—भगवती, १।३ वृत्ति :

मोहयतीति मोहनीयं कर्म, तच्च चारित्रमोहनीयमपि भवतीति विशेष्यते—काङ्क्षा—अन्यान्यदर्शनग्रहः, उपलक्षणत्वाच्चास्य शङ्कादिपरिग्रहः, ततः काङ्क्षाया मोहनीयं काङ्क्षामोहनीयम्—मिथ्यात्वमोहनीयमित्यर्थः।

सूत्र २१

१५—व्यंजन-लब्धि को (वंजणलद्धिं) :

बृहद् वृत्ति में व्यञ्जन-लब्धि की कोई व्याख्या नहीं है। 'वंजण-लद्धि च'—इस 'च'कार को वहाँ 'पदानुसारिता-लब्धि' का सूचक बतलाया गया है।[1] एक पद के अनुसार शेष पदों की प्राप्ति हो जाए, उस शक्ति का नाम 'पदानुसारिता-लब्धि' है। इसी प्रकार एक व्यञ्जन के आधार पर शेष व्यञ्जनों को प्राप्त करने वाली क्षमता का नाम 'व्यञ्जन-लब्धि' होना चाहिए।

सूत्र २५

१६—सूत्र २५ :

इस सूत्र में एकाग्र मन की स्थापना (मन को एक अग्र—आलम्बन पर स्थित करने) का परिणाम 'चित्त-निरोध' बतलाया गया है। तिरपनवें सूत्र में बतलाया गया है कि मन-गुप्ति से एकाग्रता प्राप्त होती है। इससे मन की तीन अवस्थाएँ फलित होती हैं—(१) गुप्ति, (२) एकाग्रता और (३) निरोध।

मन को चंचल बनाने वाले हेतुओं से उसे बचाना—सुरक्षित रखना 'गुप्ति' कहलाती है। ध्येय-विषयक ज्ञान की एकतानता 'एकाग्रता' कहलाती है। मन की विकल्प-शून्यता को 'निरोध' कहा जाता है।

महर्षि पतञ्जलि ने चित्त के चार परिणाम बतलाए हैं—(१) व्युत्थान, (२) समाधि-प्रारम्भ, (३) एकाग्रता और (४) निरोध। यहाँ एकाग्रता और निरोध तुलनीय हैं।[2]

सूत्र २६-२८

१७—सूत्र २६-२८ :

स्थानांग में उपासना के दस फल बताए गए हैं। उनमें से संयम और अनास्रव (अनाश्रव), तप और व्यवदान तथा अक्रिया और सिद्धि का कार्य-कारण-माला के रूप में उल्लेख है। बौद्ध-दर्शन में बाईस इन्द्रियाँ मानी गई हैं। उनमें श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा—इन पाँच इन्द्रियों तथा अज्ञातमाज्ञास्यामीन्द्रिय, आज्ञेन्द्रिय और आज्ञातावीन्द्रिय—इन तीन अन्तिम इन्द्रियों से विशुद्धि का लाभ होता है, इसलिए इन्हें व्यवदान का हेतु माना गया है। श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा के बल से क्लेश का विष्कम्भन और आर्य-मार्ग का आवाहन होता है। अन्तिम तीन इन्द्रिय-अनास्रव हैं। निर्वाणादि के उत्तरोत्तर प्रतिलम्भ में इनका आधिपत्य है।[3] व्यवदान का अर्थ 'कर्म-क्षय' या 'विशुद्धि' है। यहाँ निर्जरा के स्थान में इसका प्रयोग हुआ है।

सूत्र २९

१८—सूत्र २९ :

उत्सुकता, निर्दयता, उद्धत मनोभाव, शोक और चारित्र-विकार—इन सबका मूल सुख की आकाङ्क्षा है। उसे छोड़ कर कोई भी व्यक्ति अनुत्सुक, दयालु, उपशान्त, अशोक और पवित्र आचरण वाला हो सकता है। उत्सुकता आदि सुख की आकाङ्क्षा के परिणाम हैं। वे कारण के रहते परित्यक्त नहीं होते। आवश्यक यह है कि कारण के त्याग का प्रयत्न किया जाए, परिणाम अपने आप त्यक्त हो जाएँगे।

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ५८४ :
यद्वशाद् व्यञ्जनसमुदायात्मकत्वाद्वा पदस्य तल्लब्धिं च पदानुसारितालक्षणामुत्पादयति।

२—पातञ्जल योगदर्शन, ३।९; ३।१२।

३—बौद्ध धर्म-दर्शन, पृ० ३२८-३२९।

सूत्र ३०

१६—सूत्र ३० :

संग और असंग—ये दो शब्द समाज और व्यक्ति के सूचक हैं। अध्यात्म की भाषा में समुदाय-जीवी वह होता है, जिसका मन संग-सक्त (अनेकता में लिप्त) होता है और व्यक्ति-जीवी या अकेला वह होता है, जिसका मन असंग होता है—किसी भी वस्तु या व्यक्ति में लिप्त नहीं होता। इसी तथ्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि असंग मन वाला समुदाय में रह कर भी अकेला रहता है और संग-लिप्त मन वाला अकेले में रह कर भी समुदाय में रहता है।

कहा जाता है चित्त चंचल है, अनेकाग्र है। वह किसी एक अग्र (लक्ष्य) पर नहीं टिकता। किन्तु इस मान्यता में थोड़ा परिवर्तन करने की आवश्यकता है। चित्त अपने आप में चंचल या अनेकाग्र नहीं है। उसे हम अनेक विषयों में बाँध देते हैं, तब वह संग-लिप्त बन जाता है और यह संग-लिप्तता ही उसकी अनेकाग्रता का मूल है। अनासक्त मन कभी चंचल नहीं होता और आसक्ति के रहते हुए कभी उसे एकाग्र नहीं किया जा सकता। निष्कर्ष की भाषा में कहा जा सकता है कि जितनी आसक्ति उतनी अनेकाग्रता। जितनी अनासक्ति उतनी एकाग्रता। पूर्ण अनासक्ति मन का अस्तित्व समाप्त।

सूत्र ३१

२०—विविक्त-शयनासन (विवित्तसयणासण) :

बाह्य-तप का छठा प्रकार विविक्त-शयनासन है। तीसवें अध्ययन में बताया गया है—एकान्त, आवागमन-रहित और स्त्री-पशु-वर्जित स्थान में शयनासन करने का नाम विविक्त-शयनासन है।[1] बौद्ध-साहित्य में विविक्त स्थान के नौ प्रकार बतलाए गए हैं—(१) अरण्य, (२) वृक्ष-मूल, (३) पर्वत, (४) कन्दरा, (५) गिरि-गुहा, (६) श्मशान, (७) वन-प्रस्थ, (८) अभ्यवकाश और (९) पलाल-पुञ्ज।[2]

एकान्त शयनासन करने वाले का मन आत्म-लीन हो जाता है, इसलिए इसे 'संलीनता' भी कहा जाता है।[3] बौद्ध-पिटकों में एकान्तवास के लिए 'प्रति-संलयन' भी प्रयुक्त होता है।[4] औपपातिक में विविक्त-शयनासन के लिए 'प्रतिसंलीनता' का प्रयोग हुआ है।[5] इस प्रकार प्राचीन-साहित्य में एकान्त स्थान या कामोत्तेजक इन्द्रिय-विषयों से वर्जित स्थान के लिए विविक्त-शयनासन-संलीनता, प्रति-संलयन और प्रति-संलीनता—ये शब्द प्रयुक्त होते रहे हैं।

सूत्र ३२

२१—सूत्र ३२ :

प्रवृत्ति और निवृत्ति—ये दो सापेक्ष शब्द हैं। प्रवर्तन का अर्थ है 'करना' और निवर्तन का अर्थ है 'करने से दूर होना'। जो नहीं करता— मन, वचन और काया की प्रवृत्ति नहीं करता, वही व्यक्ति पाप-कर्म नहीं करने के लिए तत्पर होता है। जहाँ पाप-कर्म का कारण नहीं होता, वहाँ पूर्व-अर्जित कर्म स्वयं क्षीण हो जाते हैं। बन्धन आश्रव के साथ ही टिकता है। संवर होते ही वह टूट जाता है। इसीलिए पूर्ण संवर और पूर्ण निर्जरा—ये दोनों सहवर्ती होते हैं।

१—उत्तराध्ययन, ३०।२८।
२—विसुद्धिमग्ग दीपिका, पृ० १५५ :
'विवित्तमासनं' ति अरञ्ञं रुक्खमूलं ति आदि नवविधं सेनासनं।
३—उत्तराध्ययन, ३०।८।
४—बुद्धचर्या, पृ० ४६९।
५—औपपातिक, सूत्र १९।

सूत्र ३३

२२—सम्भोग-प्रत्याख्यान (मण्डली-भोजन) का त्याग (संभोगपच्चक्खाणेणं) :

श्रमण-संघ में सामान्य प्रथा मण्डली-भोजन (सह-भोजन) की रही है। किन्तु साधना का अग्रिम लक्ष्य है—आत्म-निर्भरता। मुनि प्रारम्भिक दशा में सामुदायिक-जीवन में रहे और दूसरों का आलम्बन भी प्राप्त करे। फिर भी उसे इस बात की विस्मृति नहीं होनी चाहिए कि उसका अग्रिम लक्ष्य स्वावलम्बन है। स्थानांग में इस जीविका-सम्बन्धी स्वावलम्बन को 'सुख-शय्या' कहा है। उसका संकेत इसी सूत्र में प्राप्त है। चार सुख-शय्याओं में यह दूसरी सुख-शय्या है। उसका स्वरूप इस प्रकार है—कोई व्यक्ति मुण्ड हो कर अगार से अनगारत्व में प्रव्रजित हो कर अपने लाभ से संतुष्ट होता है, दूसरे के लाभ का आस्वाद नहीं करता, स्पृहा नहीं करता, प्रार्थना नहीं करता, अभिलाषा नहीं करता; वह दूसरे के लाभ का आस्वाद नहीं करता हुआ, स्पृहा नहीं करता हुआ, प्रार्थना नहीं करता हुआ, अभिलाषा नहीं करता हुआ, मन में समता को धारण करता हुआ धर्म में स्थिर हो जाता है।[1]

सूत्र ३४

२३—उपधि (वस्त्र आदि उपकरणों) के प्रत्याख्यान से (उवहिपच्चक्खाणेणं) :

मुनि के लिए वस्त्र आदि उपधि रखने का विधान किया गया है। किन्तु विकास-क्रम की दृष्टि से उपधि-परित्याग को अधिक महत्त्व दिया गया है। उपधि रखने में दो बाधाओं की संभावना है—(१) परिमन्थ और (२) संक्लेश। उपधि-प्रत्याख्यान से ये दोनों संभावनाएँ समाप्त हो जाती हैं। परिमन्थ—उपधि की प्रतिलेखना से जो स्वाध्याय-ध्यान की हानि होती है, वह उपधि के परित्याग से समाप्त हो जाती है।[2] संक्लेश—जो उपधि का प्रत्याख्यान करता है उसके मन में 'मेरा वस्त्र पुराना हो गया है, फट गया है, सूई माँग कर लाऊँ, उसे साँधूँ'—ऐसा कोई संक्लेश नहीं होता। असंक्लेश का यह रूप आचारांग में प्रतिपादित है।[3] मूलाराधना में इसे 'परिकर्म-वर्जन' कहा गया है।[4]

सूत्र ३५

२४—आहार-प्रत्याख्यान…से (आहारपच्चक्खाणेणं) :

आहार-प्रत्याख्यान के दो अर्थ हो सकते हैं—(१) जीवन-पर्यन्त अनशन और (२) निश्चित अवधि-पर्यन्त अनशन।

शान्त्याचार्य ने आहार-प्रत्याख्यान का अर्थ 'अनेषणीय (अयोग्य) भक्त-पान का परित्याग' किया है।[5] किन्तु इसके परिणामों को देखते हुए इसका अर्थ और अधिक व्यापक हो सकता है।

१—स्थानांग, ४।३।३२५।

२—बृहद् वृत्ति, पत्र ५८८ :
परिमन्थः—स्वाध्यायाविक्षतिस्तदभावोऽपरिमन्थः।

३—आचारांग, १।६।३ :
जे अचेले परिवुसिए, तस्स णं भिक्खुस्स णो एवं भवइ—परिजुण्णे मे वत्थे वत्थं जाइस्सामि, सुत्तं जाइस्सामि, सुइं जाइस्सामि, संधिस्सामि, सीविस्सामि, उक्कसिस्सामि, वुक्कसिस्सामि, परिहिस्सामि, पाउणिस्सामि।

४—मूलाराधना, २।८३ विजयोदया :
याचनसीवनशोषणप्रक्षालनादिरनेको हि व्यापारः स्वाध्यायध्यानविघ्नकारी अचेलकस्य तन्न तथेति परिकर्मविवर्जनम्।

५—बृहद् वृत्ति, पत्र ५८८।

आहार-प्रत्याख्यान के दो परिणाम हैं—(१) जीवन की आकाङ्क्षा का विच्छेद और (२) आहार के बिना संक्लेश प्राप्त न होना—बाधा का अनुभव न करना। ये परिणाम आहार-त्याग की साधना से ही प्राप्य हैं। एषणीय आहार नहीं मिलने पर उसका जो प्रत्याख्यान किया जाता है, उसमें भी आत्मा का स्वतंत्र भाव है। किन्तु वह योग्य आहार की अप्राप्ति से होने वाला तप है। ममत्व-हानि तथा शरीर और आत्मा के भेद-ज्ञान को विकसित करने के लिए जो आहार-प्रत्याख्यान किया जाता है, वह योग्य आहार की प्राप्ति की स्थिति में किया जाने वाला तप है। उससे जीवन के प्रति निर्ममत्व और आहार के अभाव में संक्लेश रहित मनोभाव—ये दोनों सहज ही सध जाते हैं। इसलिए आहार-प्रत्याख्यान का मुख्य अर्थ 'साधना के विशेष दृष्टिकोण से तप करना' होना चाहिए।

सूत्र ३६

२५—कषाय (क्रोध,मान, माया और लोभ) के प्रत्याख्यान से (कसायपच्चक्खाणेणं) :

आत्मा विजातीय रंग में रंगी हुई होती है, उसी का नाम 'कषाय' है। कषाय के प्रत्याख्यान का अर्थ है 'आत्मा से विजातीय रंग का धुल जाना'। आत्मा की कषाय-मुक्त स्थिति का नाम है 'वीतरागता'। कषाय और विषमता—इन्हें पर्यायवाची कहा जा सकता है। कषाय से विषमता उत्पन्न होती है, इसकी अपेक्षा यह कहना अधिक उचित है कि कषाय और विषमता दोनों साथ-साथ उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार वीतरागता और समता भी एक साथ उत्पन्न होती हैं। सुख-दुःख आदि बाहरी स्थितियों में आत्मा की जो विषम अनुभूति होती है, उसका हेतु कषाय है। उसके दूर होते ही आत्मा में बाह्य-स्थिति विषमता उत्पन्न नहीं करती। इस स्थिति को 'वीतरागता' या 'आत्मा की बाह्य वातावरण से मुक्ति' कहा जा सकता है।

सूत्र ३७-३८

२६—सूत्र ३७-३८ :

इन दोनों सूत्रों में 'अयोगि-दशा' और 'मुक्त-दशा' का निरूपण है। पहले प्रवृत्ति-मुक्ति (योग-प्रत्याख्यान) होती है फिर शरीर-मुक्ति (शरीर-प्रत्याख्यान)। यहाँ 'योग' शब्द समाधि का वाचक नहीं किन्तु मन, वचन और काया की प्रवृत्ति का वाचक है। मुक्त होने के क्रम में पहले अयोगि-दशा प्राप्त होती है। उससे नये कर्मों का बन्ध समाप्त हो जाता है—पूर्ण संवर हो जाता है और पूर्व-संचित कर्म क्षीण हो जाते हैं। कर्म के अभाव में आत्मा शरीर-मुक्त हो जाती है और शरीर-मुक्त आत्मा में अतिशय गुणों का विकास हो जाता है। वह सर्वथा अवर्ण, अगन्ध, अरस और अस्पर्श हो जाती है—अरूपी सत्ता में अवस्थित हो जाती है। अगुरु-लघु, स्थिर-अवगाहना और अव्याबाध (सहज सुख)—ये गुण प्रकट हो जाते हैं। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शुद्धि और अनन्त वीर्य—ये पहले ही प्राप्त हो चुके होते हैं। प्रवृत्ति और शरीर के बन्धन से बंधी हुई आत्मा इतस्ततः भ्रमण करती है। किन्तु उन बन्धनों से मुक्त होने पर वह ऊर्ध्व-लोक के अन्तिम छोर पर पहुँच कर अवस्थित हो जाती है, फिर उसके पास गति का माध्यम नहीं होता।

सूत्र ३९

२७—सहाय-प्रत्याख्यान(दूसरों का सहयोग न लेने) से (सहायपच्चक्खाणेणं) :

जो साधु 'गण' या 'संघ' में दीक्षित होते हैं, उनके लिए दूसरे साधुओं से सहयोग लेना वर्जित नहीं है। सहाय-प्रत्याख्यान का जो विधान है, वह एक विशेष साधना है। उसे स्वीकार करने के पीछे दो प्रकार का मानस हो सकता है। एक वह जो अपने पराक्रम से ही अपनी जीवन-चर्या का निर्वाह करना चाहता है, दूसरे सहायक का सहारा लेना नहीं चाहता—परावलम्बी होना नहीं चाहता। दूसरा वह जो सामुदायिक

जीवन के झंझावातों में अपनी समाधि को सुरक्षित नहीं पाता। सामुदायिक-जीवन में कलह, क्रोध आदि कषाय और तुमंतुम—थोड़ा-सा अपराध होने पर 'तू ने पहले ही ऐसा किया था, तू सदा ऐसा ही करता है', इस प्रकार बार-बार टोकना—ये हो जाते हैं। साधु को ऐसा नहीं करना चाहिए, फिर भी प्रमादवश वे ऐसा कर लेते हैं। इस स्थिति में मानसिक-असमाधि उत्पन्न हो जाती है। जो मुनि संघ में रहते हुए भी स्वावलम्बी हो जाता है, किसी भी कार्य के लिए दूसरों पर निर्भर नहीं होता, वह समुदाय में रहते हुए भी अकेले का जीवन जीता है। उसे कलह, क्रोध आदि कषाय और तुमंतुम आदि से सहज ही मुक्ति मिल जाती है। इससे संयम और संवर बढ़ता जाता है। मानसिक-समाधि अभंग हो जाती है। सामुदायिक-जीवन में रहते हुए भी अकेला रहने की साधना बहुत बड़ी साधना है।

सूत्र ४०

२८—भक्त-प्रत्याख्यान (अनशन) से (भत्तपच्चक्खाणेणं) :

भक्त-प्रत्याख्यान आमरण-अनशन का एक प्रकार है। इसका परिणाम जन्म-परम्परा का अल्पीकरण है। इसका हेतु आहार-त्याग का दृढ़-अध्यवसाय है।[1] देह का आधार आहार और आहार-विषयक आसक्ति है। आहार की आसक्ति और आहार—दोनों के त्याग से केवल स्थूल देह का ही नहीं, अपितु सूक्ष्म देह का भी बन्धन शिथिल हो जाता है। फलतः सहज ही जन्म-मरण की परम्परा अल्प हो जाती है।

सूत्र ४१

२९—सद्भाव-प्रत्याख्यान (पूर्ण संवर रूप शैलेशी) से (सब्भावपच्चक्खाणेणं) :

सद्भाव-प्रत्याख्यान का अर्थ 'परमार्थ रूप से होनेवाला प्रत्याख्यान' है।[2] इस अवस्था को पूर्ण संवर या शैलेशी, जो चौदहवें गुणस्थान में अयोगी केवली के होती है, कहा जाता है। इससे पूर्ववर्ती सब प्रत्याख्यान इसलिए अपूर्ण होते हैं कि उनमें और प्रत्याख्यान करने की आवश्यकता शेष रहती है। इस भूमिका में परिपूर्ण प्रत्याख्यान होता है। उसमें फिर किसी प्रत्याख्यान की अपेक्षा नहीं रहती। इसीलिए इसे 'पारमार्थिक-प्रत्याख्यान' कहा गया है। इस भूमिका को प्राप्त आत्मा का फिर से आस्रव, प्रवृत्ति या बन्धन की भूमिका में प्रवेश नहीं होता, इसलिए इसके परिणाम को 'अनिवृत्ति' कहा गया है। 'अनिवृत्ति' अर्थात् जिस स्थिति से निवर्तन नहीं होता—लौटना नहीं पड़ता।[3] यह शुक्ल-ध्यान का चतुर्थ चरण है। इस अनिवृत्ति ध्यान की दशा में केवली के जो चार अघात्यकर्म विद्यमान रहते हैं, वे क्षीण हो जाते हैं—यह 'चत्तारि केवलि-कम्मंसे खवेइ' का भावार्थ है। 'केवलिकम्मंसे' शब्द का प्रयोग इस सूत्र के अतिरिक्त अट्ठावनवें और इकसठवें सूत्र में भी हुआ है। 'कम्मंसे' शब्द इकहत्तरवें और बहत्तरवें सूत्र में प्रयुक्त हुआ है। 'कम्मंस' में जो 'अंस' शब्द है, उसका अर्थ कर्म-ग्रन्थ की परिभाषा के अनुसार 'सत्'—विद्यमान है।[4]

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ५८९ :
तथाविधदृढाध्यवसायतया संसाराल्पत्वापादनात् ।

२—वही, पत्र ५८९ :
तत्र सद्भावेन—सर्वथा पुनःकरणासंभवात्परमार्थेन प्रत्याख्यानं सद्भावप्रत्याख्यानं सर्वसंवररूपा शैलेशीतियावत् ।

३—वही, पत्र ५८९ :
न विद्यते निवृत्तिः—मुक्तिमप्राप्य निवर्तनं यस्मिंस्तद् अनिवृत्ति शुक्लध्यानं चतुर्थभेदरूपं जनयति ।

४—वही, पत्र ५८९ :
'कम्मंसे' त्ति कार्मग्रन्थिकपरिभाषया ऽंशशब्दस्य सत्पर्यायत्वात् सत्कर्माणि केवलिसत्कर्माणि—भवोपग्राहीणि क्षपयति ।

सूत्र ४२

३०—सूत्र ४२ :

शान्त्याचार्य के अनुसार 'प्रतिरूप' वह होता है, जिसका वेश स्थविर-कल्पिक मुनि के सरीखा हो और 'प्रतिरूपता' का अर्थ है 'अधिक उपकरणों का त्याग ।'[1] इस सूत्र में अप्रमत्त, प्रकट-लिङ्ग, प्रशस्त-लिङ्ग, विशुद्ध-सम्यक्त्व, समाप्त-सत्त्व-समिति, सर्व प्राण-भूत-जीव-सत्त्वों में विश्वसनीय रूप, अप्रतिलेख, जितेन्द्रिय और विपुलतपःसमिति-समन्वागत—ये महत्वपूर्ण पद हैं। बताया गया है कि प्रतिरूपता का परिणाम लाघव है। जो लघुभूत होता है, वह अप्रमत्त आदि हो जाता है। शान्त्याचार्य के अनुसार प्रत्येक शब्द का अर्थ इस प्रकार है—

अप्रमत्त—	प्रमाद के हेतुओं का परिहार करने वाला ।
प्रकट-लिङ्ग—	स्थविर-कल्पिक मुनि के रूप में समझा जाने वाला ।
प्रशस्त-लिङ्ग—	जीव-रक्षा के हेतुभूत रजोहरण आदि को धारण करने वाला ।
विशुद्ध-सम्यक्त्व—	सम्यक्त्व की विशुद्धि करने वाला ।
समाप्त-सत्त्व-समिति—	सत्त्व (पराक्रम) और समिति (सम्यक् प्रवृत्ति) को प्राप्त करने वाला ।
सर्व प्राण-भूत-जीव-सत्त्वों में विश्वसनीय रूप—	किसी को भी पीड़ा नहीं देने के कारण सबका विश्वास प्राप्त करने वाला ।
अप्रतिलेख—	उपकरणों की अल्पता के कारण अल्प प्रतिलेखन वाला ।
जितेन्द्रिय—	इन्द्रियों को वश में रखने वाला ।
विपुलतपःसमिति-समन्वागत—	विपुलतप और समितियों का सर्वत्र प्रयोग करने वाला ।[2]

प्रतिरूपता के परिणामों को देखते हुए 'प्रतिरूप' का अर्थ 'स्थविर-कल्पिक के सदृश वेश वाला' और 'प्रतिरूपता' का अर्थ 'अधिक उपकरणों का त्याग' सही नहीं लगता । मूलाराधना में अचेलत्व को 'जिन-प्रतिरूप' कहा है ।[3] 'जिन' अर्थात् तीर्थङ्कर अचेल होते हैं ।

'जिन' के समान रूप (लिङ्ग) धारण करने वाले को 'जिन-प्रतिरूप' कहा जाता है। प्रवचनसारोद्धार के अनुसार गच्छ में रहते हुए भी जिन-कल्पिक जैसे आचार का पालन करने वाला 'जिन-कल्पिक-प्रतिरूप' कहलाता है ।[4] यहाँ भी प्रतिरूप का अर्थ यही—'जिन के समान वेष

१-बृहद् वृत्ति, पत्र ५८९ :
प्रतिः—सादृश्ये, ततः प्रतीति—स्थविरकल्पिकादिसदृशं रूपं—वेषो यस्य स तथा तद्भावस्तत्ता तया—अधिकोपकरणपरिहाररूपया ।

२-वही, पत्र ५८९-५९० :
'अप्रमत्तः' प्रमादहेतूनां परिहारत इतरेषां चांगीकरणतः, तथा 'प्रकटलिङ्गः' स्थविरादिकल्परूपेण प्रतीति विज्ञायमानत्वात्, 'प्रशस्तलिङ्गः' जीवरक्षणहेतुः रजोहरणादिधारकत्वाद्, 'विशुद्धसम्यक्त्वः' तथाप्रतिपत्त्या सम्यक्त्वविशोधनात्, तथा 'सत्त्वं च'—आपत्स्ववैकल्यकरमध्यवसानकरं च, 'समितयश्च'—उक्तरूपाः, 'समाप्ताः'—परिपूर्णा यस्य स समाप्तसत्त्वसमितिः, सूत्रे निष्ठान्तस्य प्राकृतत्वात्परनिपातः, तत एव सर्वप्राणभूतजीवसत्त्वेषु विश्वसनीयरूपः तत्पीडापरिहारित्वात्, 'अपडिलेहे' त्ति अल्पार्थे नञ्, ततोऽप्रत्युपेक्षित इत्यल्पोपकरणत्वादल्पप्रत्युपेक्षः, पठ्यते च—'अप्पपडिलेहि' त्ति जितानि—वशीकृतानि यतिरूपमितिप्रत्ययात्कथंचित्परिणामान्यथात्वेऽपीन्द्रियाणि येन स तथा, विपुलेन—अनेकभेदतया विस्तीर्णेन तपसा समितिभिश्च सर्वविषयानुगतत्वेन विपुलाभिरेव समन्वागतो—युक्तो विपुलतपःसमितिसमन्वागतश्चापि भवति ।

३-मूलाराधना, २।८५ :
जिण पडिरूवं वीरियायारो ।

४-प्रवचनसारोद्धार, गाथा ५४०, वृत्ति पत्र १२७ :
जिनकल्पिकप्रतिरूपो गच्छे ।

वाला' यानि जिन-कल्पिक होना चाहिए। अप्रमत्त आदि सारे विशेषणों पर विचार किया जाए तो यही अर्थ संगत लगता है। मूलाराधना में अचेलकता के जो गुण बतलाए हैं वे इस सूत्र के अप्रमत्त आदि विशेषणों के बहुत निकट हैं—

उत्तराध्ययन	मूलाराधना
(१) प्रतिरूपता का फल—लाघव	अचेलकता का एक गुण—लाघव[1]
(२) अप्रमत्त	विषय और देह सुखों में अनादर[2]
(३) प्रकट-लिङ्ग	नग्नता-प्राप्त[3]
(४) प्रशस्त-लिङ्ग	प्रशस्त-लिङ्ग[4] (अचेलकता उसी के लिए विहित है जिसका लिंग प्रशस्त है)
(५) विशुद्ध-सम्यक्त्व	रागादि दोष-परिहरण[5]
(६) समाप्त-सत्त्व-समिति	वीर्याचार[6]
(७) सर्व प्राण-भूत-जीव-सत्त्वों में विश्वसनीय रूप	विश्वासकारी रूप[7]
(८) अप्रतिलेख	अप्रतिलेखन[8]
(९) जितेन्द्रिय	सर्व-समित-करण (इन्द्रिय)[9]
(१०) विपुलतपःसमिति-समन्वागत	परीषह-सहन[10]

उक्त तुलना से प्रतिरूपता का अर्थ 'अचेलता' ही प्रमाणित होता है। अचेल को सचेल की अपेक्षा बहुत अप्रमत्त रहना होता है। उसके पास विकार को छिपाने का कोई साधन नहीं होता। जो अचेल होता है, उसका लिङ्ग सहज ही प्रकट होता है। अचेल उसी को होना चाहिए, जिसका लिङ्ग प्रशस्त हो—विकृत आदि न हो। अचेल व्यक्ति का सम्यक्त्व—देह और आत्मा का भेद-ज्ञान—विशुद्ध होता है। समाप्त-सत्त्व-समिति—अचेल सत्त्व प्राप्त होता है अर्थात् अभय होता है। इसकी तुलना मूलाराधना (२।८३) के 'गत-भयत्व' शब्द से भी हो सकती है। समिति का अर्थ 'विविध प्रकार के आसन करने वाला' हो सकता है। अचेल की निर्विकारता प्रशस्त होती है, इसलिए वह सबका विश्वासपात्र होता है। अप्रतिलेखन अचेलता का सहज परिणाम है। अचेलता से जितेन्द्रिय होने की प्रबल प्रेरणा मिलती है। अचेल होना एक प्रकार का तप है। नग्नता, शीत, उष्ण, दंश-मशक—ये परीषह सचेल की अपेक्षा अचेल को अधिक सहने होते हैं; इसलिए उसके विपुल तप होता है। इस प्रकार सारे पदों में एक शृङ्खला है। उससे अचेलकता के साथ उनकी कड़ी जुड़ जाती है। यहाँ मूलाराधना (२।७७ से ८६ तक) की गाथाएँ और उनकी विजयोदया वृत्ति मननीय है।

स्थानांग में पाँच कारणों—(१) अप्रतिलेखन, (२) प्रशस्त लाघव, (३) वैश्वासिक रूप (४) तप-उपकरण-संलीनता और (५) महान् इन्द्रिय-निग्रह से अचेलक को प्रशस्त कहा है।[11]

ये पाँचों कारण प्रतिरूपता के परिणामों में आए हुए हैं। अतः प्रतिरूपता का अर्थ 'अचेलकता' करने में बहुत बड़ा आधार प्राप्त होता है।

१—मूलाराधना, २।८३।
२—वही, २।८४।
३—वही, २।८६।
४—वही, २।७७।
५—वही, २।८५।
६—वही, २।८५।
७—वही, २।८४।
८—वही, २।८३।
९—वही, २।८६।
१०—वही, २।८५।
११—स्थानांग, ५।४५५ :
पंचहिं ठाणेहिं अचेलए पसत्थे भवति, तं०—अप्पा पडिलेहा, लाघविए पसत्थे, रूवे वेसासिए, तवे अणुण्णाते, विउले इंदियनिग्गहे।

सूत्र ४३

३१–सूत्र ४३ :

तीर्थङ्कर-पद-प्राप्ति के बीस हेतु बतलाए गए हैं। उनमें एक वैयावृत्त्य—सेवा भी है। देखिए—ज्ञाताधर्मकथा, अध्ययन ८।

सूत्र ४४

३२–सर्व-गुण-सम्पन्नता से (सव्वगुणसंपन्नयाए) :

आत्म-मुक्ति के लिए ज्ञान, दर्शन और चारित्र—ये तीन गुण प्रयोजनीय होते हैं। जब तक निरावरण ज्ञान, पूर्ण दर्शन (क्षायिक सम्यक्त्व) और पूर्ण चारित्र (सर्व संवर) की प्राप्ति नहीं होती, तब तक सर्वगुण-सम्पन्नता उपलब्ध नहीं होती। इसका अभिप्राय यह है कि कोरे ज्ञान, दर्शन या चारित्र की पूर्णता से मुक्ति नहीं होती। किन्तु जब तीनों परिपूर्ण होते हैं, तभी वह होती है। पुनरावर्तन, शारीरिक और मानसिक दुःख—ये सब गुण-विकलता के परिणाम हैं। सर्व-गुण-सम्पन्नता होने पर ये नहीं होते।

सूत्र ४५

३३–सूत्र ४५ :

'वीतराग' स्नेह और तृष्णा की बंधन-परम्परा का विच्छेद कर देता है। पुत्र आदि में जो प्रीति होती है, उसे स्नेह और धन आदि के प्रति जो लालसा होती है, उसे 'तृष्णा' कहा जाता है। स्नेह और तृष्णा की परम्परा उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है, इसलिए इनके बंधन को अनुबन्धन कहा गया है।

सूत्र ४६

३४–क्षमा से (खन्तीए) :

शान्त्याचार्य ने क्षान्ति का अर्थ 'क्रोध-विजय' किया है।[1] इस अर्थ के अनुसार यहाँ उन्हीं परीषहों पर विजय पाने की स्थिति प्राप्त है जो क्रोध-विजय से संबंधित हैं।[2] क्रोधी मनुष्य गाली, वध आदि को नहीं सह सकता। क्रोध पर विजय पाने वाला उन्हें सह लेता है। क्षान्ति का अर्थ यदि 'सहिष्णुता' किया जाए तो परीषह-विजय का अर्थ व्यापक हो जाता है। सहिष्णुता से सभी परीषहों पर विजय पाई जा सकती है। केवल गाली और वध पर ही नहीं।

सूत्र ४८

३५–सूत्र ४८ :

माया और असत्य तथा ऋजुता और सत्य का परस्पर गहरा सम्बन्ध है। इस सूत्र में ऋजुता के चार परिणाम बतलाए गए हैं—(१) काया की ऋजुता, (२) भाव की ऋजुता, (३) भाषा की ऋजुता और (४) अविसंवादन।

ऋजुता का परिणाम ऋजुता कैसे हो सकता है, सहज ही यह प्रश्न होता है। उसका समाधान स्थानांग के एक सूत्र में मिलता है।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ५९० :
क्षान्तिः—क्रोधजयः।

२–वही, पत्र ५९० :
'परीषहान्' अर्थात् वधादीन् जयति।

वहाँ कहा गया है—सत्य के चार प्रकार होते हैं—(१) काया की ऋजुता, (२) भाषा की ऋजुता, (३) भाव की ऋजुता और (४) अविसंवादन योग।[1]

काया की ऋजुता— यथार्थ-अर्थ की प्रतीति कराने वाली काया की प्रवृत्ति। वेष-परिवर्तन, अंग-विकार आदि का अकरण।

भाषा की ऋजुता— यथार्थ-अर्थ की प्रतीति कराने वाली वाणी की प्रवृत्ति। उपहास आदि के निमित्त वाणी में विकार न लाना।

भाव की ऋजुता— जैसा मानसिक चिन्तन हो वैसा ही प्रकाशित करना।

अविसंवादन-योग— किसी कार्य का संकल्प कर उसे करना। दूसरों को न ठगना।

इस सूत्र के आधार पर कहा जा सकता है कि ऋजुता का परिणाम सत्य है।

सूत्र ४९

३६–सूत्र ४९ :

क्षान्ति, मुक्ति, आर्जव और मार्दव—ये चारों क्रमशः क्रोध, लोभ, माया और मान की विजय के परिणाम हैं। देखिए—सूत्र ६७-७०।

जिसमें मार्दव का विकास होता है, वह जाति, कुल, बल, रूप, तप, श्रुत, लाभ और ऐश्वर्य—इन आठ मद-हेतुओं पर विजय पा लेता है।

सूत्र ५०-५२

३७–सूत्र ५०-५२ :

भाव-सत्य का अर्थ अन्तरात्मा की सचाई है। सत्य और शुद्धि में कार्य-कारण-भाव है। भाव की सचाई से भाव की विशुद्धि होती है। बावनवें सूत्र में योग-सत्य का उल्लेख है। उसका एक प्रकार मनः-सत्य है। सहज ही भाव और मन का भेद समझने की जिज्ञासा होती है। इन्द्रिय से सूक्ष्म मन और मन से सूक्ष्म भाव (आत्मा का आन्तरिक अध्यवसाय) होता है। मन के परिणाम को भी भाव कहा जाता है किन्तु प्रकरण के अनुसार यहाँ इसका अर्थ अन्तर-आत्मा ही संगत है।

करण-सत्य का सम्बन्ध भी योग-सत्य से है। करने का अर्थ है मन, वचन और काया की प्रवृत्ति। फिर भी करने की विशेष स्थिति को लक्ष्य कर उसे योग-सत्य से पृथक् बतलाया गया है। करण-सत्य का अर्थ है विहित कार्य को सम्यक् प्रकार से और तन्मय होकर करना। योग-सत्य का अर्थ है—मन, वचन और काया को अवितथ स्थिति में रखना।

इन तीन सूत्रों में विशेष चर्चनीय पद 'परलोगधम्मस्स आराहए' और 'करणसत्तिं' हैं। परलोक-धर्म की आराधना का अर्थ यह है कि भाव-सत्य से आगामी जन्म में भी धर्म की प्राप्ति सुलभ होती है।

करण-शक्ति का अर्थ है—वैसा कार्य करने का सामर्थ्य जिसका पहले कभी अध्यवसाय या प्रयत्न भी न किया गया हो। करण-सत्यता और करण-शक्ति के अभाव में ही कथनी और करनी में अन्तर होता है। उन दोनों के विकसित होने पर मनुष्य 'यथावादी तथाकारी' बन जाता है।

१–स्थानांग, ४।१।२५४ :

चउव्विहे सच्चे पं० तं०—काउज्जुयया, भासुज्जुयया, भावुज्जुयया, अविसंवायणाजोगे।

सूत्र ५३-५५

३८—सूत्र ५३-५५ :

इन तीन सूत्रों में गुप्ति के परिणामों का निरूपण है। गुप्तियाँ तीन हैं—(१) मन-गुप्ति, (२) वचन-गुप्ति, और (३) काय-गुप्ति।

जो समित (सम्यक्-प्रवृत्त) होता है, वह नियमतः गुप्त होता है और जो गुप्त होता है वह समित हो भी सकता है और नहीं भी। अकुशल मन का निरोध करने वाला मनोगुप्त ही होता है और कुशल मन की प्रवृत्ति करने वाला मनोगुप्त भी होता है और समित भी। इसी प्रकार अकुशल वचन और काया का निरोध करने वाला वचो-गुप्त और काय-गुप्त ही होता है तथा कुशल वचन और काया की प्रवृत्ति करने वाला वचन-गुप्त और काय-गुप्त भी होता है और समित भी।

अकुशल मन का निरोध और कुशल मन की प्रवृत्ति का परिणाम एकाग्रता है। एकाग्रता में चित्त का निरोध नहीं होता किन्तु उसकी प्रवृत्ति अनेक आलम्बनों से हटकर एक आलम्बन पर टिक जाती है। जब एकाग्रता का अभ्यास पूर्ण परिपक्व हो जाता है तब चित्त का निरोध होता है। देखिए—सूत्र २५।

अकुशल वचन के निरोध और कुशल वचन की प्रवृत्ति का परिणाम निर्विकार—विकथा से मुक्त होना है। 'निव्वियार' का अर्थ यदि निर्विचार किया जाए तो वचन-गुप्ति का अर्थ मौन करना चाहिए। बोलने की इच्छा से विचार उत्तेजित होते हैं और मौन से विचार-शून्यता प्राप्त होती है और आत्म-लीनता बढ़ती है।

काय-गुप्ति का परिणाम संवर बतलाया गया है। यहाँ प्रकरण के अनुसार संवर का अर्थ 'अकुशल कायिक प्रवृत्ति से समुत्पन्न आस्रव का निरोध' होना चाहिए। जब अकुशल आस्रव का संवरण होता है तब हिंसा आदि पापास्रव निरुद्ध होने लग जाते हैं। प्रवृत्ति का मुख्य केन्द्र काया है। इसलिए आस्रव और संवर का भी उसके साथ गहरा सम्बन्ध है।

जिनभद्रगणि के अनुसार मुख्य योग एक ही है। वह है काय-योग।[1] वचन-योग और मनोयोग के योग्य-पुद्गलों (भाषावर्गणा और मनोवर्गणा) का ग्रहण काय-योग से ही होता है। उसके स्थिर होने पर सहज ही संवर हो जाता है। काया की चंचलता या आस्रवाभिमुखता के बिना वचन-व्यापार और मन की चंचलता स्वयं समाप्त हो जाती है।

सूत्र ५६-५८

३९—सूत्र ५६-५८ :

इन तीन सूत्रों में समाधारणा का निरूपण है। समाधारणा का अर्थ है—सम्यग्-व्यवस्थापन या सम्यग्-नियोजन। उसके तीन प्रकार हैं—(१) मनः-समाधारणता—मन का श्रुत में व्यवस्थापन या नियोजन[2], (२) वचः-समाधारणता—वचन का स्वाध्याय में व्यवस्थापन या नियोजन[3] और (३) काय-समाधारणता—काया का चारित्र की आराधना में व्यवस्थापन या नियोजन[4]।

१—विशेषावश्यक भाष्य, गाथा ३५९ :
किं पुण तणुसंरंभेण जेण मुंचइ स वाइओ जोगो।
मण्णइ य स माणसिओ, तणुजोगो चेव य विभत्तो॥

२—बृहद् वृत्ति, पत्र ५९२ :
मनसः समिति—सम्यग् आङ्िति—मर्यादयाऽऽगमाभिहितभावाभिव्याप्त्याऽवधारणा—व्यवस्थापनं मनःसमाधारणा तथा।

३—वही, पत्र ५९२ :
'वाक्समाधारणया' स्वाध्याय एव वाग्निवेशनात्मिकया।

४—वही, पत्र ५९२ :
'कायसमाधारणया' संयमयोगेषु शरीरस्य सम्यग्व्यवस्थापनरूपया।

मन को ज्ञान (तत्त्वोपासना) में लीन करने से एकाग्रता उत्पन्न होती है। उससे ज्ञान-पर्यव (ज्ञान के सूक्ष्म-सूक्ष्मतर रूप) उदित होते हैं। उन ज्ञान-पर्यवों के उदय से सम्यग् दृष्टिकोण प्राप्त होता है और मिथ्या दृष्टिकोण समाप्त होता है। वचन को स्वाध्याय (शब्दोपासना) में लगाने से प्रज्ञापनीय दर्शन पर्यव विशुद्ध बनते हैं—अन्यथा निरूपण नहीं हो पाता। दर्शन की विशुद्धि ज्ञान-पर्यवों के उदय से हो जाती है। इसीलिए यहाँ वाक्-साधारण अर्थात् वचन के द्वारा प्रतिपादनीय-दर्शन-पर्यवों की विशुद्धि ही अभिप्रेत है। वाक्-साधारण दर्शन-पर्यवों की विशुद्धि से सुलभ-बोधिता प्राप्त और दुर्लभ-बोधिता क्षीण होती है।

काया को संयम की विविध प्रवृत्तियों (चारित्रोपासना) में लगाने से चारित्र के पर्यव विशुद्ध होते हैं। उनकी विशुद्धि होते-होते वीतराग-चारित्र प्राप्त होता है और अन्त में मुक्ति।

सूत्र ५९-६१

४०—सूत्र ५९-६१ :

पूर्ववर्ती तीन सूत्रों में ज्ञान दर्शन और चारित्र के पर्यवों की शुद्धि को समाधारणा का परिणाम बतलाया गया है और इन तीन सूत्रों में ज्ञान, दर्शन और चारित्र सम्पन्न होने का परिणाम बतलाया गया है।

ज्ञान-सम्पन्नता—यहाँ ज्ञान का अर्थ 'श्रुत (शास्त्रीय) ज्ञान' है। श्रुत-ज्ञान से सब भावों का अधिगम (ज्ञान) होता है। इसका समर्थन नंदी से भी होता है।[1]

'संघायणिज्जे'—जो श्रुत-ज्ञान-सम्पन्न होता है, उसके पास स्व-समय और पर-समय के विद्वान् व्यक्ति आते हैं और उससे प्रश्न पूछकर अपने संशय उच्छिन्न करते हैं। इसी दृष्टि से श्रुत-ज्ञानी को 'संघातनीय'—जन-मिलन का केन्द्र कहा गया है।[2]

शैलेशी—शैलेशी शब्द शिला और शील इन दो रूपों से व्युत्पन्न होता है :

(१) 'शिला' से शैल और 'शैल+ईश' से शैलेश होता है। शैलेश अर्थात् मेरु-पर्वत। शैलेश की भाँति अत्यन्त स्थिर अवस्था को शैलेशी कहा जाता है। 'सेलेसी' का एक संस्कृत रूप शैलर्षि भी किया गया है। जो ऋषि शैल की तरह सुस्थिर होता है, वह शैलर्षि कहलाता है।

(२) शील का अर्थ समाधान है। जिस व्यक्ति को पूर्ण समाधान मिल जाता है—पूर्ण संवर की उपलब्धि हो जाती है, वह 'शील का ईश' होता है। शील+ईश=शीलेश। शीलेश की अवस्था को शैलेशी कहा जाता है।[3] शैलेशी का प्रयोग इकतालिसवें सूत्र में भी आ चुका है।

सूत्र ७१

४१—सूत्र ७१ :

ज्ञान, दर्शन और चारित्र की विराधना राग, द्वेष और मिथ्या-दर्शन से होती है। इन पर विजय प्राप्त करने से ज्ञान, दर्शन, और चारित्र की आराधना स्वयं प्राप्त हो जाती है। जो व्यक्ति ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना करता है, वह आठ कर्मों में जो कर्म-ग्रन्थि—घाति-कर्म का समुदय है, उसे तोड़ डालता है। वह सर्वप्रथम मोहनीय-कर्म की अठाईस प्रकृतियों को क्षीण करता है। क्षीण करने का क्रम इस प्रकार है—वह सर्वप्रथम अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ के बहुल भाग को अन्तर्मुहूर्त में एक-साथ क्षीण करता है और उसके अनन्तवें भाग

१—नंदी, सूत्र ५७ :
तत्थ दव्वओ णं सुयनाणी उवउत्ते सव्वदव्वाइं जाणइ पासइ, खित्तओ णं सुयनाणी उवउत्ते सव्वं खेत्तं जाणइ पासइ, कालओ णं सुयनाणी उवउत्ते सव्वं कालं जाणइ पासइ, भावओ णं सुयनाणी उवउत्ते सव्वे भावे जाणइ पासइ।

२—बृहद् वृत्ति, पत्र ५९३ :
स्वसमयपरसमययोः संघातनीयः—प्रमाणपुरुषतया मीलनीयः स्वसमयपरसमयसंघातनीयो भवति, इह च स्वसमयपरसमयशब्दाभ्यां तद्वेदिनः पुरुषा उच्यन्ते, तेष्वेव संशयाविच्छेदाय मीलनसंभवात्।

३—विशेषावश्यक भाष्य, ३६८३-३६८५।

को मिथ्यात्व के पुद्गलों में प्रक्षिप्त कर देता है। फिर उन प्रक्षिप्त पुद्गलों के साथ मिथ्यात्व के बहुल भाग को क्षीण करता है और उसके अंश को सम्यग्-मिथ्यात्व में प्रक्षिप्त कर देता है। फिर उन प्रक्षिप्त पुद्गलों के साथ सम्यक्-मिथ्यात्व को क्षीण करता है। इसी प्रकार सम्यग्-मिथ्यात्व के अंश सहित सम्यक्त्व-मोह के पुद्गलों को क्षीण करता है। तत्पश्चात् सम्यक्त्व-मोह के अवशिष्ट पुद्गलों सहित अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान-चतुष्क (क्रोध, मान, माया, लोभ) को क्षीण करना शुरू कर देता है। उसके क्षय-काल में वह दो गति (नरक गति और तिर्यंच गति), दो आनुपूर्वी (नरकानुपूर्वी और तिर्यंचानुपूर्वी), जाति-चतुष्क (एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय) आतप, उद्योत, स्थावर नाम, सूक्ष्म नाम, साधारण, अपर्याप्त, निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला और स्त्यानर्द्धि को क्षीण करता है। फिर इनके अवशेष को नपुंसक-वेद में प्रक्षिप्त कर उसे क्षीण करता है। उसके अवशेष को स्त्री-वेद में प्रक्षिप्त कर उसे क्षीण करता है। उसके अवशिष्ट अंश को हास्यादि-षट्क (हास्य, रति, अरति, भय, शोक और जुगुप्सा) में प्रक्षिप्त कर उसे क्षीण करता है। मोहनीय-कर्म को क्षीण करने वाला यदि वह पुरुष होता है तो पुरुष-भेद के दो खण्डों को और यदि स्त्री या नपुंसक होता है तो वह अपने-अपने वेद के दो-दो खण्डों को हास्यादि षट्क के अवशिष्ट अंश सहित क्षीण करता है। फिर वेद के तृतीय खण्ड सहित संज्वलन क्रोध को क्षीण करता है। इसी प्रकार पूर्वांश सहित संज्वलन मान, माया और लोभ को क्षीण करता है।[1]

यंत्र देखिए—

क्षय	अवशिष्ट अंश का प्रक्षेप
(१) अनन्तानुबन्धी चतुष्क (क्रोध, मान, माया, लोभ)	मिथ्यात्व के पुद्गलों में
(२) पूर्वांश सहित मिथ्यात्व	सम्यग्-मिथ्यात्व के पुद्गलों में
(३) पूर्वांश सहित सम्यग्-मिथ्यात्व	सम्यक्त्व के पुद्गलों में
(४) पूर्वांश सहित सम्यक्त्व	अप्रत्याख्यान-चतुष्क और प्रत्याख्यान-चतुष्क में
(५) पूर्वांश सहित अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान चतुष्क	नपुंसक-वेद में
(६) पूर्वांश सहित नपुंसक वेद	स्त्री-वेद में
(७) पूर्वांश सहित स्त्री-वेद	हास्यादि षट्क (हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा) में
(८) पूर्वांश सहित हास्यादि षट्क	पुरुष-वेद के दो खण्डों में
(९) पूर्वांश सहित पुरुष-वेद के दो खण्ड	तृतीय खण्ड के संज्वलन क्रोध में
(१०) पूर्वांश सहित संज्वलन क्रोध	संज्वलन मान में
(११) पूर्वांश सहित संज्वलन मान	संज्वलन माया में
(१२) पूर्वांश सहित संज्वलन माया	संज्वलन लोभ में
(१३) पूर्वांश सहित संज्वलन लोभ	०

संज्वलन लोभ के फिर संख्येय खण्ड किए जाते हैं। उनमें से प्रत्येक खण्ड को एक-एक अन्तर्मुहूर्त में क्षीण किया जाता है। उनका क्षय होते-होते उनमें से जो चरम खण्ड बचता है उसके फिर असंख्य सूक्ष्म खण्ड होते हैं। उनमें से प्रत्येक खण्ड को एक-एक समय में क्षीण किया जाता है। उनका चरम खण्ड भी फिर असंख्य सूक्ष्म खण्डों की रचना करता है। उनमें से प्रत्येक खण्ड को एक एक समय में क्षीण किया जाता है। इस प्रकार मोहनीय-कर्म सर्वथा क्षीण हो जाता है। उसके क्षीण होने पर यथाख्यात या वीतराग-चारित्र की प्राप्ति होती है। वह अन्तर्मुहूर्त तक रहता है। उसके अन्तिम दो समय जब शेष होते हैं, तब पहले समय मे निद्रा, प्रचला, देव-गति, आनुपूर्वी, वैक्रिय-शरीर, वज्र-ऋषभ को छोड़कर शेष सब संहनन, संस्थान, तीर्थङ्कर-नाम कर्म और आहारक-नाम कर्म क्षीण होते हैं। चरम समय में जो क्षीण होता है वह सूत्र में प्रतिपादित है, जैसे—पंचविध ज्ञानावरणीय, नव-विध दर्शनावरणीय और पंच-विध अन्तराय—ये सारे एक ही साथ क्षीण होते हैं। इस प्रकार चारों घाति-कर्मों के क्षीण होते ही निरावरण ज्ञान—केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन का उदय हो जाता है।

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ५९४-५९६।

केवली होने के पश्चात् भवोपग्राही (जीवन धारण के हेतुभूत)-कर्म शेष रहते हैं, तब तक वह इस संसार में रहता है। इसकी काल-मर्यादा जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः देश-ऊन (नौ वर्ष कम) करोड़ पूर्व की है। इस अवधि में केवली जब तक सयोगी (मन, वचन और काया की प्रवृत्ति युक्त) रहता है, तब तक उसके ईर्यापथिक-कर्म[1] का बन्ध होता है। उसकी स्थिति दो समय की होती है। उसका बन्ध गाढ़ नहीं होता—निधत्त और निकाचित अवस्थाएँ नहीं होतीं। इसीलिए उसे 'बद्ध और स्पृष्ट' कहा है। जिस प्रकार घड़ा आकाश से स्पृष्ट होता है, उसी प्रकार ईर्यापथिक-कर्म केवली की आत्मा से बद्ध-स्पृष्ट होता है। जिस प्रकार चिकनी भित्ति पर फेंकी हुई धूलि उससे स्पृष्ट मात्र होती है, उसी प्रकार ईर्यापथिक-कर्म केवली की आत्मा से स्पृष्ट मात्र होता है। प्रथम समय में वह बद्ध-स्पृष्ट होता है और दूसरे समय में वह उदीरित[2]—उदय-प्राप्त और वेदित—अनुभव-प्राप्त होता है। तीसरे समय में वह निर्जीर्ण हो जाता है और चौथे समय में वह अकर्म बन जाता है—फिर वह उस जीव के कर्म-रूप में परिणत नहीं होता।

सूत्र ७२-७३

४२—सूत्र ७२-७३ :

केवली का जीवन-काल जब अन्तर्मुहूर्त्त मात्र शेष रहता है, तब वह योग-निरोध (मन, वचन और काया की प्रवृत्ति का पूर्ण निरोध) करता है। उसकी प्रक्रिया इस प्रकार है—शुक्ल-ध्यान के तृतीय चरण (सूक्ष्म-क्रिय-अप्रतिपाति) में वर्तता हुआ वह सर्व प्रथम मनोयोग का निरोध करता है। प्रति समय मन के पुद्गल और व्यापार का निरोध करते-करते असंख्य समयों में उसका पूर्ण निरोध कर पाता है। फिर वचन-योग का निरोध करता है। प्रति समय वचन के पुद्गल और व्यापार का निरोध करते-करते असंख्य समयों में उसका पूर्ण निरोध कर पाता है। फिर उच्छ्वास-निश्वास का निरोध करता है। प्रति समय काय-योग के पुद्गल और व्यापार का निरोध करते-करते असंख्य समयों में उसका पूर्ण (उच्छ्वास-निश्वास सहित) निरोध कर पाता है। औपपातिक में उच्छ्वास-निश्वास-निरोध के स्थान पर काय-योग के निरोध का उल्लेख है।[3]

मुक्त होने वाला जीव शरीर की अवगाहना का तीसरा भाग जो पोला होता है, उसे पूरित कर देता है[4] और आत्मा की शेष दो भाग जितनी अवगाहना रह जाती है।[5] यह क्रिया काय-योग-निरोध के अन्तराल में ही निष्पन्न होती है।[6]

योग-निरोध होते ही अयोगी या शैलेशी अवस्था प्राप्त हो जाती है। उसे 'अयोगी गुणस्थान' भी कहा जाता है। न विलम्ब से और न शीघ्रता से, किन्तु मध्यम-भाव से पाँच ह्रस्व-अक्षरों (—अ, इ, उ, ऋ, ऌ) का उच्चारण करने में जितना समय लगता है, उतने समय तक

१—विशेष जानकारी के लिए देखिए— सूत्रकृतांग, २।२, तेरहवाँ क्रिया स्थान।

२—बृहद् वृत्ति, पत्र ५९६ :

उदीरित का अर्थ उदय-प्राप्त है। किन्तु उदीरणा के द्वारा उदय-प्राप्त नहीं है। क्योंकि वहाँ उदीरणा होती ही नहीं—'उदीरणाया स्तत्रासंभवात्'।

३—औपपातिक, सूत्र ४३।

४—विशेषावश्यक भाष्य, गाथा ३८३६ :

देहतिभागो सुसिरं, तप्पूरणओ तिभागहीणोत्ति।
से जोगनिरोहेच्चिय, जाओ सिद्धोवि तदवत्थो॥

५—(क) उत्तराध्ययन, ३६।६४।

(ख) औपपातिक, सूत्र ४३।

६—(क) विशेषावश्यक भाष्य, गाथा ३६८१ :

'देह तिभागं च मुंचन्तो'।

(ख) वही, गाथा ३६८२ :

'सम्भई स काय-जोग'।

अयोगी-अवस्था रहती है। उस अवस्था में शुक्ल-ध्यान का चतुर्थ चरण—'समुच्छिन्न-क्रिय-अनिवृत्ति' नामक ध्यान होता है। वहाँ चार अघात्य या भवोपग्राही-कर्म एक साथ क्षीण हो जाते हैं। उसी समय औदारिक, तैजस और कार्मण शरीर को सर्वथा छोड़ कर ऊर्ध्व-लोकान्त तक चला जाता है।

यहाँ मूलपाठ में 'ओरालिय-कम्माइं' इतना ही है। तैजस का उल्लेख नहीं है। बृहद् वृत्तिकार ने उपलक्षण से उसका स्वीकार किया है।[1] औपपातिक में तैजस-शरीर का प्रत्यक्ष ग्रहण है।[2]

गति दो प्रकार की होती है—(१) ऋजु और (२) वक्र। मुक्त-जीव का ऊर्ध्व-गमन ऋजु श्रेणी (ऋजु आकाश प्रदेश की पंक्ति) से होता है, इसलिए उसकी गति ऋजु होती है। वह एक क्षण में ही सम्पन्न हो जाती है।

गति के पाँच भेद बतलाए गए हैं—(१) प्रयोग गति, (२) तत गति, (३) बन्धन-छेदन गति, (४) उपपात गति और (५) विहायो गति। विहायो गति १७ प्रकार की होती है। उसके प्रथम दो प्रकार हैं—(१) स्पृशद् गति और (२) अस्पृशद् गति।[3] एक परमाणु पुद्गल दूसरे परमाणु पुद्गलों व स्कंधों का स्पर्श करते हुए गति करता है, उस गति को 'स्पृशद् गति' कहा जाता है। एक परमाणु दूसरे परमाणु पुद्गलों व स्कंधों का स्पर्श करते हुए गति करता है, उस गति को 'अस्पृशद् गति' कहा जाता है।[4]

मुक्त-जीव अस्पृशद् गति से ऊपर जाता है। शान्त्याचार्य के अनुसार अस्पृशद् गति का अर्थ यह नहीं है कि वह आकाश-प्रदेशों का स्पर्श नहीं करता, किन्तु उसका अर्थ यह है कि वह मुक्त जितने आकाश-प्रदेशों में अवगाढ़ होता है, उतने ही आकाश-प्रदेशों का स्पर्श करता है। उनसे अतिरिक्त प्रदेशों का नहीं[5], इसलिए उसे 'अस्पृशद् गति' कहा गया है।

अभयदेव सूरि के अनुसार मुक्त-जीव अन्तरालवर्ती आकाश-प्रदेशों का स्पर्श किए बिना ही ऊपर चला जाता है। यदि अन्तरालवर्ती आकाश-प्रदेशों का स्पर्श करता हुआ वह ऊपर जाए तो एक समय में वह वहाँ पहुँच ही नहीं सकता।[6] इसके आधार पर अस्पृशद् गति का अर्थ होगा—'अन्तरालवर्ती आकाश-प्रदेशों का स्पर्श किए बिना मोक्ष तक पहुँचने वाला'।

आवश्यक चूर्णि के अनुसार अस्पृशद् गति का अर्थ यह होगा कि मुक्त-जीव दूसरे समय का स्पर्श नहीं करता, एक समय में ही मोक्ष स्थान तक पहुँच जाता है।[7] किन्तु 'एग समएणं अविग्गहेणं' पाठ की उपस्थिति में यह अर्थ यहाँ अभिप्रेत नहीं है।

शान्त्याचार्य और अभयदेव सूरि द्वारा कृत अर्थ इस प्रकार है—(१) मुक्त-जीव स्वावगाढ़ आकाश-प्रदेशों से अतिरिक्त प्रदेशों का स्पर्श नहीं करता हुआ गति करता है और (२) अन्तरालवर्ती आकाश-प्रदेशों का स्पर्श किए बिना ही गति करता है। ये दोनों ही अर्थ घटित हो सकते हैं।

उपयोग दो प्रकार का होता है—(१) साकार और (२) अनाकार। जीव साकार-उपयोग अर्थात् ज्ञान की धारा में ही मुक्त होता है।

१-बृहद् वृत्ति, पत्र ५९७ :
औदारिककार्मणे शरीरे उपलक्षणत्वात्तैजसं च।

२-औपपातिक, सूत्र ४३।

३-प्रज्ञापनापद, १६।

४-वही, १६।

५-बृहद् वृत्ति, पत्र ५९७ :
अस्पृशद्गतिरिति, नायमर्थो यथा नायमाकाशप्रदेशान्न स्पृशति अपि तु यावत्सु जीवोऽवगाढ़स्तावत एव स्पृशति न तु ततोऽतिरिक्तमेकमपि प्रदेशम्।

६-औपपातिक, सूत्र ४३, वृत्ति पृ० २१६ :
अस्पृशन्ती—सिद्धयन्तरालप्रदेशान् गतिर्यस्य सोऽस्पृशद्गतिः, अन्तरालप्रदेशस्पर्शने हि नैकेन समयेन सिद्धिः, इष्यते च तत्रैक एव समयः, य एव चायुष्काविकर्मणां क्षयसमयः स एव निर्वाणसमयः, अतोऽन्तराले समयान्तरस्याभावादन्तरालप्रदेशानामसंस्पर्शनमिति।

७-आवश्यक चूर्णि :
अफुसमाणगती बितियं समयं ण फुसति (अभिधान राजेन्द्र, भाग १, पृ० ६७५)।

अध्ययन ३०
तवमग्गगई
श्लोक ७

१—बाह्य और आभ्यन्तर (बाहिरब्भन्तरो ख) :

स्वरूप और सामग्री के आधार पर तप को दो भागों में विभक्त किया गया है—(१) बाह्य और (२) आभ्यन्तर। बाह्य-तप—अनशन आदि—निम्न कारणों से बाह्य-तप कहलाते हैं :

(१) इनमें बाहरी द्रव्यों की अपेक्षा होती है—अशन आदि द्रव्यों का त्याग होता है,

(२) वे सर्व-साधारण के द्वारा तपस्या के रूप में स्वीकृत होते हैं,

(३) उनका प्रत्यक्ष प्रभाव शरीर पर अधिक होता है और

(४) वे मुक्ति के बहिरंग कारण होते हैं।[1]

मूलाराधना के अनुसार जिसके आचरण से मन दुष्कृत के प्रति प्रवृत्त न हो, आंतरिक-तप के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो और पूर्वगृहीत योगों (—स्वाध्याय आदि योगों या व्रत विशेषों) की हानि न हो, वह 'बाह्य-तप' होता है।[2]

आभ्यन्तर-तप—प्रायश्चित्त आदि—निम्न कारणों से ऐसे कहलाते हैं :

(१) इनमें बाहरी द्रव्यों की अपेक्षा नहीं होती,

(२) वे विशिष्ट व्यक्तियों के द्वारा ही तप-रूप में स्वीकृत होते हैं,

(३) उनका प्रत्यक्ष प्रभाव अन्तःकरण में होता है और

(४) वे मुक्ति के अन्तरंग कारण होते हैं।[3]

महर्षि पतञ्जलि ने भी योग के अंगों को अन्तरंग और बहिरंग—इन दो भागों में विभक्त किया है। धारणा, ध्यान और समाधि—ये पूर्ववर्ती यम आदि पाँच साधनों की अपेक्षा अंतरंग हैं। निर्बीज-योग की अपेक्षा वे बहिरंग भी हैं।[4] इसका फलितार्थ यह है कि यम आदि पाँच अंग बहिरंग हैं और धारणा आदि तीन अंग अंतरंग और बहिरंग दोनों हैं। निर्बीज-योग केवल अंतरंग हैं।

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ६००।

२—मूलाराधना, ३।२३६ :

सो णाम बाहिरतवो, जेण मणो दुक्कडं ण उट्ठेदि।
जेण य सड्ढा जायदि, जेण य जोगा ण हायंति॥

३—बृहद् वृत्ति, पत्र ६०० :

'बाह्यं' बाह्यद्रव्यापेक्षत्वात् प्रायो मुक्त्यबाह्यबहिरङ्गत्वाच्च 'अभ्यन्तरं' तद्विपरीतं, यदिवा 'लोकप्रतीतत्वात्कुतीर्थिकैश्च स्वाभिप्रायेणासेव्यमानत्वाद्बाह्यं तदितरत्त्वाभ्यन्तरम्, उक्तञ्च—

"लोके परसमयेषु च यत्प्रथितं तत्तपो भवति बाह्यम्।
आभ्यन्तरमप्रथितं कुशलजनेनैव तु ग्राह्यम्॥"

अन्ये त्वाहुः—"प्रायेणान्तःकरणव्यापाररूपमेवाभ्यन्तरं, बाह्यं त्वन्यथे" ति।

४—पातञ्जल योगदर्शन, ३।७-८ :

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः। तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य॥

बाह्य-तप के प्रकार

बाह्य-तप के छह प्रकार हैं—(१) अनशन, (२) अवमौदर्य, (३) वृत्ति-संक्षेप, (४) रस-परित्याग, (५) काय-क्लेश और (६) विविक्त-शय्या।

बाह्य-तप के परिणाम

बाह्य-तप के निम्न परिणाम होते हैं—

(१) सुख की भावना स्वयं परित्यक्त हो जाती है।
(२) शरीर कृश हो जाता है।
(३) आत्मा संवेग में स्थापित होती है।
(४) इन्द्रिय-दमन होता है।
(५) समाधि-योग का स्पर्श होता है।
(६) वीर्य-शक्ति का उपयोग होता है।
(७) जीवन की तृष्णा विच्छिन्न होती है।
(८) संक्लेश-रहित दुःख-भावना (कष्ट-सहिष्णुता) का अभ्यास होता है।
(९) देह, रस और सुख का प्रतिबंध नहीं रहता।
(१०) कषाय का निग्रह होता है।
(११) विषय-भोगों के प्रति अनादर (उदासीन भाव) उत्पन्न होता है।
(१२) समाधि-मरण का स्थिर अभ्यास होता है।
(१३) आत्म-दमन होता है। आहार आदि का अनुराग क्षीण होता है।
(१४) आहार-निराशता—आहार की अभिलाषा के त्याग का अभ्यास होता है।
(१५) अगृद्धि बढ़ती है।
(१६) लाभ और अलाभ में सम रहने का अभ्यास सधता है।
(१७) ब्रह्मचर्य सिद्ध होता है।
(१८) निद्रा-विजय होती है।
(१९) ध्यान की दृढ़ता प्राप्त होती है।
(२०) विमुक्ति (विशिष्ट त्याग) का विकास होता है।
(२१) दर्प का नाश होता है।
(२२) स्वाध्याय-योग की निर्विघ्नता प्राप्त होती है।
(२३) सुख-दुःख में सम रहने की स्थिति बनती है।
(२४) आत्मा, कुल, गण, शासन—सबकी प्रभावना होती है।
(२५) आलस्य त्यक्त होता है।
(२६) कर्म-मल का विशोधन होता है।
(२७) दूसरों को संवेग उत्पन्न होता है।
(२८) मिथ्या-दृष्टियों में भी सौम्यभाव उत्पन्न होता है।
(२९) मुक्ति-मार्ग का प्रकाशन होता है।

(३०) तीर्थङ्कर की आज्ञा की आराधना होती है ।

(३१) देह-लाघव प्राप्त होता है ।

(३२) शरीर-स्नेह का शोषण होता है ।

(३३) राग आदि का उपशम होता है ।

(३४) आहार की परिमितता होने से नीरोगता बढ़ती है ।

(३५) संतोष बढ़ता है ।[1]

बाह्य-तप के प्रयोजन—

(१) अनशन के प्रयोजन : (क) संयम-प्राप्ति, (ख) राग-नाश, (ग) कर्म-मल विशोधन, (घ) सद्ध्यान की प्राप्ति और (ङ) शास्त्राभ्यास ।

(२) अवमौदर्य के प्रयोजन : (क) संयम में सावधानता, (ख) वात, पित्त, श्लेष्म आदि दोषों का उपशमन और (ग) ज्ञान, ध्यान आदि की सिद्धि ।

(३) वृत्ति-संक्षेप के प्रयोजन : (क) भोजन-सम्बन्धी आशा पर अंकुश और (ख) भोजन-सम्बन्धी संकल्प-विकल्प और चिन्ता का नियंत्रण ।

(४) रस-परित्याग के प्रयोजन : (क) इन्द्रिय-निग्रह, (ख) निद्रा-विजय और (ग) स्वाध्याय, ध्यान की सिद्धि ।

(५) विविक्त-शय्या के प्रयोजन : (क) बाधाओं से मुक्ति, (ख) ब्रह्मचर्य-सिद्धि और (ग) स्वाध्याय, ध्यान की सिद्धि ।

(६) काय-क्लेश के प्रयोजन : (क) शारीरिक कष्ट-सहिष्णुता का स्थिर अभ्यास, (ख) शारीरिक सुख की वाञ्छा से मुक्ति और (ग) जैन-धर्म की प्रभावना ।[2]

आभ्यन्तर-तप के प्रकार—

आभ्यन्तर-तप के छह प्रकार हैं—(१) प्रायश्चित्त, (२) विनय, (३) वैयावृत्त्य, (४) स्वाध्याय, (५) ध्यान और (६) व्युत्सर्ग ।

आभ्यन्तर-तप के परिणाम—

भाव-शुद्धि, चंचलता का अभाव, शल्य-मुक्ति, धार्मिक-दृढ़ता आदि प्रायश्चित्त के परिणाम हैं ।[3]

ज्ञान-लाभ, आचार-विशुद्धि, सम्यक्-आराधना आदि विनय के परिणाम हैं ।[4]

चित्त-समाधि का लाभ, ग्लानि का अभाव, प्रवचन-वात्सल्य आदि वैयावृत्त्य के परिणाम हैं ।[5]

प्रज्ञा का अतिशय, अध्यवसाय की प्रशस्तता, उत्कृष्ट संवेग का उदय, प्रवचन की अविच्छिन्नता, अतिचार-विशुद्धि, संदेह-नाश, मिथ्या-वादियों के भय का अभाव आदि स्वाध्याय के परिणाम हैं ।[6]

कषाय से उत्पन्न ईर्ष्या, विषाद, शोक आदि मानसिक दुःखों से बाधित न होना । सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास आदि शरीर को प्रभावित करने वाले कष्टों से बाधित न होना ध्यान के परिणाम हैं ।[7]

१—मूलाराधना, ३।२३७-२४४ ।
२—तत्त्वार्थ, ९।२०, श्रुतसागरीय वृत्ति ।
३—वही, ९।२२, श्रुतसागरीय वृत्ति ।
४—वही, ९।२३, श्रुतसागरीय वृत्ति ।
५—वही, ९।२४, श्रुतसागरीय वृत्ति ।
६—वही, ९।२५, श्रुतसागरीय वृत्ति ।
७—ध्यानशतक, १०५-१०६ ।

निर्ममत्व, निर्भयता, जीवन के प्रति अनासक्ति, दोषों का उच्छेद, मोक्ष-मार्ग में तत्परता आदि व्युत्सर्ग के परिणाम हैं।[1] आभ्यन्तर-तप के प्रयोजन स्पष्ट हैं।

श्लोक ९

२–इत्वरिक (इत्तिरिया क) :

औपपातिक (सूत्र १९) में इत्वरिक के चौदह प्रकार बतलाए गए हैं—

(१) चतुर्थ भक्त— उपवास।
(२) षष्ट-भक्त— २ दिन का उपवास।
(३) अष्टम-भक्त— ३ दिन का उपवास।
(४) दशम-भक्त— ४ दिन का उपवास।
(५) द्वादश-भक्त— ५ दिन का उपवास।
(६) चतुर्दश-भक्त— ६ दिन का उपवास।
(७) षोडश-भक्त— ७ दिन का उपवास।
(८) अर्धमासिक-भक्त— १५ दिन का उपवास।
(९) मासिक-भक्त— १ मास का उपवास।
(१०) द्वैमासिक-भक्त— २ मास का उपवास।
(११) त्रैमासिक-भक्त— ३ मास का उपवास।
(१२) चतुरमासिक-भक्त— ४ मास का उपवास।
(१३) पंचमासिक-भक्त— ५ मास का उपवास।
(१४) छहमासिक-भक्त— ६ मास का उपवास।

इत्वरिक-तप कम से कम एक दिन और अधिक से अधिक ६ मास तक का होता है।

प्रस्तुत प्रकरण में इत्वरिक-तप छह प्रकार का बतलाया गया है—(१) श्रेणि तप, (२) प्रतर तप, (३) घन तप, (४) वर्ग तप, (५) वर्ग-वर्ग तप और (६) प्रकीर्ण तप।

(१) **श्रेणि तप**—उपवास से लेकर छह मास तक क्रमपूर्वक जो तप किया जाता है, उसे श्रेणि तप कहा जाता है। इसकी अनेक अवान्तर श्रेणियाँ होती हैं। जैसे—उपवास, बेला—यह दो पदों का श्रेणि तप है। उपवास, बेला, तेला, चोला—यह चार पदों का श्रेणि तप है।

(२) **प्रतर तप**—एक श्रेणि तप को जितने क्रम—प्रकारों से किया जा सकता है, उन सब क्रम—प्रकारों को मिलाने से प्रतर-तप होता है। उदाहरण स्वरूप उपवास, बेला, तेला और चोला—इन चार पदों की श्रेणि लें। इसके निम्नलिखित चार क्रम—प्रकार बनते हैं—

क्रम प्रकार	१	२	३	४
१	उपवास	बेला	तेला	चौला
२	बेला	तेला	चौला	उपवास
३	तेला	चौला	उपवास	बेला
४	चौला	उपवास	बेला	तेला

यह प्रतर तप है। इसमें कुल पदों की संख्या १६ हैं। इस तरह यह तप श्रेणि को श्रेणि-पदों से गुणा करने से बनता है।

(३) **घन तप**—जितने पदों की श्रेणि है, प्रतर को उतने पदों से गुणा करने से घन तप बनता है। यहाँ चार पदों की श्रेणि है। अतः उपर्युक्त प्रतर तप को चार से गुणा करने से अर्थात् उसे चार बार करने से घन तप होता है। घन तप के ६४ पद बनते हैं।

१–तत्त्वार्थ, ९।२६, श्रुतसागरीय वृत्ति।

(४) वर्ग तप—घन को घन से गुणा करने पर वर्ग तप बनता है अर्थात् घन तप को ६४ बार करने से वर्ग तप बनता है। इसके ६४×६४=४०९६ पद बनते हैं।

(५) वर्ग-वर्ग तप—वर्ग को वर्ग से गुणा करने पर वर्ग-वर्ग तप बनता है अर्थात् वर्ग तप को ४०९६ बार करने से वर्ग-वर्ग तप बनता है। इसके ४०९६×४०९६=१६७७७२१६ पद बनते हैं।

(६) प्रकीर्ण तप—यह पद श्रेणि आदि निश्चित पदों की रचना बिना ही अपनी शक्ति के अनुसार किया जाता है। यह अनेक प्रकार का है।

शान्त्याचार्य ने नमस्कार-सहिता आदि तथा यवमध्य, वज्रमध्य, चन्द्र-प्रतिमा आदि तपों को प्रकीर्ण तप के अन्तर्गत माना है।[1]

श्लोक ११

३–नाना प्रकार के मनेवाञ्छित फल देने वाला (मणइच्छियचित्तत्थो ग) :

टीकाकार से इसका अर्थ 'मनो-वाञ्छित विचित्र प्रकार का फल देने वाला' किया है।[2] फल-प्राप्ति के लिए तप नहीं करना चाहिए, टीकाकार का अर्थ इस मान्यता का विरोधी नहीं है। 'मणइच्छियचित्तत्थो' यह वाक्य तप के गौण फल का सूचक है। आगम-साहित्य में इस प्रकार के अनेक उल्लेख मिलते हैं। इसका अर्थ 'मन इच्छित विचित्र प्रकार से किया जाने वाला तप' भी हो सकता है।

श्लोक १२-१३

४–श्लोक १२-१३ :

इन दो श्लोकों में मरण-काल-भावी अनशन का निरूपण है। औपपातिक में उसके दो प्रकार निर्दिष्ट हैं—(१) पादपोपगमन और (२) भक्त-प्रत्याख्यान।[3]

पादपोपगमन नियमतः अप्रतिकर्म है और उसके दो प्रकार हैं—(१) व्याघात और (२) निर्व्याघात।

भक्त-प्रत्याख्यान नियमतः सप्रतिकर्म है और उसके भी दो प्रकार हैं—(१) व्याघात और (२) निर्व्याघात।

समवायांग में इस अनशन के तीन प्रकार निर्दिष्ट हैं—(१) भक्त-प्रत्याख्यान, (२) इंगिनी और (३) पादपोपगमन।[4]

प्रस्तुत अध्ययन में मरण-काल भावी अनशन के प्रकारों (भक्त-प्रत्याख्यान आदि) का उल्लेख नहीं है। केवल उनका सात विधाओं से विचार किया गया है।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ६०१ :

तथ नमस्कारसहितादि पूर्वपुरुषाचरितं यवमध्यवज्रमध्यचन्द्रप्रतिमादि च।

२–वही, पत्र ६०१ :

मनसः—चित्तस्य ईप्सित—इष्टश्चित्रः—अनेकप्रकारोऽर्थः—स्वर्गापवर्गादिस्तेजोलेश्यादिर्वा यस्मात्तन्मनईप्सितचित्रार्थं ज्ञातव्यं भवति।

३–औपपातिक, सूत्र १९।

४–समवायांग, समवाय १७।

(१) सविचार हलन-चलन सहित	(२) सपरिकर्म[1] शुश्रूषा या संलेखना-सहित	(३) निर्हारि उपाश्रय से बाहर गिरी कंदरा आदि एकान्त स्थानों में किया जाने वाला।	
(४) अविचार स्थिरता युक्त	(५) अपरिकर्म शुश्रूषा या संलेखना-रहित	(६) अनिर्हारि उपाश्रय में किया जाने वाला।	(७) आहारच्छेद।

भक्त-प्रत्याख्यान में जल-वर्जित त्रिविध आहार का भी प्रत्याख्यान किया जाता है और चतुर्विध आहार का भी। इंगिनी और पादपोपगमन—इन दोनों में चतुर्विध आहार का परित्याग किया जाता है।

भक्त-प्रत्याख्यान अनशन करने वाला अपनी इच्छा के अनुसार आ-जा सकता है। इंगिनी अनशन करने वाला नियत प्रदेश में इधर-उधर आ-जा सकता है, किन्तु उससे बाहर नहीं जा सकता है। पादपोपगमन अनशन करने वाला वृक्ष के समान निश्चेष्ट होकर लेटा रहता है—या जिस आसन में अनशन प्रारम्भ करता है, उसी आसन में स्थिर रहता है—हलन-चलन नहीं करता।

भक्त-प्रत्याख्यान अनशन करने वाला स्वयं भी अपनी शुश्रूषा करता है और दूसरों से भी करवाता है। इंगिनी अनशन करने वाला दूसरों से शुश्रूषा नहीं करवाता, किन्तु स्वयं अपनी शुश्रूषा कर सकता है। पादपोपगमन अनशन करने वाला अपने शरीर की शुश्रूषा न स्वयं करता है और न किसी दूसरे से करवाता है।

शान्त्याचार्य ने निर्हारि और अनिर्हारि—ये दोनों पादपोपगमन के प्रकार बतलाए है।[2] किन्तु स्थानांग में ये दो प्रकार भक्त-प्रत्याख्यान के भी किए गए हैं।[3]

दिगम्बर आचार्य शिवकोटि और अनशन

१-भक्त-प्रत्याख्यान :

उनके अनुसार भक्त-प्रत्याख्यान अनशन के दो प्रकार हैं—(१) सविचार और (२) अविचार।[4]

जो उत्साह—बलयुक्त है, जिसकी मृत्यु तत्काल होने वाली नहीं है, उस मुनि के भक्त-प्रत्याख्यान को 'सविचार भक्त-प्रत्याख्याण' कहा जाता है।[5] इसका अर्ह, लिंग आदि ४० प्रकरणों द्वारा विचार किया गया है।[6]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ६०२-६०३ :

सह परिकर्मणा—स्थाननिषदनत्वग्वर्त्तनादि विश्रामणादिना च वर्त्तते यत्तत्सपरिकर्मअपरिकर्म च तद्विपरीतम्—यद्वा परिकर्म—संलेखना सा यत्रास्ति तत्सपरिकर्म, तद्विपरीतं त्वपरिकर्म।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र ६०३ :

एतच्च प्रकारद्वयमपि पादपोपगमनविषयं, तत्प्रस्ताव एवागमेऽस्याभिधानात्।

३–स्थानांग, २।४।१०२ :

पाओवगमणे दुविहे पं० तं०—णीहारिमे चेव अनीहारिमे चेव णियमं अपडिक्कमे।

भत्तपच्चक्खाणे दुविहे पं० तं०—णीहारिमे चेव अणीहारिमे चेव णियमं सपडिक्कमे।

४–मूलाराधना, २।६५ :

दुविहं तु भत्तपच्चक्खाणं सविचारमध अविचारं।

५–वही, २।६५ :

सविचारमणागाढे, मरणे सपरक्कमस्स हवे।

६–वही, २।६६ :

सविचारभत्तपच्चक्खाणस्सिणमो उवक्कमो होई।
तत्थ य सुत्तपदाइं, चत्तालं होंति णेयाइं॥

मृत्यु की आकस्मिक संभावना होने पर जो भक्त-प्रत्याख्यान किया जाता है, उसे 'अविचार भक्त-प्रत्याख्यान' कहा जाता है।[1] उसके तीन प्रकार हैं :

(१) *निरुद्ध :* जो रोग और आतंक से पीड़ित हो, जिसका जंघाबल क्षीण हो और जो दूसरे गण में जाने में असमर्थ हो, उस मुनि के भक्त-प्रत्याख्यान को 'निरुद्ध अविचार भक्त-प्रत्याख्यान' कहा जाता है।[2]

जब तक उसमें बल-वीर्य होता है, तब तक अपना काम स्वयं करता है और जब वह असमर्थ हो जाता है, तब दूसरे मुनि उसकी परिचर्या करते हैं।[3] जंघाबल क्षीण होने पर अन्य गण में जाने में असमर्थ होने के कारण जो मुनि अपने गण में ही निरुद्ध रहता है, उसके भक्त-प्रत्याख्यान को 'अनिर्हारि' भी कहा जाता है।[4] इसमें अनियत विहार आदि की विधि नहीं होती, इसलिए उसे 'अविचार' कहा जाता है।[5]

निरुद्ध दो प्रकार का होता है—(१) जन-ज्ञात और (२) जन-अज्ञात।[6]

(२) *निरुद्धतर :* मृत्यु का तात्कालिक कारण (सर्प-दंश, अग्नि आदि) उपस्थित होने पर तत्काल भक्त-प्रत्याख्यान किया जाता है, उसका नाम निरुद्धतर है। बल-वीर्य की तत्काल हानि होने पर वह पर-गण में जाने में अत्यन्त असमर्थ होता है, इसलिए उसका अनशन 'निरुद्धतर' कहलाता है। यह अनिर्हारि होता है।[7]

(३) *परमनिरुद्ध :* सर्प-दंश आदि कारणों से जब वाणी रुक जाती है, उस स्थिति के भक्त-प्रत्याख्यान को 'परमनिरुद्ध' कहा जाता है।[8]

२—इंगिनी :

इस अनशन की अधिकांश विधि भक्त-प्रत्याख्यान के समान होती है। केवल इतना विशेष होता है कि इंगिनी अनशन करने

१–मूलाराधना, ७।२०११ :

तत्थ अविचारभत्त-पइण्णा मरणम्मि होइ आगाढो। अपरक्कम्मस्स मुणिणो, कालम्मि असंपुहुत्तम्मि ॥

२–वही, ७।२०१३ :

तस्स णिरुद्धं भणिदं, रोगादंकेहिं जो समभिभूदो। जंघाबलपरिहीणो, परगणगमणम्मि ण समत्थो।

३–वही, ७।२०१४ :

जावय बलविरियं से, सो विहरदि ताव णिप्पडीयारो।
पच्छा विहरति पडिजग्गिज्जंतो तेण समणेण ॥

४–वही, ७।२०१५ :

इय सण्णिरुद्धमरणं, भणियं अणिहारिमं अवीचारं।
सो चेव जधाजोग्गं, पुव्वुत्तविधी हवदि तस्स ॥

५–वही, ७।२०१५।

६–वही, ७।२०१६।१७ :

दुविधं तं पि अणीहारिमं, पगासं च अप्पगासं च।
जणणादं च पगासं, इदरं च जणेण अण्णादं ॥
खवयस्स चित्तसारं, खित्तं कालं पडुच्च सजणं वा।
अण्णम्मि य तारिसयम्मि, कारणे अप्पगासं तु ॥

७–वही, ७।२०२१ :

एवं णिरुद्धतरयं, विदियं अणिहारियं अवीचारं।
सो चेव जधाजोग्गो, पुव्वुत्तविधी हवदि तस्स ॥

८–वही, ७।२०२२ :

वालादिएहिं जइया, अक्खित्ता होज्ज भिक्खुणो वाया।
तइया परमणिरुद्धं, भणिदं मरणं अविचारं ॥

वाला दूसरे मुनियों से सेवा नहीं लेता, अपना काम स्वयं करता है।[१] उपसर्ग होने पर भी निष्प्रति-कर्म होता है—प्रतिकार-रहित उन्हें सहता है।[२]

२—प्रायोपगमन :

इसमें तृणसंस्तर (घास का बिछौना) नहीं किया जाता, स्वयं परिचर्या करना भी वर्जित होता है, यह सर्वथा अपरिकर्म होता है।[३]

भक्त-प्रत्याख्यान में शारीरिक परिचर्या स्वयं की जाती है, दूसरों से कराई भी जाती है। इंगिनी में वह स्वयं की जाती है, दूसरों से नहीं कराई जाती। प्रायोपगमन में वह न स्वयं की जाती है और न दूसरों से कराई जाती है।[४]

प्रायोपगमन अनशन करने वाला शरीर को इतना कृश कर लेता है कि उसके मल-मूत्र आदि होते ही नहीं।[५] वह अनशन करते समय जहाँ अपना शरीर टिका देता है, वहीं स्थिर-भाव से टिकाए रहता है। इस प्रकार वह निष्प्रति-कर्म होता है। वह अचल होता है, इसलिए अनिर्हार होता है। दूसरा कोई व्यक्ति उसे उठा कर किसी दूसरे स्थान में डाल देता है तो पर-कृत चालन की अपेक्षा वह निर्हार भी हो जाता है।[६]

श्वेताम्बर और दिगम्बर-परम्परा में अनशन के तीनों प्रकार और अनेक नाम समान हैं। 'पाओअगमण' का संस्कृत रूप श्वेताम्बर आचार्यों ने 'पादपोपगमन'[७] किया है, वहाँ दिगम्बर आचार्यों ने 'प्रायोपगमन'।[८] अर्थ की दृष्टि से 'पादपोपगमन' अधिक उपयुक्त है किन्तु छाया

१—मूलाराधना, ८।२०४२ :

सयमेव अप्पणो सो, करेदि आउंटणादि किरियाओ।
उच्चारादीणि तधा, सयमेव विकिंचिदे विधिणा॥

२—वही, ८।२०४३ :

जाधे पुण उवसग्गे, देवा माणुस्सिया व तेरिच्छा।
साधे णिप्पडियम्मो, ते अधियासेदि विगदभओ॥

३—वही, ८।२०६४ :

णवरिं तणसंथारो, पाओवगदस्स होदि पडिसिद्धो।
आदपरपओगेण, य पडिसिद्धं सव्वपरियम्मं॥

४ वही, ८।२०६४, वृत्ति :

विजयोदया—स्वपरसंपाद्यप्रतीकारापेक्षः भक्तप्रत्याख्यानविधिः, परनिरपेक्षमात्मसंपाद्यप्रतीकारमिंगिणीमरणं, सर्वप्रतीकाररहितं प्रायोपगमनमित्यमीषां भेदः।

५—वही, ८।२०६५ :

सो सल्लेहिददेहो, जम्हा पाओवगमणमुवजादि।
उच्चारादिविकिंचण, मवि णत्थि पवोगदो तम्हा॥

६—वही, ८।२०६८-६९-७०

वोसट्ठचत्तदेहो, दु णिक्खिवेज्जो जहिं जधा अंगं।
जावज्जीवं तु सयं, तहिं तमंगं ण चालेज्ज॥
एवं णिप्पडियम्मं, भणंति पाओवगमणमरहंता।
णियमा अणिहारं तं, सिया य णीहारमुवसग्गे॥
उवसग्गेण य साहरिदो, सो अण्णत्थ कुणदि जं कालं।
तम्हा वुत्तं णीहार, मदो अण्णं अणीहारं॥

७—औपपातिक वृत्ति, पृ० ७१ :

पादपस्येवोपगमनम्—अस्पन्दतयाऽवस्थानं पादपोपगमनम्।

८—मूलाराधना, ८।२०६३ :

पाओवगमणमरणस्स।
विजयोदया—प्रायोपगमनमरणम्।

की दृष्टि से 'प्रायोपगमन' होना चाहिए। महाभारत में अनशनकर्त्ता के अर्थ में 'प्रायोपविष्ट' शब्द का प्रयोग मिलता है।[1] काश्मीर में अनशन के प्रबन्ध के लिए एक पदाधिकारी नियुक्त था, जो 'प्रायोपवेश' कहलाता था।[2]

सविचार और अविचार, निर्हारि और अनिर्हारि—इनका अर्थ दोनों परम्पराओं में भिन्न है :

	श्वेताम्बर	दिगम्बर
(१) सविचार—	गमनागमन-सहित[3]	अर्ह, लिंग आदि विकल्प-सहित।[4]
(२) अविचार—	गमनागमन-रहित[5]	अर्ह, लिंग आदि विकल्प-रहित।[6]
(३) निर्हारि—	उपाश्रय के एक देश में, जिससे मृत्यु के पश्चात् शरीर का निर्हरण किया जाए—बाहर ले जाया जाए[7]।	स्व-गण का त्याग कर पर-गण में जा सके, वह।
(४) अनिर्हारि—	गिरि-गुफा आदि में जिससे मृत्यु के पश्चात् निर्हरण करना आवश्यक न हो।[8]	स्व-गण का त्याग कर पर-गण में न जा सके, वह।[9]

प्रायोपगमन के वर्णन में आचार्य शिवकोटि ने अनिर्हार और निर्हार का अर्थ 'अचल' और 'चल' भी किया है।[10] मूलाराधना के

१–महाभारत, शान्तिपर्व, २७।२४ :
प्रायोपविष्टं जानीध्वमथ मां गुरुघातिनम्।

२–प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, पृ० १०४।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र ६०२ :
'कायचेष्टाम्' उद्वर्त्तनपरिवर्त्तनादिककायप्रवीचारं 'प्रती' ति आश्रित्य 'भवेन्' स्यात्, तत्र सविचारं भक्तप्रत्याख्यानमिङ्गिनी-मरणं च।

४–मूलाराधना, २।६५, विजयोदया वृत्ति :
विचरणं नानागमनं विचारः। विचारेण वर्तते इति सविचारं एतदुक्तं भवति। वक्ष्यमाणार्हलिंगादिविकल्पेन सहितं भक्त-प्रत्याख्यानं इति।

५–बृहद् वृत्ति, पत्र ६०२ :
अविचारं तु पादपोपगमनं, तत्र हि सव्याघाताव्याघातभेदतो द्विभेदेऽपि पादपवन्निश्चेष्टतयैव स्थीयते।

६–(क) मूलाराधना, २।६५, विजयोदया वृत्ति :
अविचारं वक्ष्यमाणार्हादिनानाप्रकाररहितम्।
(ख) मूलाराधना दर्पण, ७।२०१५ :
अवीचारं अनियतविहारादिविचारणाविरहात्।

७–स्थानांग २।४।१०२, वृत्ति :
यद्वसतेरेकदेशे विधीयते तत्तत: शरीरस्य निर्हरणात् निस्सारणान्निर्हारिमम्।

८–वही, २।४।१०२, वृत्ति :
यत्पुनर्गिरिकन्दरादौ तदनिर्हरणादनिर्हारिमम्।

९–मूलाराधना दर्पण, ७।२०१५ :
अणिहारिमं सविचारभक्तप्रत्याख्यानोक्तस्वगणपरित्यागाभावात्।
अर्थ—सविचार भक्त के प्रत्याख्यान में स्व-गण का परित्याग कर पर-गण में जाने की विधि बतलाई है, वह इसमें नहीं है इसलिए इसको 'अणिहारिम' कहते हैं।

१०–मूलाराधना ८।२०६९ :
एवं णिप्पडियम्मं, भणंति पाओवगमणमरहंता।
णियमा अणिहारं तं, सिया य णीहारमुवसग्गे॥
विजयोदया—तत्प्रायोपगमनमनतिहारमचलं स्याच्चलमपि उपसर्गे परकृतचलनमपेक्ष्य।

भक्त-प्रत्याख्यान के निरुद्धतर और परमनिरुद्ध की तुलना औपपातिक के पादपोपगमन और भक्त-प्रत्याख्यान के एक प्रकार — व्याघात-सहित से होती है। व्याघात-सहित का अर्थ है—सिंह, दावानल आदि का व्याघात उत्पन्न होने पर किया जाने वाला अनशन।[1]

औपपातिक के अनुसार पादपोपगमन और भक्त-प्रत्याख्यान दोनों अनशनों के दो-दो प्रकार होते हैं—(१) व्याघात-सहित और (२) व्याघात रहित।

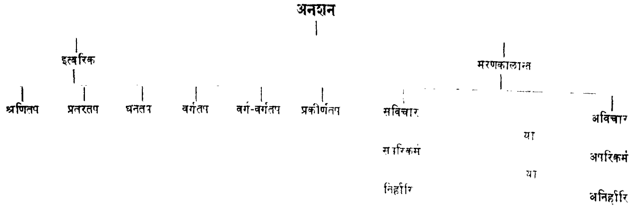
इनसे यह फलित होता है कि अनशन व्याघात उत्पन्न होने पर भी किया जाता है और व्याघात न होने पर भी किया जाता है। सूत्रकृतांग के अनुसार शारीरिक बाधा उत्पन्न होने या न होने पर भी अनशन किया जाता है।[2]

अनशन का हेतु शरीर के प्रति निर्ममत्व है। जब तक शरीर-ममत्व होता है, तब तक मनुष्य मृत्यु से भयभीत रहता है और जब वह शरीर-ममत्व से मुक्त होता है, तब मृत्यु के भय से भी मुक्त हो जाता है। अनशन को देह-निर्ममत्व या अभय की साधना का विशिष्ट प्रकार कहा जा सकता है। मृत्यु अनशन का उद्देश्य नहीं, किन्तु उसका गौण परिणाम है। उसका मुख्य परिणाम है—आत्म-लीनता। इसी प्रकार का एक अनुभव है—"मुझे मालूम होता है कि किसी कारण से आदमी को मरना ही हो अथवा मालूम हो जाए कि मरना है, तो खाए हुए से उपवास करके मरना कहीं बढ़कर है अथवा इन दोनों का मुकाबला ही उचित नहीं है। मैं नहीं जानता कि खाए हुए मरने से वृत्ति कैसी रहती होगी पर जान पड़ता है कि अच्छी तो नहीं रहती होगी और उपवास में वृत्ति का क्या पूछना है? जान पड़ता है ब्रह्मानन्द में लीन है।"[3]

तात्कालिक व्याघात या बाधा उत्पन्न न होने पर किया जाने वाला अनशन संलेखना-पूर्वक होता है।

आगम-सूत्रों में मरण एवं अनशन के भेद इस प्रकार हैं—

(१) उत्तराध्ययन, ३०।६-१३ :



१—औपपातिक वृत्ति, पृ० ७१ :
व्याघातवत्—सिंहदावानलाद्यभिभूतो यत् प्रतिपद्यते।

२—(क) सूत्रकृतांग, २।२।३८ :
ते णं एतेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं सामन्नपरियागं पाउणंति, २ त्ता आबाहंसि उप्पन्नंसि वा अणुप्पन्नंसि वा बहूइं भत्ताइं पच्चक्खन्ति।

(ख) वही, २।२।३९ :
ते णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं समणोवासगपरियागं पाउणंति, २ त्ता आबाहंसि उप्पण्णंसि वा अणुप्पण्णंसि वा बहूइं भत्ताइं अणसणाए पच्चक्खायन्ति।

३—उपवास से लाभ, पृ० १:७।

(२) *औपपातिक, सूत्र १९ —*

अनशन

- इत्वरिक
  - चतुर्थ भक्त
  - षष्ठ भक्त
  - अष्टम भक्त
  - दशम भक्त
  - द्वादश भक्त
  - चतुर्दश भक्त
  - षोडश भक्त
  - अर्धमासिक भक्त
  - मासिक भक्त
  - द्वैमासिक भक्त
  - त्रैमासिक भक्त
  - चतुर्मासिक भक्त
  - पञ्चमासिक भक्त
  - छहमासिक भक्त
- यावत्कथिक
  - पादपोपगमन
    - व्याघात सहित
    - निर्व्याघात
    - (नियमतः अप्रतिकर्म)
  - भक्त-प्रत्याख्यान
    - व्याघात सहित
    - निर्व्याघात
    - (नियमतः सप्रतिकर्म)

(३) *स्थानांग, २।४।१०२ —*

मरण

- बाल-मरण
  - वलय मरण
  - वशार्त्त मरण
  - निदान मरण
  - तद्भव मरण
  - गिरि-पतन
  - तरु-पतन
  - जल-प्रवेश
  - अग्नि-प्रवेश
  - विष-भक्षण
  - शस्त्रावपाटन
  - वैहायस
  - गृद्ध-स्पृष्ट
- पण्डित-मरण
  - पादपोपगमन
    - निर्हारिम
    - अनिर्हारिम
    - (नियमतः अप्रतिकर्म)
  - भक्त-प्रत्याख्यान
    - निर्हारिम
    - अनिर्हारिम
    - (नियमतः सप्रतिकर्म)

(४) *भगवती, २।१ —*

मरण

- बाल-मरण
  - वलय-मरण
  - वशार्त्त-मरण
  - अन्तःशल्य-मरण
  - तद्भव-मरण
  - गिरि-पतन
  - तरु-पतन
  - जल-प्रवेश
  - अग्नि-प्रवेश
  - विष-भक्षण
  - शस्त्रावपाटन
  - वैहायस
  - गृद्ध-स्पृष्ट
- पंडित-मरण
  - पादपोपगमन
    - निर्हारिम
    - अनिर्हारिम
    - (नियमतः अप्रतिकर्म)
  - भक्त-प्रत्याख्यान
    - निर्हारिम
    - अनिर्हारिम
    - (नियमतः सप्रतिकर्म)

(५) भगवती, २५।७—

अनशन

- इत्वरिक
  - चौदह भेद (औपपातिक की भाँति)
- यावत्कथिक
  - पादपोपगमन
  - भक्त-प्रत्याख्यान (स्थानांग की भाँति)

(६) समवायाङ्ग, १७—

मरण

- आवीचि-मरण
- अवधि-मरण
- आत्यन्तिक-मरण
- वलय-मरण
- वशार्त-मरण
- अन्तःशल्य-मरण
- तद्भव-मरण
- बाल-मरण
- पंडित-मरण
- बालपंडित-मरण
- छद्मस्थ मरण
- केवली-मरण
- वैहायस-मरण
- गृद्धस्पृष्ट-मरण
- भक्त-प्रत्याख्यान
- इंगिनी-मरण
- पादपोपगमन

उपर्युक्त नाम स्थानाङ्ग और भगवती से कुछ भिन्न हैं। इनमें अनशन के तीन प्रकार है—(१) भक्त प्रत्याख्यान, (२) इंगिनी और (३) पादपोपगमन।

मूलाराधना में अनशन के अधिकारी का वर्णन है। इसके अधिकारी वे होते हैं—

(१) जो दुश्चिकित्स्य व्याधि (संयम को छोड़े बिना जिसका प्रतिकार करना संभव न हो) से पीड़ित हो।

(२) जो श्रामण्य-योग की हानि करने वाली जरा से अभिभूत हो।

(३) जो देव, मनुष्य या तिर्यञ्च सम्बन्धी उपसर्गों से उपद्रुत हो।

(४) जिसके चारित्र-विनाश के लिए अनुकूल उपसर्ग किए जा रहे हों।

(५) दुष्काल में जिसे शुद्ध भिक्षा न मिले।

(६) जो गहन अटवी में दिग्मूढ़ हो जाए और मार्ग हाथ न लगे।

(७) जिसके चक्षु और श्रोत्र दुर्बल तथा जंघाबल क्षीण हो जाए और जो विहार करने में समर्थ न हो।

उक्त व इन जैसे अन्य कारण उपस्थित होने पर व्यक्ति अनशन का अधिकारी होता है।[1]

जिस मुनि का चारित्र निरतिचार पल रहा हो, संलेखना कराने वाले आचार्य (निर्यापक आचार्य) भविष्य में सुलभ हों, दुर्भिक्ष का भय न हो, वैसी स्थिति में वह अनशन का अनधिकारी है। विशिष्ट स्थिति उत्पन्न हुए बिना जो अनशन करे तो समझना चाहिए कि वह चारित्र से खिन्न है।[2]

संलेखना

आचारांग में बताया गया है कि जब मुनि को यह अनुभव हो कि इस शरीर को धारण करने में मैं ग्लान हो रहा हूँ, तब वह क्रम से आहार का संकोच करे, संलेखना करे—आहार संकोच के द्वारा शरीर को कृश करे।[3]

१—**मूलाराधना**, २।७१-७४।

२—**वही**, २।७५-७६।

३—**आचारांग**, १।८।६ ; १।८।७।

संलेखना के काल—

संलेखना के तीन काल हैं—(१) जघन्य—छह मास का काल, (२) मध्यम—एक वर्ष का काल और (३) उत्कृष्ट—१२ वर्ष का काल।

उत्कृष्ट संलेखना के काल में प्रथम चार वर्षों में दूध, घी आदि विकृतियों का त्याग अथवा आचाम्ल किया जाता है। सूत्र में प्रथम चार वर्षों में विचित्र तप करने का उल्लेख नहीं है। किन्तु शान्त्याचार्य ने निशीथ चूर्णि के आधार पर इसका अर्थ यह किया गया है कि संलेखना करने वाला विचित्र तप के पारण में विकृतियों का परित्याग करे।[1] प्रवचनसारोद्धार में भी यही क्रम है। प्रथम चार वर्षों में विचित्र तप किया जाता है और उसके पारण में यथेष्ठ भोजन किया जाता है। दूसरे चार वर्षों में विचित्र तप किया जाता है, किन्तु पारण में विकृति का परित्याग किया जाता है।[2] आगे का क्रम समान है।

उत्तराध्ययन (३६।२५१-२५५) के अनुसार इस संलेखना का पूर्ण क्रम इस प्रकार है—

प्रथम चार वर्ष—	विकृति परित्याग अथवा आचाम्ल।
द्वितीय चार वर्ष—	विचित्र-तप—उपवास, बेला, तेला आदि और पारण में यथेष्ठ भोजन।[3]
नौवें और दसवें वर्ष—	एकान्तर उपवास और पारण में आचाम्ल।
ग्यारहवें वर्ष की प्रथम छमाही—	उपवास या बेला।
ग्यारहवें वर्ष की द्वितीय छमाही—	विकृष्ट[4] तप—तेला, चोला आदि तप।
समूचे ग्यारहवें वर्ष में पारण के दिन—	आचाम्ल। प्रथम छमाही में आचाम्ल के दिन ऊनोदरी की जाती है[5] और दूसरी छमाही में उस दिन पेट भर भोजन किया जाता है।[6]
बारहवें वर्ष में—	कोटि-सहित आचाम्ल अर्थात् निरन्तर आचाम्ल अथवा प्रथम दिन आचाम्ल, दूसरे दिन कोई दूसरा तप और तीसरे दिन फिर आचाम्ल।[7]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ७०६।

२–प्रवचनसारोद्धार, गाथा ८७५-८७७।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र ७०६ :

द्वितीये वर्षचतुष्के 'विचित्रं तु' इति विचित्रमेव चतुर्थषष्ठाष्टमादिरूपं तपश्चरेत्, अत्र च पारणके सम्प्रदायः—"उग्गमविसुद्धं सव्वं कप्पणिज्जं पारेति।"

४–प्रवचनसारोद्धर, वृत्ति पत्र २५४ :

विकृष्टं—अष्टमदशमद्वादशादिकं तपःकर्म भवति।

५–वही, वृत्ति पत्र २५४ :

पारणके तु परिमितं—किंचिदूनोदरतासम्पन्नमाचाम्लं करोति।

६–वही, वृत्ति पत्र २५४ :

पारणके तु मा शीघ्रमेव मरणं यासिषमितिकृत्वा परिपूर्णप्राण्या आचाम्लं करोति, न पुनरूनोदरतयेति।

७–बृहद् वृत्ति, पत्र ७०६ :

कोट्यौ—अग्रे प्रत्याख्यानाद्यन्तकोणरूपे सहिते—मिलिते यस्मिंस्तत्कोटीसहितं, किमुक्तं भवति?—विवक्षितदिने प्रातराचाम्लं प्रत्याख्याय तच्चाहोरात्रं प्रतिपाल्यं, पुनर्द्वितीयेऽह्नि आचाम्लमेव प्रत्याख्याते, ततो द्वितीयस्यारम्भकोटिराद्यस्य तु पर्यन्तकोटिरुभे अपि मिलिते भवत इति तत्कोटीसहितमुच्यते, अन्ये त्वाहुः—आचाम्लमेकस्मिन् दिने कृत्वा द्वितीयदिने च तपोऽन्तरमनुष्ठाय पुनस्तृतीयदिने आचाम्लमेव कुर्वतः कोटीसहितमुच्यते।

बारह वर्ष के अन्त में— अर्द्ध-मासिक या मासिक अनशन, भक्त-परिज्ञा आदि।[1] निशीथ चूर्णि के अनुसार बारहवें वर्ष में क्रमशः आहार की इस प्रकार कमी की जाती है जिससे आहार और आयु एक साथ ही समाप्त हों। उस वर्ष के अन्तिम चार महीनों में मुंह में तैल भर कर रखा जाता है। मुखयंत्र विसंवादी न हो—नमस्कार मंत्र आदि का उच्चारण करने में असमर्थ न हो, यह उसका प्रयोजन है।[2]

संलेखना का अर्थ है छीलना—कृश करना। शरीर को कृश करना—यह द्रव्य (बाह्य) संलेखना है। कषाय को कृश करना—यह भाव (आन्तरिक) संलेखना है।[3]

आचार्य शिवकोटि ने छह प्रकार के बाह्य-तप को बाह्य-संलेखना का साधन माना है।[4] संलेखना का दूसरा क्रम एक दिन उपवास और दूसरे दिन वृत्ति-परिसंख्यान तप है।[5] बारह भिक्षु-प्रतिमाओं को भी संलेखना का साधन माना है।[6] शरीर-संलेखना के इन अनेक विकल्पों में आचाम्ल तप उत्कृष्ट साधन है। संलेखना करने वाला बेला, तेला, चोला, पंचोला आदि तप करके पारणे में मित और हल्का आहार (बहुधा आचाम्ल अर्थात् काँजी का आहार—'आयंबिलं—कांजिकाहारं' मूलाराधना ३।२५१, मूलाराधना दर्पण) करता है।[7]

भक्त-परिज्ञा का उत्कृष्ट काल १२ वर्ष का है।[8] उसका क्रम इस प्रकार है—

(१) प्रथम चार वर्षों में विचित्र अर्थात् अनियत काय-क्लेशों के द्वारा शरीर कृश किया जाता है।

(२) दूसरे चार वर्षों में विकृतियों का परित्याग कर शरीर को सुखाया जाता है।[9]

(३) नौवें और दसवें वर्ष में आचाम्ल और विकृति वर्जन किया जाता है।

(४) ग्यारहवें वर्ष में केवल आचाम्ल किया जाता है।

(५) बारहवें वर्ष की प्रथम छमाही में अविकृष्ट तप—उपवास, बेला आदि किया जाता है।[10]

(६) बारहवें वर्ष की दूसरी छमाही में विकृष्ट तप—तेला, चोला आदि किया जाता है।

दोनों परम्पराओं में संलेखना के विषय में थोड़ा क्रम-भेद है, किन्तु वह विचारणीय नहीं है। आचार्य शिवकोटि के शब्दों में संलेखना

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ७०६-७०७ :
'संवत्सरे' वर्षे प्रक्रमाद् द्वादशे 'मुनिः' साधुः 'मासं' त्ति सूत्रत्वान्मासं भूतो मासिकस्तेनैवमार्द्धमासिकेन 'आहारेण'त्ति उपलक्षणत्वादाहारत्यागेन, पाठान्तरतश्च क्षपणेन 'तपः' इति प्रस्तावाद्भक्तपरिज्ञानादिकमनशनं 'चरेत्'।

२–सभाष्य निशीथ चूर्णि, भाग ३, पृ० २९४।

३–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र ७०६ :
संलेखनं—द्रव्यतः शरीरस्य भावतः कषायाणां कृशताऽऽपादनं संलेखा, सल्लेखनेति।
(ख) मूलाराधना, ३।२०६।

४–(क) मूलाराधना, ३।२०८।
(ख) मूलाराधना दर्पण, ३।२०८, पृ० ४३५।
(ग) मूलाराधना, ३।२४६।

५–वही, ३।२४७।

६–वही, ३।२४९।

७–वही, ३।२५०-२५१।

८–वही, ३।२५२।

९–(क) मूलाराधना, ३।२५३।
(ख) मूलाराधना दर्पण, ३।२५४, पृ० ४७५ :
निर्विकृतिः रसव्यंजनादिवर्जितमव्यतिकीर्णमोदनादि भोजनम्।

१०–वही, ३।२५४।

के लिए वही तप या उसका क्रम अंगीकार करना चाहिए जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और शरीर-धातु के अनुकूल हो।[1] संलेखना का जो क्रम बतलाया गया है, वही क्रम है ऐसा नियम नहीं है। जिस प्रकार शरीर का क्रमशः संलेखन (तनूकरण) हो, वही प्रकार अंगीकरणीय है।

रत्नकरण्डक श्रावकाचार में उपसर्ग, दुर्भिक्ष, बुढ़ापा और असाध्य रोग उत्पन्न होने पर धर्म की आराधना के लिए शरीर त्यागने को 'संलेखना' कहा गया है।[2]

श्लोक १४

५–अवमौदर्य (ऊनोदरिका) (ओमोयरियं क) :

यह बाह्य-तप का दूसरा प्रकार है। इसका अर्थ है 'जिस व्यक्ति की जितनी आहार-मात्रा है, उससे कम खाना'। यहाँ इसके पाँच प्रकार किए गए हैं—(१) द्रव्य की दृष्टि से अवमौदर्य, (२) क्षेत्र की दृष्टि से अवमौदर्य, (३) काल की दृष्टि से अवमौदर्य, (४) भाव की दृष्टि से अवमौदर्य और (५) पर्यव की दृष्टि से अवमौदर्य।

औपपातिक में इसका विभाजन भिन्न प्रकार से है—(१) द्रव्यतः अवमौदर्य और (२) भावतः अवमौदर्य। द्रव्यतः अवमौदर्य के दो प्रकार हैं—(१) उपकरण अवमौदर्य और (२) भक्त-पान अवमौदर्य। भक्त-पान अवमौदर्य के अनेक प्रकार हैं—(१) आठ ग्रास खाने वाला अल्पाहारी होता है, (२) बारह ग्रास खाने वाला अपार्द्ध अवमौदर्य होता है, (३) सोलह ग्रास खाने वाला अर्द्ध अवमौदर्य होता है, (४) चौबीस ग्रास खाने वाला पौन अवमौदर्य होता है और (५) इकतीस ग्रास खाने वाला किंचित् अवमौदर्य होता है।[3]

यह कल्पना भोजन की पूर्ण मात्रा के आधार पर की गई है। पुरुष के आहार की पूर्ण मात्रा बत्तीस ग्रास और स्त्री के पूर्ण आहार की मात्रा अट्ठाईस ग्रास है।[4] ग्रास का परिमाण मुर्गी के अण्डे[5] अथवा हजार चावल जितना[6] बतलाया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि जितनी भूख हो, उससे एक कवल तक कम खाना भी अवमौदर्य है। क्रोध, मान, माया, लोभ, कलह आदि को कम करना भावतः अवमौदर्य है।[7] निद्रा-विजय, समाधि, स्वाध्याय, परम-संयम और इन्द्रिय-विजय—ये अवमौदर्य के फल हैं।[8]

श्लोक १६

६–श्लोक १६ :

गामे—जो गुणों को ग्रसित करे अथवा जहाँ १८ प्रकार के कर लगते हों, वह 'ग्राम' कहलाता है।[9] ग्राम का अर्थ 'समूह' है। जहाँ जहाँ जन-समूह रहता था, उसका नाम ग्राम हो गया।

१–मूलाराधना, ३।२५५।
२–रत्नकरण्डक श्रावकाचार, १२२ :
उपसर्गे दुर्भिक्षे, जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः॥
३–औपपातिक, सूत्र १९।
४–मूलाराधना, ३।२११।
५–औपपातिक, सूत्र १९।
६–मूलाराधना दर्पण, पृ० ४२७ :
ग्रासो भावि सहस्रतंदुलमितः।
७–औपपातिक, सूत्र १९।
८–मूलाराधना, ३।२११, अमितगति, पृ० ४२८।
९–बृहद् वृत्ति, पत्र ६०५ :
ग्रसति गुणान् गम्यो वाऽष्टादशानां कराणामिति ग्रामः।

नगरे—जहाँ किसी प्रकार का कर न लगता हो, उसे 'नगर' कहा जाता है।[1] अर्थ-शास्त्र में राजधानी के लिए 'नगर' या 'दुर्ग' और साधारण कस्बों के लिए 'ग्राम' शब्द प्रयुक्त हुआ है। किन्तु प्रस्तुत श्लोक में राजधानी का प्रयोग भी हुआ है, इससे जान पड़ता है कि नगर बड़ी बस्तियों का नाम है, भले फिर वे राजधानी हों या न हों।

निगमे—व्यापारियों का गाँव ; वह बस्ती जहाँ बहुत व्यापारी रहते हैं।[2]

आगरे—खान का समीपवर्ती गाँव।[3]

पल्ली—बीहड़ स्थान में होने वाली बस्ती, चोरों का गाँव।[4]

श्लोक २५

७—भिक्षाचर्या (भिक्खायरियं घ)

यह बाह्य-तप का तीसरा प्रकार है। इसका दूसरा नाम 'वृत्ति-संक्षेप'[5] या 'वृत्ति-परिसंख्यान' है।[6] आठ प्रकार के गोचराग्रों, सात एषणाओं तथा अन्य विविध प्रकार के अभिग्रहों के द्वारा भिक्षा-वृत्ति को संक्षिप्त किया जाता है। गोचराग्र के आठ प्रकार हैं—

(१) पेटा—पेटा की भाँति चतुष्कोण घूमते हुए (बीच के घरों को छोड़ चारों दिशाओं में समश्रेणि स्थित घरों में जाते हुए), 'मुझे भिक्षा मिले तो लूँ अन्यथा नहीं'—इस संकल्प से भिक्षा करने का नाम पेटा है।[7]

(२) अर्द्ध-पेटा—अर्द्ध-पेटा की भाँति द्विकोण घूमते हुए (दो दिशाओं में स्थित गृह-श्रेणि में जाते हुए), 'मुझे भिक्षा मिले तो लूँ अन्यथा नहीं'—इस संकल्प से भिक्षा करने का नाम अर्द्ध-पेटा है।[8]

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ६०५ :

नात्र करोऽस्तीति नकरम्।

२—वही, पत्र ६०५ :

निगमयन्ति तस्मिन्ननेकविधभाण्डानीति निगमः—प्रभूततरवणिजां निवासः।

३—वही, पत्र ६०५ :

आकुर्वन्ति तस्मिन्नित्याकरो—हिरण्याद्युत्पत्तिस्थानम्।

४—वही, पत्र ६०५ :

'पल्लि' त्ति सुब्व्यत्ययात् पाल्यन्तेऽनया दुष्कृतविधायिनो जना इति पल्ली, नैरुक्तो विधिः, वृक्षगहनाद्याश्रितः प्रान्तजननिवासः।

५—समवायांग, समवाय ६।

६—मूलाराधना, ३।२१७।

७—(क) बृहद् वृत्ति, पत्र ६०५ :

'पेडा' पेडिका इव चउकोणा।

(ख) प्रवचनसारोद्धार, गाथा ७४८ :

चउदिसि सेणीभमणे, मज्झे मुक्कंमि भन्नए पेडा।

८—(क) बृहद् वृत्ति, पत्र ६०५ :

'अद्धपेडा' इमीए चेव अद्धसंठिया घरपरिवाडी।

(ख) प्रवचनसारोद्धार, गाथा ७४८ :

दिसिदुगसंबद्धस्सेणिभिक्खणे अद्धपेडत्ति।

(३) गो-मूत्रिका—गो-मूत्रिका की तरह बलखाते हुए (बाएँ पार्श्व के घर से दाएँ पार्श्व के घर में और दाएँ पार्श्व से बाएँ पार्श्व के घर में जाते हुए), 'मुझे भिक्षा मिले तो लूँ अन्यथा नहीं'—इस संकल्प से भिक्षा करने का नाम गो-मूत्रिका है ।[१]

(४) पतंग-वीथिका—पतिंगा जैसे अनियत क्रम से उड़ता है, वैसे अनियत क्रम से (एक घर से भिक्षा ले फिर कई घर छोड़ फिर किसी घर में) मुझे भिक्षा मिले तो लूं नहीं तो नहीं—इस प्रकार संकल्प से भिक्षा करने का नाम पतंग-वीथिका है ।[२]

(५) शंबूकावर्ता—शंख के आवर्तों की तरह भिक्षाटन करने को शंबूकावर्ता कहा जाता है । इसके दो प्रकार हैं—(१) आभ्यन्तर शंबूकावर्ता और (२) बाह्य शंबूकावर्ता ।

(क) शंख के नाभि-क्षेत्र से प्रारम्भ हो बाहर आने वाले आवर्त्त की भाँति गाँव के भीतरी भाग से भिक्षाटन करते हुए बाहरी भाग में आने को 'आभ्यन्तर शंबूकावर्ता' कहा जाता है ।

(ख) बाहर से भीतर जाने वाले शंख के आवर्त्त की भाँति गाँव के बाहरी भाग से भिक्षाटन करते हुए भीतरी भाग में आने को 'बाह्य शंबूकावर्ता' कहा जाता है ।[३]

स्थानांग वृत्ति के अनुसार (क) बाह्य शंबूकावर्ता की व्याख्या है और (ख) आभ्यन्तर शंबूकावर्ता की व्याख्या है ।[४]

किन्तु इन दोनों व्याख्याओं की अपेक्षा पंचाशकवृत्ति की व्याख्या अधिक हृदय-स्पर्शी है । उसके अनुसार दक्षिणावर्त शंख की भाँति दाँई ओर आवर्त्त करते हुए भिक्षा मिले तो लूँ नहीं तो नहीं—इस संकल्प से भिक्षा करने का नाम आभ्यन्तर शंबूकावर्ता है । इसी प्रकार वामावर्त शंख की भाँति बाँई ओर आवृत्त करते हुए भिक्षा मिले तो लूँ नहो तो नहीं—इस संकल्प से भिक्षा करने का नाम बाह्य शंबूकावर्ता है ।[५]

(६) आयतं-गत्वा-प्रत्यागता—सीधी सरल गली के अन्तिम घर तक जाकर वापिस आते हुए भिक्षा लेने का नाम आयतं-गत्वा-प्रत्यागता है ।[६]

१–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र ६०५ :
'गोमुत्तिया' वंकावलिया ।
(ख) प्रवचनसारोद्धार, गाथा ७४७ :
वामाओ दाहिणगिहे भिक्खिज्जइ दाहिणाओ वामंमि ।
जोए सा गोमुत्ती······························॥

२–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र ६०५ :
'पयंगविही' अणियया पयंगुड्डाणसरिसा ।
(ख) प्रवचनसारोद्धार, गाथा ७४७ :
अडुवियड्डा पयंगविही ।

३–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र ६०५ :
'संबुक्कावट्टं' ति शम्बूकः—शङ्खस्तस्यावर्त्तः शम्बूकावर्त्तस्तद्वदावर्त्तो यस्यां सा शम्बूकावर्त्ता, सा च द्विविधा—यतः सम्प्रदायः—
''अब्भिंतरसंबुक्का बाहिरसंबुक्का य, तत्थ अब्भंतरसंबुक्काए संखनाभिखेत्तोवमाए आगिइए अंतो आढवति बाहिरओ संणियट्टइ, इयरीए विवज्जओ ।''
(ख) प्रवचनसारोद्धार, गाथा ७४६ ।

४–स्थानांग, ६।५१४ वृत्ति, पत्र ३४७ :
यस्यां क्षेत्रबहिर्भागाच्छङ्खवृत्तत्वगत्याऽटन् क्षेत्रमध्यभागमायाति साऽभ्यन्तरसंबुक्का, यस्यां तु मध्यभागाद् बहिर्याति सा बहिःसम्बुक्केति ।

५–प्रवचनसारोद्धार, गाथा ७४६ वृत्ति, पत्र २१७ :
पञ्चाशकवृत्तौ तु शम्बूकावृत्ता—''शङ्खवद्वृत्तताटनं, सा च द्विविधा—प्रदक्षिणतोऽप्रदक्षिणतश्चे'' त्युक्तम् ।

६–बृहद् वृत्ति, पत्र ६०५ :
अत्रायतं—दीर्घं प्राञ्जलमित्यर्थः, तथा च सम्प्रदायः—'तत्थ उज्जुयं गंतूण नियट्टइ'' ।

उन्नीसवीं गाथा में ये छह प्रकार निर्दिष्ट हैं और प्रस्तुत श्लोक में गोचराग्र के आठ प्रकारों का उल्लेख है। वे आयतं-गत्वा-प्रत्यागता से पृथक् मानने पर तथा शंबूकावर्ता के उक्त दोनों प्रकारों को पृथक्-पृथक् मानने पर बनते हैं।[1]

मूलाराधना में गोचराग्र के छह प्रकार हैं—(१) गत्वा प्रत्यागता, (२) ऋजु-वीथि, (३) गो-मूत्रिका, (४) पेलविया, (५) शंबूकावर्ता और (६) पतंगवीथि।[2]

जिस मार्ग से भिक्षा लेने जाए उसी मार्ग से लौटते समय भिक्षा मिले तो वह ले सकता है अन्यथा नहीं—यह गत्वा (गत) प्रत्यागता का अर्थ है।[3]

प्रवचनसारोद्धार के अनुसार गली की एक पंक्ति में भिक्षा करता हुआ जाता है और लौटते समय दूसरी पंक्ति से भिक्षा करता है।[4]

सरल मार्ग से जाते समय यदि भिक्षा मिले तो वह ले सकता है अन्यथा नहीं—यह ऋजु-वीथि का अर्थ है।[5]

प्रवचन सारोद्धार के अनुसार ऋजु मार्ग से भिक्षाटन करते हुए जाता है, वापस आते समय भिक्षा नहीं करता।[6]

इन गोचराग्र की प्रतिमाओं में ऊनोदरी होती है, इसलिए इन्हें 'क्षेत्रतः अवमौदर्य' भी कहा गया है।[7]

सात एषणाएँ—

(१) संसृष्टा— खाद्य वस्तु से लिप्त हाथ या पात्र से देने पर भिक्षा लेना।

(२) असंसृष्टा— भोजन-जात से अलिप्त हाथ या पात्र से देने पर भिक्षा लेना।

(३) उद्धृता— अपने प्रयोजन के लिए राँधने के पात्र से दूसरे पात्र में निकाला हुआ आहार लेना।

(४) अल्पलेपा— अल्पलेप वाली अर्थात् चना, चिउड़ा आदि रूखी वस्तु लेना।

(५) अवगृहीता— खाने के लिए थाली में परोसा हुआ आहार लेना।

(६) प्रगृहीता— परसने के लिए कड़छी या चम्मच से निकाला हुआ आहार लेना।

(७) उज्झितधर्मा— जो भोजन अमनोज्ञ होने के कारण परित्याग करने योग्य हो, उसे लेना।[8]

मूलाराधना में वृत्ति-संक्षेप के प्रकार भिन्न रूप से प्राप्त होते हैं—

(१) संसृष्ट—शाक, कुल्माष आदि धान्यों से संसृष्ट आहार।

(२) फलिहा—मध्य में ओदन और उसके चारों ओर शाक रखा हो, ऐसा आहार।

(३) परिखा—मध्य में अन्न और उसके चारों ओर व्यंजन रखा हो, वैसा आहार।

(४) पुष्पोपहित—व्यंजनों के मध्य में पुष्पों के समान अन्न की रचना किया हुआ आहार।

१–प्रवचनसारोद्धार, गाथा ७४५।

२–मूलाराधना, ३।२१८।

३–वही, ३।२१८, विजयोदया :
गत्तापच्चागदं। यया वीथ्यागतः पूर्वं तयैव प्रत्यागमनं कुर्वन्यदि लभते भिक्षां गृह्णाति नान्यथा।

४–प्रवचनसारोद्धार, गाथा ७४६।

५–मूलाराधना, ३।२१८, विजयोदया :
उज्जुवीहिं ऋज्व्या वीथ्या गतो यदि लभते गृह्णाति नेतरथा।

६–प्रवचनसारोद्धार, गाथा ७४६।

७–बृहद् वृत्ति, पत्र ६०५-६०६ :
नन्वत्र गोचरत्वपत्वाद्भिक्षाचर्यात्वमेवासां तत्कथमिह क्षेत्रावमौदार्यत्वपलोक्ता ?, उच्यते, अवमौदार्यं ममास्त्वित्यभिसन्धिना विधीयमानत्वादवमौदार्यव्यपदेशोऽप्यदुष्ट एव, दृश्यते हि निमित्तभेदादेकत्रापि देवदत्तादौ पितृपुत्राद्यनेकव्यपदेशः, एवं पूर्वत्र ग्रामादिविषयस्योत्तरत्र कालादिविषयस्य च नैयत्याभिग्रहत्वेन भिक्षाचर्यात्वप्रसङ्गेऽप्येवमेवोत्तरं वाच्यम्।

८–(क) प्रवचनसारोद्धार, गाथा ७३९-७४३।
(ख) स्थानांग, ७।५४५, वृत्ति पत्र ३८६।

(५) शुद्धगोपहित— निष्पाव आदि धान्य से अमिश्रित शाक, व्यञ्जन आदि।

(६) लेपकृत— हाथ के चिपकने वाला आहार।

(७) अलेपकृत— हाथ के न चिपकने वाला आहार।

(८) पानक— द्राक्षा आदि से शोधित पानक—चाहे वह सिक्थ-सहित हो या सिक्थ-रहित।[1]

अमुक द्रव्य अमुक क्षेत्र में, अमुक काल में व अमुक अवस्था में मिले तो लूँ अन्यथा नहीं—इस प्रकार अनेक अभिग्रहों के द्वारा वृत्ति का संक्षेप किया जाता है।[2]

औपपातिक में वृत्ति-संक्षेप के तीस प्रकार बतलाए गए हैं—

(१) द्रव्याभिग्रहचरक
(२) क्षेत्राभिग्रहचरक
(३) कालाभिग्रहचरक
(४) भावाभिग्रहचरक
(५) उक्षिप्तचरक
(६) निक्षिप्तचरक
(७) उत्क्षिप्त-निक्षिप्तचरक
(८) निक्षिप्त-उत्क्षिप्तचरक
(९) परिवेष्यमाणचरक
(१०) संह्रियमाणचरक
(११) उपनीतचरक
(१२) अपनीतचरक
(१३) उपनीत-अपनीतचरक
(१४) अपनीत-उपनीतचरक
(१५) संसृष्टचरक
(१६) असंसृष्टचरक
(१७) तज्जातसंसृष्टचरक
(१८) अज्ञातचरक
(१९) मौनचरक
(२०) दृष्टलाभिक
(२१) अदृष्टलाभिक
(२२) पृष्टलाभिक
(२३) अपृष्टलाभिक
(२४) भिक्षालाभिक
(२५) अभिक्षालाभिक
(२६) अन्नग्लायक
(२७) औपनिधिक
(२८) परिमितपिण्डपातक
(२९) शुद्धएषणिक और
(३०) संख्यादत्तिक।[3]

मूलाराधना में पाटक, निवसन, भिक्षा-परिमाण और दातृ-परिमाण भी वृत्ति-संक्षेप के प्रकार बतलाए गए हैं।[4]

१–मूलाराधना, ३।२२०, विजयोदया :

संसिट्ठं—शाककुल्माषादिसंसृष्टमेव। फलिहा—समंतादवस्थितशाकं मध्यावस्थितौदनं। परिखा—व्यंजनमध्यावस्थितान्नं। पुप्फोवहिदं—च व्यंजनमध्ये पुष्पबलिरिव अवस्थितसिक्थं। सुद्धगोवहिदं—शुद्धेन निष्पावादिभिरमिश्रेणान्नेन उवहिदं संसृष्टं शाक-व्यंजनादिकं। लेवडं—हस्तलेपकारि। अलेवडं—यच्च हस्ते न सजति। पाणगं—पानं च कीदृक्? णिसित्थगमसित्थं सिक्थरहितं पानं तत्सहितं च।

२–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र ६०७।

(ख) मूलाराधना, ३।२२१।

३–औपपातिक, सूत्र १९।

४–मूलाराधना, ३।२१९।

श्लोक २६

८—रस-विवर्जन तप (रसविवज्जणं घ) :

रस-विवर्जन या रस-परित्याग बाह्य-तप का चतुर्थ प्रकार है। मूलाराधना में वृत्ति-परिसंख्या चतुर्थ और रस-परित्याग तृतीय प्रकार है।[1] उत्तराध्ययन में रस-विवर्जन का अर्थ है—(१) दूध, दही, घी आदि का त्याग और (२) प्रणीत (स्निग्ध) पान-भोजन का त्याग।

औपपातिक में इसका विस्तार मिलता है। वहाँ इसके निम्नलिखित प्रकार उपलब्ध हैं—

(१) निर्विकृति— विकृति का त्याग।
(२) प्रणीत रस-परित्याग— स्निग्ध व गरिष्ठ आहार का त्याग।
(३) आचामाम्ल— अम्ल-रस मिश्रित भात आदि का आहार।
(४) आयाम-सिक्थ भोजन— ओसामण से मिश्रित अन्न का आहार।
(५) अरस आहार— हींग आदि से असंस्कृत आहार।
(६) विरस आहार— पुराने धान्य का आहार।
(७) अन्त्य आहार— वल्ल आदि तुच्छ धान्य का आहार।
(८) प्रान्त्य आहार— ठण्डा आहार।
(९) रूक्ष आहार— रूखा आहार।[2]

इस तप का प्रयोजन है 'स्वाद-विजय'। इसीलिए रस-परित्याग करने वाला विकृति, सरस व स्वादु भोजन नहीं खाता।

विकृतियाँ नौ हैं—(१) दूध, (२) दही, (३) नवनीत, (४) घृत, (५) तैल, (६) गुड़, (७) मधु, (८) मद्य और (९) मांस।[3] इनमें मधु, मद्य, मांस और नवनीत—ये चार महाविकृतियाँ हैं।[4]

जिन वस्तुओं से जीभ और मन विकृत होते हैं—स्वाद-लोलुप या विषय-लोलुप बनते हैं, उन्हें 'विकृति' कहा जाता है। पंडित आशाधरजी ने इसके चार प्रकार बतलाए हैं—

(१) गोरस विकृति— दूध, दही, घृत, मक्खन आदि।
(२) इक्षु-रस विकृति— गुड़, चीनी आदि।
(३) फल-रस विकृति— अंगूर, आम आदि फलों के रस।
(४) धान्य-रस विकृति— तैल, माँड़ आदि।[5]

स्वादिष्ट भोजन को भी विकृति कहा जाता है।[6] इसलिए रस-परित्याग करने वाला शाक, व्यञ्जन, नमक आदि का भी वर्जन करता है। मूलाराधना के अनुसार दूध, दही, घृत, तैल और गुड़—इनमें से किसी एक का अथवा इन सबका परित्याग करना 'रस-परित्याग' है तथा 'अवगाहिम विकृति' (मिठाई) पूड़े, पत्र-शाक, दाल, नमक आदि का त्याग भी रस-परित्याग है।[7]

१—मूलाराधना, ३।२०८।
२—औपपातिक, सूत्र १९।
३—स्थानांग, ९।६७४।
४—(क) स्थानांग, ४।१।२७४।
(ख) मूलाराधना, ३।२१३।
५—सागारधर्मामृत, ५।३५, टीका।
६—वही, ५।३५, टीका।
७—मूलाराधना, ३।२१५।

रस-परित्याग करने वाले मुनि के लिए निम्न प्रकार के भोजन का विधान है—

(१) अरस आहार—	स्वाद-रहित भोजन।
(२) अन्यवेलाकृत—	ठंडा भोजन।
(३) शुद्धौदन—	शाक आदि से रहित कोरा भात।
(४) रूखा भोजन—	घृत-रहित भोजन।
(५) आचामाम्ल—	अम्ल-रस-सहित भोजन।
(६) आयामौदन—	जिसमें थोड़ा जल और अधिक अन्न-भाग हो, ऐसा आहार अथवा ओसामण-सहित भात।
(७) विकटौदन—	बहुत पका हुआ भात अथवा गर्म-जल मिला हुआ भात।[१]

जो रस-परित्याग करता है, उसके तीन बातें फलित होती हैं—(१) संतोष की भावना, (२) ब्रह्मचर्य की आराधना और (३) वैराग्य।[२]

श्लोक २७

९–श्लोक २७ :

'काय-क्लेश' बाह्य-तप का पाँचवाँ प्रकार है। प्रस्तुत अध्ययन में काय-क्लेश का अर्थ 'वीरासन आदि कठोर आसन करना' किया गया है। स्थानांग में काय-क्लेश के ७ प्रकार निर्दिष्ट हैं—(१) स्थान—कायोत्सर्ग, (२) ऊकडू आसन, (३) प्रतिमा आसन, (४) वीरासन, (५) निषद्या, (६) दण्डायत आसन और (७) लगण्ड-शयनासन।[३] इनकी सूचना 'वीरासणाईया' इस वाक्यांश में है।

औपपातिक में काय-क्लेश के दस प्रकार बतलाए गए हैं—(१) स्थान—कायोत्सर्ग, (२) ऊकडू आसन, (३) प्रतिमा आसन, (४) वीरासन, (५) निषद्या, (६) आतापना, (७) वस्त्र-त्याग, (८) अकण्डूयन—खाज न करना, (९) अनिष्ठीवन—थूकने का त्याग और (१०) सर्व गात्र परिकर्म विभूषा का वर्जन—देह परिकर्म की उपेक्षा।[४]

आचार्य वसुनन्दि के अनुसार आचाम्ल, निर्विकृति, एकस्थान, उपवास, बेला आदि के द्वारा शरीर को कृश करना 'काय-क्लेश' है।[५]

यह व्याख्या उक्त व्याख्याओं से भिन्न है। वैसे तो उपवास आदि करने में काया को क्लेश होता है, किन्तु भोजन से सम्बन्धित—अनशन, ऊनोदरी, वृत्ति-संक्षेप और रस-परित्याग—चारों बाह्य-तपों से काय-क्लेश का लक्षण भिन्न होना चाहिए। इस दृष्टि से काय-क्लेश की व्याख्या उपवास-प्रधान न होकर अनासक्ति-प्रधान होनी चाहिए। शरीर के प्रति निर्ममत्व-भाव रखना तथा उसे प्राप्त करने के लिए आसन आदि साधना, उसको संवारने से उदासीन रहना—यह काय-क्लेश का मूल-स्पर्शी अर्थ होना चाहिए।

द्वितीय अध्ययन में जो परीषह बतलाए गए हैं, उनसे यह भिन्न है। काय-क्लेश स्वयं इच्छानुसार किया जाता है और परीषह समागत कष्ट होता है।[६]

१–मूलाराधना, ३।२१६।

२–मूलाराधना, ३।२१७, अमितगति :

संतोषो भावितः सम्यग्, ब्रह्मचर्यं प्रपालितम्।
दर्शितं स्वस्य वैराग्यं, कुर्वाणेन रसोज्झनम्॥

३–स्थानांग, ७।५५४।

४–औपपातिक, सूत्र १९।

५–वसुनन्दि श्रावकाचार, श्लोक ३५१ :

आयंबिल णिव्वियडी, एयट्ठाणं छट्ठमाइखवणेहिं।
जं कीरइ तणुतावं, कायकिलेसो मुणेयव्वो॥

६–तत्त्वार्थ, ९।१९, श्रुतसागरीय वृत्ति :

यदृच्छया समागतः परीषहः, स्वयमेव कृतः काय-क्लेशः इति परीषहकायक्लेशयोर्विशेषः।

श्रुतसागर गणि के अनुसार ग्रीष्म ऋतु में धूप में, शीत ऋतु में खुले स्थान में और वर्षा ऋतु में वृक्ष के नीचे सोना, नाना प्रकार की प्रतिमाएँ और आसन करना 'काय-क्लेश' है।[1]

मूलाराधना में काय-क्लेश के पाँच विभाग किए गए हैं—

(१) **गमन योग**

(क) अनुसूर्य गमन— कड़ी धूप में पूर्व से पश्चिम की ओर जाना।

(ख) प्रतिसूर्य गमन— पश्चिम से पूर्व की ओर जाना।

(ग) ऊर्ध्वसूर्य गमन— मध्याह्न सूर्य में गमन करना।

(घ) तिर्यक्सूर्य गमन— सूर्य तिरछा हो तब गमन करना।

(ङ) उद्भ्रमक गमन— अवस्थित ग्राम से भिक्षा के लिए दूसरे गाँव मे जाना।

(च) प्रत्यागमन— दूसरे गाँव जाकर पुनः अवस्थित गाँव में लौट आना।[2]

(२) **स्थान योग**

श्वेताम्बर-साहित्य में 'ठाणाइय' पाठ मिलता है और कहीं-कहीं 'ठाणायत'। 'ठाणायत' की अपेक्षा 'ठाणाइय' अधिक अर्थ-सूचक है। बृहत्कल्प भाष्य की वृत्ति में स्थान के साथ लगे आदि शब्द को निषीदन व शयन का ग्राहक बताया गया है।[3]

औपपातिक में भी तप के प्रकरण में 'ठाणाइय' है। उसका भी स्पष्ट अर्थ लब्ध नहीं है। मूलाराधना को देखने से सहज ही यह प्राप्त होता है कि आदि शब्द स्थान के प्रकारों का संग्राहक है। उसके अनुसार स्थान या ऊर्ध्वस्थान के सात प्रकार हैं—

(क) साधारण— स्तम्भ या भित्ति का सहारा लेकर खड़े होना।

(ख) सविचार— पूर्वावस्थित स्थान से दूसरे स्थान में जाकर प्रहर, दिवस आदि तक खड़े रहना।

(ग) सनिरुद्ध— स्व-स्थान में खड़े रहना।

(घ) व्युत्सर्ग— कायोत्सर्ग करना।

(ङ) समपाद— पैरों को सटा कर खड़े रहना।

(च) एक पाद— एक पैर से खड़े रहना।

(छ) गृद्धोड्डीन— आकाश में उड़ते समय गीध जैसे अपने पंख फैलाता है, वैसे अपनी बाहों को फैला कर खड़े रहना।[4]

(३) **आसन योग**

(क) पर्यंक— दोनों जंघाओं के अधोभाग को दोनों पैरों पर टिका कर बैठना।

(ख) निषद्या— विशेष प्रकार से बैठना।

(ग) समपद— जंघा और कटि भाग को समान कर बैठना।

(घ) गोदोहिका— गाय को दुहते समय जिस आसन में बैठते है, उस आसन में बैठना।

(ङ) उत्कुटिका— ऊकडू बैठना—एड़ी और पुतों को ऊंचा रख कर बैठना।

१—तत्त्वार्थ, ९।१९, श्रुतसागरीय वृत्ति।

२—मूलाराधना, ३।२२२।

३—वही, ३।२२३।

४—बृहत्कल्प : भाष्य, गाथा ५९५३, वृत्ति :

स्थानायतं नाम ऊर्ध्वं स्थानरूपमायतं स्थानं तद् यस्यामस्ति सा स्थानायतिका। केचित्तु 'ठाणाइयाए' इति पठन्ति, तत्रायमर्थः— सर्वेषां निषीदनादीनां स्थानानां आदिभूतमूर्ध्वस्थानम्, अतः स्थानानामादौ गच्छतीति व्युत्पत्त्या स्थानादिगं तद् उच्यते।

(च) मकरमुख— मगर के मुंह के समान पावों की आकृति बना कर बैठना।

(छ) हस्तिशुंडि— हाथी की सूंड की भांति एक पैर को फैला कर बैठना।

(ज) गो-निषद्या— दोनो जंघाओं को सिकोड़ कर गाय की तरह बैठना।

(झ) अर्धपर्यंक— एक जंघा के अधोभाग को एक पैर पर टिका कर बैठना।

(ञ) वीरासन— दोनों जंघाओं को अन्तर से फैला कर बैठना।

(ट) दण्डायत— दण्ड की तरह पैरों को फैला कर बैठना।[1]

(४) **शयन योग**—

(क) ऊर्ध्व शयन— ऊंचा होकर सोना।

(ख) लगंड शयन— एक काठ की भाँति एड़ियों और शिर को भूमि से सटा कर शेष शरीर को ऊपर उठा कर सोना अथवा पीठ को भूमि से सटा कर शेष शरीर को ऊपर उठा कर सोना।

(ग) उत्तान शयन— सीधा लेटना।

(घ) अवमस्तक शयन— औंधा लेटना।

(ङ) एकपार्श्व शयन— दाईं या बाईं करवट लेना।

(च) मृतक शयन— शवासन।

(५) **अपरिकर्म योग**—

(क) अभ्रावकाश शयन— खुले आकाश में सोना।

(ख) अनिष्ठीवन— नहीं थूकना।

(ग) अकण्डूयन— नहीं खुजलाना।

(घ) तृण-फलक-शिला-भूमि-शय्या— घास, काठ के फलक, शिला और भूमि पर सोना।

(ङ) केश लोच— बालों को हाथ से नोंचना।

(च) अभ्युत्थान— रात में जागना।

(छ) अस्नान— स्नान नहीं करना।

(ज) अदन्तधावन— दतौन नहीं करना।

(झ) शीत-उष्ण, आतापना, गर्मी और धूप सहन करना।[2]

स्थान (आसन)-तालिका

उत्तराध्ययन, स्थानांग और औपपातिक के स्थान-शब्द का विवरण मूलाराधना के स्थान-योग में मिलता है। स्थानांग में ७, औपपातिक में ८, बृहत्कल्प में १२ और दशाश्रुत-स्कंध में १० आसनों का उल्लेख मिलता है। मूलाराधना में इक्कीस, ज्ञानार्णव में सात, योग-शास्त्र में नौ, प्रवचनसारोद्धार में दस तथा अमितगति श्रावकाचार में पाँच आसनों का उल्लेख है—

स्थानाङ्ग, (७।५५४)

कायोत्सर्ग, उत्कटुकासन, प्रतिमासन, वीरासन, निषद्या, दण्डायतासन और लगण्डशयनासन।

१–**मूलाराधना**, ३।२२४-२५।

२–**वही**, ३।२२६-२२७।

औपपातिक, (१९)

कायोत्सर्ग, उत्कटुकासन, प्रतिमासन, वीरासन, निषद्या, दण्डायत, लगण्डशयन और आतापनासन ।

बृहत्कल्प, (५१९-३०)

समपादिका, कायोत्सर्ग, प्रतिमासन, निषद्या, उत्कटुकासन, वीरासन, दण्डासन, लगण्डशयन, अधोमुखासन, उत्तानशयन, आम्रकुब्जिका और एकपार्श्वशयन ।

दशाश्रुतस्कन्ध, (७)

उत्तानशयन, पार्श्वशयन, निषद्या, दण्डायतासन, लगण्डशयन, उत्कटुकासन, कायोत्सर्ग, गो-दोहिकासन, वीरासन और आम्रकुब्जासन ।

मूलाराधना

व्युत्सर्ग, समपाद, एकपाद, गृद्धोड्डीन, पर्यङ्क, निषद्या, समपाद, गो-दोहिका, उत्कुटिका, मकरमुख, हस्तिशुंडि, गो-निषद्या, अर्धपर्यङ्क, वीरासन, दण्डायतशयन, ऊर्ध्वशयन, लगण्डशयन, उत्तानशयन, अवमस्तकशयन, एकपार्श्वशयन और मृतक-शयन --शवासन ।

ज्ञानार्णव, (२८।१०)

पर्यङ्कासन, अर्द्धपर्यङ्कासन, वज्रासन, वीरासन, सुखासन, पद्मासन और कायोत्सर्ग ।

योगशास्त्र, (४।१२४)

पर्यङ्कासन, वीरासन, वज्रासन, पद्मासन, भद्रासन, दण्डासन, उत्कटुकासन, गो-दोहिकासन और कायोत्सर्ग ।

प्रवचनसारोद्धार, (५८३-५८५)

उत्तानशयन, पार्श्वशयन, निषद्या, कायोत्सर्ग, उत्कटुक, लगण्डशयन, दण्डायतासन, गो-दोहिकासन, वीरासन और आम्रकुब्ज ।

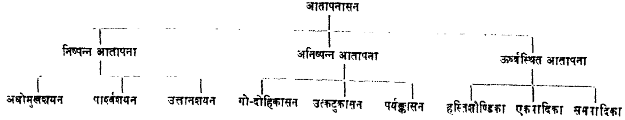
अमितगति श्रावकाचार, (८।४५-४८)

पद्मासन, पर्यङ्कासन, वीरासन, उत्कटुकासन और गवासन ।

निषद्या के भेद निम्न प्रकार उपलब्ध हैं :

स्थानाङ्ग (५।४००)	बृहत्कल्प भाष्य (५९५३)
उत्कटुका	समपादपुता
गो-दोहिका	गो-निषधिका
समपादपुता	हस्तिशुण्डिका
पर्यङ्का	पर्यङ्का
अर्धपर्यङ्का	अर्धपर्यङ्का

औपपातिक (१९) में आतापनासन के भेदोपभेद इस प्रकार मिलते हैं :



श्लोक २८

१०–श्लोक २८ :

इस श्लोक में छठे बाह्य-तप की परिभाषा की गई है। आठवें श्लोक में बाह्य-तप का छठा प्रकार 'संलीनता' बतलाया गया है और इस श्लोक में उसका नाम 'विविक्त-शयनासन' है। भगवती (२५।७।८०२) में छठा प्रकार 'प्रतिसंलीनता' है। तत्त्वार्थ सूत्र (९-१९) में विविक्त-शयनासन बाह्य-तप का पाँचवाँ प्रकार है। मूलाराधना (३।२०८) में विविक्त-शय्या बाह्य-तप का छठा प्रकार है। इस प्रकार कुछ ग्रन्थों में संलीनता या प्रतिसंलीनता और कुछ ग्रन्थों में विविक्त-शयनासन या विविक्त-शय्या का प्रयोग मिलता है। किन्तु औपपातिक के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मूल शब्द 'प्रतिसंलीनता' है। विविक्त-शयनासन उसी का एक अवान्तर भेद है।

प्रतिसंलीनता चार प्रकार की होती है—(१) इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता, (२) कषाय-प्रतिसंलीनता, (३) योग-प्रतिसंलीनता और (४) विविक्त-शयनासन-सेवन।[1]

प्रस्तुत अध्ययन में संलीनता की परिभाषा केवल विविक्त-शयनासन के रूप में की गई, यह आश्चर्य का विषय है। हो सकता है सूत्रकार इसी को महत्त्व देना चाहते हों।

तत्त्वार्थ सूत्र आदि उत्तरवर्ती-ग्रन्थों में इसी का अनुसरण हुआ है।[2] विविक्त-शयनासन का अर्थ मूलपाठ में स्पष्ट है।

मूलाराधना के अनुसार शब्द, रस, गन्ध और स्पर्श के द्वारा चित्त-विक्षेप नहीं होता, स्वाध्याय और ध्यान में व्याघात नहीं होता, वह 'विविक्त-शय्या' है। जहाँ स्त्री-पुरुष और नपुंसक न हों, वह विविक्त-शय्या है। भले फिर उसके द्वार खुले हों या बंद, उसका प्राँगण सम हो या विषम, वह गाँव के बाह्य-भाग में हो या मध्य भाग में, शीत हो या उष्ण।

विविक्त-शय्या के कुछ प्रकार ये हैं—शून्य-गृह, गिरि-गुफा, वृक्ष-मूल, आगन्तुक-आगार (विश्राम-गृह), देव-कुल, अकृत्रिम-शिला-गृह, और कूट-गृह।

विविक्त-शय्या में रहने से इतने दोषों से सहज ही बचाव हो जाता है—(१) कलह, (२) बोल (शब्द बहुलता), (३) झंझा (संक्लेश), (४) व्यामोह, (५) सांकर्य (असंयमियों के साथ मिश्रण), (६) ममत्व और (७) ध्यान तथा स्वाध्याय का व्याघात।[3]

श्लोक ३१

११–श्लोक ३१ :

प्रायश्चित्त आभ्यन्तर-तप का पहला प्रकार है। उसके दस प्रकार हैं—

(१) आलोचना-योग्य— गुरु के समक्ष अपने दोषों का निवेदन करना।

(२) प्रतिक्रमण-योग्य— किए हुए पापों से निवृत्त होने के लिए 'मिथ्या मे दुष्कृतम्' 'मेरे सब पाप निष्फल हों'—ऐसा कहना, कायोत्सर्ग आदि करना तथा भविष्य में पाप-कार्यों से दूर रहने के लिए सावधान रहना।

१—औपपातिक, सूत्र १९ :
से किं तं पडिसंलीणया ? २—चउव्विहा पण्णत्ता, तंजहा—इंदियपडिसंलीणया कसायपडिसंलीणया जोगपडिसंलीणया विवित्तसयणासणसेवणया।

२—तत्त्वार्थ, सूत्र ९।१९ :
अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः।

३—मूलाराधना, ३।२२८-२९,३१,३२।

(३) तदुभय-योग्य—	पाप से निवृत्त होने के लिए आलोचना और प्रतिक्रमण—दोनों करना।
(४) विवेक-योग्य—	आए हुए अशुद्ध-आहार आदि का उत्सर्ग करना।
(५) व्युत्सर्ग-योग्य—	चौबीस तीर्थङ्करों की स्तुति के साथ कायोत्सर्ग करना।
(६) तप-योग्य—	उपवास, बेला आदि करना।
(७) छेद-योग्य—	पाप-निवृत्ति के लिए संयम-काल को छेद कर कम कर देना।
(८) मूल-योग्य—	पुनः व्रतों में आरोपित करना—नई दीक्षा देना।
(९) अनवस्थापना-योग्य—	तपस्या पूर्वक नई दीक्षा देना।
(१०) पारांचिक-योग्य—	भर्त्सना एवं अवहेलना पूर्वक नई दीक्षा देना।[1]

तत्त्वार्थ सूत्र (९।२२) में प्रायश्चित्त के प्रकार ९ ही बतलाए गए हैं। पारांचिक का उल्लेख नहीं है।

श्लोक ३२

१२–श्लोक ३२ :

विनय आभ्यन्तर-तप का दूसरा प्रकार है। प्रस्तुत श्लोक में उसके प्रकारों का निर्देश नहीं है। स्थानांग (७।५८५), भगवती (२५।७।८०२) और औपपातिक (सूत्र २०) में विनय के ७ भेद बतलाए गए हैं—

(१) ज्ञान-विनय—	ज्ञान के प्रति भक्ति, बहुमान आदि करना।
(२) दर्शन-विनय—	गुरु की शुश्रूषा करना, आशातना न करना।
(३) चारित्र-विनय—	चारित्र का यथार्थ प्ररूपण और अनुष्ठान करना।
(४) मनो-विनय—	अकुशल-मन का निरोध और कुशल की प्रवृत्ति।
(५) वचन-विनय—	अकुशल-वचन का निरोध और कुशल की प्रवृत्ति
(६) काय-विनय—	अकुशल-काय का निरोध और कुशल की प्रवृत्ति।
(७) लोकोपचार-विनय—	लोक-व्यवहार के अनुसार विनय करना।

तत्त्वार्थ सूत्र (९।२३) में विनय के प्रकार चार ही बतलाए गए हैं—(१) ज्ञान-विनय, (२) दर्शन-विनय, (३) चारित्र-विनय और (४) उपचार-विनय।

श्लोक ३३

१३–श्लोक ३३ :

वैयावृत्त्य आभ्यन्तर तप का तीसरा प्रकार है। स्थानांग (१०।७१) के आधार पर उसके दस प्रकार हैं—(१) आचार्य का वैयावृत्त्य, (२) उपाध्याय का वैयावृत्त्य, (३) स्थविर का वैयावृत्त्य, (४) तपस्वी का वैयावृत्त्य, (५) ग्लान का वैयावृत्त्य, (६) शैक्ष (नव-दीक्षित) का वैयावृत्त्य, (७) कुल का वैयावृत्त्य, (८) गण का वैयावृत्त्य, (९) संघ का वैयावृत्त्य और (१०) साधर्मिक का वैयावृत्त्य।[2]

१–(क) स्थानांग, १०।७३३।
(ख) भगवती, २५।७।८०१।
(ग) औपपातिक, सूत्र २०।

२–औपपातिक सूत्र २० की वृत्ति में निम्न परिभाषाएँ हैं :
कुल—गच्छों का समुदाय (कुलं गच्छसमुदायः)।
गण—कुलों का समुदाय (गणं कुलानां समुदायः)।
संघ—गणों का समुदाय (संघो गणसमुदायः)।
साधर्मिक—समान धर्मा—समान धर्म वाले साधु-साध्वी (साधर्मिकः साधुः साध्वी वा)।

भगवती (२५।७।८०२) और औपपातिक (सूत्र २०) के वर्गीकरण का क्रम उपर्युक्त क्रम से कुछ भिन्न है। वह इस प्रकार है : (१) आचार्य का वैयावृत्त्य, (२) उपाध्याय का वैयावृत्त्य, (३) शैक्ष का वैयावृत्त्य, (४) ग्लान का वैयावृत्त्य, (५) तपस्वी का वैयावृत्त्य, (६) स्थविर का वैयावृत्त्य, (७) साधर्मिक का वैयावृत्त्य, (८) कुल का वैयावृत्त्य, (९) गण का वैयावृत्त्य और (१०) संघ का वैयावृत्त्य।

तत्त्वार्थ सूत्र (९।२४) में ये कुछ परिवर्तन के साथ मिलते हैं—(१) आचार्य का वैयावृत्त्य, (२) उपाध्याय का वैयावृत्त्य, (३) तपस्वी का वैयावृत्त्य, (४) शैक्ष का वैयावृत्त्य, (५) ग्लान का वैयावृत्त्य, (६) गण का वैयावृत्त्य (गण—श्रुत-स्थविरों की परम्परा का संस्थान)[1], (७) कुल का वैयावृत्त्य (एक आचार्य का साधु-समुदाय 'गच्छ' कहलाता है। एक जातीय अनेक गच्छों को 'कुल' कहा जाता है।)[2], (८) संघ का वैयावृत्त्य (संघ अर्थात् साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका)[3], (९) साधु का वैयावृत्त्य और (१०) समनोज्ञ का वैयावृत्त्य। (समान सामाचारी वाले तथा एक मण्डली में भोजन करने वाले साधु 'समनोज्ञ' कहलाते हैं)।[4]

इस वर्गीकरण में स्थविर और साधर्मिक—ये दो प्रकार नहीं हैं, उनके स्थान पर साधु और समनोज्ञ—ये दो प्रकार हैं। गण और कुल की भाँति संघ का अर्थ भी साधु-परक ही होना चाहिए। ये दसों प्रकार केवल साधु-समूह के विविध पदों या रूपों से सम्बद्ध हैं।

श्लोक ३४

१४–श्लोक ३४ :

स्वाध्याय आभ्यन्तर-तप का चौथा प्रकार है। उसके पाँच भेद हैं—(१) वाचना, (२) प्रच्छना, (३) परिवर्तना, (४) अनुप्रेक्षा और (५) धर्मकथा।

देखिए—२९।१८ का टिप्पण।

तत्त्वार्थ सूत्र (९।२५) में इनका क्रम और एक नाम भी भिन्न है—(१) वाचना, (२) प्रच्छना, (३) अनुप्रेक्षा, (४) आम्नाय और (५) धर्मोपदेश।

इनमें परिवर्तना के स्थान में 'आम्नाय' है। आम्नाय का अर्थ है 'शुद्ध उच्चारण पूर्वक बार-बार पाठ करना'।[5]

परिवर्तना या आम्नाय को अनुप्रेक्षा से पहले रखना अधिक उचित लगता है। स्वाध्याय के प्रकारों में एक क्रम है—आचार्य शिष्यों को पढ़ाते हैं, यह वाचना है। पढ़ते समय या पढ़ने के बाद शिष्य के मन में जो जिज्ञासाएँ उत्पन्न होती हैं, उन्हें वह आचार्य के सामने प्रस्तुत करता है, यह प्रच्छना है। आचार्य से प्राप्त श्रुत को याद रखने के लिए वह बार-बार उसका पाठ करता है, यह परिवर्तना है।

१–तत्त्वार्थाधिगम सूत्र, ९।२४, भाष्यानुसारीटीका :
गणः—स्थविरसन्ततिसंस्थितिः। स्थविरग्रहणेन श्रुतस्थविरपरिग्रहः, न वयसा पर्यायेण वा, तेषां सन्ततिः—परम्परा तस्याः संस्थानं—वर्तनं अद्यापि भवनं संस्थितिः।

२–वही, ९।२४ :
कुलमाचार्यसन्ततिसंस्थितिः एकाचार्यप्रणेयसाधुसमूहो गच्छः।
बहूनां गच्छानां एकजातीयानां समूहः कुलम्।

३–वही, ९।२४ :
सङ्घश्चतुर्विधः—साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविकाः।

४–वही, ९।२४ :
द्वादशविधसम्भोगभाजः समनोज्ञाभवर्शनचारित्राणि मनोज्ञानि सह मनोज्ञैः समनोज्ञाः।

५–वही, ९।२५, श्रुतसागरीय वृत्ति :
अष्टस्थानोच्चारविशेषेण यच्छुद्धं घोषणं पुनः पुनः परिवर्तनं स आम्नायः कथ्यते।

परिचित श्रुत का मर्म समझने के लिए वह उसका पर्यालोचन करता है, यह अनुप्रेक्षा है। पठित, परिचित और पर्यालोचित श्रुत का वह उपदेश करता है, यह धर्मकथा है। इस क्रम में परिवर्तना का स्थान अनुप्रेक्षा से पहले प्राप्त होता है।

सिद्धसेन गणि के अनुसार अनुप्रेक्षा का अर्थ है 'ग्रन्थ और अर्थ का मानसिक अभ्यास करना'। इसमें वर्णो का उच्चारण नहीं होता और आम्नाय में वर्णों का उच्चारण होता है, यही इन दोनों का अन्तर है।[1] अनुप्रेक्षा के उक्त अर्थ के अनुसार उसे आम्नाय से पूर्व रखना भी अनुचित नहीं है।

आम्नाय, घोषविशुद्ध, परिवर्तन, गुणन और रूपादान—ये आम्नाय या परिवर्तना के पर्यायवाची शब्द हैं।[2]

अर्थोपदेश, व्याख्यान, अनुयोग-वर्णन, धर्मोपदेश—ये धर्मोपदेश या धर्मकथा के पर्यायवाची शब्द हैं।[3]

श्लोक ३५

१५–श्लोक ३५ :

ध्यान आभ्यन्तर-तप का पाँचवाँ प्रकार है। तत्त्वार्थ सूत्र के अनुसार व्युत्सर्ग पाँचवाँ और ध्यान छठा प्रकार है।[4] ध्यान से पूर्व व्युत्सर्ग किया जाता है, इस दृष्टि से यह क्रम उचित है और व्युत्सर्ग ध्यान के बिना भी किया जाता है।[5] उसका स्वतंत्र महत्त्व भी है, इसलिए उसे ध्यान के बाद भी रखा जा सकता है।

ध्यान की परिभाषा

चेतना की दो अवस्थाएँ होती हैं—(१) चल और (२) स्थिर। चल चेतना को 'चित्त' कहा जाता है। उसके तीन प्रकार हैं—

(१) भावना— भाव्य विषय पर चित्त को बार-बार लगाना।

(२) अनुप्रेक्षा— ध्यान से विरत होने पर भी उससे प्रभावित मानसिक चेष्टा।

(३) चिन्ता— सामान्य मानसिक चिन्ता।

स्थिर चेतना को 'ध्यान' कहा जाता है।[6] जैसे अपरिस्पंदमान अग्नि-ज्वाला 'शिखा' कहलाती है, वैसे ही अपरिस्पन्दमान ज्ञान 'ध्यान' कहलाता है।[7]

१–तत्त्वार्थाधिगम सूत्र, ९।२५, भाष्यानुसारी टीका :
सन्देहे सति ग्रन्थार्थयोर्मनसाऽभ्यासोऽनुप्रेक्षा। न तु बहिर्वर्णोच्चारणमनुश्रावणीयम्। आम्नायोऽपि परिवर्तनं उदात्तादिपरिशुद्धमनुश्रावणीयमभ्यासविशेषः।

२–तत्त्वार्थ सूत्र, ९।२५, भाष्य :
आम्नायो घोषविशुद्धं परिवर्तनं गुणनं, रूपादानमित्यर्थः।

३–वही, ९।२५ :
अर्थोपदेशो व्याख्यानं अनुयोगवर्णनं धर्मोपदेश इत्यनर्थान्तरम्।

४–वही, ९।२०।

५–वही, ९।२२।

६–ध्यानशतक, श्लोक २ :
जं थिरमज्झवसाणं, तं झाणं जं चलं तयं चित्तं।
तं हुज्ज भावणा वा, अणुपेहा वा अहव चिंता॥

७–तत्त्वार्थ सूत्र, ९।२७, श्रुतसागरीय वृत्ति :
अपरिस्पन्दमानं ज्ञानमेव ध्यानमुच्यते। किंवत्? अपरिस्पंदमानाग्निज्वालावत्। यथा अपरिस्पन्दमानाग्निज्वाला शिखा इत्युच्यते तथा अपरिस्पन्देनावभासमानं ज्ञानमेव ध्यानमिति तात्पर्यार्थः।

एकाग्र-चिन्तन को भी ध्यान कहा जाता है। चित्त अनेक वस्तुओं या विषयों में प्रवृत्त होता रहता है, उसे अन्य वस्तुओं या विषयों से निवृत्त कर एक वस्तु या विषय में प्रवृत्त करना भी ध्यान है।[1]

मन, वचन और काया की स्थिरता को भी ध्यान कहा जाता है। इसी व्युत्पत्ति के आधार पर ध्यान के तीन प्रकार होते हैं—

(१) मानसिक-ध्यान— मन की निश्चलता—मनो-गुप्ति।
(२) वाचिक-ध्यान— मौन—वचन-गुप्ति।
(३) कायिक-ध्यान— काया की स्थिरता—काय-गुप्ति।[2]

छद्मस्थ व्यक्ति के एकाग्र-चिन्तनात्मक-ध्यान होता है और प्रवृत्ति-निरोधात्मक-ध्यान केवली के होता है। छद्मस्थ के प्रवृत्ति-निरोधात्मक-ध्यान केवली जितना विशिष्ट भले ही न हो, किन्तु अंशतः होता ही है।

ध्यान के प्रकार

एकाग्र-चिन्तन को 'ध्यान' कहा जाता है। इस व्युत्पत्ति के आधार पर उसके चार प्रकार होते हैं—(१) आर्त्त, (२) रौद्र, (३) धर्म्य और (४) शुक्ल।

(१) आर्त्त-ध्यान

चेतना की अरति या वेदनामय एकाग्र-परिणति को 'आर्त्त-ध्यान' कहा जाता है। उसके चार प्रकार हैं—

(क) कोई पुरुष अमनोज्ञ संयोग से संयुक्त होने पर उस (अमनोज्ञ विषय) के वियोग का चिन्तन करता है—यह पहला प्रकार है।

(ख) कोई पुरुष मनोज्ञ संयोग से संयुक्त है, वह उस (मनोज्ञ विषय) के वियोग न होने का चिन्तन करता है—यह दूसरा प्रकार है।

(ग) कोई पुरुष आतंक (=सद्योघाती रोग) के संयोग से संयुक्त होने पर उस (आतंक) के वियोग का चिन्तन करता है—यह तीसरा प्रकार है।

(घ) कोई पुरुष प्रीतिकर काम-भोग के संयोग से संयुक्त है, वह उस (काम-भोग) के वियोग न होने का चिन्तन करता है—यह चौथा प्रकार है।

आर्त्त-ध्यान के चार लक्षण हैं—

(क) आक्रन्द करना।
(ख) शोक करना।
(ग) आँसू बहाना।
(घ) विलाप करना।

(२) रौद्र-ध्यान

चेतना की क्रूरतामय एकाग्र-परिणति को 'रौद्र-ध्यान' कहा जाता है। उसके चार प्रकार हैं—

(क) हिंसानुबन्धी— जिसमें हिंसा का अनुबन्ध—हिंसा में सतत प्रवर्तन हो।
(ख) मृषानुबन्धी— जिसमें मृषा का अनुबन्ध—मृषा में सतत प्रवर्तन हो।
(ग) स्तेनानुबन्धी— जिसमें चोरी का अनुबन्ध—चोरी में सतत प्रवर्तन हो।
(घ) संरक्षणानुबन्धी— जिसमें विषय के साधनों के संरक्षण का अनुबन्ध—विषय के साधनों के संरक्षण में सतत प्रवर्तन हो।

१—ध्यानशतक, श्लोक ३ :

अंतोमुहुत्तमित्तं, चित्तावत्थाणमेगवत्थुम्मि।
छउमत्थाणं झाणं, जोगनिरोहो जिणाणं तु॥

२—लोकप्रकाश, ३०।४२१-४२२ :

यथा मानसिकं ध्यानमेकाग्रं निश्चलं मनः।
यथा च कायिकं ध्यानं, स्थिरः कायो निरेजनः॥
तथा यतनया भाषां भाषमाणस्य शोभनाम्।
दुर्भाषां वर्जयतो ध्यानं वाचिकं कथितं जिनैः॥

रौद्र-ध्यान के चार लक्षण हैं—

(क) अनुपरत दोष— प्रायः हिंसा आदि से उपरत न होना।

(ख) बहु दोष— हिंसा आदि की विविध प्रवृत्तियों में संलग्न रहना।

(ग) अज्ञान दोष— अज्ञानवश हिंसा आदि में प्रवृत्त होना।

(घ) आमरणान्त दोष— मरणान्त तक हिंसा आदि करने का अनुताप न होना।

ये दोनों ध्यान पापाश्रव के हेतु हैं, इसलिए इन्हें 'अप्रशस्त-ध्यान' कहा जाता है। इन दोनों को एकाग्रता की दृष्टि से ध्यान की कोटि में रखा गया है, किन्तु साधना की दृष्टि से आर्त्त और रौद्र परिणतिमय एकाग्रता विघ्न ही है।

मोक्ष के हेतुभूत ध्यान दो ही हैं—(१) धर्म्य और (२) शुक्ल।[1] इनसे आश्रव का निरोध होता है, इसलिए इन्हें 'प्रशस्त-ध्यान' कहा जाता है।

(३) *धर्म्य-ध्यान*

वस्तु-धर्म या सत्य की गवेषणा में परिणत चेतना की एकाग्रता को 'धर्म्य-ध्यान' कहा जाता है। इसके चार प्रकार हैं—

(क) आज्ञा-विचय— प्रवचन के निर्णय में संलग्न चित्त।

(ख) अपाय-विचय— दोषों के निर्णय में संलग्न चित्त।

(ग) विपाक-विचय— कर्म-फलों के निर्णय में संलग्न चित्त।

(घ) संस्थान-विचय— विविध पदार्थों के आकृति-निर्णय में संलग्न चित्त।

धर्म्य-ध्यान के चार लक्षण हैं—

(क) आज्ञा-रुचि— प्रवचन में श्रद्धा होना।

(ख) निसर्ग-रुचि— सहज ही सत्य में श्रद्धा होना।

(ग) सूत्र-रुचि— सूत्र-पठन के द्वारा श्रद्धा उत्पन्न होना।

(घ) अवगाढ़-रुचि— विस्तार से सत्य की उपलब्धि होना।

धर्म्य-ध्यान के चार आलम्बन हैं—

(क) वाचना— पढ़ाना।

(ख) प्रतिप्रच्छना— शंका-निवारण के लिए प्रश्न करना।

(ग) परिवर्तना— पुनरावर्तन करना।

(घ) अनुप्रेक्षा— अर्थ का चिन्तन करना।

धर्म्य-ध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ हैं—

(क) एकत्व-अनुप्रेक्षा— अकेलेपन का चिन्तन करना।

(ख) अनित्य-अनुप्रेक्षा— पदार्थों की अनित्यता का चिन्तन करना।

(ग) अशरण-अनुप्रेक्षा— अशरण-दशा का चिन्तन करना।

(घ) संसार-अनुप्रेक्षा— संसार-परिभ्रमण का चिन्तन करना।

१–तत्त्वार्थ सूत्र, ९।२९।

(४) शुक्ल-ध्यान

चेतना की सहज (उपधि-रहित) परिणति को 'शुक्ल-ध्यान' कहा जाता है। उसके चार प्रकार हैं—

(क) पृथक्त्व-वितर्क-सविचारी,

(ख) एकत्व-वितर्क-अविचारी,

(ग) सूक्ष्म-क्रिय-अनिवृत्ति और

(घ) समुच्छिन्न-क्रिय-अप्रतिपाति।

ध्यान के विषय द्रव्य और उसके पर्याय हैं। ध्यान दो प्रकार का होता है—(१) सालम्बन और (२) निरालम्बन। ध्यान में सामग्री का परिवर्तन भी होता है और नहीं भी होता। वह दो दृष्टियों से होता है—भेद-दृष्टि से और अभेद-दृष्टि से।

जब एक द्रव्य के अनेक पर्यायों का अनेक दृष्टियों—नयों से चिन्तन किया जाता है और पूर्व-श्रुत का आलम्बन लिया जाता है तथा शब्द से अर्थ में और अर्थ से शब्द में एवं मन, वचन और काया में से एक दूसरे में संक्रमण किया जाता है, शुक्ल-ध्यान की उस स्थिति को 'पृथक्त्व-वितर्क-सविचारी' कहा जाता है।

जब एक द्रव्य या किसी एक पर्याय का अभेद-दृष्टि से चिन्तन किया जाता है और पूर्व-श्रुत का आलम्बन लिया जाता है तथा जहाँ शब्द, अर्थ एवं मन, वचन और काया में से एक दूसरे में संक्रमण किया जाता है, शुक्ल-ध्यान की उस स्थिति को 'एकत्व-वितर्क-अविचारी' कहा जाता है।

जब मन और वाणी के योग का पूर्ण निरोध हो जाता है और काया के योग का पूर्ण निरोध नहीं होता—श्वासोच्छ्वास जैसी सूक्ष्म-क्रिया शेष रहती है, उस अवस्था को 'सूक्ष्म-क्रिय' कहा जाता है। इसका निवर्तन (ह्रास) नहीं होता, इसलिए यह अनिवृत्ति है।

जब सूक्ष्म क्रिया का भी निरोध हो जाता है, उस अवस्था को 'समुच्छिन्न-क्रिय' कहा जाता है। इसका पतन नहीं होता, इसलिए यह अप्रतिपाति है।

शुक्ल-ध्यान के चार लक्षण—

(क) अव्यथ—	क्षोभ का अभाव।
(ख) असम्मोह—	सूक्ष्म-पदार्थ-विषयक मूढ़ता का अभाव।
(ग) विवेक—	शरीर और आत्मा के भेद का ज्ञान।
(घ) व्युत्सर्ग—	शरीर और उपधि में अनासक्त-भाव।

शुक्ल-ध्यान के चार आलम्बन—

(क) क्षान्ति—क्षमा, (ख) मुक्ति—निर्लोभता, (ग) मार्दव—मृदुता और (घ) आर्जव—सरलता।

शुक्ल-ध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ—

(क) अनन्तवृत्तिता-अनुप्रेक्षा—	संसार-परम्परा का चिन्तन करना।
(ख) विपरिणाम-अनुप्रेक्षा—	वस्तुओं के विविध परिणामों का चिन्तन करना।
(ग) अशुभ-अनुप्रेक्षा—	पदार्थों की अशुभता का चिन्तन करना।
(घ) अपाय-अनुप्रेक्षा—	दोषों का चिन्तन करना।

श्लोक ३६

१६–श्लोक ३६ :

व्युत्सर्ग आभ्यन्तर-तप का छठा प्रकार है। भगवती (२५।७।८०२) और औपपातिक (सू० २०) के अनुसार व्युत्सर्ग दो प्रकार का होता है—

(१) द्रव्य-व्युत्सर्ग और

(२) भाव-व्युत्सर्ग।

द्रव्य-व्युत्सर्ग के चार प्रकार—

(क) शरीर-व्युत्सर्ग—	शारीरिक चंचलता का विसर्जन।
(ख) गण-व्युत्सर्ग—	विशिष्ट साधना के लिए गण का विसर्जन।
(ग) उपधि-व्युत्सर्ग—	वस्त्र आदि उपकरणों का विसर्जन।
(घ) भक्त-पान-व्युत्सर्ग—	भोजन और जल का विसर्जन।

भाव-व्युत्सर्ग के तीन प्रकार—

(क) कषाय-व्युत्सर्ग—	क्रोध आदि का विसर्जन।
(ख) संसार-व्युत्सर्ग—	परिभ्रमण का विसर्जन।
(ग) कर्म-व्युत्सर्ग—	कर्म-पुद्गलों का विसर्जन।

प्रस्तुत श्लोक में केवल काय-व्युत्सर्ग की परिभाषा की गई है। इसका दूसरा नाम 'कायोत्सर्ग' है। कायोत्सर्ग का अर्थ है 'काया का उत्सर्ग— त्याग'।

प्रश्न होता है कि आयु पूर्ण होने से पहले काया का उत्सर्ग कैसे हो सकता है? यह सही है जब तक आयु शेष रहती है, तब तक काया का उत्सर्ग—त्याग नहीं किया जा सकता। किन्तु यह काया अशुचि है, अनित्य है, दोषपूर्ण है, असार है, दुःख-हेतु है, इसमें ममत्व रखना दुःख का मूल है—इस बोध से भेद-ज्ञान प्राप्त होता है। जिसे भेद-ज्ञान प्राप्त होता है, वह सोचता है कि यह शरीर मेरा नहीं है, मैं इसका नहीं हूं। मैं भिन्न हूं, शरीर भिन्न है। इस प्रकार का संकल्प करने से शरीर के प्रति आदर घट जाता है। इस स्थिति का नाम है 'कायोत्सर्ग'। एक घर में रहने पर भी पति द्वारा अनादृत पत्नी 'परित्यक्ता' कहलाती है। जिस वस्तु के प्रति जिस व्यक्ति के हृदय में अनादर-भाव होता है, वह उसके लिए परित्यक्त होती है। जब काया में ममत्व नहीं रहता, आदर-भाव नहीं रहता तब काया परित्यक्त हो जाती है।

कायोत्सर्ग-विधि

जो कायोत्सर्ग करना चाहे, वह काया से निस्पृह होकर खंभे की भाँति सीधा खड़ा हो जाए। दोनों बाहों को घुटनों की ओर फैला दे, प्रशस्त-ध्यान में निमग्न हो जाए। काया को न अकड़ा कर खड़ा हो और न झुका कर भी। परीषह और उपसर्गों को सहन करे। जीव-जन्तु-रहित एकान्त स्थान में खड़ा रहे और कायोत्सर्ग मुक्ति के लिए करे।[1]

कायोत्सर्ग का मुख्य उद्देश्य है आत्मा का काया से वियोजन। काया के साथ आत्मा का जो संयोग है, उसका मूल है प्रवृत्ति। जो इनका विसंयोग चाहता है अर्थात् आत्मा के सान्निध्य में रहना चाहता है, वह स्थान, मौन और ध्यान के द्वारा "स्व" का व्युत्सर्ग करता है।

स्थान—	काया की प्रवृत्ति का स्थिरीकरण—काय-गुप्ति।
मौन—	वाणी की प्रवृत्ति का स्थिरीकरण—वाक्-गुप्ति।
ध्यान—	मन की प्रवृत्ति का एकाग्रीकरण—मनो-गुप्ति।

कायोत्सर्ग में श्वासोच्छ्वास जैसी सूक्ष्म प्रवृत्ति होती है, शेष प्रवृत्ति का निरोध किया जाता है।[2]

१—मूलाराधना, २।११६, विजयोदया, पृ० २७८ :
कायः शरीरं तस्य उत्सर्गस्त्यागः···। तत्र शरीरनिस्पृहः, स्थाणुरिवोर्द्ध्वकायः प्रलंबितभुजः, प्रशस्तध्यानपरिणतोऽनुन्नमितानतकायः, परीषहानुपसर्गांश्च सहमानः तिष्ठन्निर्जन्तुके कर्मापायाभिलाषी विविक्ते देशे।

२—योगशास्त्र, प्रकाश ३, पत्र २५० :
कायस्य शरीरस्य स्थानमौनध्यानक्रियाव्यतिरेकेण अन्यत्र उच्छ्वसितादिभ्यः क्रियान्तराध्यासमधिकृत्य य उत्सर्गस्त्यागो 'नमो अरहंताणं' इति वचनात् प्राक् स कायोत्सर्गः।

कायोत्सर्ग के प्रकार

कायोत्सर्ग चार प्रकार का होता है—

(१) उत्थित-उत्थित—जो खड़ा-खड़ा कायोत्सर्ग करता है और धर्म्य या शुक्ल ध्यान में लीन होता है, वह काया से भी उन्नत होता है और ध्यान से भी उन्नत होता है, इसलिए उसके कायोत्सर्ग को 'उत्थित-उत्थित' कहा जाता है।

(२) उत्थित-उपविष्ट—जो खड़ा-खड़ा कायोत्सर्ग करता है, किन्तु आर्त्त या रौद्र ध्यान से अवनत होता है, इसलिए उसके ध्यान को 'उत्थित-उपविष्ट' कहा जाता है।

(३) उपविष्ट-उत्थित—जो बैठ कर कायोत्सर्ग करता है और धर्म्य या शुक्ल ध्यान में लीन होता है, वह काया से बैठा हुआ होता है और ध्यान से खड़ा होता है, इसलिए उसके कायोत्सर्ग को 'उपविष्ट-उत्थित' कहा जाता है।

(४) उपविष्ट-उपविष्ट—जो बैठ कर कायोत्सर्ग करता है और आर्त्त या रौद्र ध्यान में लीन होता है, वह काया और ध्यान—दोनों से बैठा हुआ होता है, इसलिए उसके कायोत्सर्ग को 'उपविष्ट-उपविष्ट' कहा जाता है।[1]

इनमें प्रथम और तृतीय अंगीकरणीय हैं और शेष दो त्याज्य हैं।

आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार कायोत्सर्ग खड़े, बैठे और सोते—इन तीनों अवस्थाओं में किया जा सकता है।[2] इस भाषा में 'कायोत्सर्ग' और 'ध्यान' दोनों एक बन जाते हैं। प्रयोजन की दृष्टि से कायोत्सर्ग के दो प्रकार हैं—

(१) चेष्टा-कायोत्सर्ग— अतिचार शुद्धि के लिए जो किया जाता है।

(२) अभिनव-कायोत्सर्ग— विशेष विशुद्धि या प्राप्त कष्ट को सहने के लिए जो किया जाता है।[3]

१–(क) अमितगति-श्रावकाचार, ८।५७-६१ :

त्यागो देहममत्वस्य, तनूत्सृतिरुदाहृता। उपविष्टोपविष्टादि-विभेदेन चतुर्विधा॥
आर्त्तरौद्रद्वयं यस्यामुपविष्टेन चिंत्यते। उपविष्टोपविष्टाख्या, कथ्यते सा तनूत्सृतिः॥
धर्मशुक्लद्वयं यस्यामुपविष्टेन चिंत्यते। उपविष्टोत्थितां संतस्तां वदंति तनूत्सृतिम्॥
आर्त्तरौद्रद्वयं यस्यामुत्थितेन विधीयते। तामुत्थितोपविष्टाह्वां निगदंति महाधियः॥
धर्मशुक्लद्वयं यस्यामुत्थितेन विधीयते। उत्थितोत्थितनामानं, तं भाषंते विपश्चितः॥

(ख) आवश्यक निर्युक्ति, गाथा १४५९-१४६० :

उसिउस्सिओ अ तह, उस्सिओ अ उस्सियनिसन्नओ चेव।
निसनुस्सिओ निसन्नो, निस्सन्नगनिसन्नओ चेव।
निवणुस्सिओ निवन्नो, निवन्ननिवन्नगो अनायव्वो।

(ग) मूलाराधना, २।११६, विजयोदया, पृ० २७८।

२–योगशास्त्र, प्रकाश ३, पत्र २५० :

स च कायोत्सर्ग उच्छ्रितनिषण्णशयितभेदेन त्रेधा।

३–(क) आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १४५२ :

सो उस्सग्गो दुविहो चिट्ठाए अभिभवे य नायव्वो।
भिक्खायरियाइ पढमो उवसग्गभिजुंजणे बिइओ॥

(ख) बृहत्कल्प भाष्य, गाथा ५९५८ :

इह द्विधा कायोत्सर्गः—चेष्टायामभिभवे च।

(ग) योगशास्त्र, प्रकाश ३, पत्र २५० :

तत्र चेष्टा कायोत्सर्गोऽष्ट—पंचविंशति—सप्तविंशति—त्रिशती—पंचशती अष्टोत्तरसहस्रोच्छ्वासान् यावद्भवति। अभिभवकायोत्सर्गस्तु मुहूर्त्तादारभ्य संवत्सरं यावद् बाहुबलेरिव भवति।

(घ) मूलाराधना, २।११६, विजयोदया, पृ० २७८ :

अन्तर्मुहूर्त्तः कायोत्सर्गस्य जघन्यः कालः, वर्षमुत्कृष्टः। अतिचारनिवृत्तये कायोत्सर्गा बहुप्रकारा भवति। रात्रिदिन-पक्ष-मासचतुष्टय-संवत्सरादिकालगोचरातिचारभेदापेक्षया। सायाह्ने उच्छ्वासशतकं, प्रत्यूषसि पंचाशत्, पक्षे त्रिशतानि, चतुर्षु मासेषु चतुःशतानि, पंच शतानि संवत्सरे उच्छ्वासानां। प्रत्यूषसिप्राणिवधादिषु पंचस्वतिचारेषु अष्टशतोच्छ्वासमात्रः कालः कायोत्सर्गः।

चेष्टा-कायोत्सर्ग का काल उच्छ्वास पर आधृत है। विभिन्न प्रयोजनों से वह आठ, पच्चीस, सत्ताईस, तीन सौ, पाँच सौ और एक हजार आठ उच्छ्वास तक किया जाता है।

अभिनव-कायोत्सर्ग का काल जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः एक वर्ष का है। बाहुबलि ने एक वर्ष का कायोत्सर्ग किया था।

अतिचार-शुद्धि के लिए किए जाने वाले कायोत्सर्ग के अनेक विकल्प होते हैं—

(१) दैवसिक-कायोत्सर्ग।

(२) रात्रिक-कायोत्सर्ग।

(३) पाक्षिक-कायोत्सर्ग।

(४) चातुर्मासिक-कायोत्सर्ग।

(५) साम्वत्सरिक-कायोत्सर्ग।

कायोत्सर्ग आवश्यक का पाँचवाँ अंग है। ये उक्त कायोत्सर्ग प्रतिक्रमण के साथ किए जाते हैं। इन (कायोत्सर्ग) में चतुर्विंशस्तव का ध्यान किया जाता है। उसके सात श्लोक और अट्ठाईस चरण हैं। एक उच्छ्वास में एक चरण का ध्यान किया जाता है। कायोत्सर्ग-काल में सातवें श्लोक के प्रथम चरण 'चन्देसु निम्मलयरा' तक ध्यान किया जाता है।[1] इस प्रकार एक 'चतुर्विंशस्तव' का ध्यान पच्चीस उच्छ्वासों में सम्पन्न होता है। प्रवचनसारोद्धार और विजयोदया के अनुसार इनके ध्येय-परिमाण और काल-मान इस प्रकार हैं—

	प्रवचनसारोद्धार[2]				विजयोदया[3]			
	चतुर्विंशस्तव	श्लोक	चरण	उच्छ्वास	चतुर्विंशस्तव	श्लोक	चरण	उच्छ्वास
(१) दैवसिक	४	२५	१००	१००	४	२५	१००	१००
(२) रात्रिक	२	१२½	५०	५०	२	१२½	५०	५०
(३) पाक्षिक	१२	७५	३००	३००	१२	७५	३००	३००
(४) चातुर्मासिक	२०	१२५	५००	५००	१६	१००	४००	४००
(५) साम्वत्सरिक	४०	२५२	१००८	१००८	२०	१२५	५००	५००

अमितगति-श्रावकाचार के अनुसार दैवसिक-कायोत्सर्ग में १०८ तथा रात्रिक-कायोत्सर्ग में ५४ उच्छ्वास तक ध्यान किया जाता है और अन्य कायोत्सर्ग में २७ उच्छ्वास तक। २७ उच्छ्वासों में नमस्कार-मंत्र की नौ आवृत्तियाँ की जाती हैं अर्थात् तीन उच्छ्वासों में एक नमस्कार-मंत्र पर ध्यान किया जाता है—संभव है प्रथम दो-दो वाक्य एक-एक उच्छ्वास में और पाँचवाँ वाक्य एक उच्छ्वास में। अथवा 'णमो

१—योगशास्त्र, प्रकाश ३, पत्र २१५ :

पंचविंशत्युच्छ्वासाश्च चतुर्विंशतिस्तवेन चन्देसु निम्मलयरा इत्यन्तेन चिन्तितेन पूर्यन्ते, पायसमा ऊसासा इति वचनात्।

२—प्रवचनसारोद्धार, गाथा १८३-१८५ :

चत्तारि दो दुवालस वीस चत्ता य हुंति उज्जोया।
देसिय राइय पक्खिय चाउम्मासे य वरिसे य॥
पणवीस अद्धतेरस सलोग पन्नत्तरी य बोद्धव्वा।
सयमेगं पणवीसं वे बावण्णा य वरिसंमि॥
साय सयं गोसद्धं तिन्नेव सया हवंति पक्खंमि।
पंच य चाउम्मासे वरिसे अट्ठोत्तरसहस्सा॥

३—मूलाराधना, २।११६, विजयोदया, पृ० २७८।

पंच णमोक्कारो' सहित नौ पदों की तीन आवृत्तियाँ भी हो सकती हैं—प्रत्येक पद की एक-एक उच्छ्वास में आवृत्ति होने से सत्ताईस उच्छ्वास होते हैं।[1] अमितगति ने एक दिन-रात के कायोत्सर्गों की सारी संख्या अट्ठाईस मानी है।[2] वह इस प्रकार है—

(१) स्वाध्याय-काल में—	१२
(२) वन्दना-काल में—	६
(३) प्रतिक्रमण-काल में—	८
(४) योग-भक्ति-काल में—	२
	२८

पाँच महाव्रतों के अतिक्रमणों के लिए १०८ उच्छ्वास का कायोत्सर्ग करना चाहिए।[3]

कायोत्सर्ग करते समय यदि उच्छ्वासों की संख्या विस्मृत हो जाए अथवा मन विचलित हो जाए तो आठ उच्छ्वास का अतिरिक्त कायोत्सर्ग करना चाहिए।[4]

कायोत्सर्ग के दोष प्रवचनसारोद्धार में १९[5], योगशास्त्र में २१[6] और विजयोदया में १६[7] बतलाए गए हैं।

१-अमितगति श्रावकाचार, ८।६८-६९ :
अष्टोत्तरशतोच्छ्वासः, कायोत्सर्गः प्रतिक्रमे।
सान्ध्ये प्राभातिके वार्द्धमन्यस्तत् सप्तविंशतिः॥
सप्तविंशतिरुच्छ्वासाः, संसारोन्मूलनक्षमे।
संति पंचनमस्कारे, नवधा चिन्तिते सति॥

२-वही, ८।६६-६७ :
अष्टविंशतिसंख्यानाः, कायोत्सर्गा मता जिनैः।
अहोरात्रगताः सर्वे, षडावश्यककारिणाम्॥
स्वाध्याये द्वादश प्राज्ञैर्वन्दनायां षडीरिताः।
अष्टौ प्रतिक्रमे योगभक्तौ तौ द्वावुदाहृतौ॥

३-मूलाराधना, २।११६, विजयोदया, पृ० २७८।

४-वही, २।११६, विजयोदया, पृ० २७८ :
कायोत्सर्गे कृते यदि शक्यत उच्छ्वासस्य स्खलनं वा परिणामस्य उच्छ्वासाष्टकमधिकं स्थातव्यम्।

५-प्रवचनसारोद्धार, गाथा २४७-२६२।

६-योगशास्त्र, प्रकाश ३, पत्र २५०-२५१।

७-मूलाराधना, २।११६, विजयोदया, पृ० २७९।

अध्ययन ३१

चरणविही

श्लोक ४

१–दण्डों का (दण्डाणं [क]) :

दण्ड दो प्रकार के होते हैं — (१) द्रव्य-दण्ड और (२) भाव-दण्ड ।

कोई अपराध करने पर राजा या अन्य निर्धारित व्यक्तियों के द्वारा वध, बन्धन, ताड़ना आदि के द्वारा दण्डित करने को 'द्रव्य-दण्ड' कहा जाता है ।

जिन अध्यवसायों या प्रवृत्तियों से आत्मा दण्डित होती है, उसे 'भाव-दण्ड' कहा जाता है । वे तीन हैं—

(१) मनो-दण्ड— मन का दुष्प्रणिधान ।

(२) वचो-दण्ड— वचन की दुष्प्रयुक्तता ।

(३) काय-दण्ड— शारीरिक दुष्प्रवृत्ति ।

भगवान् महावीर मन, वाणी और काया—इन तीनों को ही दण्ड मानते थे, केवल काया को नहीं । फिर भी इस विषय को लेकर मज्झिमनिकाय में एक लम्बा प्रकरण लिखा गया है । बौद्ध-साहित्य की शैली के अनुसार उसमें बुद्ध का उत्कर्ष और महावीर का अपकर्ष दिखाने का प्रयत्न किया गया है । उसका कुछ अंश इस प्रकार है—

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् नालन्दा में प्रावारिक के आम्र-वन में विहार करते थे । उस समय निगंठ नात-पुत्त निगंठों (=जैन साधुओं) की बड़ी परिषद् (=जमात) के साथ नालन्दा में विहार करते थे । तब दीर्घ-तपस्वी निर्ग्रन्थ (=जैन-साधु) नालन्दा में भिक्षाचार कर, पिंडपात खतम कर, भोजन के पश्चात्, जहाँ प्रावारिक-आम्र-वन में भगवान् थे, वहाँ गया । जाकर भगवान् के साथ संमोदन (कुशल-प्रश्न पूछ) कर, एक ओर खड़ा हो गया । एक ओर खड़े हुए दीर्घ-तपस्वी निर्ग्रन्थ को भगवान् ने कहा—

"तपस्वी ! आसन मौजूद है, यदि इच्छा हो तो बैठ जाओ ।"

ऐसा कहने पर दीर्घ तपस्वी निर्ग्रन्थ एक नीचा आसन ले एक ओर बैठ गया । एक ओर बैठे दीर्घ-तपस्वी निर्ग्रन्थ से भगवान् बोले—

"तपस्वी ! पाप कर्म के करने के लिए, पाप-कर्म की प्रवृत्ति के लिए निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र कितने कर्मों का विधान करते हैं ?"

"आवुस ! गौतम ! 'कर्म' 'कर्म' विधान करना निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र का कायदा (=आचिण्ण) नहीं है । आवुस ! गौतम ! 'दण्ड' 'दण्ड' विधान करना निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र का कायदा है ।"

"तपस्वी ! तो फिर पाप कर्म के करने के लिए =पाप-कर्म की प्रवृत्ति के लिए निगंठ नात-पुत्त कितने दण्ड विधान करते हैं ?"

"आवुस ! गौतम ! पाप-कर्म के हटाने के लिए ० निगंठ नात-पुत्त तीन दण्डों का विधान करते हैं । जैसे—काय-दण्ड, वचन-दण्ड, मन-दण्ड ।"

"तपस्वी ! तो क्या काय दण्ड दूसरा है, वचन-दण्ड दूसरा है, मन-दण्ड दूसरा है ?"

"आवुस ! गौतम ! (हाँ) ? काय-दण्ड दूसरा ही है, वचन-दण्ड दूसरा है, मन-दण्ड दूसरा ही है ।"

"तपस्वी ! इस प्रकार भेद किए, इस प्रकार विभक्त, इन तीनों दण्डों में निगंठ नात-पुत्त, पाप-कर्म करने के लिए, पाप-कर्म की प्रवृत्ति के लिए, किस दण्ड को महादोष-युक्त विधान करते हैं । काय-दण्ड को, या वचन दण्ड को, या मन दण्ड को ?"

"आवुस ! गौतम ! इस प्रकार भेद किए, इस प्रकार विभक्त, इन तीनों दण्डों में निगंठ नात-पुत्त, पाप-कर्म करने के लिए० काय-दण्ड को महादोष-युक्त विधान करते हैं, वैसा वचन-दण्ड को नहीं, वैसा मन-दण्ड को नहीं।"

"तपस्वी ! काय-दण्ड कहते हो ?"

"आवुस ! गौतम ! काय-दण्ड कहता हूं।"

"तपस्वी ! काय-दण्ड कहते हो ?"

"आवुस ! गौतम ! काय-दण्ड कहता हूं।"

"तपस्वी ! काय-दण्ड कहते हो ?"

"आवुस ! गौतम ! काय-दण्ड कहता हूं।"

इस प्रकार भगवान् ने दीर्घ-तपस्वी निगंठ को इस कथा-वस्तु (=बात) में तीन बार प्रतिष्ठापित किया।

ऐसा कहने पर दीर्घ-तपस्वी निगंठ ने भगवान् से कहा—

"तुम आवुस ! गौतम ! पाप-कर्म के करने के लिए० कितने दण्ड-विधान करते हो ?"

"तपस्वी ! 'दण्ड' 'दण्ड' कहना तथागत का कायदा नहीं है, 'कर्म' 'कर्म' कहना तथागत का कायदा है।"

"आवुस ! गौतम ! तुम० कितने कर्म विधान करते हो ?"

"तपस्वी ! मैं० तीन कर्म बतलाता हूं—जैसे काय-कर्म, वचन-कर्म, मन-कर्म।"

"आवुस ! गौतम ! काय-कर्म दूसरा ही है, वचन-कर्म दूसरा ही है, मन-कर्म दूसरा ही है।"

"तपस्वी ! काय-कर्म दूसरा ही है, वचन-कर्म दूसरा ही है, मन-कर्म दूसरा ही है।"

"आवुस ! गौतम !० इस प्रकार विभक्त० इन तीन कर्मों में, पाप कर्म करने के लिए० किसको महादोषी ठहराते हो—काय-कर्म को या वचन-कर्म को या मन-कर्म को ?"

"तपस्वी ! ० इस प्रकार विभक्त० इन तीनों कर्मों में मन-कर्म को मैं० महादोषी बतलाता हूं।"

"आवुस ! गौतम ! मन-कर्म बतलाते हो ?"

"तपस्वी ! मन-कर्म बतलाता हूं।"

"आवुस ! गौतम ! मन-कर्म बतलाते हो ?"

"तपस्वी ! मन-कर्म बतलाता हूं।"

"आवुस ! गौतम ! मन-कर्म बतलाते हो ?"

"तपस्वी ! मन-कर्म बतलाता हूं।"

इस प्रकार दीर्घ-तपस्वी निगंठ भगवान् को इस कथा-वस्तु (=विवाद विषय) में तीन बार प्रतिष्ठापित करा, आसन से उठ जहाँ निगंठ नात-पुत्त थे, वहाँ चला गया।[1]

२–गौरवों का (गारवाणं [क]) :

गौरव का अर्थ है—'अभिमान से उत्तप्त चित्त की अवस्था'। वह तीन प्रकार का है—

(१) ऋद्धि-गौरव— ऐश्वर्य का अभिमान।

(२) रस-गौरव— रसों का अभिमान।

(३) सात-गौरव— सुखों का अभिमान।

१–मज्झिमनिकाय, २।१।६, पृ०२२२।

३–शल्यों का (सल्लाणं ख) :

जैसे काँटा चुभने पर मनुष्य सर्वाङ्ग वेदना का अनुभव करता है और उसके निकल जाने पर वह सुख की साँस लेता है, वैसे ही दोष रूपी काँटा चुभ जाता है, तब साधक की आत्मा दुःखित हो जाती है और उसके निकलने पर उसे आनन्द का अनुभव होता है।[1] शल्य का अर्थ है 'अन्तर में घुसा हुआ दोष' अथवा 'जिससे विकास बाधित होता है, उसे शल्य कहते हैं'।[2] वे तीन हैं—

(१) माया-शल्य— माया-पूर्ण आचरण।

(२) निदान-शल्य— ऐहिक या पारलौकिक उपलब्धि के लिए धर्म का विनिमय।

(३) मिथ्या-दर्शन-शल्य— आत्मा का मिथ्यात्वमय दृष्टिकोण।

जो निःशल्य होता है, वही व्यक्ति व्रती या महाव्रती बन सकता है।[3]

श्लोक ५

४–श्लोक ५ :

इस श्लोक में तीन प्रकार के उपसर्गों (कष्टों) का कथन है :

(१) दिव्य—देवताओं द्वारा दिए जाने वाले कष्ट। देवता हास्यवश, प्रद्वेषवश या परीक्षा के निमित्त दूसरों को कष्ट देते हैं।

(२) तैरश्च—पशुओं द्वारा दिए जाने वाले कष्ट। पशु भय, प्रद्वेष या आहार के लिए तथा अपनी सन्तान या स्थान के संरक्षण के लिए दूसरों को कष्ट देते हैं।

(३) मानुष—मनुष्यों द्वारा दिए जाने वाले कष्ट। मनुष्य हास्य, प्रद्वेष, विमर्श या कुशील का सेवन करने के लिए दूसरों को कष्ट देते हैं।

श्लोक ६

५–विकथाओं (विगहा क) :

यहाँ कथा का अर्थ 'चर्चा' या 'आलोचना' है। वर्जनीय कथा को 'विकथा' कहा जाता है। वह चार प्रकार की है—

(१) स्त्री-कथा— स्त्री सम्बन्धी कथा करना।

(२) भक्त-कथा— भोजन सम्बन्धी कथा करना।

(३) देश-कथा— देश सम्बन्धी कथा करना।

(४) राज-कथा— राज्य सम्बन्धी कथा करना।

१–मूलाराधना, ४।५३६-५३७ :

जह कंटएण विद्धो, सव्वंगे वेदणुद्दुदो होदि।
तम्हि दु समुद्धिदेसो, णिस्सल्लो णिव्वुदो होदि॥
एवमणुद्धददोसो, माइल्लो तेण दुक्खिदो होइ।
सो चेव वंददोसो, सुविसुद्धो णिव्वुदो होइ॥

२–बृहद् वृत्ति, पत्र ६१२ :

शल्यते—अनेकार्थत्वाद्बाध्यते जन्तुरेभिरिति शल्यानि।

३–(क) तत्त्वार्थ, सूत्र ७।१३ :

निःशल्यो व्रती।

(ख) मूलाराधना, ६।१२१० :

णिस्सल्लस्सेव पुणो, महव्वदाइं हवंति सव्वाइं।
वदमुवहम्मदि तीहिं, दु णिदाणमिच्छत्तमायाहिं॥

मूलाराधना में कथा के कुछ और अधिक प्रकार बतलाए गए हैं—(१) भक्त-कथा, (२) स्त्री-कथा, (३) राज-कथा, (४) जनपद-कथा, (५) काम-कथा, (६) अर्थ-कथा, (७) नाट्य-कथा और (८) नृत्य-कथा।[1]

६—संज्ञाओं (सन्नाणं क) :

संज्ञा का अर्थ है 'आसक्ति' या 'मूर्च्छना'। वह चार प्रकार की है—

(१) आहार-संज्ञा,

(२) भय-संज्ञा,

(३) मैथुन-संज्ञा और

(४) परिग्रह-संज्ञा।

विशेष विवरण के लिए देखिए—स्थानांग, ४।४।३५६।

७—आर्त्त और रौद्र—इन दो ध्यानों का (झाणाणं च दुयं ख) :

ध्यान चार हैं—(१) आर्त्त, (२) रौद्र, (३) धर्म्य और (४) शुक्ल।

चार की संख्या का प्रकरण है, इसलिए यहाँ इनका उल्लेख है। किन्तु इनमें वर्जनीय ध्यान दो ही हैं, इसलिए 'झाणाणं च दुयं' कहा गया है।[2]

विशेष विवरण के लिए देखिए—३०।३५ का टिप्पण। मिलाइए—३४।३१।

श्लोक ७

८—व्रतों के (वएसु क) :

यहाँ व्रत का प्रयोग 'महाव्रत' के अर्थ में हुआ है। वे पाँच हैं—(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय, (४) ब्रह्मचर्य और (५) अपरिग्रह। देखिए—२१।१२।

९—क्रियाओं के (किरियासु ख) :

स्थानांग (२।१।६०) में अनेक प्रकार की क्रियाओं का उल्लेख है। यहाँ उनमें से पाँच क्रियाओं का ग्रहण किया गया है। वे इस प्रकार हैं—(१) कायिकी, (२) आधिकरणिकी, (३) प्राद्वेषिकी, (४) पारितापनिकी और (५) प्राणातिपातिकी।[3]

श्लोक ८

१०—छह लेश्याओं ... में (लेसासु क) :

देखिए—अध्ययन ३४।

१—मूलाराधना, ४।६५१ :
भत्तित्थिराअजणवद-कंदप्पत्थणउणट्टियकहाओ।
वज्जित्ता विकहाओ, अज्झप्पविराधणकरीओ॥

२—बृहद् वृत्ति, पत्र ६१३ :
'झाणाणं च' त्ति प्राकृतत्वाद् ध्यानयोश्च द्विकमार्त्तरौद्रकं तथा यो भिक्षुः 'वर्जयति' परिहरति, चतुर्विधत्वाच्च ध्यानस्यात्र प्रस्तावेऽभिधानम्।

३—वही, पत्र ६१३ :
क्रियासु—कायिक्याधिकरणिकीप्राद्वेषिकीपारितापनिकीप्राणातिपातक्यासु।

११–आहार के (विधि-निषेध के) छह कारणों में (छक्के आहारकारणे ख) :

साधु को छह कारणो मे आहार करना चाहिए और छह कारणों से नही करना चाहिए। देखिए—२६।३२,३४।

श्लोक ६

१२–(पिण्डोग्गहपडिमासु क) :

विशेष प्रतिमाधर मुनि आहार और अवग्रह (स्थान) सम्बन्धी सात प्रकार के अभिग्रह धारण करते थे। जैसे—

आहार-ग्रहण सम्बन्धी अभिग्रह—सात एषणाएँ। देखिए—३०।२५ का टिप्पण।

अवग्रह (स्थान) सम्बन्धी अभिग्रह। अवग्रह-प्रतिमा का अर्थ है 'स्थान के लिए प्रतिज्ञा या संकल्प'। वे सात हैं—

(१) मैं अमुक प्रकार के स्थान में रहूँगा, दूसरे में नही।

(२) मैं दूसरे साधुओं के लिए स्थान की याचना करूँगा। दूसरो के द्वारा याचित-स्थान में मैं रहूँगा। यह गच्छान्तरगत साधुओं के होती है।

(३) मैं दूसरों के लिए स्थान की याचना करूँगा, किन्तु दूसरों के द्वारा याचित-स्थान मे नहीं रहूँगा। यह यथालन्दिक साधुओं के होती है।

(४) मैं दूसरों के लिए स्थान की याचना नहीं करूँगा, परन्तु दूसरों के द्वारा याचित-स्थान में रहूँगा। यह जिनकल्पदशा का अभ्यास करने वाले साधुओं के होती है।

(५) मैं अपने लिए स्थान की याचना करूँगा, दूसरों के लिए नही। यह जिनकल्पिक साधुओं के होती है।

(६) जिसका मैं स्थान ग्रहण करूँगा, उसी के यहाँ पलाल आदि का संस्तारक प्राप्त हो तो लूँगा अन्यथा ऊकडू या नैषधिक आसन में बैठे-बैठे रात बिताऊँगा। यह जिनकल्पिक या अभिग्रहधारी साधुओं के होती है।

(७) जिसका मैं स्थान ग्रहण करूँगा, उसी के यहाँ ही सहज बिछे हुए सिलापट्ट या काष्ठपट्ट प्राप्त हो तो लूँगा अन्यथा ऊकडू या नैषधिक-आसन में बैठे-बैठे रात बिताऊँगा। यह जिनकल्पिक या अभिग्रहधारी साधुओं के होती है।[1]

१३–(भयट्ठाणेसु सत्तसु ख) :

भय के स्थान सात हैं—

(१) इहलोक-भय— सजातीय से भय—जैसे मनुष्य को मनुष्य से भय, देव को देव से भय।

(२) परलोक-भय— विजातीय से भय—जैसे मनुष्य को देव, तिर्यंच आदि का भय।

(३) आदान-भय— धन आदि पदार्थों के अपहरण करने वाले से होने वाला भय।

(४) अकस्मात्-भय— किसी बाह्य निमित्त के बिना ही उत्पन्न होने वाला भय, अपने ही विकल्पों से होने वाला भय।

(५) वेदना-भय[2]— पीड़ा आदि से उत्पन्न भय।

(६) मरण-भय— मृत्यु का भय।

(७) अश्लोक-भय— अकीर्ति का भय।

देखिए—स्थानांग, ७।५४९।

१–स्थानांग, ७।५४५, वृत्ति, पत्र ३८६-३८७।

२–समवायांग (समवाय ७) में वेदना-भय के स्थान पर आजीव-भय का उल्लेख है।

श्लोक १०

१४–आठ मद-स्थानों में (मयेसु क) :

आठ मद-स्थान इस प्रकार हैं—

(१) जाति-मद,
(२) कुल-मद,
(३) बल-मद,
(४) रूप-मद,
(५) तपो-मद,
(६) श्रुत-मद,
(७) लाभ-मद और
(८) ऐश्वर्य-मद ।

देखिए—स्थानांग, ८।६०६ ; समवायांग, समवाय ८ ।

१५–ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियों में (बम्भगुत्तीसु क) :

ब्रह्मचर्य की रक्षा के साधन को 'गुप्ति' कहते है । वे नौ हैं । देखिए—सोलहवाँ अध्ययन ; स्थानांग, ९।६६३ ; समवायांग, समवाय ९ ।

१६–दस प्रकार के भिक्षु-धर्म में (भिक्खु धम्मंमि दसविहे ख) :

देखिए—३।२६ का टिप्पण ।

श्लोक ११

१७–उपासकों की ग्यारह प्रतिमाओं में (उवासगाणं पडिमासु क) :

उपासक—श्रावक की प्रतिमाएँ ग्यारह हैं—

(१) दर्शन-श्रावक,
(२) कृत-व्रत श्रावक,
(३) कृत-सामायिक,
(४) पौषधोपवास निरत,
(५) दिन में ब्रह्मचारी और रात्रि में परिमाण करने वाला,
(६) दिन और रात में ब्रह्मचारी, स्नान न करने वाला, दिन में भोजन करने वाला और कच्छ न बाँधने वाला,
(७) सचित्त-परित्यागी,
(८) आरम्भ-परित्यागी,
(९) प्रेष्य-परित्यागी,
(१०) उद्दिष्ट-भक्त-परित्यागी और
(११) श्रमण-भूत ।

देखिए—समवायांग, समवाय ११ ।

१८–भिक्षुओं की बारह प्रतिमाओं में (भिक्खूणं पडिमासु ख) :

भिक्षु की प्रतिमाएँ बारह हैं—

(१) एक मासिकी भिक्षु-प्रतिमा,
(२) दो मासिकी भिक्षु-प्रतिमा,
(३) तीन मासिकी भिक्षु-प्रतिमा,
(४) चार मासिकी भिक्षु-प्रतिमा,
(५) पाँच मासिकी भिक्षु-प्रतिमा,
(६) छह मासिकी भिक्षु-प्रतिमा,
(७) सात मासिकी भिक्षु-प्रतिमा,
(८) तत्पश्चात् प्रथम सात दिन-रात की भिक्षु-प्रतिमा,
(९) दूसरी सात दिन-रात की भिक्षु प्रतिमा,
(१०) तीसरी सात दिन-रात की भिक्षु-प्रतिमा,
(११) एक अहोरात्र की भिक्षु-प्रतिमा और
(१२) एक रात्रि की भिक्षु-प्रतिमा ।

देखिए—समवायांग, समवाय १२ ।

श्लोक १२

१९–तेरह क्रियाओं…में (किरियासु क) :

कर्म-बन्ध की हेतुभूत चेष्टा को 'क्रिया' कहा जाता है। वे तेरह हैं—

(१) अर्थ-दण्ड—	शरीर, स्वजन , धर्म आदि प्रयोजन से की जाने वाली हिंसा।
(२) अनर्थ-दण्ड—	बिना प्रयोजन मौज—शौक के लिए की जाने वाली हिंसा।
(३) हिंसा-दण्ड—	इसने मुझे मारा था, मारता है, मारेगा—इस प्रणिधान से हिंसा करना।
(४) अकस्मात्-दण्ड—	एक के वध की प्रवृत्ति करते हुए अकस्मात् दूसरे की हिंसा कर डालना।
(५) दृष्टि-विपर्यास-दण्ड—	मति-भ्रम से होने वाली हिंसा अथवा मित्र आदि को अमित्र बुद्धि से मारना।
(६) मृषावाद-प्रत्यय—	स्व, पर या उभय के लिए मृषावाद से होने वाली हिंसा।
(७) अदत्तादान-प्रत्यय—	स्व, पर या उभय के लिए अदत्तादान से होने वाली हिंसा।
(८) आध्यात्मिक—	बाह्य निमित्त के बिना, मन में स्वतः उत्पन्न होने वाली हिंसा।
(९) मान-प्रत्यय—	जाति आदि के मेद से होने वाली हिंसा।
(१०) मित्र-द्वेष-प्रत्यय—	माता-पिता या दास-दासी के अल्प अपराध में भी बड़ा दण्ड देना।
(११) माया-प्रत्यय—	माया से होने वाली हिंसा।
(१२) लोभ-प्रत्यय—	लोभ से होने वाली हिंसा।
(१३) ऐर्या-पथिक—	केवल योग (मन, वचन और काया की प्रवृत्ति) से होने वाला कर्म-बन्धन।

विशेष विवरण के लिए देखिए—सूत्रकृतांग, २।२ ; समवायांग, समवाय १३।

२०–चौदह जीव समुदायों…में (भूयगामेसु क) :

प्राणियों के समूह १४ हैं। जैसे—

१,२ सूक्ष्म एकेन्द्रिय	—अपर्याप्त	—पर्याप्त
३,४ बादर एकेन्द्रिय	—अपर्याप्त	—पर्याप्त
५,६ द्वीन्द्रिय	—अपर्याप्त	—पर्याप्त
७,८ त्रीन्द्रिय	—अपर्याप्त	—पर्याप्त
९,१० चतुरिन्द्रिय	—अपर्याप्त	—पर्याप्त
११,१२ असंज्ञीपंचेन्द्रिय	—अपर्याप्त	—पर्याप्त
१३,१४ संज्ञीपंचेन्द्रिय	—अपर्याप्त	—पर्याप्त

देखिए—समवायांग, समवाय १४।

२१–पन्द्रह परमाधार्मिक देवों में (परमाहम्मिएसु ख) :

सम्पूर्ण रूप से जो अधार्मिक हैं, उन्हें 'परमाधार्मिक' कहा जाता है। इसी कारण देवों की एक जाति की संज्ञा भी यही हो गई है। परमाधार्मिक देव १५ हैं।

देखिए—१९।४७-४३ का टिप्पण, पृ० १४७-१४८।

श्लोक १३

२२–गाथा-षोडशक (सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के सोलह अध्ययनों)···में (गाहासोलसएहिं क) :

सूत्रकृतांग के दो श्रुतस्कन्ध है। पहले श्रुतस्कन्ध में १६ अध्ययन हैं। सोलहवें अध्ययन का नाम 'गाथा' है। जिसका सोलहवाँ अध्ययन गाथा है उसे 'गाथा-षोडशक' कहा जाता है।[1] यह प्रथम श्रुतस्कन्ध का वाचक है।

देखिए—३१।१६ का प्रथम टिप्पण ; समवायांग, समवाय १६।

२३–सतरह प्रकार के संयम में (अस्संजमम्मि ख) :

असंयम १७ प्रकार का है—

(१) पृथ्वीकाय-असंयम	(११) प्रेक्षा-असंयम	अप्रतिलेखन या अविधि प्रतिलेखन से होने वाला असंयम।
(२) अप्काय-असंयम		
(३) तेजस्काय-असंयम	(१२) उपेक्षा-असंयम—	संयम की उपेक्षा और असंयम में व्यापार।
(४) वायुकाय-असंयम	(१३) अपहृत्य-असंयम—	उच्चार आदि का अविधि से परिष्ठापन करने से होने वाला असंयम।
(५) वनस्पतिकाय-असंयम		
(६) द्वीन्द्रिय-असंयम	(१४) अप्रमार्जन-असंयम—	पात्र आदि का अप्रमार्जन या अविधि से प्रमार्जन करने से होने वाला असंयम।
(७) त्रीन्द्रिय-असंयम		
(८) चतुरिन्द्रिय-असंयम	(१५) मन-असंयम—	अकुशल मन की उदीरणा।
(९) पंचेन्द्रिय-असंयम	(१६) वचन-असंयम—	अकुशल वचन की उदीरणा।
(१०) अजीवकाय-असंयम	(१७) काय-असंयम—	अकुशल काया की उदीरणा।

देखिए—समवायांग, समवाय १७।

श्लोक १४

२४–अठारह प्रकार के ब्रह्मचर्य···में (बम्भम्मि क) :

ब्रह्मचर्य के अठारह प्रकार ये हैं—

औदारिक (मनुष्य, तिर्यञ्च सम्बन्धी) काम-भोगों का : (१) मन से सेवन न करे, (२) मन से सेवन न कराए और (३) सेवन करने वाले का मन से अनुमोदन भी न करे।

औदारिक काम-भोगों का : (४) वचन से सेवन न करे, (५) वचन से सेवन न कराए और (६) सेवन करने वाले का वचन से अनुमोदन भी न करे।

औदारिक काम-भोगों का : (७) काया से सेवन न करे, (८) काया से सेवन न कराए और (९) सेवन करने वाले का काया से अनुमोदन भी न करे।

दिव्य (देव-सम्बन्धी) काम-भोगों का : (१०) मन से सेवन न करे, (११) मन से सेवन न कराए और (१२) सेवन करने वाले का मन से अनुमोदन भी न करे।

दिव्य-काम-भोगों का : (१३) वचन से सेवन न करे, (१४) वचन से सेवन न कराए और (१५) सेवन करने वाले का वचन से अनुमोदन भी न करे।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ६१४ :
गाथाध्ययनं षोडशं येषु तानि गाथाषोडशकानि।

दिव्य-काम-भोगों का : (१६) काया से सेवन न करे, (१७) काया से सेवन न कराए और (१८) सेवन करने वाले का काया से अनुमोदन भी न करे।

देखिए—समवायांग, समवाय १८।

२५—उन्नीस ज्ञाता अध्ययनों···में (नायज्झयणेसु क):

ज्ञाता के १९ अध्ययन ये हैं—

(१) उत्क्षिप्त-ज्ञात,	(६) तुम्ब,	(११) दावद्रव,	(१६) अवरकंका,
(२) संघाट,	(७) रोहिणी,	(१२) उदक-ज्ञात,	(१७) आकीर्ण,
(३) अण्ड,	(८) मल्ली,	(१३) मंडूक,	(१८) सुंसमा और
(४) कूर्म,	(९) माकन्दी,	(१४) तेतली,	(१९) पुण्डरीक-ज्ञात।
(५) सेलक,	(१०) चन्द्रिका,	(१५) नन्दी फल,	

देखिए—समवायांग, समवाय १९।

२६—बीस असमाधि-स्थानों में (ठाणेसु यऽसमाहिए ख):

यहाँ जिन बीस असमाधि-स्थानों का वर्णन है, वे निम्न प्रकार हैं—

(१) धम-धम करते चलना।
(२) प्रमार्जन किए बिना चलना।
(३) अविधि से प्रमार्जन कर चलना।
(४) प्रमाण से अधिक शय्या, आसन आदि रखना।
(५) रात्निक साधुओं का पराभव—तिरस्कार करना, उनके सामने मर्यादा-रहित बोलना।
(६) स्थविरों का उपघात करना।
(७) प्राणियों का उपघात करना।
(८) प्रतिक्षण क्रोध करना।
(९) अत्यन्त क्रोध करना।
(१०) परोक्ष में अवर्णवाद बोलना।
(११) बार-बार निश्चयकारी भाषा बोलना।
(१२) अनुत्पन्न नए-नए कलहों को उत्पन्न करना।
(१३) उपशमित और क्षपित पुराने कलहों की उदीरणा करना।
(१४) सरजस्क हाथ-पैरों का व्यापार करना।
(१५) अकाल में स्वाध्याय करना।
(१६) कलह करना।
(१७) रात्रि में जोर से बोलना।
(१८) झंझा (खटपट) करना।
(१९) सूर्योदय से सूर्यास्त तक बार-बार भोजन करना।
(२०) एषणा-समिति रहित होना।

देखिए—समवायांग, समवाय २०; दशाश्रुतस्कन्ध, दशा १।

श्लोक १५

२७- इक्कीस प्रकार के शबल दोषों ⋯ में (एगवीसाए सबले क) :

शबल (चारित्र को धब्बों से युक्त करने वाले) दोष इक्कीस हैं—

(१) हस्त-कर्म करना।

(२) मैथुन का प्रतिसेवन करना।

(३) रात्रि-भोजन करना।

(४) आधा-कर्म आहार करना।

(५) सागारिक (शय्यातर) पिंड खाना।

(६) औद्देशिक, क्रीत या सामने लाकर दिया जाने वाला भोजन करना।

(७) बार-बार प्रत्याख्यान कर खाना।

(८) एक महीने के अन्दर एक गच्छ से दूसरे गच्छ में जाना।

(९) एक महीने के अन्दर तीन उदक-लेप लगाना।

(१०) एक महीने में तीन बार माया का सेवन करना।

(११) राज-पिण्ड का भोजन करना।

(१२) जान-बूझ कर प्राणातिपात करना।

(१३) जान-बूझ कर मृषावाद बोलना।

(१४) जान-बूझ कर अदत्तादान लेना।

(१५) जान-बूझ कर अन्तर-रहित (सचित्त) पृथ्वी पर स्थान या निषद्या करना।

(१६) जान-बूझ कर सचित्त पृथ्वी पर तथा सचित्त शिला पर, घुण वाले काष्ठ पर, शय्या अथवा निषद्या करना।

(१७) जीव सहित, प्राण सहित, बीज सहित, हरित सहित, उत्तिंग सहित, लीलन-फूलन, कीचड़ तथा मकड़ी के जाल वाली तथा इसी प्रकार की अन्य पृथ्वी पर बैठना, सोना और स्वाध्याय करना।
त्वक् का भोजन, प्रवाल का भोजन, पुष्प का भोजन, फूल का भोजन करना।

(१८) जान-बूझ कर मूल का भोजन, कन्द का भोजन, हरित का भोजन करना।

(१९) एक-वर्ष में दस उदक-लेप लगाना।

(२०) एक वर्ष में दस बार माया-स्थान का सेवन करना।

(२१) सचित्त जल से लिप्त हाथों से बार-बार अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य को लेना तथा उन्हें खाना।

देखिए—समवायांग, समवाय २१ ; दशाश्रुतस्कन्ध, दशा २।

२८—बाईस परीषहों में (बावीसाए परीसहे ख) :

देखिए—अध्ययन २।

श्लोक १६

२९–सूत्रकृतांग के तेईस अध्ययनों ···में (तेवीसइ सूयगडे [क]) :

सूत्रकृतांग के दो विभाग हैं—(१) प्रथम श्रुत स्कन्ध में १६ अध्ययन हैं और (२) दूसरे श्रुतस्कन्ध में ७ अध्ययन हैं। तेईस अध्ययनों के नाम इस प्रकार हैं—

(१) समय,
(२) वैतालिक,
(३) उपसर्ग-परिज्ञा,
(४) स्त्री-परिज्ञा,
(५) नरक-विभक्ति,
(६) महावीर-स्तुति,
(७) कुशील-परिभाषित,
(८) वीर्य,
(९) धर्म,
(१०) समाधि,
(११) मार्ग,
(१२) समवसरण,
(१३) यथातथ्य,
(१४) ग्रन्थ,
(१५) यमक,
(१६) गाथा,
(१७) पुंडरीक,
(१८) क्रिया-स्थान,
(१९) आहार-परिज्ञा,
(२०) अप्रत्याख्यान-परिज्ञा,
(२१) अनगार-श्रुत,
(२२) आर्द्रकुमारीय और
(२३) नालंदीय।

देखिए समवायांग, समवाय २३।

३०–चौबीस प्रकार के देवों में (रूवाहिएसु सुरेसु [ख]) :

यहाँ रूप का अर्थ 'एक' है। रूपाधिक अर्थात् पूर्वोक्त संख्या से एक अधिक। पूर्व कथन में सूत्रकृतांग सूत्र के २३ अध्ययन ग्रहण किए गए हैं। अतः यहाँ २४ की संख्या प्राप्त है। वृत्तिकार ने इसकी व्याख्या दो प्रकार से की है।[1] प्रथम व्याख्या के अनुसार २४ प्रकार के देव ये हैं—

१० प्रकार के भवनपति देव।
८ प्रकार के व्यन्तर देव।
५ प्रकार के ज्योतिष देव।
१ वैमानिक देव। (समस्त वैमानिक देवों को एक ही प्रकार में गिना है, भिन्नता की विवक्षा नहीं की है)

दूसरी व्याख्या के अनुसार यहाँ ऋषभदेव आदि २४ तीर्थङ्करों का ग्रहण किया गया है।[2] समवायांग में द्वितीय व्याख्या मान्य रही है—

(१) ऋषभ,
(२) अजित,
(३) शम्भव,
(४) अभिनन्दन,
(५) सुमति,
(६) पद्मप्रभ,
(७) सुपार्श्व,
(८) चन्द्रप्रभ,
(९) सुविधि,
(१०) शीतल,
(११) श्रेयांस,
(१२) वासुपूज्य,
(१३) विमल,
(१४) अनन्त,
(१५) धर्म,
(१६) शान्ति,
(१७) कुन्थु,
(१८) अर,
(१९) मल्लि,
(२०) मुनि सुव्रत,
(२१) नमि,
(२२) नेमि,
(२३) पार्श्व और
(२४) वर्द्धमान।

देखिए—समवायांग, समवाय २४।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ६१६ :
भवणवणजोइवेमाणिया य दस अट्ठ पंच एगविहा।
इति चउवीसं देवा केई पुण बेंति अरहंता॥

२–वही, पत्र ६१६ :
ऋषभादितीर्थंकरेषु।

श्लोक १७

३१—पच्चीस भावनाओं···में (पणवीसभावणाहिं क) :

भावना का अर्थ है—'वह क्रिया जिससे आत्मा को संस्कारित, वासित या भावित किया जाता है'। वे २५ हैं। आचारांग, समवायांग तथा प्रश्नव्याकरण में उनका वर्णन है, किन्तु उनके क्रम तथा नामों में भेद है। जैसे—

आचारांग (२।१५) के अनुसार	समवायांग (समवाय २५) के अनुसार	प्रश्नव्याकरण (संवरद्वार) के अनुसार
	(१) अहिंसा महाव्रत की भावना	
(१) ईर्या-समिति	ईर्या-समिति	ईर्या-समिति
(२) मन-परिज्ञा	मनो-गुप्ति	अपाप-मन (मन-समिति)
(३) वचन-परिज्ञा	वचन-गुप्ति	अपाप-वचन (वचन-समिति)
(४) आदान-निक्षेप-समिति	आलोक-भाजन-भोजन	एषणा-समिति
(५) आलोकित-पान भोजन	आदान-भांडामत्र-निक्षेपणा-समिति	आदान-निक्षेप-समिति
	(२) सत्य महाव्रत की भावनाएँ	
(६) अनवीचि-भाषण	अनुवीचि-भाषणता—विचार पूर्वक बोलना	अनुवीचि-भाषण
(७) क्रोध-प्रत्याख्यान	क्रोध-विवेक—क्रोध का प्रत्याख्यान	क्रोध-प्रत्याख्यान
(८) लोभ-प्रत्याख्यान	लोभ-विवेक—लोभ का त्याग	लोभ-प्रत्याख्यान
(९) अभय (भय-प्रत्याख्यान)	भय-विवेक—भय का त्याग	अभय-(भय-प्रत्याख्यान)
(१०) हास्य-प्रत्याख्यान	हास्य-विवेक—हास्य का त्याग	हास्य-प्रत्याख्यान
	३—अचौर्य महाव्रत की भावनाएँ	
(११) अनुवीचि-मितावग्रह-याचन	अवग्रहानुज्ञापना	विविक्त-वास-वसति
(१२) अनज्ञापित-पान-भोजन	अवग्रहसीमा परिज्ञान	अभीक्ष्ण-अवग्रह-याचन
(१३) अवग्रह का अवधारण	स्वयं ही अवग्रह की अनुग्रहणता	शय्या-समिति
(१४) अभीक्ष्ण-अवग्रह-याचन	साधर्मिकों के अवग्रह की याचना तथा परिभोग	साधारण-पिण्ड-पात्र लाभ
(१५) साधर्मिक के पास से अवग्रह-याचन	साधारण भोजन का आचार्य आदि को बता कर परिभोग करना	विनय-प्रयोग
	४—ब्रह्मचर्य महाव्रत की भावनाएँ	
(१६) स्त्रियों में कथा का वर्जन	स्त्री, पशु और नपुंसक से संसक्त शयन और आसन का वर्जन करना	असंसक्त-वास-वसति
(१७) स्त्रियों के अंग-प्रत्यंगों के अवलोकन का वर्जन	स्त्री-कथा का विवर्जन करना	स्त्री-जन में कथा-वर्जन
(१८) पूर्व-भुक्त-भोग की स्मृति का वर्जन	स्त्रियों के इन्द्रियों के अवलोकन का वर्जन करना	स्त्रियों के अंग-प्रत्यंग और चेष्टाओं के अवलोकन का वर्जन
(१९) अतिमात्र और प्रणीत पान-भोजन का वर्जन	पूर्व-भुक्त तथा पूर्व-क्रीडित काम-भोगों का स्मरण नहीं करना	पूर्व-भुक्त भोग की स्मृति का वर्जन
(२०) स्त्री आदि से संसक्त शयनासन का वर्जन	प्रणीत-आहार का विवर्जन करना	प्रणीत-रस-भोजन का वर्जन

५—अपरिग्रह महाव्रत की भावनाएँ

(२१) मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्द में समभाव	श्रोत्रेन्द्रिय रागोपरति	मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्द में समभाव
(२२) मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूप में समभाव	चक्षुरिन्द्रिय रागोपरति	मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूप में समभाव
(२३) मनोज्ञ और अमनोज्ञ गंध में समभाव	घ्राणेन्द्रिय रागोपरति	मनोज्ञ और अमनोज्ञ गंध में समभाव
(२४) मनोज्ञ और अमनोज्ञ रस में समभाव	रसनेन्द्रिय रागोपरति	मनोज्ञ और अमनोज्ञ रस में समभाव
(२५) मनोज्ञ और अमनोज्ञ स्पर्श में समभाव	स्पर्शनेन्द्रिय रागोपरति	मनोज्ञ और अमनोज्ञ स्पर्श में समभाव

३२–(उद्देसेसु दसाइणं ख) :

यहाँ दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प और व्यवहार—इन तीनों सूत्रों के २६ उद्देशों का उल्लेख किया गया है। यहाँ 'उद्देश' शब्द के द्वारा उद्देशन-काल का ग्रहण किया गया है।[1] एक दिन में जितने श्रुत की वाचना (अध्यापन) दी जाती है, उसे 'एक उद्देशन-काल' कहा जाता है। इन तीन सूत्रों के २६ उद्देशन-काल हैं—

दशाश्रुतस्कन्ध के १० उद्देशन-काल।

कल्प (बृहत्कल्प) के ६ उद्देशन-काल।

व्यवहार-सूत्र के १० उद्देशन-काल।

श्लोक १८

३३–साधु के सत्ताईस गुणों···में (अणगारगुणेहिं क) :

साधु के २७ गुण हैं। जैसे—

(१) प्राणातिपात से विरमण,
(२) मृषावाद से विरमण,
(३) अदत्तादान से विरमण,
(४) मैथुन से विरमण,
(५) परिग्रह से विरमण,
(६) श्रोत्रेन्द्रिय-निग्रह,
(७) चक्षु-इन्द्रिय-निग्रह,
(८) घ्राणेन्द्रिय-निग्रह,
(९) रसनेन्द्रिय-निग्रह,
(१०) स्पर्शनेन्द्रिय-निग्रह,
(११) क्रोध-विवेक,
(१२) मान-विवेक,
(१३) माया-विवेक,
(१४) लोभ-विवेक,
(१५) भाव-सत्य,
(१६) करण-सत्य,
(१७) योग-सत्य,
(१८) क्षमा,
(१९) विरागता,
(२०) मन-समाधारणता,
(२१) वचन-समाधारणता,
(२२) काय-समाधारणता,
(२३) ज्ञान-सम्पन्नता,
(२४) दर्शन-सम्पन्नता,
(२५) चारित्र-सम्पन्नता,
(२६) वेदना-अधिसहन और
(२७) मारणान्तिक-अधिसहन।

देखिए—समवायांग, समवाय २७।

१-बृहद् वृत्ति, पत्र ६१६ :

'उद्देशेषु' इत्युपलक्षणत्वादुद्देशनकालेषु दशादीनां—दशाश्रुतस्कन्धकल्पव्यवहाराणां षड्विंशतिसङ्ख्येष्विति शेषः, उक्तं हि—

"दस उद्देसणकाला दसाण कप्पस्स होंति छच्चेव।

दस चेव य ववहारस्स हुंति सव्वेऽवि छव्वीसं॥"

वृत्तिकार ने २७ गुण भिन्न प्रकार से माने हैं—

(१) अहिंसा,
(२) सत्य,
(३) अचौर्य,
(४) ब्रह्मचर्य,
(५) अपरिग्रह,
(६) रात्रि-भोजन-विरति,
(७) श्रोत्रेन्द्रिय-निग्रह,
(८) चक्षु-इन्द्रिय-निग्रह,
(९) घ्राणेन्द्रिय-निग्रह,
(१०) रसनेन्द्रिय-निग्रह,
(११) स्पर्शनेन्द्रिय-निग्रह,
(१२) भाव-सत्य,
(१३) करण-सत्य,
(१४) क्षमा,
(१५) विरागता,
(१६) मनो-निरोध,
(१७) वचन-निरोध,
(१८) काय-निरोध,
(१९) पृथ्वीकाय-संयम,
(२०) अप्काय-संयम,
(२१) तेजस्काय-संयम,
(२२) वायुकाय-संयम,
(२३) वनस्पतिकाय-संयम,
(२४) त्रसकाय-संयम,
(२५) योग-युक्तता,
(२६) वेदना-अधिसहन और
(२७) मारणान्तिक-अधिसहन ।[1]

२८–अठाईस आचार-प्रकल्पों ⋯में (पकप्पम्मि क) :

प्रकल्प का अर्थ है 'वह शास्त्र जिसमें मुनि के कल्प-व्यवहार का निरूपण हो' । आचारांग का दूसरा नाम 'प्रकल्प' है ।[2]

निशीथ सूत्र सहित आचारांग को 'आचार-प्रकल्प' कहा जाता है । मूल आचारांग के शस्त्र-परिज्ञा आदि नौ अध्ययन हैं और दूसरा श्रुतस्कन्ध उसकी चूड़ा (शिखा) है । उसके १६ अध्ययन हैं । निशीथ के तीन अध्ययन हैं और वह भी आचारांग की ही चूड़ा है ।

आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध के नौ अध्ययन हैं—

(१) शस्त्र-परिज्ञा,
(२) लोक-विजय,
(३) शीतोष्णीय,
(४) सम्यक्त्व,
(५) आवंती,
(६) धुत,
(७) विमोह,
(८) उपधान-श्रुत और
(९) महापरिज्ञा ।

आचारांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध के सोलह अध्ययन हैं—

(१) पिंडैषणा,
(२) शय्या,
(३) ईर्या,
(४) भाषा,
(५) वस्त्रैषणा,
(६) पात्रैषणा,
(७) अवग्रह-प्रतिमा,
(१४) सतसत्तिका,
(१५) भावना और
(१६) विमुक्ति ।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ६१६ :

"वयछक्कमिंदियाणं च, निग्गहो भाव करणसच्चं च ।
खमया विरागयावि य, मणमाईणं णिरोहो य ॥
कायाणछक्कजोगम्मि, जुत्तया वेयणाहियासणया ।
तह मारणंतिय हियासणया एएऽणगारगुणा ॥"

२–वही, पत्र ६१६ :

प्रकृष्टः कल्पो—यतिव्यवहारो यस्मिन्नसौ प्रकल्पः स चेहाचाराङ्गमेव शस्त्रपरिज्ञाद्यऽष्टाविंशत्यध्ययनात्मकम् ।

निशीथ के तीन अध्ययन हैं—

(१) उद्घात, (२) अनुद्घात और (३) आरोपण।

समवायांग में आचार-प्रकल्प के अठाईस-प्रकार इस प्रकार हैं—

(१) एक महीने की आरोपणा
(२) एक महीने और पाँच दिन की आरोपणा
(३) एक महीने और दस दिन की आरोपणा
(४) एक महीने और पन्द्रह दिन की आरोपणा
(५) एक महीने और बीस दिन की आरोपणा
(६) एक महीने और पच्चीस दिन की आरोपणा
(७) दो महीने की आरोपणा
(८) दो महीने और पाँच दिन की आरोपणा
(९) दो महीने और दस दिन की आरोपणा
(१०) दो महीने और पन्द्रह दिन की आरोपणा
(११) दो महीने और बीस दिन की आरोपणा
(१२) दो महीने और पच्चीस दिन की आरोपणा
(१३) तीन महीने की आरोपणा
(१४) तीन महीने और पाँच दिन की आरोपणा
(१५) तीन महीने और दस दिन की आरोपणा
(१६) तीन महीने और पन्द्रह दिन की आरोपणा
(१७) तीन महीने और बीस दिन की आरोपणा
(१८) तीन महीने और पच्चीस दिन की आरोपणा
(१९) चार महीने की आरोपणा
(२०) चार महीने और पाँच दिन की आरोपणा
(२१) चार महीने और दस दिन की आरोपणा
(२२) चार महीने और पन्द्रह दिन की आरोपणा
(२३) चार महीने और बीस दिन की आरोपणा
(२४) चार महीने और पच्चीस दिन की आरोपणा
(२५) उपघातिकी आरोपणा
(२६) अनुपघातिकी आरोपणा
(२७) कृत्स्ना आरोपणा और
(२८) अकृत्स्ना आरोपणा[1]

१–समवायांग, समवाय २८।

श्लोक १६

३५–उनतीस पाप-श्रुत प्रसंगों···में (पावसुयपसंगेसु क) :

पाप के उपादानकारणभूत जो शास्त्र हैं, उन्हें 'पाप-श्रुत' कहते हैं। उन शास्त्रों का प्रसंग अर्थात् अभ्यास—पाप-श्रुत प्रसंग है। वे २६ हैं—

(१) भौम— भूकम्प आदि के फल को बताने वाला निमित्त-शास्त्र।
(२) उत्पात— स्वाभाविक उत्पातों का फल बताने वाला निमित्त-शास्त्र।
(३) स्वप्न— स्वप्न के शुभाशुभ फल को बताने वाला निमित्त-शास्त्र।
(४) अंतरिक्ष— आकाश में उत्पन्न होने वाले नक्षत्रों के युद्ध का फलाफल बताने वाला निमित्त-शास्त्र।
(५) अंग— अंग-स्फुरण का फल बताने वाला निमित्त-शास्त्र।
(६) स्वर— स्वर के शुभाशुभ फल का निरूपण करने वाला निमित्त-शास्त्र।
(७) व्यञ्जन— तिल, मसा आदि के फल को बताने वाला निमित्त-शास्त्र।
(८) लक्षण— अनेक प्रकार के लक्षणों का फल बताने वाला निमित्त-शास्त्र।

इन आठों के तीन-तीन प्रकार होते हैं—(१) सूत्र, (२) वृत्ति और (३) वार्त्तिक। इस तरह २४ पाप-श्रुत प्रसंग हुए। अवशेष निम्न प्रकार है।

(२५) विकथानुयोग— अर्थ और काम के उपायों के प्रतिपादक ग्रन्थ। जैसे—कामन्दक, वात्स्यायन, भारत आदि।
(२६) विद्यानुयोग — रोहिणी आदि विद्या की सिद्धि बताने वाला शास्त्र।
(२७) मन्त्रानुयोग— मंत्र शास्त्र।
(२८) योगानुयोग— वशीकरण-शास्त्र, हर-मेखलादि शास्त्र।
(२९) अन्यतीर्थिक प्रवृत्तानुयोग— अन्यतीर्थिकों द्वारा प्रवर्तित शास्त्र।

देखिए–समवायांग, समवाय २६।

बृहद् वृत्ति (पत्र ६१७) में ये कुछ भिन्न प्रकार से मिलते हैं।

३६–तीस मोह के स्थानों में (मोहट्ठाणेसु ख) :

मोह-कर्म के परमाणु व्यक्ति को मूढ़ बनाते हैं। उनका संग्रह व्यक्ति अपनी ही दुष्प्रवृत्तियों से करता है। यहाँ महामोह उत्पन्न करने वाली तीस प्रवृत्तियों का उल्लेख है। वे इस प्रकार हैं—

(१) त्रस-प्राणी को पानी में डुबो कर मारना।
(२) सिर पर चर्म आदि बाँध कर मारना।
(३) हाथ से मुख बन्द कर सिसकते हुए प्राणी को मारना।
(४) मण्डप आदि में मनुष्यों को घेर, वहाँ अग्नि जला, धुंए की घुटन से उन्हें मारना।
(५) संक्लिष्ट चित्त से सिर पर प्रहार करना, उसे फोड़ डालना।
(६) विश्वासघात कर मारना।
(७) अनाचार को छिपाना, माया को माया से पराजित करना, की हुई प्रतिज्ञाओं को अस्वीकार करना।
(८) अपने द्वारा कृत हत्या आदि महादोष का दूसरे पर आरोप लगाना।

(६) यथार्थ को जानते हुए भी सभा के समक्ष मिश्र-भाषा बोलना—सत्यांश की ओट में बड़े झूठ को छिपाने का यत्न करना और कलह करते ही रहना।

(१०) अपने अधिकारी की स्त्रियों या अर्थ-व्यवस्था को अपने अधीन बना उसे अधिकार और भोग-सामग्री से वंचित कर डालना, रूखे शब्दों में उसकी भर्त्सना करना।

(११) बाल-ब्रह्मचारी न होने पर भी अपने आपको बाल-ब्रह्मचारी कहना।

(१२) अब्रह्मचारी होते हुए भी अपने आपको ब्रह्मचारी कहना।

(१३) जिसके सहारे जीविका चलाए, उसी के धन को हड़पना।

(१४) जिस ऐश्वर्यशाली व्यक्ति या जन-समूह के द्वारा ऐश्वर्य प्राप्त किया, उसी के भोगों का विच्छेद करना।

(१५) सर्पिणी का अपने अण्डों को निगलना ; पोषण देने वाले व्यक्ति, सेनापति और प्रशास्ता को मार डालना।

(१६) राष्ट्र-नायक, निगम-नेता (व्यापारी-प्रमुख) सुप्रसिद्ध सेठ को मार डालना।

(१७) जो जनता के लिए द्वीप और त्राण हो, वैसे जन-नेता को मार डालना।

(१८) संयम के लिए तत्पर मुमुक्षु और संयमी साधु को संयम से विमुख करना।

(१९) अनन्त ज्ञानी का अवर्णवाद बोलना—सर्वज्ञता के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न करना।

(२०) मोक्ष-मार्ग की निन्दा कर जनता को उससे विमुख करना।

(२१) जिन आचार्य और उपाध्याय से शिक्षा प्राप्त की हो उन्हीं की निन्दा करना।

(२२) आचार्य और उपाध्याय की सेवा और पूजा न करना।

(२३) अबहुश्रुत होते हुए भी अपने आपको बहुश्रुत कहना।

(२४) अतपस्वी होते हुए भी अपने आपको तपस्वी कहना।

(२५) ग्लान साधर्मिक की 'उसने मेरी सेवा नहीं की थी' इस कलुषित भावना से सेवा न करना।

(२६) ज्ञान, दर्शन और चारित्र का विनाश करने वाली कथाओं का बार-बार प्रयोग करना।

(२७) अपने मित्र आदि के लिए बार-बार निमित्त, वशीकरण आदि का प्रयोग करना।

(२८) माननीय या पारलौकिक भोगों की लोगों के सामने निंदा करना और छिपे-छिपे उनका सेवन करते जाना।

(२९) देवताओं की ऋद्धि, द्युति, यश, बल और वीर्य का मखौल करना।

(३०) देव-दर्शन न होने पर भी मुझे देव-दर्शन हो रहा है—ऐसा कहना।

उक्त विवरण समवायांग (समवाय ३०) के आधार पर है। दशाश्रुतस्कन्ध (दशा ९) में प्रथम पाँच स्थान कुछ परिवर्तन के साथ मिलते हैं—

समवाय	दशाश्रुतस्कन्ध
१	१
२	५
३	२
४	३
५	४

श्लोक २०

३७–सिद्धों के इकतीस आदि (अतिशायी) गुणों ... में (सिद्धाइगुण क) :

सिद्धों के ३१ आदि-गुण इस प्रकार हैं—

(१) आभिनिबोधिक ज्ञानावरण का क्षय,
(२) श्रुत ज्ञानावरण का क्षय,
(३) अवधि ज्ञानावरण का क्षय,
(४) मनःपर्यव ज्ञानावरण का क्षय,
(५) केवल ज्ञानावरण का क्षय,
(६) चक्षु दर्शनावरण का क्षय,
(७) अचक्षु दर्शनावरण का क्षय,
(८) अवधि दर्शनावरण का क्षय,
(९) केवल दर्शनावरण का क्षय,
(१०) निद्रा का क्षय,
(११) निद्रा-निद्रा का क्षय,
(१२) प्रचला का क्षय,
(१३) प्रचला-प्रचला का क्षय,
(१४) स्त्यानर्द्धि का क्षय,
(१५) सातावेदनीय का क्षय,
(१६) असातावेदनीय का क्षय ।
(१७) दर्शन-मोहनीय का क्षय,
(१८) चारित्र-मोहनीय का क्षय,
(१९) नैरयिक आयुष्य का क्षय,
(२०) तिर्यञ्च आयुष्य का क्षय,
(२१) मनुष्य आयुष्य का क्षय,
(२२) देव आयुष्य का क्षय,
(२३) उच्च गोत्र का क्षय,
(२४) नीच गोत्र का क्षय,
(२५) शुभ नाम का क्षय,
(२६) अशुभ नाम का क्षय,
(२७) दानान्तराय का क्षय,
(२८) लाभान्तराय का क्षय,
(२९) भोगान्तराय का क्षय,
(३०) उपभोगान्तराय का क्षय और
(३१) वीर्यान्तराय का क्षय ।

देखिए—समवायांग, समवाय ३१ ।

आचारांग में सिद्धों के गुण इस प्रकार बतलाए गए हैं[१] :

पाँच संस्थान से रहित । संस्थान ये हैं— (१) दीर्घ-ह्रस्व, (२) वृत्त, (३) त्र्यस्र, (४) चतुरस्र और (५) परिमण्डल ।
पाँच वर्ण से रहित । वर्ण ये हैं— (६) कृष्ण, (७) नील, (८) लोहित, (९) हारिद्र और (१०) शुक्ल ।
दो गंध से रहित । गंध ये हैं— (११) सुरभि गंध और (१२) दुरभि गंध ।
पाँच रस से रहित । रस ये हैं— (१३) तिक्त, (१४) कटुक, (१५) कषाय, (१६) आम्ल और (१७) मधुर ।
आठ स्पर्श से रहित । स्पर्श ये हैं— (१८) कर्कश, (१९) मृदु, (२०) लघु, (२१) गुरु, (२२) शीत, (२३) ऊष्ण, (२४) स्निग्ध, (२५) रुक्ष, (२६) अकाय, (२७) अरूह और (२८) असङ्ग ।
तीन वेद से रहित । वेद ये हैं— (२९) स्त्री वेद, (३०) पुरुष वेद और (३१) नपुंसक वेद ।

शान्त्याचार्य ने दोनों प्रकार मान्य किए हैं ।[२]

१–आचारांग, १।५।६।१२६-१३४ :

से ण दीहे, ण हस्से, वट्टे ण ।
ण तंसे, ण चउरंसे, ण परिमंडले ।
ण किण्हे, ण णीले, ण लोहिए, ण हालिद्दे, ण सुक्किल्ले ।
ण सुब्भिगंधे, ण दुरभिगंधे ।
ण तित्ते, ण कडुए, ण कसाए, ण अंबिले, ण महुरे ।
ण कक्खडे, ण मउए, ण गरुए ।
ण लहुए, ण सीए, ण उण्हे, ण णिद्धे, ण लुक्खे ।
ण काऊ । ण रुहे । ण संगे ।
ण इत्थी, ण पुरिसे, ण अन्नहा ।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र ६११ ।

३८–बत्तीस योग-संग्रहों···में (जोगेसु क) :

मन, वचन और काया के व्यापार को 'योग' कहते हैं। यहाँ प्रशस्त योगों का ही ग्रहण किया गया है। योग-संग्रह का अर्थ है 'प्रशस्त योगों का एकत्रीकरण'। वे बत्तीस हैं—

(१) आलोचना—शिष्य द्वारा गुरु के पास अपने दोषों को निवेदन करना।
(२) शिष्य द्वारा आलोचित दोषों को प्रकट न करना।
(३) आपत्ति में दृढ़-धर्मता।
(४) अनिश्रितोपधान—दूसरों की सहायता के बिना ही तपः-कर्म करना।
(५) शिक्षा—शास्त्रों का पठन-पाठन।
(६) निष्प्रतिकर्मता—शरीर की सार संभाल नहीं करना।
(७) अज्ञातता—अपनी तपस्या आदि को गुप्त रखना।
(८) अलोभता।
(९) तितिक्षा—परीसह आदि पर विजय।
(१०) आर्जव—ऋजुभाव।
(११) शुचि—सत्य और संयम।
(१२) सम्यग्-दृष्टि—सम्यग्-दर्शन की शुद्धि।
(१३) समाधि—चित्त-स्वास्थ्य।
(१४) आचारोपगत—माया-रहित होना।
(१५) विनयोपगत—मान-रहित होना।
(१६) धृतिमति—अदीनता।
(१७) संवेग—मोक्ष की अभिलाषा।
(१८) प्रणिधि—माया-शल्य से रहित होना।
(१९) सुविधि—सद्-अनुष्ठान।
(२०) संवर—आश्रव-निरोध।
(२१) आत्मदोषोपसंहार—अपने दोषों का निरोध।
(२२) सर्वकाम-विरक्तता—समस्त विषयों से विमुखता।
(२३) प्रत्याख्यान—मूल गुण विषयक।
(२४) प्रत्याख्यान—उत्तर गुण विषयक।
(२५) व्युत्सर्ग—कायोत्सर्ग।
(२६) अप्रमाद।
(२७) लवालव—क्षण-क्षण सामाचारी का पालन करना।
(२८) ध्यान-संवर-योग।
(२९) मारणान्तिक उदय—मरण के समय अक्षुब्ध रहना।
(३०) संग का त्याग—ज्ञ-परिज्ञा और प्रत्याख्यान-परिज्ञा से त्याग करना।
(३१) प्रायश्चित्त करना और
(३२) मारणान्तिक आराधना—शरीर और कषाय को क्षीण करने के लिए तपस्या करना।

देखिए—समवायांग, समवाय ३२।

३९–तेतीस आशातनाओं में (तेत्तीसासायणासु ^ख) :

आशातना का अर्थ है— अविनय, अशिष्टता या अभद्र व्यवहार। दैनिक व्यवहारों के आधार पर उसके तेंतीस विभाग किए गए हैं—

(१) छोटे साधु का बड़े साधु के आगे चलना।
(२) छोटे साधु का बड़े साधु के समश्रेणि में (बराबर) चलना।
(३) छोटे साधु का बड़े साधु से सट कर चलना।
(४) छोटे साधु का बड़े साधु के आगे खड़ा रहना।
(५) छोटे साधु का बड़े साधु के समश्रेणि में खड़ा रहना।
(६) छोटे साधु का बड़े साधु से सट कर खड़ा रहना।
(७) छोटे साधु का बड़े साधु के आगे बैठना।
(८) छोटे साधु का बड़े साधु के समश्रेणि में बैठना।
(९) छोटे साधु का बड़े साधु से सट कर बैठना।
(१०) छोटे साधु का बड़े साधु से पहले (एक जल-पात्र हो, उस स्थिति में) आचमन करना—शुचि लेना।
(११) छोटे साधु द्वारा स्थान में आकर बड़े साधु से पहले गमनागमन की आलोचना करना।
(१२) जिस व्यक्ति के साथ बड़े साधु को वार्तालाप करना है, उसके साथ छोटे साधु का पहले ही वार्तालाप करना।
(१३) बड़े साधु द्वारा यह पूछने पर कि कौन जागता है, कौन सो रहा है ? छोटे साधु का जागते हुए भी उत्तर नहीं देना।
(१४) गृहस्थ के घर से भिक्षा ला पहले छोटे साधु के पास आलोचना करना—कहाँ से क्या, कैसे प्राप्त हुआ—यह बतलाना। फिर बड़े साधु के पास आलोचना करना।
(१५) गृहस्थ के घर से भिक्षा ला पहले छोटे साधु को दिखाना फिर बड़े साधु को।
(१६) गृहस्थ के घर से भिक्षा ला पहले छोटे साधु को निमंत्रित करना फिर बड़े साधु को।
(१७) गृहस्थ के घर से भिक्षा ला बड़े साधु को पूछे बिना अपने प्रिय-प्रिय साधुओं को प्रचुर-प्रचुर दे देना।
(१८) गृहस्थ के घर से भिक्षा ला बड़े साधु के साथ भोजन करते हुए सरस आहार खाने की उतावल करना।
(१९) बड़े साधु द्वारा आमंत्रित होने पर सुना अनसुना करना।
(२०) बड़े साधु द्वारा आमंत्रित होने पर अपने स्थान पर बैठे हुए उत्तर देना।
(२१) बड़े साधु को अनादर-भाव से 'क्या कह रहे हो'—इस प्रकार कहना।
(२२) बड़े साधु को तू कहना।
(२३) बड़े साधु को या उसके समक्ष अन्य किसी को रूखे शब्द से आमंत्रित करना या जोर-जोर से बोलना।
(२४) बड़े साधु की—उसी का कोई शब्द पकड़—अवज्ञा करना।
(२५) बड़ा साधु व्याख्यान कर रहा हो, उस समय 'यह ऐसे नहीं किन्तु ऐसे है'—इस प्रकार कहना।
(२६) बड़ा साधु व्याख्यान कर रहा हो, उस समय 'आप भूल रहे हैं'—इस प्रकार कहना।
(२७) बड़ा साधु व्याख्यान कर रहा हो, उस समय अन्यमनस्क होना।
(२८) बड़ा साधु व्याख्यान कर रहा हो, उस समय बीच में ही परिषद् को भंग करना।
(२९) बड़ा साधु व्याख्यान कर रहा हो, उस समय बीच में ही कथा का विच्छेद करना—विघ्न उपस्थित करना।
(३०) बड़ा साधु व्याख्यान कर रहा हो, उस समय उसी विषय में अपनी व्याख्या देने का बार-बार प्रयत्न करना।
(३१) बड़े साधु के उपकरणों के पैर लग जाने पर विनम्रता पूर्वक क्षमा-याचना न करना।
(३२) बड़े साधु के बिछौने पर खड़े रहना, बैठना या सोना।
(३३) बड़े साधु से ऊँचे या बराबर के आसन पर खड़े रहना, बैठना या सोना।

आशातनाओं का यह विवरण दशाश्रुतस्कन्ध (दशा ३) के आधार पर दिया गया है। समवायांग (समवाय ३३) में ये कुछ क्रम-भेद से प्राप्त हैं। आवश्यक (चतुर्थ आवश्यक) में ३३ आशातनाएँ भिन्न प्रकार से प्राप्त हैं—

(१) अर्हन्तों की आशातना।
(२) सिद्धों की आशातना।
(३) आचार्यों की आशातना।
(४) उपाध्यायों की आशातना।
(५) साधुओं की आशातना।
(६) साध्वियों की आशातना।
(७) श्रावकों की आशातना।
(८) श्राविकाओं की आशातना।
(९) देवों की आशातना।
(१०) देवियों की आशातना।
(११) इहलोक की आशातना।
(१२) परलोक की आशातना।
(१३) केवलीप्रज्ञप्त धर्म की आशातना।
(१४) देव, मनुष्य और असुर सहित लोक की आशातना।
(१५) सर्व प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों की आशातना।
(१६) काल की आशातना।
(१७) श्रुत की आशातना।
(१८) श्रुत-देवता की आशातना।
(१९) वाचनाचार्य की आशातना।
(२०) व्याविद्ध—वर्ण-विन्यास में विपर्यास करना—कहीं के अक्षरों को नहीं बोलना।[1]
(२१) व्यत्याम्रेडित—उच्चार्यमाण पाठ में दूसरे पाठों का मिश्रण करना।[2]
(२२) हीनाक्षर—हीन अक्षरों का उच्चारण करना।
(२३) अत्यक्षर—अधिक अक्षरों का उच्चारण करना।
(२४) पदहीन—हीन पदों का उच्चारण करना।
(२५) विनयहीन—विराम-रहित उच्चारण करना।
(२६) घोषहीन—उदात्त आदि घोष-रहित उच्चारण करना।
(२७) योगहीन—सम्बन्ध-रहित उच्चारण करना।
(२८) सुष्ठुदत्त—योग्यता से अधिक ज्ञान देना।
(२९) दुष्ठु-प्रतीच्छित—ज्ञान को सम्यग्भाव से ग्रहण करना।
(३०) अकाल में स्वाध्याय करना।
(३१) काल में स्वाध्यायन करना।
(३२) अस्वाध्याय की स्थिति में स्वाध्याय करना।
(३३) स्वाध्याय की स्थिति में स्वाध्याय न करना।

१–विशेषावश्यक भाष्य, गाथा ८५६ :
वाइद्धक्खरमेयं, वच्चासियवण्णविण्णासं।

२–वही, गाथा ८५८ :
विविहसत्थपल्लवविमिस्सं।

अध्ययन ३२

पमायट्ठाणं

श्लोक १

१–(अच्चन्तकालस्स समूलगस्स [क]) :

'अच्चन्तकालस्स'—अनादि-कालीन। अन्त का अर्थ है 'छोर'। वस्तु के दो छोर होते हैं—आरम्भ और समाप्ति। यहाँ आरम्भ क्षण का ग्रहण किया गया है। इसका शब्दार्थ है—जिसका आरम्भ न हो वैसा काल अर्थात् अनादि-काल।[1]

'समूलगस्स'—मूल-सहित। दुःख का मूल कषाय और अविरति है। इसीलिए उसे 'समूलक' अर्थात् कषाय अविरति मूलक कहा गया है।[2]

श्लोक ३

२–गुरु और वृद्धों की (गुरुविद्ध [क]) :

गुरु का अर्थ है 'शास्त्र को यथावत् बताने वाला'। वृद्ध तीन प्रकार के होते हैं (१) श्रुत-वृद्ध, (२) पर्याय-वृद्ध और (३) वयो-वृद्ध।[3]

श्लोक ५

३–श्लोक ५ :

मिलाइए—दशवैकालिक चूलिका, २।१०।

श्लोक १०

४–श्लोक १० :

इस श्लोक में बताया गया है कि ब्रह्मचारी को घी, दूध, दही आदि रसों का अतिमात्रा में सेवन नहीं करना चाहिए। यहाँ रस-सेवन का आत्यन्तिक निषेध नहीं है, किन्तु अतिमात्रा में उनके सेवन का निषेध है।

जैन-आगम भोजन के सम्बन्ध में ब्रह्मचारी को जो निर्देश देते हैं, उनमें दो ये हैं—

(१) वह रसों को अतिमात्रा में न खाए और

(२) वह रसों को बार-बार या प्रतिदिन न खाए।

इसका फलित यह है कि वह वायु आदि के क्षोभ का निवारण करने के लिए रसों का सेवन कर सकता है। अकारण उनका सेवन नहीं कर सकता।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ६२१ :

अन्तमतिक्रान्तोऽत्यन्तो,···अनादिः कालो यस्य सोऽयमत्यन्तकालस्तस्य।

२–वही, पत्र ६२१ :

सह मूलेन—कषायाविरतिरूपेण वर्त्तत इति समूलकः (कः) प्राग्वत्तस्य, उक्तहिं—"मूलं संसारस्स उ हुंति कसाया अविरती य"।

३–वही, पत्र ६२२ :

गुरवो—यथावच्छास्त्राभिधायका वृद्धाश्च—श्रुतपर्यायादिवृद्धाः।

एक मुनि ने अपने प्रश्नकर्त्ता को यही बताया था—"मैं अति आहार नहीं करता हूँ, अतिस्निग्ध आहार से विषय उद्दीप्त होते हैं, इसलिए उनका भी सेवन नहीं करता हूं। संयमी-जीवन की यात्रा चलाने के लिए खाता हूँ, वह भी अतिमात्रा में नहीं खाता।"[1]

दूध आदि का सर्वथा सेवन न करने से शरीर शुष्क हो जाता है, बल घटता है और ज्ञान, ध्यान या स्वाध्याय की यथेष्ट प्रवृत्ति नहीं हो सकती। उनका प्रतिदिन व अतिमात्रा में सेवन करने से विषय की वृद्धि होती है, इसलिए आचार्य को चाहिए कि वह अपने शिष्यों को कभी स्निग्ध और कभी रूखा आहार दे।

श्लोक ३७

५–(मिगे [ग]) :

'मृग' शब्द के अनेक अर्थ हैं—पशु, मृगशीर्ष नक्षत्र, हाथी की एक जाति, कुरंग आदि। यहाँ मृग का अर्थ 'पशु' है।[2]

श्लोक ५०

६-औषधियां (ओसहि [ग]):

वृत्तिकार ने औषधि को 'नागदमनी' आदि औषधियों का सूचक माना है।[3]

श्लोक १०७

७–अपने रागद्वेषात्मक⋯संकल्प करता है (समसंकप्पविकप्पणासु [क]) :

'संकल्प'—में कल्प शब्द का अर्थ 'अध्यवसाय' है और 'विकल्प' में कल्प शब्द का अर्थ 'छेदन' है। कल्प शब्द के अनेक अर्थ हैं—सामर्थ्य, वर्णन, छेदन, करण, औपम्य और अधिवास।[4]

८–समता (समयं [ख]) :

समता का अर्थ है—'मध्यस्थ भाव' अथवा 'ऐसी अवस्था जिसमें अध्यवसायों की तुल्यता रहती हो'। साथ-साथ इसके दो अर्थ और हैं—'समकं'—एक साथ, 'समयं'—सिद्धान्त।[5]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ६२५ :
'रसाः' क्षीरादिविकृतयः 'प्रकामम्' अत्यर्थं 'न निषेवितव्याः' नोपभोक्तव्याः, प्रकामग्रहणं तु वातादिक्षोभनिवारणाय रसा अपि निषेवितव्या एव, निष्कारणनिषेवणस्य तु निषेध इति ख्यापनार्थम्, उक्तं च—
"अच्चाहारो न सहे, अतिनिद्धेण विसया उदिज्जंति।
जायामायाहारो, तंपि पगामं ण भुंजामि॥"

२–वही, पत्र ६३४ :
मृगः सर्वोऽपि पशुरुच्यते, यदुक्तम्—"मृगशीर्षे हस्तिजातौ, मृगः पशुकुरङ्गयोः।"

३–वही, पत्र ६३४ :
तथौषधयो—नागदमन्यादिकाः।

४–वही, पत्र ६३८ :
स्वसङ्कल्पानाम्—आत्मसम्बन्धिनां रागाद्यध्यवसायानां विकल्पना—विशेषेण छेदनं स्वसङ्कल्पविकल्पना, दृश्यते हि छेदनार्थेऽपि कल्पशब्दः, यथोक्तम्—
"सामर्थ्ये वर्णनायां च, छेदने करणे तथा।
औपम्ये चाधिवासे च, कल्पशब्दं विदुर्बुधाः॥"

५–वही, पत्र ६३७-६३८।

अध्ययन ३३

कम्मपयडी

श्लोक ११

१–श्लोक ११ :

चारित्र-मोहनीय कर्म के दो रूप हैं—(१) कषाय-मोहनीय और (२) नो-कषाय-मोहनीय। कषाय-मोहनीय कर्म के १६ प्रकार हैं—

अनन्तानुबन्धी— (१) क्रोध, (२) मान, (३) माया और (४) लोभ।
अप्रत्याख्यानी— (५) क्रोध, (६) मान, (७) माया और (८) लोभ।
प्रत्याख्यानी— (९) क्रोध, (१०) मान, (११) माया और (१२) लोभ।
संज्वलन— (१३) क्रोध, (१४) मान, (१५) माया और (१६) लोभ।

जो साधन मूलभूत कषायों को उत्तेजित करते हैं, वे 'नो-कषाय' कहलाते हैं। उनकी गणना दो प्रकार से हुई है। एक गणना के अनुसार वे नौ हैं—(१) हास्य, (२) रति, (३) अरति, (४) भय, (५) शोक, (६) जुगुप्सा, (७) पुरुष-वेद, (८) स्त्री-वेद और (९) नपुंसक-वेद। दूसरी गणना के अनुसार वे सात हैं—(१) हास्य, (२) रति, (३) अरति, (४) भय, (५) शोक, (६) जुगुप्सा और (७) वेद।[1]

श्लोक १४

२–श्लोक १४ :

गोत्र का अर्थ है 'कुलक्रमागत आचरण'। उच्च आचरण को 'उच्चगोत्र कर्म' और नीच आचरण को 'नीचगोत्र कर्म' कहा जाता है।[2] वे आठ प्रकार के हैं। ये प्रकार उसके बंधनों के आधार पर माने गए हैं।

उच्च गोत्र कर्म बंध के आठ कारण हैं—

(१) जाति का अमद, (२) कुल का अमद, (३) बल का अमद, (४) तपस्या का अमद,
(५) ऐश्वर्य का अमद, (६) श्रुत का अमद, (७) लाभ का अमद और (८) रूप का अमद।

नीच गोत्र कर्म बन्ध के आठ कारण हैं—

(१) जाति का मद, (२) कुल का मद, (३) बल का मद, (४) तपस्या का मद,
(५) ऐश्वर्य का मद, (६) श्रुत का मद, (७) लाभ का मद और (८) रूप का मद।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ६४३।

२–गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, १३ :

संताणकमेणागयजीवायरणस्स गोदमिदि सण्णा।
उच्चं णीचं चरणं उच्चं णीचं हवे गोदं॥

श्लोक १५

३—भोगान्तराय, उपभोगान्तराय (भोगे य क, उवभोगे ख) :

जो पदार्थ एक बार काम में आते हैं, वे 'भोग' कहलाते हैं। जैसे—पुष्प, आहार आदि।

जो बार-बार काम में आते हैं, वे 'उपभोग' कहलाते हैं। जैसे—भवन, स्त्री आदि।[1]

श्लोक १७

४—श्लोक १७ :

इस श्लोक में एक समय में बंधने वाले कर्म-स्कन्धों का प्रदेशाग्र (परमाणु-परिमाण) बतलाया गया है। आत्मा के प्रत्येक प्रदेश पर अनन्त-अनन्त कर्म-वर्गणाएँ चिपकी रहती हैं। किन्तु जो कर्म-वर्गणाएँ एक क्षण में आत्म-प्रदेशों से अश्लिष्ट होती हैं, उनका परिमाण यहाँ विवक्षित है।

ग्रन्थिक-सत्त्व का अर्थ है 'अभव्य जीव'। इनकी राग-द्वेषात्मक ग्रन्थि अभेद्य होती है, इसलिए इन्हें 'ग्रन्थिक' कहा जाता है। सिद्ध अर्थात् मुक्त जीव। ग्रन्थिक जीव जघन्य-युक्तानन्त (अनन्त का चौथा प्रकार) होते हैं और सिद्ध अनन्तानन्त होते हैं। एक समय में बंधने वाले कर्म-परमाणु ग्रन्थिक जीवों से अनन्त गुण अधिक और सिद्धों के अनन्तवें भाग जितने होते हैं। गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) में इसकी संवादी गाथा जो है, वह इस प्रकार है—

सिद्धाणंतियभागं, अभव्वसिद्धादणंतगुणमेव।
समयपबद्धं बंधदि, जोगवसादो दु विसरित्थं ॥४॥

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ६४४-६४५ :

भुज्यते—सकृदुपभुज्यत इति भोगः—सकृद्भोग्यः पुष्पाहारादिविषयस्तत्र च, तथा उपेति—अभ्यधिकं पुनः पुनरुपभुज्यमानतया भुज्यत इत्युपभोगः—पुनः पुनरुपभोग्यभवनाङ्गनादिविषयः, उक्तं हि—

"सति भुज्जइत्ति भोगो, सो पुण आहारपुप्फमाईओ।
उवभोगो उ पुणो पुण, उवभुज्जइ व भवणवणियाई॥"

अध्ययन ३४

लेसज्झयणं

श्लोक ४५-४६

१–श्लोक ४५-४६ :

४५वें श्लोक में शुक्ल-लेश्या का वर्जन और ४६वें श्लोक में शुक्ल-लेश्या का प्रतिपादन—दोनों केवली की अपेक्षा से हैं।

श्लोक ५२

२–श्लोक ५२ :

यहाँ मूलपाठ में श्लोक-व्यत्यय है। ५२वें के स्थान पर ५३वाँ और ५३वें के स्थान पर ५२वाँ श्लोक होना चाहिए। क्योंकि ५१वें श्लोक में आगमकार भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों की तेजोलेश्या के कथन की प्रतिज्ञा करते हैं, किन्तु ५२वें श्लोक में निरूपित तेजोलेश्या केवल वैमानिक देवों की अपेक्षा से है, जबकि ५३वें श्लोक में प्रतिपादित लेश्या का कथन चारों प्रकार के देवों की अपेक्षा से है।

अध्ययन ३५

अणगारमग्गगई

श्लोक ४

१—(सकवाडं ग) :

महात्मा बुद्ध ने किवाड़ वाले कोठों में न रहने को अपनी पूजा का कारण मानने से इन्कार किया है। उन्होंने कहा है—"उदायी !"० जैसे तैसे शयनासन से सन्तुष्ट, ० सन्तुष्टता-प्रशंसक ०' इससे यदि मुझे श्रावक ० पूजते ० ; तो उदायी ! मेरे श्रावक वृक्ष-मूलिक (=वृक्ष के नीचे सदा रहने वाले), अब्भोकासिक (=अभ्यवकाशिक=सदा चौड़े में रहने वाले) भी हैं, वह आठ मास (वर्षा के चार मास छोड़) छत के नीचे नहीं आते। मैं तो उदायी ! कभी-कभी लिपे-पोते वायु-रहित, किवाड़ खिड़की-बन्द कोठों (=कूटागारों) में भी विहरता हूँ।०।"[1]

श्लोक ६

२–श्लोक ६ :

बौद्ध-भिक्षुओं के लिए तेरह धुताङ्गों का विधान है। उनमें नौवाँ धुताङ्ग वृक्ष-मूलिकांग और ग्यारहवाँ धुताङ्ग श्मशानिकांग है। विशुद्धि मार्ग में कहा है—

वृक्ष-मूलिकांग भी—"छाये हुए को त्यागता हूँ, वृक्ष के नीचे रहने को ग्रहण करता हूँ" इनमें से किसी एक वाक्य से ग्रहण किया होना है। उस वृक्षमूलिक को (संघ—) सीमा के वृक्ष, (देवी-देवताओं के) चैत्य पर के वृक्ष, गोंद के पेड़, फले हुए पेड़, चमगीदड़ों वाला पेड़, खोंधड़ वाला पेड़, विहार के बीच खड़े पेड़—इन पेड़ों को छोड़ कर विहार से दूर वाले पेड़ को ग्रहण करना चाहिए। यह इसका विधान है।

प्रभेद से यह भी तीन प्रकार का होता है। उनमें उत्कृष्ट रुचि के अनुसार पेड़ ग्रहण करके साफ-सुथरा नहीं करा सकता। गिरे हुए पत्तों को पैरों से हटा कर उसे रहना चाहिए। मध्यम उस स्थान को आए हुए आदमियों से साफ-सुथरा करा सकता है। मृदु को मठ के श्रामणेरों को बुला कर साफ करवा, बराबर करके बालू छिटवा, चहारदीवारी से घेरा बनवा कर, दरवाजा लगवा रहना चाहिए। पूजा के दिन वृक्षमूलिक को वहाँ न बैठ कर दूसरी जगह आड़ में बैठना चाहिए। इन तीनों का धुतांग छाये हुए (स्थान) में वास करने के क्षण टूट जाता है। "जान कर छाये हुए (स्थान) में अरुणोदय उगाने पर" अंगुत्तर-भाणक कहते हैं। यह भेद (=विनाश) है।

यह गुण है—"वृक्ष मूल वाले शयनासन के सहारे प्रव्रज्या है।" इस वाक्य से निश्चय के अनुसार प्रतिपत्ति का होना। "वे थोड़े किन्तु सुलभ और निर्दोष हैं।" भगवान् द्वारा प्रशंसित होने का प्रत्यय, हर समय पेड़ की पत्तियों के विकारों को देखने से अनित्य का ख्याल पैदा होना, शयनासन की कंजूसी और (नाना) काम में जुटे रहने का अभाव, देवताओं के साथ रहना, अल्पेच्छता आदि के अनुसार वृत्ति।

> **वण्णितो बुद्धसेट्ठेन निस्सयोति च भासितो।**
> **निवासो पविवित्तस्स रुक्खमूल समो कुतो ॥**

[श्रेष्ठ भगवान् बुद्ध द्वारा प्रशंसित और निश्रय कहे गए एकान्त निवास के लिए वृक्षमूल के समान दूसरा क्या है ?]

> **आवासमच्छेर हरे देवता परिपालिते।**
> **पविवित्ते वसन्तो हि रुक्खमूलम्हि सुब्बतो ॥**
> **अभिरत्तानि नीलानि पण्डूनि पतितानि च।**
> **पस्सन्तो तरुपण्णानि निच्चसञ्ञं पनूदति ॥**

[मठ 'सम्बन्धी) कंजूसी दूर हो जाती है। देवताओं द्वारा प्रतिपालित एकान्त में वृक्ष के नीचे रहता हुआ, शीलवान् (भिक्षु) लाल, नीले और पीले गिरे हुए, पेड़ के पत्तों को देखते, नित्य (होने) के ख्याल को छोड़ देता है।]

१—मज्झिमनिकाय, २।३।७, पृ० ३०७।

तस्मा हि बुद्धदायज्जं भावनाभिरतालयं।
विवित्तं नातिमञ्ञेय्य रुक्खमूलं विचक्खणो ॥

[इसलिए बुद्ध-दायाद, भावना में लगे रहने के आलय और एकान्त वृक्षमूल की बुद्धिमान (भिक्षु) अवहेलना न करे]।[1]

निदान कथा (जातकट्ठ कथा, पृष्ठ १३, १४) में वृक्ष-मूल में रहने के दस गुण बतलाए हैं।

श्मशानिकांग भी—"श्मशान को नहीं त्यागूँगा, श्मशानिकांग को ग्रहण करता हूँ", इनमें से किसी एक वाक्य से ग्रहण किया होता है। उस श्मशानिक को, जो कि आदमी गाँव बसाते हुए "यह श्मशान है" मानते हैं, वहाँ नहीं रहना चाहिए। क्योंकि बिना मुर्दा जलाया हुआ (स्थान) श्मशान नहीं होता। जलाने के समय से लेकर यदि बारह वर्ष भी छोड़ा गया रहता है, तो (वह) श्मशान ही है।

उसमें रहनेवाले को चंक्रमण, मण्डप आदि बनवा, चारपाई-चौकी बिछा कर, पीने के लिए पानी रख धर्म बाँचते हुए नहीं रहना चाहिए। यह धुतांग बहुत कठिन है। इसलिए उत्पन्न उपद्रव को मिटाने के लिए संघ-स्थविर (=संघ के बूढ़े भिक्षु) या राजकर्मचारी को जना कर अप्रमाद के साथ रहना चाहिए। चंक्रमण करते समय, आधी आँख से मुर्दा-घाटी (=मुर्दा जलाने के स्थान) को देखते हुए चंक्रमण करना चाहिए। श्मशान में जाते हुए भी महामार्ग से उतरकर, बे-राह जाना चाहिए। दिन में ही आलम्बन को भलीभाँति देखकर (मन में) बैठा लेना चाहिए। इस प्रकार (करने से) उसके लिए वह रात्रि भयानक न होगी। अमनुष्यों के शोर करके घूमते हुए भी किसी चीज से मारना नहीं चाहिए। श्मशान नित्य जाना चाहिए। (रात्री के) बिचले प्रहर को श्मशान में बिता कर पिछले पहर में लौटना चाहिए।" ऐसा अंगुत्तर भाणक कहते हैं। अमनुष्यों के प्रिय तिल की पिट्ठी (=तिल का कसार), उर्द से मिलाकर बनाया भात (=खिचड़ी), मछली, मांस, दूध, तेल, गुड़ आदि खाद्य भोज्य को नहीं खाना चाहिए। (लोगों के) घरों में नहीं जाना चाहिए। यह इसका विधान है।

प्रभेद से यह भी तीन प्रकार का होता है उत्कृष्ट को जहाँ हमेशा मुर्दे जलाए जाते हैं, हमेशा मुर्दे पड़े रहते हैं, हमेशा रोना-पीटना (लगा) रहता है, वहीं बसना चाहिए। मध्यम के लिए तीनों में से एक के भी होने पर ठीक है। मृदु के लिए उक्त प्रकार से श्मशान को पाने मात्र पर। इन तीनों का भी धुतांग अ-श्मशान (=जो श्मशान न हो) में वास करने से टूट जाता है। 'श्मशान को नहीं जाने के दिन' (ऐसा) अंगुत्तर-भाणक कहते हैं। यह भेद (= वनाश) है।

यह गुण है— मरने का ख्याल बने रहना, अप्रमाद के साथ विहरना, अशुभ निमित्त का लाभ, कामराग का दूरीकरण, हमेशा शरीर के स्वभाव को देखना, संवेग की अधिकता, आरोग्यता, आदि घमण्डों का त्याग, भय और भयानकता की सहनशीलता, अमनुष्यों का गौरवनीय होना, अल्पेच्छ आदि के अनुसार वृत्ति का होना।

सोसानिकं हि मरणानुसतिप्पभावा।
निद्दागतम्पि न फुसन्ति पमाददोसा ॥
सम्पस्सतो च कुणपानि बहूनि तस्स।
कामानुराग वसगम्पि न होति चित्तं ॥

[श्मशानिक को मरणानुस्मृति के प्रभाव से सोते हुए भी प्रमाद से प्राप्त होने वाले दोष नहीं छू पाते और बहुत से मुर्दों को देखते हुए, उसका चित्त कामराग के भी वशीभूत नहीं होता।]

संवेगमेति विपुलं न मदं उपेति।
सम्मा अथो घटति निब्बुतिमेसमानो ॥
सोसानिकङ्गमिति नेकगुणावहत्ता ।
निब्बाननिन्न हदयेन निसेवितब्बं ॥

[बहुत संवेग उत्पन्न होता है। घमण्ड नहीं आता। वह शान्ति (=निर्वाण) को खोजते हुए भलीभाँति उद्योग करता है, इसलिए अनेक गुणों को लाने वाले श्मशानिकांग का निर्वाण की ओर झुके हुए हृदय से सेवा करना चाहिए]।[2]

१–विशुद्धि मार्ग, भाग १, पृ० ७३-७४।
२-वही, भाग १, पृ० ७५-७६।

अध्ययन ३६
जीवाजीवविभत्ती

श्लोक २

१–यह लोक जीव और अजीवमय है (जीवा चेव अजीवा य क, एस लोए वियाहिए ख) :

जैन-आगमों में 'लोक' की परिभाषा कई प्रकार से मिलती है। धर्मास्तिकाय लोक है। लोक पञ्चास्तिकायमय है। जो आकाश षड्-द्रव्यात्मक है, वह लोक है। यहाँ जीव और अजीव को लोक कहा गया है। इन सब में कोई विरोध नहीं है। केवल अपेक्षा-भेद से इनका प्रतिपादन हुआ है। धर्म द्रव्य लोक-परिमित है इसलिए उसे लोक कहा गया है। काल समूचे लोक में व्याप्त नहीं अथवा वह वास्तविक द्रव्य नहीं, इसलिए लोक को पञ्चास्तिकायमय बताया गया है।

सब द्रव्य छह हैं। उनमें आकाश सब का आधार है। इसलिए उसके आश्रय पर ही दो विभाग किए गए हैं—(१) लोकाकाश और (२) अलोकाकाश। अलोकाकाश में आकाश के सिवाय कुछ भी नहीं। लोकाकाश में सभी द्रव्य हैं। व्यवहारिक काल सिर्फ मनुष्य लोक में है किन्तु वह है लोक में ही, इसलिए 'अंशस्यापि क्वचित् पूर्णत्वेन व्यपदेशः' के अनुसार लोक को षड्द्रव्यात्मक मानना ही युक्ति-सिद्ध है। कहा भी है—'द्रव्याणि षट् प्रतीतानि, द्रव्य-लोकः स उच्यते।' संक्षिप्त दृष्टि के अनुसार जहाँ पदार्थ को चेतन और अचेतन उभयरूप माना गया है वहाँ लोक का भी चेतनाचेतनात्मक स्वरूप बताया गया है।

२–जहाँ अजीव का एक देश—आकाश ही है, उसे अलोक कहा गया है। (अजीवदेसमागासे ग, अलोए से वियाहिए घ) :

अजीव के चार भेद हैं—(१) धर्मास्तिकाय, (२) अधर्मास्तिकाय, (३) आकाशास्तिकाय और (४) पुद्गलास्तिकाय। अलोक में जीव तो होते ही नहीं, अजीव में भी केवल आकाश होता है। इसलिए अलोक को आकाशमय कहा गया है। इसी आशय से बृहद् वृत्ति (पत्र ६७१) में कहा है—

> धर्मादीनां वृत्तिर्द्रव्याणां भवति यत्र तत् क्षेत्रम्।
> तैर्द्रव्यैः सह लोकस्तद् विपरीतं ह्यलोकाख्यम्॥

जहाँ धर्मास्तिकाय आदि छहों द्रव्य होते हैं वह लोक है। जो इससे विपरीत केवल आकाशमय है, वह अलोक है।

श्लोक ३

३–श्लोक ३ :

भगवान् महावीर का दर्शन अनेकान्त-दर्शन है। अनेकान्त का अर्थ है 'वस्तु में अनन्त स्वभावों का होना'। सारे स्वभाव अपनी-अपनी दृष्टि से एक दूसरे से भिन्न हैं। जितने स्वभाव हैं उतने ही कथन-प्रकार हैं। अतः उनका एक साथ कथन असंभव है। भगवान् ने प्रमुख रूप से पदार्थ-ज्ञान की चार दृष्टियाँ दीं—(१) द्रव्य, (२) क्षेत्र, (३) काल और (४) भाव।

(१) द्रव्य-दृष्टि— इससे द्रव्य की व्यक्तियों का परिमाण जाना जाता है।
(२) क्षेत्र-दृष्टि— इससे वस्तु कहाँ पाई जाती है, यह जाना जाता है।
(३) काल-दृष्टि— इससे द्रव्य की काल मर्यादा जानी जाती है।
(४) भाव-दृष्टि— इससे द्रव्य के पर्याय—रूपपरिवर्तन—जाने जाते हैं।

चार दृष्टियों से द्रव्य विचार—

द्रव्य	द्रव्य-दृष्टि	क्षेत्र-दृष्टि	काल-दृष्टि	भाव-दृष्टि
धर्म—	एक	लोक-व्यापी	अनादि-अनन्त	अरूपी
अधर्म—	एक	लोक-व्यापी	अनादि-अनन्त	अरूपी
आकाश—	एक	लोक-अलोक-व्यापी	अनादि-अनन्त	अरूपी
काल—	अनन्त	समय-क्षेत्र-व्यापी	अनादि-अनन्त	अरूपी
पुद्गल—	अनन्त	लोक-व्यापी	अनादि-अनन्त	रूपी
जीव—	अनन्त	लोक-व्यापी	अनादि-अन्त	अरूपी

श्लोक ५

४–श्लोक ५ :

पदार्थ दो रूप से ग्राह्य होता है—खंड-रूप से और अखंड-रूप से। वस्तु के सबसे छोटे भाग को, जिसके फिर दो टुकड़े न हो सकें, परमाणु कहते हैं। परमाणु सूक्ष्म और किसी एक रस, गंध, वर्ण तथा दो स्पर्शों सहित होता है। वे परमाणु जब एकत्रित हो जाते हैं तब उन्हें स्कन्ध कहा जाता है। दो परमाणुओं से बनने वाले स्कंध को द्वि-प्रदेशी स्कंध कहते हैं। इसी प्रकार स्कंध के त्रि-प्रदेशी, दश-प्रदेशी, संख्येय-प्रदेशी, असंख्येय-प्रदेशी, अनन्त-प्रदेशी आदि अनंत भेद होते हैं। स्कंध के बुद्धि-कल्पित अंश को देश कहते हैं। वह जब तक स्कन्ध से संलग्न रहता है तब तक देश कहलाता है। अलग हो जाने के बाद वह स्वयं स्कंध बन जाता है। स्कंध के उस छोटे से छोटे भाग को प्रदेश कहते हैं, जिसके फिर दो भाग न हो सकें। प्रदेश भी तब तक ही प्रदेश कहलाता है जब तक वह स्कंध के साथ जुड़ा हुआ रहता है। अलग हो जाने के बाद वह परमाणु कहलाता है।

धर्मास्तिकाय आदि चार अस्तिकायों के स्कंध देश, तथा प्रदेश—ये तीन ही भेद होते हैं। केवल पुद्गलास्तिकाय के ही स्कंध, देश, प्रदेश तथा परमाणु—ये चार भेद होते हैं। ये रूपी हैं। धर्मास्तिकाय आदि की स्वरूप-चर्चा उत्तराध्ययन के अठाईसवें अध्ययन के आठवें और नौवें श्लोक की टिप्पणियों में की गई है।

श्लोक ६

५–(अद्धासमए ग) :

स्थानांग में काल चार प्रकार का बताया गया है। वहाँ एक नाम 'अद्धा-काल' भी आया है। वृत्तिकार ने बताया है कि काल शब्द, रंग, प्रमाण, काल आदि कई अर्थों में प्रयुक्त होता है। समय-वाची काल शब्द को रंग और प्रमाण-वाची काल शब्द से पृथक् करने के लिए उसके पीछे 'अद्धा' विशेषण जोड़ा गया है।[1] यहाँ उसी अर्थ में अद्धा समय है।

यह सूर्य की गति से सम्बद्ध रहता है। दिन-रात आदि का काल-मान केवल मनुष्य-क्षेत्र में ही होता है। उससे बाहर ये भेद नहीं होते। अतः अद्धा-काल केवल मनुष्य-क्षेत्र (अढ़ाई द्वीप) में ही होता है।[2]

१–स्थानांग, ४।१।२६४ वृत्ति पत्र १९० ।

कालशब्दो हि वर्णप्रमाणकालादिष्वपि वर्त्तते, ततोऽद्धाशब्देन विशिष्यत इति, अयं च सूर्यक्रियाविशिष्टो मनुष्यक्षेत्रान्तर्वर्त्ती समयादिरूपोऽवसेयः ।

२–वही, ४।१।२६४ वृत्ति पत्र १९० ।

श्लोक ७

६–समय-क्षेत्र (मनुष्य लोक) में (समयखेत्तिए [घ]) :

समय-क्षेत्र वह क्षेत्र है, जहाँ समय, आवलिका, पक्ष, मास, ऋतु, अयन आदि का काल-विभाग परिज्ञात होता है। समय-क्षेत्र से बाहर उपर्युक्त काल-विभाग नहीं होता। समय-क्षेत्र का दूसरा नाम मनुष्य-क्षेत्र भी है। क्योंकि जन्मतः मनुष्य केवल समय-क्षेत्र में ही पाए जाते हैं। क्षेत्र-फल की दृष्टि से इसकी व्याख्या यह है—जम्बू-द्वीप, धातकी-खंड तथा अर्ध-पुष्कर—इन अढ़ाई द्वीपों की संज्ञा मनुष्य-क्षेत्र या समय-क्षेत्र है।

सूर्य और चन्द्रमा मेरु-पर्वत की प्रदक्षिणा करते हुए घूमते हैं अतः उनकी गति समय-क्षेत्र तक ही सीमित रह जाती है। उससे आगे यद्यपि असंख्य सूर्य और चन्द्रमा हैं पर वे अपने स्थान पर अवस्थित हैं अतः उनसे काल का विभाग नहीं होता।

श्लोक १३-१४

संख्या आठ प्रकार की बतलाई है। उसमें एक भेद है गणना। गणना के मुख्य तीन भेद हैं—संख्य, असंख्य और अनन्त। इनके अवान्तर भेद बीस होते हैं। यथा—

संख्य के तीन भेद हैं—(१) जघन्य, (२) मध्यम और (३) उत्कृष्ट।

असंख्य के नौ भेद हैं—(१) जघन्य परीत असंख्येय, (२) मध्यम परीत असंख्येय, (३) उत्कृष्ट परीत असंख्येय, (४) जघन्य युक्त असंख्येय, (५) मध्यम युक्त असंख्येय, (६) उत्कृष्ट युक्त असंख्येय, (७) जघन्य असंख्येय-असंख्येय, (८) मध्यम असंख्येय-असंख्येय एवं (९) उत्कृष्ट असंख्येय-असंख्येय।

अनन्त के आठ भेद हैं—(१) जघन्य परीत अनन्त, (२) मध्यम परीत अनन्त, (३) उत्कृष्ट परीत अनन्त, (४) जघन्य युक्त अनन्त, (५) मध्यम युक्त अनन्त, (६) उत्कृष्ट युक्त अनन्त, (७) जघन्य अनन्त-अनन्त तथा मध्यम अनन्त-अनन्त एवं (८) उत्कृष्ट अनन्त-अनन्त। असद्भाव होने से यह भेद गणना में नहीं लिया गया है।

जघन्य संख्येय संख्या दो है। एक संख्या गणना संख्या में नहीं आती। क्योंकि लेनदेन के व्यवहार में अल्पतम होने के कारण एक की गणना नहीं होती। 'संख्यायते इति संख्या' अर्थात् जो विभक्त हो सके, वह संख्या है। इस दृष्टि से जघन्य संख्या दो से प्रारम्भ होती है।

जघन्य संख्या दो है और अंतिम संख्या अनन्त है। संख्या के सारे विकल्पों को कल्पना के माध्यम से इस प्रकार समझ सकते हैं—

चार प्याले हैं—अनवस्थित, शलाका, प्रतिशलाका और महाशलाका। चारों प्याले एक लाख योजन लम्बे, एक लाख योजन चौड़े, एक हजार योजन गहरे, गोलाकार और जम्बूद्वीप की जगति प्रमाण ऊँचे हैं। पहले अनवस्थित प्याले को सरसों के दाने से इतना भरें कि एक दाना उसमें और डालें तो वह न ठहर सके। उस प्याले का पहला दाना जम्बूद्वीप में, दूसरा लवणसमुद्र में, तीसरा धातकीखण्ड में—इस प्रकार द्वीप और समुद्र में क्रमशः दाने गिराते चले जाएँ। (जम्बूद्वीप एक लाख योजन लम्बा-चौड़ा है, लवणसमुद्र उससे दूना और धातकीखण्ड उससे दूना है, इस प्रकार द्वीप के बाद समुद्र और समुद्र के बाद द्वीप एक-दूसरे से दूना है)। असंख्य द्वीप और असंख्य समुद्र हैं। अंतिम दाना जिस समुद्र या द्वीप में गिराएँ, उस प्रमाण का दूसरी बार अनवस्थित प्याला बनाएँ। फिर उससे आगे उसी प्रकार अनवस्थित प्याले का एक-एक दाना गिराते जाएँ। (एक बार अनवस्थित प्याला खाली हो जाए तो एक दाना शलाका प्याले में डालें)। इस क्रम से एक-एक दाना डाल कर शलाका प्याले को भरें। शलाका प्याला इतना भर जाए कि उसमें एक दाना भी और डालें तो वह उसमें न टिक सके। एक बार शलाका प्याला भरने पर प्रतिशलाका में एक दाना डालें। जब इस क्रम से प्रतिशलाका प्याला भर जाए तो एक दाना महाशलाका प्याले में डालें। इस क्रम से महाशलाका प्याला भरने के बाद प्रतिशलाका भरें, फिर शलाका प्याला भरें, फिर अनवस्थित प्याला भरें। दूसरे रूप में इसे सरलता से इस प्रकार समझ सकते हैं—

अनवस्थित प्याला—	एक दाना शलाका
शलाका प्याला—	एक दाना प्रतिशलाका
प्रतिशलाका प्याला—	एक दाना महाशलाका

चारों प्यालों के भर जाने के बाद सब दानों का एक ढेर करें। उस राशि में से दो दाने हाथ में लें। शेष ढेर मध्यम संख्यात है। हाथ का एक दाना मिलाने से उत्कृष्ट संख्यात होता है। हाथ का दूसरा दाना मिलाने से जघन्य परीत असंख्यात होता है।

जघन्य परीत असंख्येय की राशि को जघन्य परीत असंख्येय की राशि से जघन्य परीत असंख्येय बार गुणा करें। जो राशि आए, उसमें से दो निकाल लें। शेष राशि मध्यम परीत असंख्येय होता है। एक और मिलाने से उत्कृष्ट परीत असंख्येय होता है। एक और मिलाने से जघन्य युक्त असंख्येय होता है। जघन्य युक्त असंख्येय की राशि को, जघन्य युक्त असंख्येय की राशि से जघन्य युक्त असंख्येय बार से गुणा करें। जो राशि प्राप्त हो, उसमें से दो निकालने पर शेष राशि मध्यम परीत असंख्येय होती है। एक मिलाने से उत्कृष्ट परीत असंख्येय होता है।

जघन्य असंख्येय असंख्येय राशि को इसी राशि से उतनी ही बार गुणा करें। जो राशि प्राप्त हो, उसमें से दो निकाल लें। शेष राशि मध्यम असंख्येय होती है। एक मिलाने से उत्कृष्ट असंख्येय होती है। एक और मिलाने से जघन्य असंख्येय असंख्येय होता है।

जघन्य असंख्येय असंख्येय राशि को इसी राशि से उतनी ही बार गुणा करें। जो राशि प्राप्त हो, उसमें से दो निकाल लें। शेष राशि मध्यम असंख्येय असंख्येय होती है। एक मिलाने से उत्कृष्ट असंख्येय असंख्येय होती है। एक और मिलाने से जघन्य परीत अनन्त होता है।

जघन्य परीत अनन्त की राशि को इसी राशि से उतनी ही बार गुणा करें। जो राशि प्राप्त हो, उसमें से दो निकाल लें। शेष राशि मध्यम परीत अनन्त होती है। एक मिलाने से उत्कृष्ट परीत अनन्त होती है। एक और मिलाने से जघन्य युक्त अनन्त होती है।

जघन्य युक्त अनन्त की राशि को इसी राशि से उतनी ही बार गुणा करें। जो राशि प्राप्त हो, उसमें से दो निकाल लें। शेष राशि मध्यम परीत अनन्त होती है। एक मिलाने से उत्कृष्ट परीत अनन्त होती है। एक और मिलाने से जघन्य अनन्त अनन्त होती है। जघन्य अनन्त अनन्त से आगे की संख्या सब मध्यम अनन्त अनन्त होती है। क्योंकि उत्कृष्ट अनन्त अनन्त नहीं होता।

श्लोक १५

७-संस्थान की अपेक्षा से (संठाणओ ग) :

पुद्गल के जो असाधारण धर्म हैं, उनमें से संस्थान भी एक है। उसके दो भेद हैं—(१) इत्थंस्थ और (२) अनित्थंस्थ। जिसका त्रिकोण, चतुष्कोण आदि आकार नियत हो, उसे 'इत्थंस्थ' कहा जाता है तथा जिसका कोई निर्णीत आकार न हो, उसे 'अनित्थंस्थ' कहते हैं।

इत्थंस्थ के पाँच प्रकार हैं—(१) परिमंडल—चूड़ी की तरह गोल, (२) वृत्त—गेंद की तरह वर्तुलाकार, (३) त्र्यस्र—त्रिकोण, (४) चतुरस्र—चौकोन और (५) आयत—रस्सी की तरह लम्बा।

श्लोक ४८-५०

८-श्लोक ४८-५० :

सिद्ध होने के बाद सब जीव समान स्थिति को प्राप्त हो जाते हैं, उनमें कोई उपाधि-जनित भेद नहीं रहता। फिर भी पूर्व-अवस्था की दृष्टि से उनके भेद किए गए हैं—

(१) स्त्री सिद्ध
(२) पुरुष सिद्ध
(३) नपुंसक सिद्ध
(४) स्व-लिङ्ग सिद्ध
(५) अन्य-लिङ्ग सिद्ध
(६) गृहि-लिङ्ग सिद्ध
(७) उत्कृष्ट अवगाहना वाले सिद्ध
(८) जघन्य अवगाहना वाले सिद्ध
(९) मध्यम अवगाहना वाले सिद्ध
(१०) ऊँची दिशा में होने वाले सिद्ध
(११) नीची दिशा में होने वाले सिद्ध
(१२) तिरछी दिशा में होने वाले सिद्ध
(१३) समुद्र में होने वाले सिद्ध
(१४) नदी आदि में होने वाले सिद्ध

ये चौदह प्रकार हैं। इनमें पहले तीन प्रकार लिङ्ग की अपेक्षा से हैं। इसका तात्पर्य यह है कि स्त्री, पुरुष और नपुंसक (कृत नपुंसक) ये तीनों सिद्ध हो सकते हैं।

अगले तीन प्रकार वेश की अपेक्षा से हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जैन-साधुओं के वेश में, अन्य साधुओं के वेश में और गृहस्थ के वेश में भी जीव सिद्ध हो सकते हैं।

तीसरे त्रिक के तीन प्रकार शरीर की लम्बाई की अपेक्षा से हैं। इसका तात्पर्य यह है कि निर्दिष्ट अवगाहना वाले जीव ही सिद्ध होते हैं।

'ओगाहणा'—शरीर की ऊँचाई को 'अवगाहना' कहते हैं। सिद्ध होने वाले जीवों की अधिक से अधिक ऊँचाई ५०० योजन की होती है। कम से कम ऊँचाई २ हाथ की होती है। दो हाथ से अधिक और ५०० योजन से कम ऊँचाई को 'मध्यम अवगाहना' कहते हैं। सिद्धों की अवगाहना जघन्य, उत्कृष्ट तथा मध्यम—तीनों ही प्रकार की होती है।

अन्तिम पाँच प्रकार क्षेत्र की अपेक्षा से हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जीव कदाचित् विशेष संयोगों में ऊँचे लोक (नौ सौ योजन से ऊपर), नीचे लोक (नौ सौ योजन से नीचे) और जलाशय आदि में भी सिद्ध हो सकते हैं।

'उड्ढं'—जैन-साहित्य में लोक को तीन भागों में विभक्त किया गया है—ऊर्ध्व-लोक, अधो-लोक और तिर्यक्-लोक। यद्यपि मूल पाठ में 'ऊर्ध्व' शब्द का ही प्रयोग किया गया है, पर प्रकरण से उसका अर्थ 'ऊर्ध्व-लोक' होता है। ऊँचाई की दृष्टि से सारा लोक १४ रज्जू-प्रमाण है। ऊर्ध्व-लोक की ऊँचाई ७ रज्जू से कुछ कम है। साधारणतया जीव तिर्यक्-लोक में सिद्ध होते हैं, पर यदा कदा मेरुपर्वत की चूलिका पर से भी जीव सिद्ध हो जाते हैं। मेरुपर्वत की ऊँचाई एक लाख योजन परिमाण है अतः वह ऊर्ध्व-लोक की सीमा में आ जाता है। इसीलिए वहाँ पर से मुक्त होने वाले जीवों का 'सिद्धि-क्षेत्र' ऊर्ध्व-लोक ही होता है।[1]

'अहे'—अधो-लोक के क्षेत्र की लम्बाई सात रज्जू से कुछ अधिक है। साधारणतया वहाँ मुक्ति नहीं होती, पर महाविदेह की दो विजय मेरु के रूचक प्रदेशों से हजार योजन नीचे तक चली जाती है। तिर्यक्-लोक की सीमा नौ सौ योजन है। उससे आगे अधो-लोक की सीमा आ जाती है। उस सौ योजन की भूमि में जीव कर्म-मुक्त होते हैं।[2]

'तिरियं'—तिर्यक्-लोक 'मनुष्य-क्षेत्र' को ही कहते हैं। अढ़ाई द्वीप प्रमाण तिरछे और अठारह सौ योजन प्रमाण लम्बे इस भू-भाग में कहीं से भी जीव सिद्ध हो सकते हैं।

नंदी (सूत्र २१) में सिद्धों के पन्द्रह प्रकार निर्दिष्ट हैं—

(१) तीर्थ सिद्ध— अरिहन्त के द्वारा तीर्थ की स्थापना होने के बाद जो मोक्ष पाते हैं।

(२) अतीर्थ सिद्ध— तीर्थ-स्थापना से पहले मुक्त होने वाले।

(३) तीर्थङ्कर सिद्ध— तीर्थङ्कर-अवस्था में मुक्त होने वाले।

(४) अतीर्थङ्कर सिद्ध— तीर्थङ्कर के अतिरिक्त मुक्त होने वाले।

(५) स्वयंबुद्ध सिद्ध— अपने आप—किसी बाहरी निमित्त की प्रेरणा के बिना—दीक्षित होकर मुक्त होने वाले।

(६) प्रत्येकबुद्ध सिद्ध— किसी एक निमित्त से दीक्षित होकर मुक्त होने वाले।

(७) बुद्धबोधित सिद्ध— उपदेश से प्रतिबोध पाकर दीक्षित हो मुक्त होने वाले।

(८) स्त्रीलिङ्ग सिद्ध— स्त्रीलिङ्ग में मुक्त होने वाले।

(९) पुरुषलिङ्ग सिद्ध— पुरुषलिङ्ग में मुक्त होने वाले।

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ६८३ :
'ऊर्ध्वं' मित्यूर्ध्वलोके मेरुचूलिकादौ सिद्धाः।

२—वही, पत्र ६८३ :
'अधश्च' अधो लोकेऽधोलौकिकग्रामरूपेऽपि सिद्धाः।

(१०) नपुंसकलिङ्ग सिद्ध— जो जन्म से नपुंसक नहीं, किन्तु किसी कारण वश नपुंसक बने हों, उस स्थिति में मुक्त होने वाले।
(११) स्वलिङ्ग सिद्ध— जैन-साधुओं के वेश में मुक्त होने वाले।
(१२) अन्यलिङ्ग सिद्ध— अन्य-साधुओं के वेश में मुक्त होने वाले।
(१३) गृहलिङ्ग सिद्ध— गृहस्थ के वेश में मुक्त होने वाले।
(१४) एक सिद्ध— एक समय में एक जीव सिद्ध होता है, वह।
(१५) अनेक सिद्ध— एक समय में अनेक जीव सिद्ध होते हैं (उत्कृष्टतः १०८ हो सकते हैं), वे।

वर्तमान अवस्था में आत्म-विकास की दृष्टि से सिद्ध जीव सर्वथा समान होते हैं, केवल उनकी अवगाहना में भेद होता है। सिद्ध जीव समूचे लोक में व्याप्त नहीं होते, किन्तु उनकी आत्मा एक परिमित क्षेत्र में अवस्थित होती है। पूर्वावस्था में उत्कृष्ट अवगाहना (पाँच सौ धनुष्य की अवगाहना) वाले जीवों की आत्मा, तीन सौ तैंतीस धनुष्य और एक हाथ आठ अँगुल परिमित क्षेत्र में अवस्थित होती है।[1] पूर्वावस्था में मध्यम अवगाहना[2] (दो हाथ से अधिक और पाँच सौ धनुष्य से कम अवगाहना) वाले जीवों की आत्मा अपने अन्तिम शरीर की अवगाहना से त्रिभागहीन क्षेत्र में अवस्थित होती है।

पूर्वावस्था में जघन्य अवगाहना (दो हाथ की अवगाहना) वाले जीवों की आत्मा एक हाथ आठ अँगुल परिमित क्षेत्र में अवस्थित होती है।[3]

सिद्धों के विषय में विशेष जानकारी के लिए देखिए—औपपातिक, सूत्र ४३, गाथा १-२२ तथा आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ९५८-९८८।

श्लोक ५७

९–ईषत्-प्राग्भारा (ईसीपब्भार ग) :

औपपातिक (सूत्र ४३) में सिद्धशिला के बारह नाम बतलाए गए हैं। उनमें यह दूसरा नाम है।

श्लोक ७१-७७

१०–श्लोक ७१-७७ :

इन श्लोकों व गाथाओं में मृदु पृथ्वी के सात और कठिन पृथ्वी के ३६ प्रकार बतलाए गए हैं। उनमें से कुछ एक विशेष शब्दों के अर्थ और कुछ विशेष ज्ञातव्य बातें यहाँ प्रस्तुत की जा रही हैं—

१–औपपातिक, सूत्र ४३, गाथा ५ :
तिण्णि सया तेत्तीसा, धणूत्तिभागो य होइ बोद्धव्वा।
एसा खलु सिद्धाणं, उक्कोसोगाहणा भणिया॥

२–आवश्यक निर्युक्ति, मलयगिरीय वृत्ति, पत्र ५४५ :
हस्तद्वयादूर्ध्वं पञ्चधनुःशतेभ्योऽर्वाक् सर्वत्रापि मध्यमावगाहनाभावात्।

३–औपपातिक, सूत्र ४३, गाथा ७ :
एक्का य होइ रयणी, साहीया अंगुलाइं अट्ठ भवे।
एसा खलु सिद्धाणं, जहण्णओगाहणा भणिया॥

'पणगमट्टिया'—अत्यन्त सूक्ष्म रजोमयी मृत्तिका।[1] कुछ आचार्य इसका मरुपर्पटिका (पपडी) करते हैं।[2] लोक प्रकाश के अनुसार नदी आदि के प्रवाह के चले जाने पर पीछे जो कीचड़ के रूप में कोमल और चिकनी मिट्टी रहती है, वह 'पनक-मृत्तिका' है।[3]

'उवले'—वृत्त पाषाण, गोल पत्थर।

'वइरे'—वज्रमणि, हीरा। उत्पत्ति स्थान के आधार पर इसके अनेक भेद होते हैं। जैसे—

(१) सभा राष्ट्रक— विदर्भ—बरार देश में उत्पन्न होने वाला।
(२) मध्यम राष्ट्रक— कौशल देश में उत्पन्न होने वाला।
(३) काश्मीर राष्ट्रक— काश्मीर में उत्पन्न होने वाला।
(४) मणिमन्तक— उत्तर की ओर के मणिमन्तक नामक पर्वत पर उत्पन्न होने वाला।
(५) श्रीकटनक— श्रीकटन नामक पर्वत पर उत्पन्न होने वाला।
(६) इन्द्रवानक— कलिंग देश में उत्पन्न होने वाला।[4]

इन उपर्युक्त स्थानों के अतिरिक्त और भी अनेक स्थान हैं, जहाँ पर हीरा उत्पन्न होता है, जैसे—खान, विशेष जल-प्रवाह और हाथी दान्त की जड़ आदि।[5]

हीरा अनेक रंगों का होता है, जैसे—

(१) मार्जाराक्षक— मार्जार की आँख के समान।
(२) शिरीष पुष्पक— शिरीष के फूल के समान।
(३) गोमूत्रक— गोमूत्र के समान।
(४) गोमेदक— गोरोचना के समान।
(५) शुद्ध स्फटिक— अत्यन्त श्वेत वर्ण स्फटिक के समान।
(६) मुलाटीपुष्पक वर्ण— मुलाटी के फूल के समान।[6]

उत्तम हीरा निम्नोक्त गुणों वाला होता है—मोटा, चिकना, भारी चोट को सहने वाला, बराबर कोनों वाला, पानी से भरे हुए पीतल आदि के बर्तन में हीरा डाल कर उस बर्तन के हिलाए जाने पर बर्तन में लकीर डालने वाला, तकवे की तरह घूमने वाला और चमकदार हीरा प्रशस्त माना जाता है।[7]

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ६८९।

२—वही, पत्र ६८९।

३—लोकप्रकाश, सर्ग ७।५ :
नद्यादिपूरागमे देशे, तत्रातिपिच्छिले।
मृदुश्लक्ष्णा पंकरूपा, सप्तमी पनका त्रिधा॥

४—कौटलीय अर्थशास्त्र, २।११।२९
सभाराष्ट्रकं मध्यमराष्ट्रकं कश्मीरराष्ट्रकं श्रीकटनकं मणिमन्तक मिन्द्रवानकं च वज्रम्।

५—वही, २।११।२९ :
खनिः स्रोतः प्रकीर्णकं च योनयः।

६—वही, २।११।२९ :
मार्जाराक्षकं च शिरीषपुष्पकं गोमूत्रकं गोमेदकं शुद्धस्फटिकं मूलाटीपुष्पकवर्णं मणिवर्णानामन्यतमवर्णमिति वज्रवर्णाः।

७—वही, २।११।२९ :
स्थूलं स्निग्धं गुरु प्रहारसहं समकोटिकं भाजनलेखितं कुभ्रामि भ्राजिष्णु च प्रशस्तम्।

'नष्टकोण'—अर्थात् शिखर-रहित (कोनों से रहित), अश्रि-रहित (तीक्ष्ण कोने से रहित) तथा एक ओर अधिक निकले हुए कोनों वाला हीरा अप्रशस्त माना जाता है ।[1]

'सासग'— हरित वर्ण वाला धातु ।[2]

'पवाले'—प्रवाल, विद्रुम, मूँगा । इसे नौ रत्नों में एक रत्न माना है, पर जन्तु-विशेषज्ञों के अन्वेषण के आधार पर 'प्रवाल' (मूँगा) एक समुद्री वनस्पति-जीव है, जिसके कंकाल के टुकड़े करके आभूषण बनाए जाते हैं ।[3] मूँगों की अनेक जातियाँ हैं, जिनकी शक्ल-सूरत में काफी भेद रहता है । उनके शरीर की भीतरी बनावट एक जैसी ही होती है और सबके ऊपरी हिस्से पर इनका खुला हुआ मुख-छिद्र रहता है । मुख-छिद्र के चारों ओर अँगुलियों की शक्ल के पतले-पतले अङ्कुर रहते हैं, जो इनके स्पर्श-इन्द्रियों, हाथ तथा आत्मरक्षा के लिए डंक हैं । ये अपने शरीर के चारों ओर कड़ी खोल की रचना करते हैं, जिसके भीतर इनका नरम शरीर सुरक्षित रहता है । इनमें कुछ नली के आकार के होते हैं तो कुछ पेड़-पौधों की तरह अपनी टेढ़ी शाखाएँ फैलाए रहते हैं । कुछ की बनावट मनुष्य के भेजे जैसी होती है तो कुछ कुकुरमुत्ते की शक्ल के होते हैं । कुछ देखने में पंखों से लगते हैं तो कुछ अँगुलियों से और इन्हीं में कुछ ऐसे भी हैं, जिन्होंने लाखों अरबों वर्षों के निरन्तर संगठन से बड़ी-बड़ी चट्टानों तथा मीलों लम्बे प्रवाल-द्वीपों का रूप ग्रहण कर लिया है । संभव है इन द्वीपों से खुदाई के द्वारा प्राप्त होने के कारण इसे पृथ्वीकाय के भेदों में सम्मिलित किया गया हो ।

आचार्य हेमचन्द्र ने प्रवाल के पर्यायवाची नाम 'रक्त-कंद' और 'हेम-कंदल' दिए हैं ।[4] उत्पत्ति स्थान के आधार पर इसके दो भेद किए जाते हैं— (१) आलकंदक—आलकंद नाम का म्लेच्छ देशों में समुद्र के किनारे एक स्थान है, वहाँ पर उत्पन्न होने वाला और (२) वैवर्णिक—यूनान देश के समीप विवर्ण नामक समुद्र का एक भाग है, वहाँ पर उत्पन्न होने वाला ।[5] मूँगा (प्रवाल) लाल तथा पद्म के समान रंग वाला होता है ।

'अंजण'—सर्मीरक ।

'गोमेज्जए'—गोमेदक माणक की उपजातियों में गिना जाता है । माणक केवल लाल रंग का होता है, पर इसमें लाल के साथ पीत रंग का भी आभास होता है ।[6] किन्तु कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुसार यह 'वैडूर्य' का एक प्रकार है ।[7] मूलाचार में 'गोमज्झग' (सं० गोमध्यक) शब्द है। इसका अर्थ कर्केतन मणि किया गया है ।[8] किन्तु 'गोमध्यक' शब्द मूल से कुछ दूर हो गया, ऐसा प्रतीत होता है ।

१—कौटलीय अर्थशास्त्र, २।११।२९ :

नष्टकोणं निरश्रि पार्श्वापवृत्तं चाप्रशस्तम् ॥

२—मूलाचार, ५।१०, वृत्ति :

सस्यकं हरितरूपम् ।

३—समुद्र के जीव-जन्तु, पृ० १४ ।

४—अभिधान चिन्तामणि, ४।१३२ :

रक्तांकोरक्त कंदश्च, प्रवालं हेमकंदलः ।

५—कौटलीय अर्थशास्त्र, २।११।२९ :

प्रवालकमालकन्दकं वैवर्णिकं च रक्तं पद्मरागं च…।

६—सिरि रयणपरिक्खा, पयरण ५३ :

सिरिलाय कुलपरे बम बेसे तह जम्मल मई मज्झे ।
गोमय इंदगोवं, सुसणेहं पंडुरं पीयं ॥

७—कौटलीय अर्थशास्त्र, २।११।२९ ।

८—मूलाचार, ५।११, वृत्ति ।

'रुयगे'—रुचक—राजवर्तक।

'फलिहे'—स्फटिक मणि। रयणपरिक्खा के अनुसार स्फटिक मणि नेपाल, कश्मीर, चीन, कावेरी और यमुना तट पर तथा विंध्य पर्वत में उत्पन्न होता है।[1] कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुसार वह चार प्रकार का होता है—

(१) शुद्धस्फटिक—	अत्यन्त शुक्ल वर्ण वाला,
(२) मूलाटवर्ण—	मक्खन निकाले हुए दही (तक्र) के समान रंग वाला,
(३) शीतवृष्टि—	चन्द्रकान्त—चन्द्रमा की किरणों के स्पर्श से पिघल जाने वाला और
(४) सूर्यकान्त—	सूर्य की किरणों का स्पर्श होने पर आग उगलने वाला।[2]

'लोहियक्खे'—किनारों की ओर लाल रंग वाला और बीच में काला। इसका एक नाम 'लोहितक' भी मिलता है।[3] मूलाचार में इसका नाम 'लोहितांक' मिलता है।[4]

'मरगय'—मरकत।[5]

'मसारगल्ले'—मसृण पाषाण मणि (चिकनी धातु)। इसका वर्ण विद्रुम जैसा होता है।

'भुयमोयग'—मूलाचार में केवल 'मोय' शब्द है। वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'कदली वर्णाकार नील मणि' किया है।[6] सरपेन्टियर ने इसका अर्थ 'सर्प के विष से रक्षा करने वाला मणि विशेष' किया है।[7]

१—सिरि रयणपरिक्खा, पयरण ५४ :

नयबालेक समीरे, चीणे कावेरी जउण नइकूले।
विंझनगे उप्पज्जइ, फलिहं अइनिम्मलं सेयं॥

२—कौटलीय अर्थशास्त्र, २।११।२९ :

शुद्धस्फटिकः मूलाटवर्णः शीतवृष्टिः सूर्यकान्त श्चेति मणयः।

३—वही, २।११।२९।

४—मूलाचार, ५।११।

५—सिरि रयणपरिक्खा, पयरण ३८-४२ :

अबणिव-मलय-पव्वय-बब्बरदेसेसु उयहितीरे य।
गरुडस्सय कंठ उरे हवंति मरगय-महामणिणो॥
गरुडोवगार पढमा, कीरउठी बीय तइअ मुंगउनी।
वासवई अ चउत्थी, धूलि मरीई य पणजाई॥
गरुडोवगार रम्मा, नीला अइकोमला य विसहरणा।
कीडउठि सुह सुहमच्छा, मुनइड कीडस्स पंखसमा॥
मुंगउनी सु सणेहा नील हरिय कीरकंठ सारिच्छा।
कढिणा अमला हरिया, वासवई होइ विसहरणा॥
धूलि मराइ गरुया, रुक्खा घणनीलकज्ज सारिच्छा।
मुल्ले बीयविसोवा वुहड्ढ वह पंच वुन्निकमे॥

६—मूलाचार, ५।१२, वृत्ति।

७—The Uttarādhyayan Sūtra, p. 402.

'इन्दनीले'—इन्द्रनील (नीलम)। इसका वर्ण नीला (हरा) होता है। कहीं-कहीं इसकी उत्पत्ति सिंवल द्वीप में बताई गई है।[1] यह आठ[2] प्रकार का होता है—

(१) नीलावलीय— रंग सफेद होने पर भी जिसमें नीले रंग की धाराएँ हों।
(२) इन्द्रनील— मोर के पंख की तरह नीले रंग वाला।
(३) कलायपुष्पक— मटर के फूल सदृश रंग वाला।
(४) महानील— भौंरे के समान गहरे काले रंग वाला।
(५) जाम्बवाभ— जामुन के समान रंग वाला।
(६) जीमूतप्रभ— मेघ के समान रंग वाला।
(७) नंदक— भीतर से सफेद और बाहर से नीला।
(८) स्रवन्मध्य— जिसमें से जल-प्रवाह के समान किरणें बहती हों।[3]

'चन्दन'—चन्दन जैसी गंध वाला मणि।[4]

'गेरुय'—इसका अर्थ 'रुधिराक्ष' है। इसका वर्ण गेरु जैसा होता है।[5]

'हंसगब्भ'—मूलाचार में 'वक' नामक मणि का उल्लेख है। वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'वक के रंग का पुखराग' किया है।[6] कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुसार 'पुष्पराग' वैडूर्य का एक प्रकार है।[7] 'वक' बगुले का रंग भी हंस जैसा होता है, इसलिए हँसगर्भ का यही अर्थ संभव है। सरपेन्टियर ने 'हंस' का अर्थ सूर्य कर इसको 'सूर्यगर्भ' नाम का मणि माना है।[8]

'पुलए'—पुलक। यह बीच में काला होता है। कौटलीय अर्थशास्त्र (२।११।२९) में मणियों की अठारह अवान्तर जातियाँ बताई गई हैं—

(१) विमलक— सफेद और हरे रंग से मिश्रित।
(२) सस्यक— नीला।
(३) अञ्जनमूलक— नीला और काला मिश्रित।
(४) गोपित्तक— गाय के पित्त के समान रंग वाला।
(५) सुलभक— सफेद।
(६) लोहिताक्ष— किनारों की ओर लाल रंग वाला और बीच में काला।
(७) मृगाश्मक— सफेद और काला मिला हुआ।

१–सिरि रयणपरिक्खा, पयरण ४९ :
नीलवण मोरकण्ठः अलसीगिरिकन्नि कुसुम संकासा।
ऐतेया सुसणेहा सिंघलदीवम्मि नीलमणी॥
२–कौटलीय अर्थशास्त्र, २।११।२९ :
नीलावलीय इन्द्रनीलः कलायपुष्पको महानीलो जाम्बवाभो जीमूतप्रभो नन्दकः स्रवन्मध्यः।
३–मूलाचार, ५।१२, वृत्ति।
४–वही, ५।१२, वृत्ति।
५–वही, ५।१२, वृत्ति।
६–वही, ५।१२, वृत्ति।
७–कौटलीय अर्थशास्त्र, २।११।२९।
८–The Uttarādhyayana Sūtra, p. 403.

(८) ज्योतिरसक— सफेद और लाल मिला हुआ।

(९) मैलेयक— शिगरफ के समान रंग वाला।

(१०) अहिच्छत्रक— फीके रंग वाला।

(११) कूर्म— खुरदरा—जिसके ऊपर छोटी-छोटी बूँद-सी उठी हुई हो।

(१२) प्रतिकूर्म— दागी—जिस पर धब्बे लगे हुए हों।

(१३) सुगन्धिकूर्म— मूँग के समान रंग वाला।

(१४) क्षीरपक— दूध के समान वर्ण वाला।

(१५) शुक्तिचूर्णक— चित्रित—मिले हुए कई रंगों वाला।

(१६) शिला-प्रवालक— प्रवालक—अर्थात् मूंगे के समान रंग वाला।

(१७) पुलक— जो बीच में काला हो।

(१८) शुक्रपुलक— जो बीच में सफेद हो।

'सोगन्धिए' (सं० सौगन्धिक)—माणिक्य। कौटलीय अर्थशास्त्र में माणिक्य की पाँच जातियाँ बतलाई गई हैं। उनमें यह प्रथम जाति का है। सौगन्धिक नामक कमल के समान कुछ नीलेपन को लिए हुए लाल रंग का होने के कारण इसे 'सौगन्धिक' कहा जाता है।[1]

'वेरुलिए'—वैडूर्य। यह आठ प्रकार का होता है—

(१) उत्पलवर्ण— लाल कमल के समान रंग वाला,

(२) शिरीषपुष्पक— सिरस के फूल के समान रंग वाला,

(३) उदकवर्ण— जल के समान स्वच्छ रंग वाला,

(४) वंशराग— बाँस के पत्ते के समान रंग वाला,

(५) शुकपत्रवर्ण— तोते के पंखों की तरह हरे रंग वाला,

(६) पुष्यराग— हल्दी के समान पीले रंग वाला,

(७) गोमूत्रक— गोमूत्र के समान रंग वाला और

(८) गोमेदक— गोरोचन के समान रंग वाला।[2]

रयणपरिक्खा में भी इसकी उत्पत्ति की चर्चा की गई है।[3] पाणिनि भाष्य के अनुसार यह बालवाय पर्वत में होता था। विदूर-नगर के मणिकार उसे तराशते थे, इसलिए वह 'वैडूर्य' नाम से प्रसिद्ध हुआ।[4]

'जलकन्ते'—जलकान्त। इसका अर्थ 'उदक वर्ण' है।[5] कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुसार यह वैडूर्य का एक प्रकार है।[6]

१—कौटलीय अर्थशास्त्र, २।११।२९ :

सौगन्धिकः पद्मरागोऽनवद्यरागाः पारिजातपुष्पको बालसूर्यकः।

२—वही, २।११।२९ :

वैडूर्य उत्पलवर्णः शिरीषपुष्पक उदकवर्णो वंशरागः शुकपत्रवर्णः पुष्यरागो गोमूत्रको गोमेदकः॥

३—सिरि रयणपरिक्खा, पयरण ५१ :

रयणायरस्स मज्झे, कुवियगयनामजण चउतत्थ।

बइमुरलगे जायइ, बइडुज्जं वंसपत्तासं॥

४—पाणिनि भाष्य, ४।३।८४।

५—मूलाचार, ५।११।

६—कौटलीय अर्थशास्त्र, २।११।२९।

'सूरकन्ते'—सूर्यकान्त । सूर्य की किरणों का स्पर्श होने पर आग उगलने वाला मणि । कौटलीय अर्थशास्त्र में इसे स्फटिक का ही एक भेद माना गया है ।[1]

प्रज्ञापना में कठिन पृथ्वी को चालीस श्रेणियों में विभक्त किया गया है ।[2] उत्तराध्ययन में उसकी छत्तीस श्रेणियाँ बतलाई गई हैं । शान्त्याचार्य के अनुसार लोहिताक्ष और मसारगल्ल, क्रमशः स्फटिक और मरकत तथा गेरुक और हँसगर्भ चन्दन के उपभेद हैं ।[3] वृत्तिकार ने शुद्ध पृथ्वी से लेकर वज्र तक के चौदह प्रकार तथा हरिताल से लेकर आभ्रबालुका तक के आठ प्रकार स्पष्ट माने हैं । गोमेदक से लेकर शेष सब चौदह प्रकार होने चाहिए, किन्तु अठारह होते हैं । इनमें से चार वस्तुओं का दूसरों में अन्तर्भाव होता है । वृत्तिकार इस विषय में पूर्णरूपेण असंदिग्ध नहीं हैं कि किसमें किसका अन्तर्भाव होना चाहिए ।[4]

श्लोक ८५

११–श्लोक ८५ :

इस श्लोक में अप्काय के पाँच प्रकार बतलाए गए हैं तथा प्रज्ञापना (पद १) में इसके अधिक प्रकार प्राप्त हैं—

उत्तराध्ययन	*प्रज्ञापना*
(१) शुद्धोदक	(१) अवश्याय
(२) अवश्याय	(२) हिम
(३) हरतनु— भूमि को भेद कर निकला हुआ जल-बिन्दु	(३) महिका
(४) महिका— कुहासा	(४) करक—ओला
(५) हिम	(५) हरतनु
	(६) शुद्धोदक
	(७) शीतोदक
	(८) ऊष्णोदक
	(९) क्षारोदक
	(१०) खट्टोदक
	(११) अल्मोदक
	(१२) लवणोदक
	(१३) वारुणोदक
	(१४) क्षीरोदक
	(१५) घृतोदक
	(१६) क्षोदोदक
	(१७) रसोदक

१–कौटलीय अर्थशास्त्र, २।११।२९ ।

२–प्रज्ञापना, पद १ ।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र ६८९ ।

४–वही, पत्र ६८९ :

इह च पृथिव्यादयश्चतुर्दश हरितालादयोऽष्टौ गोमेदकादयश्च क्वचित्कस्यचित्कथंचिदन्तर्भावाच्चतुर्दशेत्यमीमीलिताः षट्त्रिंशद् भवंति ।

श्लोक ९३-९९

१२–श्लोक ९३-९९ :

वनस्पति के मुख्य वर्ग दो हैं —

(१) साधारण-शरीर— जिसके एक शरीर में अनन्त जीव होते हैं, उसे 'साधारण-शरीर' कहा जाता है ।

(२) प्रत्येक-शरीर— जिसके एक-एक शरीर में एक-एक जीव होता है, उसे 'प्रत्येक-शरीर' कहा जाता है ।

सूत्रकार ने साधारण-शरीर से पूर्व प्रत्येक-शरीर वनस्पति के बारह प्रकार बतलाए हैं—

(१) वृक्ष— एक बीज वाले नीम आदि ; अनेक बीज वाले बेल आदि ।

(२) गुच्छ— जिसमें केवल पत्तियाँ या पतली टहनियाँ फैली हों, वह पौधा । जैसे—बेंगन, तुलसी आदि ।

(३) गुल्म— जो एक जड़ से कई तनों के रूप में निकले, वह पौधा । जैसे—कटसरैया, कबेर आदि ।

(४) लता— पृथ्वी पर या किसी बड़े पेड़ पर लिपट कर ऊपर फैलने वाला पौधा । जैसे—माधवी, अतिमुक्तक आदि ।

(५) बल्ली — ककड़ी आदि की बेल ।

(६) तृण— घास ।

(७) लता-वलय— नारियल, खजूर, केला आदि । इनके दूसरी शाखा नहीं होती । इसलिए इन्हें 'लता' और इनकी डाल वलयाकार होती है, इसलिए इन्हें 'वलय' (संयुक्त रूप में लता-वलय) कहा गया है ।

(८) पर्वज— ईख आदि ।

(९) कुहुण— भूमि को फोड़ कर निकलने वाला पौधा । जैसे—सर्पच्छत्र, कुकुरमुत्ता आदि ।

(१०) जलरुह— जलज वनस्पति—कमल आदि ।

(११) औषधि तृण— एक फसला पौधा—गेहूँ आदि ।

(१२) हरितकाय— पालक, बथुवा आदि ।

जहाँ पर एक शरीर में अनन्त जीव निवास करते हों, उसे 'साधारण वनस्पतिकाय' कहते हैं । सर्व प्रकार के कन्द, मूल तथा अनन्त-कायिक साधारण वनस्पति जीव हैं । आलू, मूली, अदरक आदि सब इस श्रेणी के अन्तर्गत हैं ।

'कंदली' (९७।४) लता विशेष । यह वर्षा ऋतु में होती है । इसका कंद स्निग्ध, पुष्प लाल और पत्ते हरे होते हैं । इसे 'भूकदली' और 'द्रोणपर्णी' भी कहा जाता है ।[1]

'कन्द' (९८।३) बिना रेसे वाली गुद्देदार जड़ । भूमि में रहने वाला वृक्ष का अवयव ।[2]

'हलिद्दा' (९९।३) (सं० हरिद्रा) हल्दी पीत और सोने के रंग की होती है ।[3] इसका नाम है—'वरवर्णिनी' अर्थात् अच्छा वर्ण करने वाली । प्राचीन समय में हल्दी का तेल बहुतायत से लगाया जाता था । मद्रास की तरफ अब भी अपना वर्ण सुधारने के लिए स्त्रियाँ इसका प्रयोग करती हैं । यह वात-रोग, हृदय-रोग, प्रमेह आदि रोगों के लिए अति उत्तम मानी जाती है । सुश्रुत (चि०, अ० ६) में तो कहा है कि इससे कुष्ट रोग भी नष्ट हो जाता है । वस्तुतः यह रक्त शुद्ध करने वाली है, इसी दृष्टि से पीठी तथा आहार में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है ।[4]

१–शब्दार्णव :

द्रोणपर्णी स्निग्धकन्दा कन्दली भूकदल्यपि ।

२–प्रवचनसारोद्धार, पृ० ५७ ।

३–अभिधान चिन्तामणि कोश, ३ :

हरिद्रा कांचनी पीता निशाख्या वरवर्णिनी ।

४–संस्कृत साहित्य मा वनस्पति, पृ० ४५१ ।

श्लोक १०९-११०

१३—श्लोक १०९-११० :

उत्तराध्ययन की अपेक्षा प्रज्ञापना (पद १) में अग्नि के प्रकार अधिक प्राप्त हैं—

उत्तराध्ययन	*प्रज्ञापना*
(१) अंगार— जलता हुआ कोयला	(१) अंगार
(२) मुर्मुर— भस्म मिश्रित अग्नि-कण	(२) ज्वाला
(३) अग्नि— लोहपिंड में प्रविष्ट तेजस्	(३) मुर्मुर
(४) अर्चि— प्रदीप्त अग्नि से विच्छिन्न अग्नि-शिखा	(४) अर्चि
(५) ज्वाला— प्रदीप्त अग्नि से प्रतिबद्ध अग्निशिखा	(५) आलात—जलता हुआ ठूँठ
(६) उल्का	(६) शुद्धाग्नि
(७) विद्युत्	(७) उल्का
	(८) अशनि—वज्रपात की अग्नि
	(९) निर्घात
	(१०) संघर्ष समुत्थित
	(११) सूर्यकान्त मणि निस्सृत

श्लोक ११८-११९

१४—श्लोक ११८-११९ :

यहां वायु के पाँच प्रकारों का निर्देश तथा अन्य प्रकारों का संकेत किया गया है। प्रज्ञापना (पद १) में इसके उन्नीस प्रकार प्राप्त हैं—

उत्तराध्ययन		*प्रज्ञापना*	
(१) उत्कलिकावात—	मिश्रित पवन	(१) प्राचीनवात—	पूर्वी पवन
(२) मण्डलिकावात—	बवंडर	(२) प्रतीचीनवात—	पश्चिमी पवन
(३) घनवात—	ठोस पवन	(३) दक्षिणवात—	दक्षिणी पवन
(४) गुंजावात—	गुंजने वाला पवन	(४) उदीचीनवात—	उत्तरी पवन
(५) शुद्धवात—	मन्द पवन	(५) ऊर्ध्ववात—	ऊर्ध्वमुखी पवन
(६) संवर्तकवात—	प्रलयकारी पवन	(६) अधोवात—	अधोमुखी पवन
		(७) तिर्यग्वात—	क्षैतिज पवन
		(८) विदिग्वात—	चौवाई
		(९) वातोद्भ्रम—	अनियमित पवन
		(१०) वातोत्कलिका—	समुद्री पवन
		(११) वातमण्डली—	अनिर्धार्य पवन
		(१२) उत्कलिकावात	
		(१३) मण्डलिकावात	
		(१४) गुंजावात	
		(१५) झंझावात—	वर्षायुक्त पवन
		(१६) संवर्तकवात	
		(१७) घनवात	
		(१८) तनुवात—	विरल पवन
		(१९) शुद्धवात	

श्लोक २५६

१५—श्लोक २५६ :

इस श्लोक में पाँच संक्लिष्ट भावनाओं का उल्लेख है। उनके लक्षण और प्रकार २६३ से २६७ तक के श्लोकों में बतलाए गए हैं। उत्तरवर्ती साहित्य में भी इनका निरूपण होता रहा है। यहाँ हम उत्तराध्ययन के साथ-साथ मूलाराधना और प्रवचनसारोद्धार में चर्चित इन भावनाओं का अध्ययन करेंगे। वे उत्तराध्ययन से पूर्णतः प्रभावित हैं।

उत्तराध्ययन	*मूलाराधना*	*प्रवचनसारोद्धार*
भावना नाम—		
(१) कान्दर्पी,	(१) कान्दर्पी,	(१) कान्दर्पी,
(२) आभियोगी,	(२) किल्बिषिकी,	(२) किल्बिषिकी,
(३) किल्बिषिकी,	(३) आभियोगी,	(३) आभियोगी,
(४) आसुरी और	(४) आसुरी और	(४) आसुरी और
(५) सम्मोहा।	(५) सम्मोहा।[1]	(५) सम्मोहा।[2]

१—कन्दर्पी भावना के प्रकार—

उत्तराध्ययन	*मूलाराधना*	*प्रवचनसारोद्धार*
(१) कन्दर्प,	(१) कन्दर्प,	(१) कन्दर्प,
(२) कौत्कुच्य और	(२) कौत्कुच्य,	(२) कौत्कुच्य,
(३) तथा-प्रकार के शील-स्वभाव, हास्य और विकथाओं से दूसरों को विस्मित करना।	(३) चल-शीलता,	(३) दुःशीलता,
	(४) हास्य-कथा और	(४) हास्य-करण और
	(५) दूसरों को विस्मित करना।[3]	(५) दूसरों को विस्मित करना।[4]

कन्दर्प—वाणी का असभ्य प्रयोग।[5] उत्तराध्ययन और प्रवचनसारोद्धार की वृत्ति के अनुसार इसके पाँच अर्थ होते हैं—(१) ठहाका मार कर हँसना, (२) गुरु आदि के साथ व्यंग में बोलना, (३) काम-कथा करना, (४) काम का उपदेश देना और (५) काम की प्रशंसा करना।[6]

१—मूलाराधना, ३।१७९ :
कंदप्पदेवखिब्भिस, अभिओगा आसुरी य सम्मोहा।
एदा हु संकिलिट्ठा, पंचविहा भावणा भणिदा॥

२—प्रवचनसारोद्धार, गाथा ६४१ :
कंदप्पदेव किब्बिस, अभिओगा आसुरी य सम्मोहा।
एसा हु अप्पसत्था, पंचविहा भावणा तत्थ॥

३—मूलाराधना, ३।१८० :
कंदप्पकुक्कुआइय, चलसीला णिच्चहासणकहो य।
विभावितो य परं, कंदप्पं भावणं कुणइ॥

४—प्रवचनसारोद्धार, गाथा ६४२ :
कंदप्पे कुक्कुइए, दोसीलत्ते य हासकरणे य।
परविम्हियजणणो, ऽवि य कंदप्पोऽणेगहा तह य॥

५—मूलाराधना विजयोदया, पृ० ३९८ :
रागोद्रेकात्प्रहाससम्मिश्रोऽशिष्टवाक्प्रयोगः कन्दर्पः।

६—(क) बृहद् वृत्ति, पत्र ७०९ :
कन्दर्पः—अट्टट्टहासहसनम् अनिभृतालापाश्च गुर्वादिनाऽपि सह निष्ठुरवक्रोक्त्यादिरूपाः कामकथोपदेशप्रशंसाश्च कन्दर्पः।
(ख) प्रवचनसारोद्धार वृत्ति, पत्र १८०।

कौत्कुच्य—काया का असभ्य प्रयोग।[1] उत्तराध्ययन और प्रवचनसारोद्धार की वृत्ति के अनुसार इसके दो प्रकार हैं—(१) काय-कौत्कुच्य—भौं, आँख, मुंह आदि अवयवों का इस प्रकार बनाव करना जिससे दूसरे लोग हँस पड़े। (२) वाक्-कौत्कुच्य—विविध जीव-जन्तुओं की, ऐसी बोली बोलना, सिट्टी बजाना, जिससे दूसरे लोग हँस पड़े।[2] उत्तराध्ययन में तथाप्रकार के शील-स्वभाव, हास्य तथा विकथा से दूसरों को विस्मित करना यह एक ही प्रकार है।[3]

मूलाराधना और प्रवचनसारोद्धार में इसके स्थान पर तीन-तीन प्रकार हैं—

(१) चलशीलता—कन्दर्प और कौत्कुच्य का बार-बार प्रयोग करना।[4]

(२) दुःशीलता—बिना विचारे तत्काल बोलना, शरत्-काल में दर्प से उद्धत बैल की तरह शीघ्र चलना, बिना सोचे समझे काम करना।[5]

(३) हास्य-कथा या हास्य-करण—वेश परिवर्तन आदि के द्वारा दूसरों को हँसाना।

दूसरों को विस्मित करना—इन्द्रजाल, मन्त्र, प्रहेलिका आदि कुतूहलों के द्वारा विस्मय उत्पन्न करना।[6]

२—आभियोगी भावना के प्रकार—

उत्तराध्ययन	*मूलाराधना*	*प्रवचनसारोद्धार*
(१) मन्त्रायोग और	(१) मन्त्राभियोग,	(१) कौतुक,
(२) भूति-कर्म।	(२) कौतुक और	(२) भूति-कर्म,
	(३) भूति-कर्म।[7]	(३) प्रश्न,
		(४) प्रश्नाप्रश्न और
		(५) निमित्त।[8]

१—मूलाराधना, विजयोदया, पृ० ३९८ :
अशिष्टकायप्रयोगः कौत्कुच्यम्।

२—(क) बृहद् वृत्ति, पत्र ७०९ :
कौत्कुच्यं द्विधा—कायकौत्कुच्यं वाक्कौत्कुच्यं च, तत्र कायकौत्कुच्यं यत्स्वयमहसन्नेव भ्रूनयनवदनादि तथा करोति यथाऽन्यो हसति······तज्जल्पति येनान्यो हसति तथा नानाविधजीवविरुतानि मुखातोद्यवादितां च विधत्ते तद्वाक्कौत्कुच्यम्।
(ख) प्रवचनसारोद्धार वृत्ति, पत्र १८०।

३—बृहद् वृत्ति, पत्र ७०९ :
तथा यच्छीलं च—फलनिरपेक्षा वृत्तिः स्वभावश्च-परविस्मयोत्पादनाभिसन्धिनैव तत्तन्मुखविकारादिकं हसनं च—अट्टहासादि विकथाश्च-परिविस्मापकविविधोल्लापरूपाः शीलस्वभावहसनविकथास्ताभिः 'विस्मापयन्' सविस्मयं कुर्वन्।

४—मूलाराधना, विजयोदया, पृ० ३९८ :
भवतो मातरं करोमीति कंदर्पकौत्कुच्याभ्यां चलशीलः।

५—प्रवचनसारोद्धार वृत्ति, पत्र १८०।

६—(क) मूलाराधना दर्पण, पृ० ३९८ :
विभावितो मंत्रेंद्रजालादिकुहकप्रदर्शनेन विस्मयं नयन।
(ख) प्रवचनसारोद्धार वृत्ति, पत्र १८० :
इन्द्रजालप्रभृतिभिः कुतूहलैः प्रहेलिकाकुहेटिकादिभिश्च तथाविधग्राम्यलोकप्रसिद्धैर्यास्स्वयमविस्मयमानो बालिशप्रायस्य जनस्य मनोविभ्रममुत्पादयति तत्परविस्मयजननम्।

७—मूलाराधना, ३।१८२ :
मंताभिओगकोदुगभूदीयम्मं पउंजदे जो हु।
इड्ढिरससादहेदुं, अभिओगं भावणं कुणइ॥

८—प्रवचनसारोद्धार, गाथा ६४४ :
कोउय भूईकम्मे, पसिणेहिं तह य पसिणपसिणेहिं।
तहय निमित्तेणं, चिय पंचवियप्पा भवे सा य॥

मन्त्रायोग—मन्त्र का प्रयोग करना।[1]

मन्त्राभियोग—कुमारी आदि पात्रों में भूत का आवेश उत्पन्न करना।[2]

भूति-कर्म—राख, मिट्टी अथवा धागे के द्वारा मकान, शरीर आदि का परिवेष्टन करना।[3] बच्चों की रक्षा के लिए भूति का प्रयोग करना अथवा भूतों की क्रीड़ा दिखाना भी भूति-कर्म कहलाता है।[4]

कौतुक—अकाल-वृष्टि आदि आश्चर्यकारी करतब दिखलाना अथवा वशीकरण आदि का प्रयोग करना।[5] बच्चों तथा अन्य किसी की रक्षा के लिए स्नान, हाथ फेरना आदि क्रियाएँ करना।[6]

प्रश्न—दूसरों के पास लाभ-अलाभ आदि के विषय में प्रश्न करना अथवा स्वयं अंगुष्ठ, दर्पन आदि में भूत या भविष्य को जानने का यत्न करना।[7]

प्रश्नाप्रश्न—स्वप्न में विद्या द्वारा कथित शुभाशुभ दूसरों को बतलाना।[8]

निमित्त—निमित्त का प्रयोग करना।

३—किल्विषिकी भावना के प्रकार—

उत्तराध्ययन	*मूलाराधना*	*प्रवचनसारोद्धार*
(१) ज्ञान का अवर्णवाद,	(१) ज्ञान की वञ्चना और अवर्णवाद,	(१) ज्ञान का अवर्णवाद,
(२) केवली का अवर्णवाद,	(२) केवली की वञ्चना और अवर्णवाद,	(२) केवली का अवर्णवाद,
(३) धर्माचार्य का अवर्णवाद,	(३) धर्माचार्य की वञ्चना और अवर्णवाद और	(३) धर्माचार्य का अवर्णवाद,
(४) संघ का अवर्णवाद और	(४) सर्वसाधुओं की वञ्चना और अवर्णवाद।[9]	(४) संघ का अवर्णवाद और
(५) माया।		(५) माया।[10]

१-बृहद् वृत्ति, पत्र ७५० :

मन्त्राः—प्रागुक्तरूपास्तेषामायोगो—व्यापारणं मन्त्रायोगस्तं 'कृत्वा'।

२—मूलाराधना दर्पण, पृ० ४०० :

मंत्राभियोग कुमार्यादिपात्रे भूतावेशकरणम्।

३-(क), बृहद् वृत्ति, पत्र ७१० :

'भूत्या' भस्मनोपलक्षणत्वान्मृदा सूत्रेण वा कर्म—रक्षार्थं वसत्यादेः परिवेष्टनं भूतिकर्म।

(ख) प्रवचनसारोद्धार वृत्ति, पत्र १८१।

४-मूलाराधना दर्पण, पृ० ४०० :

भूदीकम्मं बालादीनां रक्षार्थं भूतिकर्म भूतिक्रीडनकं वा।

५-मूलाराधना दर्पण, पृ० ४०० :

कोदुग-अकालवृष्ट्यादिकौतूहलोपदर्शनं, वशीकरणादिकं वा।

६-प्रवचनसारोद्धार वृत्ति, पत्र १८१ :

तत्र बालादीनां रक्षादिकरणनिमित्तं स्नपनकरभ्रमणाभिमन्त्रणथुक्करणधूपदानादि यत्क्रियते तत्कौतुकम्।

७-वही, पत्र १८१ :

यत्परस्य पार्श्वे लाभालाभादि पृच्छयते स्वयं वा अंगुष्ठदर्पणखड्गतोयादिषु दृश्यते स प्रश्नः।

८-वही, पत्र १८१,१८२ :

स्वप्ने स्वयं विद्यया कथितं घण्टिकाद्यवतीर्णदेवतया वा कथितं सत् यदन्यस्मै शुभाशुभजीवितमरणादि परिकथयति स प्रश्नाप्रश्नः।

९-मूलाराधना, ३।१८१ :

णाणस्स केवलीणं, धम्मस्साइरिय सव्वसाहूणं।
माइय अवण्णवादी, खिब्भिसियं भावणं कुणइ॥

१०-प्रवचनसारोद्धार, गाथा ६४३ :

सुयनाण केवलीणं, धम्मायरियाण संघ साहूणं।
माई अवण्णवाई, किब्बिसियं भावणं कुणइ॥

विजयोदया में 'मायी' का अवर्णवादी की तरह ज्ञान, केवली, धर्माचार्य और सर्व साधु इन सबके सपथ सम्बन्ध जोड़ा गया है ।[1]

४—आसुरी भावना के प्रकार—

उत्तराध्ययन	*मूलाराधना*	*प्रवचनसारोद्धार*
(१) अनुबद्ध रोष प्रसर और	(१) अनुबन्ध रोष विग्रह संसक्त तप,	(१) सदा विग्रहशीलता,
(२) निमित्त प्रतिसेवना ।	(२) निमित्त प्रतिसेवना,	(२) संसक्त तप,
	(३) निष्कृपता और	(३) निमित्त कथन,
	(४) निरनुताप ।[2]	(४) निष्कृपता और
		(५) निरनुकम्पता ।[3]

अनुबद्ध रोष प्रसर—सदा विग्रह करते रहना, प्रमाद हो जाने पर भी अनुताप न करना, क्षमा-याचना कर लेने पर भी प्रसन्न न होना ।[4]

निमित्त प्रतिसेवना—निमित्त का प्रयोग करना ।

अनुबद्ध रोष विग्रह संसक्त तप—अव्यवच्छिन्न क्रोध और कलह से संयुक्त तप करना ।[5]

संसक्त तप—आहार आदि में प्रतिबद्ध होकर उनकी प्राप्ति के लिए तप करना ।[6]

५—सम्मोहा भावना के प्रकार—

उत्तराध्ययन	*मूलाराधना*	*प्रवचनसारोद्धार*
(१) शस्त्र-ग्रहण,	(१) उन्मार्ग-देशना,	(१) उन्मार्ग-देशना,
(२) विष-भक्षण,	(२) मार्ग और दूषण	(२) मार्ग-दूषण,
(३) स्वयं को अग्नि मे जलाना,	(३) मार्ग-विप्रतिपत्ति ।[7]	(३) मार्ग-विप्रतिपत्ति,
(४) जल में डूब मरना और		(४) मोह और
(५) मर्यादा से अतिरिक्त उपकरण रखना ।		(५) मोह-जनन ।[8]

१—मूलाराधना, विजयोदया पृ० ३९९ :
माई अव्वण्णवादी इत्येताभ्यां प्रत्येकं संबन्धनीयम् ।

२—वही, ३।१८३ :
अणुबंधरोसविग्गहसंससतवो णिमित्तडिसेवी ।
णिक्किवणिराणुतावी, आसुरिअं भावणं कुणदि ॥

३—प्रवचनसारोद्धार, गाथा ६४५ :
सइविग्गहसीलत्तं, संसत्ततवो निमित्तकहणं च ।
निक्किवयावि य अवरा, पंचमगं निरणुकंपत्तं ॥

४—बृहद् वृत्ति, पत्र ७११ :
अनुबन्धः—सन्ततः, कोर्थः ?—अव्यवच्छिन्नो रोषस्य-क्रोधस्य प्रसरो—विस्तारोऽस्येति अनुबद्धरोषप्रसरः, सदा विरोधशीलतया पश्चादननुतापितया क्षमणाद्यपि प्रसत्त्यप्राप्त्या वेत्यभिप्रायः ।

५—मूलाराधना, विजयोदया पृ० ४०१ :
रोषश्च विग्रहश्च रोषविग्रहौ अनुबंधेन रोषविग्रहौ अनुबंधरोषविग्रहौ अनुबंधरोषविग्रहाभ्यां संसक्तं संबद्धं अनुबंधरोषविग्रहसंसक्तं तपो यस्य स तथोक्तः ।

६—प्रवचनसारोद्धार वृत्ति, पत्र १८२ :
संसक्तस्य—आहारोपधिशय्यादिषु सदा प्रतिबद्धभावस्य आहाराद्यर्थमेव च तपः—अनशनादितपश्चरण संसक्ततपः ।

७—मूलाराधना ३।१८४ :
उम्मग्गदेसणो, मग्गदूसणो मग्गविप्पडिवणी य ।
मोहेण य मोहिंतो, समोहं भावणं कुणइ ॥

८—प्रवचनसारोद्धार, गाथा ६४६ :
उम्मग्गदेसणा, मग्गदूसणं मग्गविपडिवित्ती य ।
मोहो य मोहजणणं, एवं सा हवइ पंचविहा ॥

शस्त्र-ग्रहण—शस्त्र-ग्रहण आदि कार्यों से उन्मार्ग की प्राप्ति और मार्ग की हानि होती है। यह सम्मोहा भावना है।[1]

उन्मार्ग-देशना—मिथ्या दर्शन व अव्रत का उपदेश।

मार्ग-दूषण—मार्ग में दोष दिखलाना, जैसे—ज्ञान से ही मोक्ष होता है, दर्शन और चारित्र से क्या? चारित्र से ही मोक्ष होता है, ज्ञान से क्या?[2]

मार्ग-विप्रतिपत्ति—ज्ञान, दर्शन और चारित्र मोक्ष के मार्ग नहीं—ऐसा मानना या उन तीनों के प्रतिकूल आचरण करना।[3]

मोह—गूढ़तम तत्त्वों में मूढ़ हो जाना अथवा चारित्र-शून्य तीर्थिकों का ऐश्वर्य देखकर ललचा जाना।[4]

मोह-जनन—स्वभाव की विचित्रता या कपटवश दूसरे व्यक्तियों में मोह उत्पन्न करना।[5]

उत्तराध्ययन में इन पाँच भावनाओं के प्रकार कुछ कम हैं, मूलाराधना में उनसे अधिक हैं और प्रवचनसारोद्धार में पूरे पच्चीस हैं अर्थात् प्रत्येक भावना के पाँच-पाँच प्रकार हैं।

पाद-टिप्पण में उद्धृत मूलाराधना की गाथाओं से यह बहुत स्पष्ट होता है कि प्रारम्भ-काल में श्वेताम्बर और दिगम्बर साहित्य में अत्यधिक सामीप्य रहा है।

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ७११ :
संक्लेशजनकत्वेन शस्त्रग्रहणादीनामनन्तभवहेतुत्वात्, अनेन चोन्मार्गप्रतिपत्त्या मार्गविप्रतिपत्तिराक्षिप्ता, तथा चार्थतो मोही भावनोक्ता।

२—मूलाराधना, विजयोदया, पृ० ४०२ :
मार्गस्य दूषणं नाम ज्ञानादेव मोक्षः किं दर्शनचारित्राभ्यां? चारित्रमेवोपायः किं ज्ञानेनेति कथयन्मार्गस्य दूषको भवति।

३—वही, पृ० ४०२ :
मार्गे रत्नत्रयात्मके विप्रतिपन्नः एष न मुक्तेर्मार्ग इति यस्तद्विरुद्धाचरणः।

४—प्रवचनसारोद्धार वृत्ति, पत्र १८३ :
निकाममुपहतमतिः सन्नतिगहनेषु ज्ञानादिविचारेषु यन्मुह्यतियच्च परतीर्थिकसम्बन्धिनीं नानाविधां समृद्धिमालोक्य मुह्यति स संमोहः।

५—वही, पत्र १८३ :
तथा स्वभावेन कपटेन वा दर्शनान्तरेषु परस्य मोहमुत्पादयति तन्मोहजननम्।

परिशिष्ट-२

शब्द-विमर्श

अध्ययन १

श्लोक ४

१–(सव्वसो ख, मुहरी घ) :

'सव्वसो'—सभी स्थानों में से[१], सभी प्रकार से[२], सभी अवस्थाओं में[३]।

'मुहरी'—यह 'मुखर' शब्द का प्राकृत रूप है। शान्त्याचार्य ने इसे सौत्रिक (आर्ष) प्रयोग बतलाया है।[४] उन्होंने इसके 'मुखारि' और 'मुघारि'—ये दो रूप और दिए हैं, किन्तु उनमें 'मुखर' की सी सहजता नहीं है।[५]

श्लोक ५

२–(दुस्सीले, मिए घ)

'दुस्सीले'—चूर्णि में इसका अर्थ 'दुःशील का भाव' किया गया है।[६]

'मिए' मृग—का अर्थ—पशु या हिरण हो सकता है। यहाँ समास प्रक्रिया के अनुसार इसका अर्थ है 'वह पुरुष जो पशु या हिरण की भाँति अज्ञानी हो'।[७]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ४५ :
'सव्वसो' त्ति सर्वतः सर्वेभ्यो गोपुरगृहाङ्गणादिभ्यः।

२–वही, पत्र ४५ :
(क) सर्वान् वा हतहतेत्यादिविरूक्षवचनलतालकुटलेष्टुघातादिकान् प्रकारानाश्रित्य 'छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ती'ति छान्दसत्वाच्च सूत्रे शस्प्रत्ययः।
(ख) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २७ :
'सव्वसोत्ति' सव्वपागारं।

३–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २७ :
सव्वसोत्ति ··· सर्वावस्थासु वा।

४–बृहद् वृत्ति, पत्र ४५ :
सूत्रत्वाद्वा 'मुहरि' त्ति मुखरो—वाचाटो।

५–वही, पत्र ४५ :
मुखेनारिमावहति मुखमेव वेहपरलोकापकारितयाऽरिरस्य मुखेन वा कार्यं विनैवारयो यस्यासौ मुखारिर्मुघारिर्वा— बहुविधासम्बद्धभाषी।

६–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २७ :
दुःशीलभावो दौःशील्यं तस्मिन् दौस्सील्ये।

७–बृहद् वृत्ति, पत्र ४५ :
मृग इव मृगः अज्ञत्वादविनीत इति प्रक्रमः।

श्लोक ६

३–दुःशील मनुष्य के (नरस्स ख) :

यहाँ 'नर' शब्द उपमेय है, 'साण' और 'सूयर'—ये उपमान हैं। शान्त्याचार्य ने उपमावाची 'इव' शब्द को गम्यमान कहा है।[1]

श्लोक १०

४–(कालेण ग) :

चूर्णि में 'कालेण' को सप्तमी तथा दोनों वृत्तियों में तृतीया विभक्ति मान कर इसकी व्याख्या की गई है।[2]

श्लोक ११

५–(आहच्च क) :

बृहद् वृत्ति में 'आहच्च' का संस्कृत रूप 'आहृत्य' और उसका अर्थ 'कदाचित्' किया गया है।[3] चूर्णि में 'कदाचित्' और 'सहसा'—ये दो अर्थ प्राप्त हैं।[4]

पिशेल ने इसको अर्धमागधी का शब्द मान कर इसका संस्कृत रूप 'आहृत्य' किया है।[5] देशीनाममाला में इसका अर्थ 'अत्यर्थ' किया गया है।[6] शौरसेनी में यह शब्द 'आहृणिअ' के रूप में मिलता है। प्रस्तुत प्रकरण में 'सहसा' अर्थ अधिक उपयुक्त लगता है।

श्लोक २०

६–(वाहित्तो क) :

'वाहित्तो'—चूर्णि और दोनों वृत्तियों में 'वाहित्तो' पाठ है। उसका संस्कृत रूप 'व्याहृत' है।[7] उत्तरवर्ती प्रतियों में यह पाठ 'वाहित्तो' के रूप में प्राप्त है। इसी आधार पर पिशेल ने इसका संस्कृत रूप 'व्याक्षिप्त' किया है।[8] पर 'व्याक्षिप्त' का प्राकृत रूप 'वक्खित्त' होता है। अत: शब्द और अर्थ दोनों दृष्टियों से यह उचित नहीं।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ४६ :
'साणस्स' त्ति प्राकृतत्वाद्विवेतस्य गम्यमानत्वात् शुन्या इव 'सूकरस्य' उत्तन्यायेन शूकरोपमस्य नरस्य।

२–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २९ :
यो हि यस्य अध्ययनस्य कालः कालिकस्येतरस्य वा तस्मिन् काले।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ४७ :
कालः अध्ययनावसरः प्रथमपौरुष्यादिस्तेन।

(ग) सुखबोधा, पत्र ३ :
'कालेन' प्रथमपौरुष्यादिलक्षणेन।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र ४८ :
'आहृत्य' कदाचित्।

४–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २९ :
आहच्चेति कदाचित्, यदिह नाम कदाचिन्निग्रह परस्यापि सतः सहसा···।

५–पिशेल, प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, पेरा ५९१, पृ० ८३६।

६–देशीनाममाला, १।६२ :
आहच्चं अत्यर्थं।

७–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पत्र ३५ :
वाहितो णां सद्दितो।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ५५ :
'वाहितो' त्ति व्याहृतः—शब्दितः।

(ग) सुखबोधा, पत्र ८।

८–पिशेल, प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, पेरा २८६, पृ० ४०६।

श्लोक ३३

७–(अइकमे ^घ) :

इसका धातुगत अर्थ है 'अतिक्रमण करना, उल्लंघन करना'। परन्तु प्रकरण की दृष्टि से इसका अर्थ 'प्रवेश करना' ही संगत लगता है[1], कारण कि इससे पूर्व 'लंघिया' शब्द (जिसका अर्थ है—लाँघ कर) आ चुका है।

श्लोक ३८

८–(खड्डुया ^क) :

'खड' धातु का अर्थ है—तोड़ना, एकान्त, फाड़ना (धातुपाठ, ३२।१४)। खड्ड—मृद्नाति (हेमशब्दानुशासन, ४।१२६)।

श्लोक ४१

९–(पत्तिएण ^ख, पंजलिउडो ^ग) :

'पत्तिएण'—शान्त्याचार्य के अनुसार इसके संस्कृत रूप दो होते हैं—(१) प्रातीतिकेन और (२) प्रीत्या। प्रातीतिक के दो अर्थ किए गए हैं—(१) शपथ और (२) प्रतीति उत्पादक वचन।[2] उन्होंने मुख्य अर्थ 'प्रातीतिक' किया है। नेमिचन्द्र ने इसका मुख्य अर्थ 'प्रीत्या'—प्रेम से किया है।[3]

'पंजलिउडो'—शान्त्याचार्य के अनुसार इसके दो संस्कृत रूप बनते हैं—(१) प्रकृताञ्जलिः और (२) प्राञ्जलिपुटः।[4] नेमिचन्द्र ने दूसरे रूप को मान्य किया है।[5]

श्लोक ४२

१०–(धम्मज्जियं ^क) :

चूर्णि के अनुसार इसका संस्कृत रूप 'धर्मजीतम्' होता है। ईकार का ह्रस्व करने पर 'धम्मज्जियं' पाठ बन गया है।[6] बृहद् वृत्ति और सुखबोधा के अनुसार इसका संस्कृत रूप 'धर्मार्जितम्' होता है।[7]

इस श्लोक के तीसरे चरण में 'तत्' शब्द का प्रयोग है। यत् और तत् का नित्य सम्बन्ध होता है। इस आधार पर शान्त्याचार्य ने 'धम्मज्जियं', 'ववहार' और 'बुद्धेहायरियं'—इन तीन शब्दों की द्वितीया विभक्ति के स्थान में प्रथमा विभक्ति भी मानी है।[8]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ६० :
'अतिक्रामेत्' प्रविशेत्।

२–वही, पत्र ६३ :
'पत्तिएणं' ति आर्षत्वात् प्रतीतिः प्रयोजनमस्येति प्रातीतिकं—शपथादि,······सर्वमपि वा प्रतीत्युत्पादकं वचः प्रातीतिकं तेन प्रसादयेत्, यद्वा 'पत्तिएणं' ति प्रीत्या साम्नैव।

३–सुखबोधा, पत्र १४ :
पत्तिएणं ति प्रीत्या साम्नैव।

४–बृहद् वृत्ति, पत्र ६३।

५–सुखबोधा, पत्र १४।

६–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ४३ :
धार्मिकं जीतं—धम्मजीतं, इकारस्य ह्रस्वत्वं कातुं।

७–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र ६४ :
धर्मेण—क्षान्त्यादिरूपेणार्जितम्।
(ख) सुखबोधा, पत्र १४।

८–बृहद् वृत्ति, पत्र ६४ :
यद्वा—यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धात् सुब्व्यत्ययाच्च धर्मार्जितो बुद्धराचरितश्च यो व्यवहारस्तमाचरन्।

अध्ययन २

श्लोक १

१—(मे ^घ^) :

'मे'—इसका अर्थ है—आपका 'भवताम्'। पिशेल ने (पैरा ४२२) इसे 'तुब्भे' 'तुम्हे' का संक्षिप्त माना है। वेबर तथा ल्यूमेन ने इसे संस्कृत 'भो' नहीं मान कर 'भवताम्' के अर्थ में ही स्वीकार किया है।[1]

श्लोक १०

२—(समरेव ^ख^) :

चूर्णिकार ने 'समरे' का अर्थ 'युद्ध' किया है।[2] शान्त्याचार्य के अनुसार मूल शब्द 'सम-एव' है। परन्तु प्राकृत व्याकरण की दृष्टि से 'ए' का 'रेफ' हो जाने पर 'समरेव' शब्द बना है।[3] वे वैकल्पिक रूप में चूर्णिकार का अनुगमन कर 'समरे' को 'संगाम सीसे' का विशेषण मानते हैं।[4]

श्लोक १५

३—(आय-रक्खिए ^ख^) :

शान्त्याचार्य ने इसके दो संस्कृत रूप देकर दो भिन्न-भिन्न अर्थ किए हैं—

(१) आत्म-रक्षितः—जिसने आत्मा की रक्षा की है।

(२) आय-रक्षितः—जिसने ज्ञानादि लाभ की रक्षा की है।

'आहिताग्न्यादिषु के द्वारा 'रक्षित' का परनिपात हुआ है।[5]

श्लोक २०

४—(अकुक्कुओ ^ग^) :

शान्त्याचार्य ने इसके दो संस्कृत रूप दिए हैं—(१) अकुक्कुचः और (२) अकुत्कुचः। इनके क्रमशः अर्थ हैं– अशिष्ट चेष्टा-रहित और अस्पन्दमान।[6]

१—पिशेल, प्राकृत भाषाओं का व्याकरण पृ० ६२१-६२२।

२—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ५८।

३—बृहद् वृत्ति, पत्र ९१ :
'समरे व' त्ति 'एदोतुरलोपा विसर्ज्जनीयस्ये' ति रेफान, ततः सम एव—तवगणनया स्पृष्टास्पृष्टावस्थयोस्तुल्य एव।

४—वही, पत्र ९१ :
यद्वा समन्तादरयः—शत्रवो यस्मिंस्तत्समरं तस्मिन्निति संग्रामशिरोविशेषणम्।

५—वही, पत्र ९९ :
आत्मा रक्षितः दुर्गतिहेतोरपध्यानादेरनेनेत्यात्मरक्षितः, आहिताग्न्यादिषु दर्शनात् क्तान्तस्य परनिपातः, आयो वा—ज्ञानादिलाभो रक्षितोऽनेनेत्यायरक्षितः।

६—वही, पत्र १०९ :
अकुक्कुचः अशिष्टचेष्टारहितो······यद्वा 'अकुक्कुए' त्ति अकुत्कुचः—कुन्थ्वादि विराधनाभयात्कर्मबन्धहेतुत्वेन कुत्सितं हस्तपादादिभिरस्पन्दमानः।

श्लोक ३३

५–(संचिक्खे ख) :

संस्कृत में इसके दो रूप होते हैं—(१) संतिष्ठेत[1] और (२) समीक्ष्य ।[2]

श्लोक ३६

६–(सायं नो परिदेवए घ) :

यहाँ 'सायं' में द्वितीया विभक्ति है । चूर्णिकार ने इसका अर्थ 'साता को न बुलाए' किया है ।[3] इसका तात्पर्य है कि परीषह उत्पन्न होने पर मुनि सुख के लिए प्रलाप न करे ।

टीकाकार ने इसका अर्थ 'सात का आश्रय लेकर' किया है ।[4] अतः इसमें चतुर्थी विभक्ति का अर्थ निहित है ।

श्लोक ४०

७–(से क) :

'से' शब्द 'अथ' अर्थवाची मागधी शब्द है ।[5] चूर्णिकार ने इसे 'पूरण' या 'आत्म-निर्देशवाची' माना है ।[6]

श्लोक ४२

८–(सक्खं ग) :

'सक्खं'—इसका अर्थ है 'साक्षात्' ।[7] यही शब्द इसी ग्रन्थ के १२।३७ में इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । चूर्णिकार ने 'समक्खं' पाठ मान कर उसका अर्थ 'साक्षात्' किया है ।[8]

१–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ७७ :
सम्यक् तिष्ठते संचिक्खे ।
(ख) सुखबोधा, पत्र ४६ :
'संचिक्षेत' समाधिना तिष्ठेत्, न कूजितकर्करायितादि कुर्यात् ।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र १२० :
'समीक्ष्य' स्वकर्मफलमेवैतत् भुज्यत इति पर्यालोच्य, यद्वा 'संचिक्ख'त्ति 'अचां सन्धि लोपौ बहुलम्' इत्येकारलोपे 'संचिक्खे' समाधिना तिष्ठेत्, न कूजनकर्करायितादि कुर्यात् ।

३–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ८० :
परिदेवनं नाम सातमाह्वयति ।

४–बृहद् वृत्ति, पत्र १२३ :
'सातं' सुखम्, आश्रित्येति शेषः 'नो परिदेवेत्' न प्रलपेत्—कथं कदा वा ममैवं मलदिग्धदेहस्य सुखानुभवः स्यात् ?

५–वही, पत्र १२६ :
से शब्दो मागधप्रसिद्ध्याऽथशब्दार्थं उपन्यासे ।

६–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ८२ :
से इति पूरणे आत्मनिर्देशे वा ।

७–बृहद् वृत्ति, पत्र १२८ :
'सक्खं' साक्षात् ।

८–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ८४ :
'समक्खं' णाम सहसाक्षिभ्यां साक्षात् समक्षं तो साक्षात् ।

अध्ययन ३

श्लोक २

१–(विस्संभिया घ) :

प्राकृत व्याकरण के अनुसार 'अनुस्वार' को अलाक्षणिक मान कर इसका संस्कृत रूप 'विश्व-भृत्' किया गया है।[1] इसका संस्कृत रूप 'विश्रम्भितः' भी हो सकता है।

जैन-दर्शन की यह मान्यता है कि समूचे विश्व में ऐसा कोई भी स्थान नहीं जहाँ जीव उत्पन्न न हुआ हो, न मरा हो। इसी आशय की पुष्टि करते हुए शान्त्याचार्य और नेमिचन्द्र ने एक प्राचीन श्लोक उद्धृत किया है—

णत्थि किर सो पएसो, लोए वालग्गकोडिमित्तोऽवि ।
जम्मणमरणाबाहा जत्थ जिएहि न संपत्ता ॥[2]

श्लोक ६

२–(अमाणुसासु ग) :

चूर्णि और सुखबोधा के अनुसार इसका संस्कृत रूप 'अमानुषीषु'[3] और बृहद् वृत्ति के अनुसार 'अमानुष्यासु'[4] बनता है। व्याकरण की दृष्टि से दोनों शुद्ध हैं।

श्लोक १३

३–(पक्कमई ग) :

'पक्कमई'—इस श्लोक के प्रथम दो चरणों में मध्यम पुरुष की क्रिया है और अन्तिम चरण में प्रथम पुरुष की। इससे जान पड़ता है कि प्रथम दो चरणों में उपदेश है और अन्तिम दो चरणों में सामान्य निरूपण है।

शान्त्याचार्य के अनुसार 'ऐसा करने वाला पार्थिव शरीर को छोड़ कर ऊर्ध्व दिशा (स्वर्ग या मोक्ष) को प्राप्त होता है' इस अर्थ के आगे इतना और जोड़ देना चाहिए—'इसलिए तू भी ऐसा कर।'[5]

श्लोक १४

४–(विसालिसेहिं क) :

यहाँ 'र' के स्थान में 'ल' का प्रयोग है। उसे टीकाकारों ने मगधदेशीय भाषा का शब्द माना है।[6]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र १८१-१८२ :
'विस्संभिय' त्ति बिन्दोरलाक्षणिकत्वाद् विश्वं—जगद् बिभ्रति—पूरयन्ति क्वचित्कदाचिदुत्पत्त्या सर्वजगद्व्यापनेन विश्वभृतः ।

२–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र १८२ ।
(ख) सुखबोधा, पत्र ६७ ।

३–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ९७ :
मानुषाणामियं मानुषी न मानुषी अमानुषी ।
(ख) सुखबोधा, पत्र ६८ :
अमानुषीषु ।

४–बृहद् वृत्ति, पत्र १८३ :
मनुष्याणामिमा मानुष्या न तथाऽमानुष्याः, तासु ।

५–वही, पत्र १८६ :
यद्वा सोपस्कारत्वात् सूत्राणामेवं नीयते—यत एवं कुर्वन् मनुष्यभवमुत्सृज्य ऊर्ध्वां दिशं प्रक्रामति ततस्त्वमपीत्थमित्थं च कुर्वित्युपदिश्यते ।

६–वही, पत्र १८७ :
'विसालिसेहिं' ति मागधदेशीयभाषया विसदृशैः—इतरेतरातिशोहनीयकर्मकालोपलक्षणापेक्षया विभिन्नैः ।

अध्ययन ४

श्लोक ४

१–(ते ग)

चूर्णिकार और टीकाकारों ने इसको 'तव' मान कर व्याख्या की है। परन्तु 'ते बांधवा'—ऐसे भी हो सकता है।[1]

अध्ययन ५

श्लोक १

१–(दुरुत्तरं ख) :

चूर्णिकार ने इसको क्रिया विशेषण माना है।[2] शान्त्याचार्य ने विभक्ति व्यत्यय के द्वारा इसे 'अर्णव' का विशेषण और विकल्प में क्रिया विशेषण भी माना है।[3] नेमिचन्द्र केवल 'अर्णव' का ही विशेषण मानते हैं।[4]

श्लोक ७

२–(होक्खामि क

'होक्खामि' शब्द का चूर्णिकार और नेमिचन्द्र ने संस्कृत रूप 'भविष्यामि' किया है।[5] शान्त्याचार्य ने 'भविष्यामि' और 'भोक्ष्यामि'—ये दो रूप किए हैं।[6]

इस प्रकरण में 'भोक्ष्यामि' रूप भी संगत हो सकता है, किन्तु 'भविष्यामि' अधिक उपयुक्त है। २।१२ में 'होक्खामि' और 'होक्खं' दोनों भविष्यामि के अर्थ में प्रयुक्त हैं।[7]

१–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ११३।
(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र २०९।
(ग) सुखबोधा, पत्र ८२।

२–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १३० :
दुक्खं उत्तरिज्जतीति दुरुत्तरं।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र २४१ :
'दुरुत्तरं' ति विभक्तिव्यत्ययाद्दुरुत्तरे—दुःखेनोत्तरितु शक्ये, दुरुत्तरमिति क्रियाविशेषणं वा।

४–सुखबोधा, पत्र १०१ :
'दुरुत्तरं' ति विभक्तिव्यत्ययात्—'दुरुत्तरे' दुःखोत्तारे।

५–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १३२ :
'भविष्यामि'।
(ख) सुखबोधा, पत्र १०३ :
भविष्यामि।

६–बृहद् वृत्ति, पत्र २४४ :
जनो—लोकस्तेन 'सार्द्ध' सह भविष्यामि···यद्वा 'होक्खामि' त्ति भोक्ष्यामि।

७–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ६०।
(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ९२।
(ग) सुखबोधा, पत्र २२।

अध्ययन ६

श्लोक २

१—(कप्पए ^घ^) :

इसका संस्कृत रूप है—'कल्पयेत्'। 'कल्प' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। जैसे—

सामर्थ्ये वर्णनायां च, छेदने करणे तथा।
औपम्ये चाधिवासे च, कल्प शब्दं विदुर्बुधाः॥

प्रस्तुत प्रसंग में 'कल्प' शब्द 'करण' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'कप्पए' अर्थात् करे।[1]

अध्ययन ७

श्लोक १७

१- (आवई ^ख^ वहमूलिया ^ख^) :

'आवई'—चूर्णिकार और नेमिचन्द्र के अनुसार इसका संस्कृत रूप 'आपदा' या 'आपत्' प्राप्त होता है।[2] शान्त्याचार्य ने मूलतः इसको क्रिया मान कर आगच्छति, आपतति—किया है और विकल्प में 'आपत्' भी किया है।[3]

'वहमूलिया'—चूर्णि के अनुसार इसका संस्कृत रूप 'व्यधमूलिका' और बृहद् वृत्ति व सुखबोधा के अनुसार 'वधमूलिका' होता है। 'व्यध' का अर्थ प्रमारण या ताडन और 'वध' का अर्थ प्राणिघात, विनाश या ताडन किया गया है।[4]

१—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १४९-२५०।

२—(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १६४ :

शीतोष्णाद्या व्याधयश्च आवती :

(ख) सुखबोधा, पत्र १२० :

'आवइ' त्ति आपत्।

३—बृहद् वृत्ति, पत्र २८० :

'आवइ' त्ति आगच्छत्यापतति···'आवइ' त्ति आपत्।

४-(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १६४ :

व्यधस्तु प्रमारणं ताडनं वा, मूलहेतुं वा आदौ व्यध इत्यर्थः।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र २८० :

वधः—प्राणिघातः, उपलक्षणत्वान्महारम्भमहापरिग्रहानृतभाषणमायादयश्च मूलं—कारणं यस्याः सा वधमूलिका,···वधो विनाशस्ताडनं वा मूलम्—आदिर्यस्याः सा वधमूलिका।

(ग) सुखबोधा, पत्र १२० :

वधः—विनाशो वा ताडनं मूलं—आदिर्यस्याः सा।

अध्ययन ९

श्लोक १

१–(सरई ^ख^) :

'सरई' वर्तमान काल का रूप है । शान्त्याचार्य ने 'स्म' को 'शेष' माना है ।[1] 'स्मरतिस्म' अर्थात् याद किया—स्मृति हुई । नेमिचन्द्र और कमलसंयम ने उस समय की अपेक्षा से वर्तमान का रूप माना है ।[2]

श्लोक २

२–(सहसंबुद्ध ^ख^) :

'सहसंबुद्ध'—स्वयं-संबुद्ध । शान्त्याचार्य ने 'सह' का अर्थ 'स्वयं' किया है ।[3] इसका संस्कृत रूप 'स्वक' होता है ।[4] स्वकेन संबुद्धः=सह-संबुद्धः अर्थात् अपने आप प्रतिबुद्ध । 'सह' का वैकल्पिक रूप 'सहसा' भी किया है । 'सहसा' के स्थान में 'सह' को आर्ष-प्रयोग माना है । 'सहसा संबुद्धः सहसंबुद्धः' अर्थात् जाति-स्मृति के बाद तुरन्त प्रतिबुद्ध ।[5]

श्लोक ३

३–(देवलोगसरिसे ^क^) :

यहाँ 'भोग' शब्द लुप्त है । देवलोक-सदृश अर्थात् देवलोक के भोगों के सदृश ।[6]

श्लोक ५

४–(भूयं ^क^) :

इसके दो अर्थ किए गए हैं—(१) जात (हुआ) और (२) सदृश ।[7] जहाँ 'भूत' का 'जात' अर्थ है, वहाँ 'भूत' शब्द का परनिपात प्राकृत के नियमानुसार हुआ है ।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ३०६ :
'स्मरति' चिन्तयति, स्मेति शेषः, वर्तमाननिर्देशो वा प्राग्वत् ।

२–(क) सुखबोधा, पत्र १४५ :
वर्तमाननिर्देशः सर्वत्र तत्कालविवक्षया ।
(ख) सर्वार्थसिद्धि, पृ० २०४ :
वर्तमानत्वं तत्कालापेक्षया ।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र ३०६ :
सहेति—स्वयमात्मनैव सम्बुद्धः—सम्यगवगततत्त्वः सहसम्बुद्धो, नान्येन प्रतिबोधित इत्यर्थः ।

४–पाइअसद्दमहण्णवो, पृ० ११०९ ।

५–बृहद् वृत्ति, पत्र ३०६ :
अथवा 'सहस' त्ति आर्षत्वात् सहसा—जातिस्मृत्यनन्तरं झगित्येव बुद्धः ।

६–वही, पत्र ३०६ :
'देवलोगसरिसे' त्ति देवलोकभोगैः सदृशा देवलोकसदृशाः, मयूरव्यंसकादित्वान्मध्यमपदलोपी समासः ।

७–वही, पत्र ३०७ ।

श्लोक ६

५–(पव्वज्जाठाणमुत्तमं ख) :

यहाँ 'प्रति' शेष है। उत्तम स्थान के प्रति अथवा सप्तमी के स्थान में प्राकृत में द्वितीया है।[1]

श्लोक २८

६–(आमोसे क) :

इस श्लोक मे आमोष आदि को द्वितीया का बहुवचन मान कर व्याख्या की है, वहाँ 'उत्पाद्य' का 'अध्याहार' किया है और वैकल्पिक रूप में सप्तमी का एकवचन मान कर भी व्याख्या की है। आमोष आदि का उन्मादन कर—निग्रह कर अथवा आमोष आदि के होते हुए नगर जो अशान्त है, उसे शान्त बना तुम मुनि बन जाना।[2]

श्लोक ३२

७–(नराहिवा ! ख) :

यह सम्बोधन है। प्राकृत मे ह्रस्व के स्थान में दीर्घ भी हो जाता है इसलिए 'नराहिव' का रूप 'नराहिवा' हुआ है।[3]

हेमचन्द्र के अनुसार ह्रस्व का दीर्घ और दीर्घ का ह्रस्व समास में ही होता है।[4]

श्लोक ३५

८–(एहए घ) :

'एध्' धातु अकर्मक है। इसका अर्थ है 'वृद्धि होना'। धातु अनेकार्थक होते हैं—इस न्याय से इसका अर्थ 'प्राप्त करना' भी होता है। 'सुहमेहए' अर्थात् सुख को प्राप्त करता है। शुभ को बढ़ाता है—यह इसका वैकल्पिक अर्थ है।[5]

श्लोक ५१

९–(अब्भुदए क) :

इसका संस्कृत रूप 'अभ्युदये' होना चाहिए। शान्त्याचार्य ने वैकल्पिक रूप मे ऐसा किया भी है।[6] पर मुख्यतया उन्होंने इसका संस्कृत रूप 'अद्भुतकान्' किया है।[7] व्याकरण की दृष्टि से 'अद्भुत' की अपेक्षा 'अभ्युदय' ही संगत है।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ३०७ :
प्रव्रज्यास्थान, प्रतीति शेषः, 'उत्तमं' प्रधानं, सुब्व्यत्ययेन सप्तम्यर्थे वा द्वितीया, ततः प्रव्रज्यास्थान उत्तमे।

२–वही, पत्र ३१२-३१३।

३–वही, पत्र ३१३ :
'नराहिवा' इत्यत्र अकारो 'ह्रस्वदीर्घौ मिथ' इतिलक्षणात्।

४–हेमशब्दानुशासन, ८।१।४ :
दीर्घ-ह्रस्वौ मिथोवृत्तौ।

५–बृहद् वृत्ति, पत्र ३१४ :
'सुखम्' ऐकान्तिकात्यन्तिकमुक्तिसुखात्मकम् 'एधते' इत्यनेकार्थत्वाद्धातूनां प्राप्नोति, अथवा 'सुहमेहए' त्ति शुभं—पुण्यमेधते—अन्तर्भावितण्यर्थत्वात् वृद्धि नयति।

६–वही, पत्र ३१७ :
'अब्भुदए' त्ति अभ्युदये, ततश्च यदभ्युदयेऽपि भोगांस्त्वं जहासि तदाश्चर्यं वर्त्तते।

७–वही, पत्र ३१७ :
'अब्भुदए' त्ति अद्भुतकान् आश्चर्यरूपान्।

अध्ययन १०

श्लोक २०

१–(कामगुणेहि मुच्छिया ग) :

'कामगुणेहिं' का अर्थ सप्तमी और तृतीया दोनों विभक्तियों के द्वारा किया जा सकता है—'कामगुणों में मूर्च्छित' अथवा 'कामगुणों के द्वारा मूर्च्छित'।[1]

श्लोक २१

२–(परिजूरइ क) :

इसका संस्कृत रूप 'परिजीर्यति' होता है और प्राकृत में 'निद्'[2] और 'खिद्'[3] धातु को 'जूर्' आदेश होता है, इसलिए 'परिजूरइ' का अनुवाद 'जीर्ण हो रहा है' के अतिरिक्त 'अपने आपको कोस रहा है' या 'खिन्न हो रहा है' भी हो सकता है।

अध्ययन ११

श्लोक ७

१–(अभिक्खणं क) :

बृहद् वृत्ति के अनुसार इसके संस्कृत रूप 'अभीक्ष्णं' और 'अभिक्षणं'—ये दो बनते हैं। 'अभीक्ष्णं' का अर्थ—'बार-बार' और 'अभिक्षणं' का अर्थ 'निरन्तर' है।[4]

श्लोक ३१

२–(समुद्दगम्भीरसमा क) :

व्याकरण की दृष्टि से यह 'समुद्दसमगम्भीरा' होना चाहिए था, किन्तु छन्द-रचना की दृष्टि से 'गम्भीर' का पूर्व निपात हुआ है। बृहद् वृत्ति के अनुसार 'गाम्भीर्य' के स्थान में 'गम्भीर' का आर्ष-प्रयोग हुआ है।[5]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ३३७।

२–वही, पत्र ३३८ :
यद्वा 'परिजूरइ' त्ति 'निन्देर्जूर' इति प्राकृतलक्षणात् परिनिन्दतीवाऽऽत्मानमिति गम्यते, यथा—धिग्मां कीदृशं जातमिति।

३–हेमशब्दानुशासन, ८।४।१३२ :
खिदेर्जूरविसूरौ।

४–बृहद् वृत्ति, पत्र ३४६ :
'अभीक्ष्णं' पुनः पुनः, यद्वा—क्षणं क्षणमभि अभिक्षणम्—अनवरतम्।

५–वही, पत्र ३५३ :
'समुद्दगंभीरसम' त्ति आर्षत्वाद्गाम्भीर्येण—अलब्धमध्यात्मकेन गुणेन समा गाम्भीर्यसमाः समुद्रस्य गाम्भीर्यसमाः समुद्र-गाम्भीर्यसमाः।

अध्ययन १२

श्लोक २

१–(समिईसु ख) :

यह एकवचन के स्थान पर बहुवचन है। 'समिति' शब्द मध्य में स्थित है, इसलिए यह 'ईर्या' आदि सबके साथ जुड़ जाता है। पहले और दूसरे चरण का समास करने से यह बहुवचन भी हो सकता है। समास करने पर 'भासाए' का 'ए' अलाक्षणिक मानना चाहिए।[1]

श्लोक ७

२–(क्खलाहि घ) :

शान्त्याचार्य ने 'खल' धातु को देशी-पद माना है। इसका अर्थ है—'अपसरण करना', 'आँखों से परे हो जाना'[2] ; 'अवज्ञापूर्वक चले जाना।'[3]

श्लोक १५

३–(उच्चावयाइं ग) :

इसके संस्कृत रूप दो बन सकते हैं—(१) उच्चावचानि और (२) उच्चव्रतानि। 'उच्चावच' का अर्थ है—'ऊँच-नीच घर' या 'नाना प्रकार के तप'। 'उच्चव्रत' अर्थात् दूसरे व्रतों की अपेक्षा से महान् व्रत—महाव्रत।[4] मुनि ऊँच-नीच घरों में भिक्षा के लिए चरण करते हैं अथवा नाना प्रकार के तपों और महाव्रतों का आचरण करते हैं।

श्लोक १७

४–(अज्ज घ) :

इसके संस्कृत रूप दो बनते हैं—(१) अद्य (=आज) और (२) आर्य।[5]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ३५७ :
'उच्चारसमिएसु' त्ति एकत्वेऽपि बहुवचनं सूत्रत्वात्, समितिशब्दश्च मध्यव्यवस्थितो डमरुकमणिरिवान्तयोरपि सम्बध्यते, ततश्च ईर्यासमितावेषणासमितौ भाषासमितावादाननिक्षेपसमिताविति योज्यं, यद्वा ईर्येषणाभाषोच्चारसमितिष्वित्येकमेव पदं, 'भासाए' इति च एकारोऽलाक्षणिकः।

२–वही, पत्र ३५९ :
'खलाहि' त्ति देशीपदमपसरेत्यस्यार्थे वर्त्तते।

३–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०४।

४–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०६ :
उच्चावयं नाम नानाप्रकारं, नानाविधानि तपांसि, अहवा उच्चावयानि शोभनशीलानि।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ३६२-६३ :
'उच्चावयाइं' ति उच्चावचानि—उत्तमाधमानि कुलानि चरन्ति—भिक्षानिमित्तं पर्यटन्ति गृहाणि, ··· यदि वोच्चावचानि—विकृष्टाविकृष्टतया नानाविधानि, तपांसीति गम्यते, उच्चव्रतानि वा शेषव्रतापेक्षया महाव्रतानि।

५–बृहद् वृत्ति, पत्र ३६३ :
'अज्ज' त्ति अद्य ये यज्ञास्तेषामिदानीमारभ्यमाणानां, यद्वा 'अज्ज' त्ति हे आर्या!

श्लोक १८

५–(खत्ता [क]) :

'खत्ता' के संस्कृत रूप दो हो सकते हैं—(१) क्षत्राः और (२) क्षत्ताः। क्षत्र का अर्थ 'क्षत्रिय' और क्षत्ता का अर्थ 'वर्णसङ्कर' है।[1]

श्लोक २४

६–(जक्खा [घ]) :

यक्ष के परिवार में अनेकों सदस्य थे, इसलिए यहाँ बहुवचन का प्रयोग हुआ है।[2]

श्लोक २७

७–(महेसी [क]) :

इसके संस्कृत रूप दो बनते हैं—(१) महैषी और (२) महर्षि। महैषी का अर्थ है 'मोक्ष की खोज करने वाला' और महर्षि का अर्थ है 'महान् ऋषि'।

बृहद् वृत्तिकार को दोनों अर्थ अभिमत हैं।[3] चूर्णिकार को पहला अर्थ अभिमत है।[4]

श्लोक ३२

८–(अत्थि [ख]) :

'अत्थि' (अस्ति) अर्थात् है। उसके उपलक्षण से 'था' और 'होगा' का भी ग्रहण कर लेना चाहिए।[5]

श्लोक ३४

९–(ते [क]) :

बृहद् वृत्ति के अनुसार प्रथम और द्वितीय चरण में जो 'ते' है, वह 'षष्ठी' विभक्ति का एकवचन है और वैकल्पिक रूप से विभक्ति का व्यत्यय करने पर द्वितीया विभक्ति का एकवचन है।[6]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ३६३ :

'क्षत्राः' क्षत्रियजातयो वर्णसङ्करोत्पन्ना वा।

२–वही, पत्र ३६५ :

यक्षाः, यक्षपरिवारस्य बहुत्वात् बहुवचनम्।

३–वही, पत्र ३६६ :

'महेसि' त्ति महान्—बृहन् शेषस्वर्गाद्यपेक्षया मोक्षस्तमिच्छति—अभिलषतीति महैषी महर्षिर्वा।

४–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०८ :

महांतं एसतीति महेसी, निर्वाणमित्यर्थः।

५–बृहद् वृत्ति, पत्र ३६८ :

अस्तीत्युपलक्षणत्वादासीद् भविष्यति च।

६–वही, पत्र ३६८-६९।

श्लोक ३६

१०–(कुसं क) :

प्रथम चरण के कुश आदि जो कर्म हैं, उनके लिए 'परिगृह्णन्तः' क्रिया शेष है।[1]

श्लोक ४५

११–(सन्तितित्थे क) :

चूर्णि और बृहद् वृत्तिकार ने 'सन्ति' का अर्थ—'शान्ति' या 'सन्ति' (अस् धातु का बहुवचन) किया है। इसका अर्थ शान्ति मानने पर 'तीर्थ' में एकवचन है। 'सन्ति' क्रिया मानने पर बहुवचन है।[2] बृहद् वृत्ति के अनुसार तीर्थ का अर्थ 'पुण्यक्षेत्र' या 'संसार-समुद्र को तैरने का उपायभूत घाट' है। चूर्णि के अनुसार तीर्थ के दो भेद हैं—(१) द्रव्यतीर्थ और (२) भावतीर्थ। प्रभास आदि 'द्रव्यतीर्थ' कहलाते हैं और ब्रह्मचर्य 'भावतीर्थ' या 'शान्तितीर्थ' कहलाता है।[3]

श्लोक ४६

१२–(बम्भे सन्तितित्थे क) :

शान्त्याचार्य के अनुसार इसका एक अर्थ यह होता है कि 'ब्रह्मचर्य शान्तितीर्थ' है। दूसरा अर्थ 'मतु' प्रत्यय का लोप तथा ब्रह्मचर्य और ब्रह्मचारी का अभेद मान लेने पर यह होता है कि 'ब्रह्मचारी' तीर्थ है। इस अर्थ में 'बम्भे' में वचन-व्यत्यय माना जाएगा।[4]

१३–(अत्तपसन्नलेसे ख) :

इसका संस्कृत रूप 'आत्मप्रसन्नलेश्यः' या 'आप्तप्रसन्नलेश्यः' होता है। यहाँ लेश्या का अर्थ 'मानसिक परिणाम' है। लेश्या दो प्रकार की होती है—(१) प्रसन्न (धर्म) और (२) अप्रसन्न (अधर्म)। आत्मा को प्रसन्न—सर्वथा अकलुषित लेश्या जहाँ होती है, उसे 'प्रसन्न-लेश्य' कहा गया है। आप्त पुरुष के द्वारा प्रसन्न-लेश्या का निरूपण हो अथवा जहाँ प्रसन्न लेश्या प्राप्त हो, उस धर्म या शान्तितीर्थ को 'आप्त-प्रसन्न-लेश्य' कहा गया है।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ३७० :
सर्वत्र परिगृह्णन्त इति।

२–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २१२ :
'संतितित्थ' त्ति शमनं शान्तिः, शान्तिरेव तीर्थः, अथवा सन्तीति विद्यन्ते, कतराणि संति तित्थाणि ?

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ३७३ :
'संतितित्थे' त्ति किं च ते—तव शान्त्यै—पापोपशमननिमित्तं तीर्थं—पुण्यक्षेत्रं शान्तितीर्थम्, अथवा 'कानि च' किंरूपाणि 'ते' तव 'सन्ति' विद्यन्ते 'तीर्थानि' संसारोदधितरणोपायभूतानि।

३–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २१२ :
तित्थं दुविहं—दव्वतित्थं भावतित्थं च, प्रभासादीनि द्रव्यतीर्थानि, ...[illegible] न शान्तितीर्थानि भवंति, यस्तु आत्मनः परेषां च शान्तये तद्भावतीर्थं भवति ब्रह्म एव शान्तितीर्थम्।

४–बृहद् वृत्ति, पत्र ३७३ :
ब्रह्मेति—ब्रह्मचर्यं शान्तितीर्थं,......अथवा 'ब्रह्मे'ति ब्रह्मचर्यवन्तो मतुब्लोपादभेदोपचाराद्वा साधव उच्यन्ते, सुब्व्यत्ययाच्चैकवचनं, 'संति' विद्यन्ते तीर्थानि ममेति गम्यते।

'आत्मप्रसन्न-लेश्य' यह धर्म और शान्तितीर्थ दोनों का विशेषण है।[1]

श्लोक ४७

१४—(जहिंसि ग) :

चूर्णि के अनुसार यह सप्तमी विभक्ति है।[2] बृहद् वृत्तिकार ने विभक्ति का व्यत्यय कर इसे तृतीया माना है।[3]

अध्ययन १३

श्लोक १२

१—(वयणप्पभूया क) :

इसका संस्कृत रूप 'वचनाऽप्रभूता' या 'वचनाल्पभूता' होता है और दोनों का अर्थ है 'अल्पाक्षर वाली'।[4]

२—(सीलगुण ग) :

शील और गुण—इन दो शब्दों का अर्थ 'अपृथक्' और 'पृथक्' दोनों रूपों से किया जा सकता है।

शीलगुण—चारित्र रूप गुण। शील अर्थात् चारित्र, गुण अर्थात् श्रुत।[5]

३—(अज्जयन्ते घ) :

यह क्रिया है। बृहद् वृत्तिकार ने 'अज्जयंते' (अर्जयन्ति) या जयंते (यतन्ते)—इन दोनों की व्याख्या की है।

'अर्जयन्ति' अर्थात् पठन, श्रवण और अनुष्ठान द्वारा प्राप्त करते हैं।

'यतन्ते'—क्रिया मानने पर तीसरे चरण का अनुवाद होगा—जिसे सुन कर चारित्रगुणयुक्त भिक्षु जिन-प्रवचन में यत्न करते हैं।[6]

१—(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २१२ :

आत्मनः, प्रशान्तोपशान्तलेसो, पीतशुक्लाद्या लेश्याः, आत्मनः ग्रहणं न शरीरस्य तीर्थः, शरीरलेश्यासु हि अशुद्धास्वपि आत्मलेश्या शुद्धा भवंति, शुद्धा अपि शरीरलेश्या भजनीया, अथवा अत्त—इति या इष्टाः, ताश्च पीताद्याः, ताश्च शुद्धाः, अनिष्टास्तु अणत्ताओ, उक्तं हि—'अत्ता इट्ठा कंता पिया मणुण्णा', अत्ता एव प्रसन्ना, अत्ताश्च प्रसन्नाश्च अत्तपसन्नलेसे।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ३७३ :

आत्मनो—जीवस्य प्रसन्ना—अनामल्यकलुषा पीताद्यन्यतरा लेश्या यस्मिंस्तदात्मप्रसन्नलेश्यं तस्मिन्, अथवा आप्ता-प्राणिनामिह परत्र च हिता प्राप्ता वा तैरेव प्रसन्नलेश्या—उक्तरूपा यस्मिंस्तदाप्तप्रसन्नलेश्यं तस्मिन्नेवंविधे धर्मह्रदे, ब्रह्माख्यशान्तितीर्थे च, यदा ब्रह्मशब्देन ब्रह्मचर्यमुच्यते तत्पक्षे वचनविपरिणामेन विशेषणद्वयं व्याख्येयम्।

२—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २१३ :

जहिं सि ण्हाता अहिंसाविलक्खणे धम्मे हरते।

३—बृहद् वृत्ति, पत्र ३७४ :

'जहिंसि' त्ति सुब्व्यत्ययाद्येन।

४—वही, पत्र ३८५ :

'वयणप्पभूय' त्ति वचनेन अप्रभूता अल्पभूता वा—अल्पत्वं प्राप्ता वचनाल्पभूता वचनाप्रभूता वा श्लोकाक्षरेतियावत्।

५—वही, पत्र ३८५ :

शीलं—चारित्रं तदेव गुणः, यद्वा गुणः पृथगेव ज्ञानम्।

६—वही, पत्र ३८५ :

'अज्जयंते' त्ति अर्जयन्ति पठनश्रवणतदर्थानुष्ठानादिभिरावर्जयन्ति। यद्वा 'जं भिक्खुणो' इत्यत्र श्रुत्वेति शेषः, ततो यां श्रुत्वा 'जयंत' त्ति 'इह' अस्मिन् जिनप्रवचने 'यतन्ते' यत्नवन्तो भवन्ति।

श्लोक १३

४—(य क) :

'मध्य' का नाम मूलपाठ में नहीं है। यह 'च' शब्द के द्वारा प्रतिपादित है।[१]

श्लोक २०

५—(दाणि सिं क) :

बृहद् वृत्तिकार ने 'सिं' को पद-पूर्ति के लिए माना है और वैकल्पिक रूप में 'दाणिसिं' को देशी भाषा का शब्द माना है।[२]

श्लोक २२

६—(अंसहरा घ) :

इसके संस्कृत रूप दो बनते हैं—(१) अंशधर और (२) अंशहर। 'अंशधर' का अर्थ है 'अपने जीवन का अंश देकर मरते हुए को बचाने वाला'। 'अंशहर' का अर्थ है 'दुःख में भाग बंटाने वाला'।[३]

श्लोक ३३

७—(मोहं ग) :

मोघ का अर्थ है—'व्यर्थ'।[४] इसका संस्कृत रूप 'मोह' भी हो सकता है।[५]

अध्ययन १४

श्लोक ४

१—(कामगुणे घ) :

'कामगुणे' का संस्कृत रूप विभक्ति-व्यत्यय न किया जाए तो विषय के अर्थ में सप्तमी का एकवचन 'कामगुणे' भी हो सकता है।[६]

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ३८५ :
चशब्दान्मध्यो''''।

२—वही, पत्र ३८७ :
'इदानीम्' अस्मिन् काले 'सिं' त्ति पूरणे यद्वा 'दाणिसिं' त्ति देशीयभाषयेदानीम्।

३—(क) उत्तराध्ययन चूर्णि पृ० २१८ :
अंशो नाम दुःखभागः तमस्य न हरन्ति, अहवा स्वजीवितांशेन ण तं मरंतं धारयंति।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ३८८, ८९ :
अंशं—प्रक्रमाज्जीवितव्यभागं धारयन्ति—मृत्युना नीयमानं रक्षन्तीत्यंशधराः...अथवाऽशो—दुःखभागस्तं हरन्ति—अपनयन्ति ये तेऽशहरा भवन्तीति।

४—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २१९ :
मोहो नामानर्थक एव।

५—बृहद् वृत्ति पत्र ३९२ :
'मोहं' ति मोघं निष्फलं यथा भवति एवं, सुब्व्यत्ययाद्वा मोघो—निष्फलो मोहेन वा—पूर्वजन्मनि मम भ्राताऽऽसीदिति स्नेहलक्षणेन।

६—वही, पत्र ३९७ :
'कामगुणे' त्ति सुब्व्यत्ययात् 'कामगुणेभ्यः' शब्दादिभ्यो, विषयसप्तमी वा।

श्लोक १२

२–(भुत्ता ख) :

जिनका अन्तर्भाव होने के कारण इसका रूप होगा 'भोजिताः' अर्थात् भोजन कराए हुए ।[१]

३–(तमं तमेणं ख) :

'तमं' का अर्थ 'नरक' है । 'तमेणं' का एक अर्थ 'अज्ञान' है और 'तमंतमेणं' को एक शब्द तथा सप्तमी के स्थान में तृतीया विभक्ति मानी जाए तो इसका अर्थ 'अतिरौद्ररौरवादि नरक में' होता है ।[२]

श्लोक १४

४–(अन्नप्पमत्ते ग) :

'अन्न' के संस्कृत रूप दो होते हैं— (१) अन्य और (२) अन्न । अन्य-प्रमत्त—मित्र-स्वजन आदि के लिए प्रमाद में फँसा हुआ । अन्न-प्रमत्त—भोजन या जीविका के लिए प्रमाद में फँसा हुआ ।[३]

श्लोक ३७

५–(तं ग) :

इसका अर्थ है 'जो कुछ पुरोहित ने छोड़ा, उसको लेते हुए (राजा) को' । यहाँ 'लेते हुए' ऊपर से अध्याहृत है ।[४]

श्लोक ४०

६–(इहेह घ) :

'इह' शब्द का दुबारा होने वाला प्रयोग सम्भ्रम का सूचक है ।[५]

अध्ययन १५

श्लोक २

१–(सव्वदंसी ग) :

शान्त्याचार्य ने इसके दो संस्कृत रूप दिए हैं—

(१) सर्वदर्शी—प्राणी मात्र को आत्मवत् देखने वाला अथवा सर्व वस्तुओं को समदृष्टि से देखने वाला और

(२) सर्वदंशी—सर्व आहार को खाने वाला, लेप-मात्र भी नहीं छोड़ने वाला ।[६]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ४०० :
'भुञ्ज' त्ति अन्तर्भावितण्यर्थत्वाद् भोजिताः ।

२–वही, पत्र ४०० :
तमोरूपत्वात्तमो—नरकास्तमसा—अज्ञानेन यद्वा तमसोऽपि यत्तमस्तस्मिन्—अतिरौद्रे रौरवादिनरके ।

३–वही, पत्र ४००-४०१ :
अन्ये—सुहृत्स्वजनादयः, अथवाऽन्नं—भोजनं तदर्थं प्रमत्तः—तात्पर्यासक्तचेता अन्यप्रमत्तः अन्नप्रमत्तो वा ।

४–वही, पत्र ४०८ :
'तवि' त्ति यत्पुरोहितेन त्यक्तं गृह्णन्तमिति शेषः ।

५–वही, पत्र ४०९ :
'इहेहे' ति वीप्साभिधानं सम्भ्रमख्यापनार्थम् ।

६–वही, पत्र ४१४-१५ :
'सर्वं' समस्तं प्रस्यमानत्वात्प्राणिगणं पश्यति—आत्मवत्प्रेक्षत इत्येवंशीलः, अथवाऽभिभूय रागद्वेषौ सर्व वस्तु समतया पश्यतीत्येवंशीलः सर्वदर्शी, यद्विवा सर्वं दशति—भक्षयतीत्येवंशीलः सर्वदंशी, उक्तं हि—
"पडिग्गहं संलिहिता णं, लेवमायाए संजए । दुगंधं वा सुगंधं वा, सव्वं भुंजे न छड्डए ॥"

श्लोक ५

२–(आयगवेसए घ) :

शान्त्याचार्य ने 'आय' शब्द के तीन संस्कृत रूपों की कल्पना की है—

(१) आत्म-गवेषक— आत्मा के शुद्ध स्वरूप की गवेषणा करने वाला।

(२) आय-गवेषक— सम्यग्-दर्शन आदि के आय (लाभ) की गवेषणा करने वाला।

(३) आयत-गवेषक— मोक्ष की गवेषणा करने वाला।[1]

अध्ययन १६

सूत्र १

१–(संजमबहुले) :

इसमें 'बहुल' शब्द उत्तर-पद में है। जबकि वह पूर्व-पद में होना चाहिए —'बहुलसंजमे'। इसी प्रकार 'संवरबहुल' और 'समाहिबहुल' भी हैं।

वृत्तिकार ने इसका समाधान 'प्राकृतत्वात्' कह कर दिया है।[2] संयम, संवर और समाधि का अर्थ चूर्णि और वृत्तियों में भिन्न है—

चूर्णि	*बृहद् वृत्ति*	*सुखबोधा*
(१) संयम— पृथ्वीकाय आदि का संयम।	(१) संयम— आश्रव-विरमण।	(१) संयम— संयम।
(२) संवर— पाँच महाव्रत।	(२) संवर— आश्रवद्वार-निरोध।	(२) संवर— इन्द्रिय-संवरण।
(३) समाधि—ज्ञान आदि।[3]	(३) समाधि—समाधि-चित्त की स्वस्थता।[4]	(३) समाधि—चित्त की स्वस्थता।[5]

अध्ययन १७

श्लोक १२

१–(अत्तपन्नहा ख) :

शान्त्याचार्य ने इसके तीन संस्कृत रूप दिये हैं—

(१) आत्मप्रश्नहा।

(२) आत्तप्रज्ञाहा।

(३) आप्तप्रज्ञाहा।

जो आत्मा सम्बन्धी प्रश्नों का वाचालता से हनन कर देता है, वह 'आत्मप्रश्नहा' कहलाता है। जो अपनी या दूसरों की बुद्धि का कुतर्कों के द्वारा हनन करता है, वह 'आत्तप्रज्ञाहा' कहलाता है।[6]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ४१६।
२–सुखबोधा, पत्र २१९।
३–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २४१।
४–बृहद् वृत्ति, पत्र ४२२-४२३।
५–सुखबोधा, पत्र २१९।
६–बृहद् वृत्ति, पत्र ४३४-३५।

श्लोक १६

२–(अभिक्खणं ख) :

अभीक्ष्ण का शब्दार्थ 'पुनः पुनः' होता है। चूर्णि और वृत्ति में इसका भावार्थ 'प्रतिदिन' किया गया है। पुनः पुनः आहार करता है अर्थात् प्रतिदिन आहार करता है।[1] इसका मूल अर्थ 'बार-बार खाता है, सूर्योदय से सूर्यास्त तक खाता रहता है'—होना चाहिए। इसका सम्बन्ध 'एगभत्तं च भोयणं' (दशवैकालिक, ६।२२) से होना चाहिए।

अध्ययन १८

श्लोक १६

१–(हट्ठतुट्ठ घ) :

बाहर से पुलकित होने को 'हृष्ट' और मानसिक प्रीति का अनुभव करने को 'तुष्ट' कहा जाता है।[2]

श्लोक ३०

२–(सव्वत्था ग) :

इसके दो संस्कृत रूप किए गये हैं—

(१) सर्वार्थाः—हिंसा आदि अशेष विषय।

(२) सर्वत्र—आकार को अलाक्षणिक मानने पर 'सव्वत्था' का संस्कृत रूप 'सर्वत्र' भी हो सकता है।[3]

श्लोक ४०

३–(अरयं ग) :

शान्त्याचार्य ने इसके दो संस्कृत रूप दिए हैं—

(१) अरतम्।

(२) अरजस्।

नेमिचन्द्र ने केवल 'अरजस्' माना है।[4]

श्लोक ४६

४–(अणट्ठा ख) :

शान्त्याचार्य ने मूल में 'अणट्ठा' शब्द मान कर उसे आर्ष-प्रयोग कहा है।[5]

१–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २४६ :

नित्यमाहारयति, यदि नाम कश्चिच्चोदयति किमिति सदं आहारं नित्यमाहारयति न चतुर्थषष्ठादि कदाचिदपि करोति ?

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ४३५ :

अभीक्ष्णं······प्रातरारभ्य सन्ध्यां यावत्पुनः पुनर्भुङ्क्ते, यद्वा······'अभीक्ष्णं' पुनः पुनः, दिने दिने इत्युक्तं भवति।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र ४४१ :

हृष्टाः—बहिः पुलकादिमन्तः, तुष्टाः—आन्तरप्रीतिमाजः।

३–वही, पत्र ४४६ :

'सर्वार्थाः'— अशेषहिंसादयो···यद्वा 'सव्वत्थे' त्याकारस्यालाक्षणिकत्वात्सर्वत्र क्षेत्रादौ।

४–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र ४४८ :

'अरयं' ति रतस्य रजसो वाऽभावक्यमरतमरजो वा।

(ख) सुखबोधा, पत्र २४६।

५–बृहद् वृत्ति, पत्र ४४८ :

'अणट्ठा···' त्ति, आर्षत्वात्।

अध्ययन १६

श्लोक ३६

१—(अग्गिसिहा दित्ता क) :

इस श्लोक के प्रथम चरण में 'अग्निशिखा' और 'दीप्ता' में द्वितीया के स्थान में प्रथमा विभक्ति है। दूसरे चरण में 'सुदुक्कर' में लिङ्ग व्यत्यय मान सुदुष्करा किया जाए और 'करोति' धातु सर्व धात्वर्थवाची होता है, अतः उसे शक्ति के अर्थ में माना जाए तो अग्निशिखा को प्रथमा मान कर भी व्याख्या की जा सकती है।[1]

श्लोक ५७

२—(विव ख) :

यह 'इव' अर्थ में अव्यय है। पिव, मिव विव और व—ये चारों अव्यय 'इव' अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।[2]

श्लोक ८१

३—(मिगचारियं ग) :

'मिग (या मिय) चारिय' शब्द पाँच बार आया है—श्लोक ८१, ८२, ८४ और ८५ में।

शान्त्याचार्य ने 'मिगचारिया' के दो संस्कृत रूप दिए हैं—

(१) मृगचर्या— हिरणों की इधर उधर उत्प्लवन की चर्या।

(२) मितचारिता— परिमित-भक्षण रूप चर्या। हिरण स्वभाव से ही मिताहारी होते हैं।[3]

'चर्या' का प्राकृत रूप 'चरिया' बनता है, इसलिए 'चारिया' का संस्कृत रूप 'चारिका' या 'चारिता'— दोनों हो सकते हैं। अर्थ-संगति की दृष्टि से मितचारिता की अपेक्षा मृगचारिका अधिक उपयुक्त है।

श्लोक ८१ के चतुर्थ चरण में मृगचारिका का प्रयोग जहाँ हिरण स्वतन्त्रता पूर्वक बैठें, उस भूमि के लिए किया गया है।[4] शेष चार स्थानों में मृगचारिका का अर्थ है 'मृग की तरह स्वतन्त्र विचरण करना'।

श्लोक ६२

४—(अणसणे घ) :

'नञ्' के दो अर्थ होते हैं—(१) अभाव और (२) कुत्सा। यहाँ 'अणसणे' का अर्थ है 'भोजन न मिलने' अथवा 'खराब भोजन मिलने पर'।[5]

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ४५७ :

'अग्निशिखा' अग्निज्वाला 'दीप्ते'त्युज्ज्वला ज्वालाकराला वा, द्वितीयार्थे चात्र प्रथमा, ततो यथाऽग्निशिखां दीप्तां पातुं सुदुष्करं, भुमिरिति गम्यते, यद्वा लिङ्गव्यत्ययात् सर्वधात्वर्थत्वाच्च करोतेः 'सुदुष्करा' सुदुःशका यथाऽग्निशिखा दीप्ता पातुं भवतीति योगः, एवमुत्तरत्रापि भावना।

२—वही, पत्र ४६०।

३—वही, पत्र ४६२ :

मृगाणां चर्या—इतश्चेतश्चोत्प्लवनात्मकं चरणं मृगचर्या तां, 'मितचारितां' वा परिमितभक्षणात्मिकां 'चरित्वा' आसेव्य परिमिताहारा एव हि स्वरूपेणैव मृगा भवन्ति।

४—वही, पत्र ४६२-६३

मृगाणां चर्या—चेष्टा स्वातन्त्र्योपवेशनादिका यस्यां सा मृगचर्या—मृगाश्रयभूस्ताम्।

५—वही, पत्र ४६५ :

नञोऽभावे कुत्सायां वा, ततश्चाशनस्य—भोजनस्याभावे कुत्सिताशनभावे वा।

अध्ययन २०

श्लोक २३

१–(अहाहियं ख) :

इसके दो संस्कृत रूप बनते हैं—

(१) यथाहितं और

(२) यथाऽधीतं ।

पहले का अर्थ है 'जैसे मेरा हित हो वैसे' और दूसरे का अर्थ है 'अपने गुरु या परम्परा से प्राप्त विधि के अनुसार' ।[1]

श्लोक २८

२–(अणुव्वया ख) :

इस शब्द के दो संस्कृत रूप दिए गए हैं—

(१) अनुव्रता— पतिव्रता ।

(२) अनुवया— समान वय वाली ।[2]

अध्ययन २१

श्लोक ८

१–(वज्झगं घ) :

बृहद् वृत्ति के अनुसार इसके संस्कृत रूप दो होते हैं—

(१) बाह्यगं ।

(२) वध्यगं ।

'बाह्यग' का अर्थ है 'नगर से बाहर ले जाया जाता हुआ' ।

'वध्यग' का अर्थ है 'वध्य भूमि में ले जाया जाता हुआ' ।[3]

श्लोक ११

२–(कसिणं ख) :

संस्कृत में इसके दो रूप बनते हैं—(१) कृत्स्न और (२) कृष्ण । कृत्स्न का अर्थ है 'सम्पूर्ण' और कृष्ण का अर्थ है 'कृष्णलेश्या के परिणाम वाला' ।[4]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ४७५ :

'अहाहियं' ति 'यथाहितं' हितानतिक्रमेण यथाऽधीतं वा—गुरुसम्प्रदायागतवचनविशेषकादिरूपाम् ।

२–वही, पत्र ४७६ :

'अणुव्वय' त्ति अन्विति— कुलानुरूपं व्रतम्— आचारोऽस्या अनुव्रता पतिव्रतेति यावत्, वयोऽनुरूपा वा ।

३–वही, पत्र ४८३ :

बाह्यगं—नगरबहिर्विभागदेशं गच्छतीति बाह्यगस्तं, कोऽर्थः ?—बहिर्निष्क्रामन्तं, यद्वा 'वध्यगम्' इह वध्यशब्देनोपचाराद्वध्यभूमिरुक्ता ।

४–वही, पत्र ४८५ :

'कसिण' त्ति कृत्स्नं कृष्णं वा कृष्णलेश्यापरिणामहेतुत्वेन ।

श्लोक १८

३–(अकुक्कुओ ग) :

उत्तराध्ययन १।३० में 'अकुक्कुए' शब्द प्रयुक्त है। १।३० की वृत्ति में शान्त्याचार्य ने 'कुक्कुए' का अर्थ 'कौत्कुच' अर्थात् चपलता किया है।[1] ३६।२६३ में 'कोक्कुइय' का अर्थ 'कौत्कुच्य' किया है।[2] प्रस्तुत श्लोक में वृत्तिकार ने अकुक्कुओ का अर्थ उक्त दोनों अर्थों से भिन्न किया है। अकुक्कुओ (सं० अकुक्कुज:) अर्थात् आक्रन्दन करने वाला।[3]

यहाँ भी 'कुक्कुय' शब्द 'कौत्कुच' के अर्थ में हो सकता है, फिर भी वृत्तिकार ने इसका अर्थ वह क्यों नहीं किया ? यह विमर्शनीय है।

श्लोक २०

४–(संजए ग) :

'संजए' में अनुस्वार अलाक्षणिक है। शान्त्याचार्य ने पूर्वा और यह्वी के बाद 'प्रति' शब्द शेष माना है और संजए का भूतकालीन अर्थ 'असजत्' किया है।[4]

श्लोक २१

५–(छिन्नसोए घ) :

इसका संस्कृत रूप 'छिन्नशोक:' या 'छिन्नस्रोता:' हो सकता है। जिसका शोक छिन्न हो गया हो, वह 'छिन्न-शोक' और जिस कर्मों के स्रोत—मिथ्यात्व आदि छिन्न हो गए हों, वह 'छिन्न-स्रोत' कहलाता है।[5]

श्लोक २३

६–(ओभासई घ) :

शान्त्याचार्य ने ११ वें श्लोक से यहाँ तक जो धातु प्रयोग हैं, उन्हें अतीत काल के अर्थ में स्वीकृत किया है।[6]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ५८-५९ :
'अकुक्कुए' त्ति कौत्कुचं—करचरणभ्रूभ्रमणाद्यसच्चेष्टात्मकमस्येत्यकौत्कुचः।

२–वही, पत्र ७०९ :
कोक्कुइयं द्विधा—कायकौत्कुच्यं वाक्कौत्कुच्यं च।

३–वही, पत्र ४८६ :
'अकुक्कुए' त्ति आर्षत्वात् कुत्सितं कूजति—पीडितः सन्नाक्रन्दतीति कुकूजो न तथेत्यकुकूजः।

४–वही पत्र ४८७ :
'संजये' त्ति च चापि पूर्वां यह्वीं च प्रतीति शेषः 'असजत्' सक्तं विहितवान्।

५–वही पत्र ४८७ :
'छिन्नसोय' त्ति छिन्नशोकः छिन्नानि वा स्रोतांसीव स्रोतांसि—मिथ्यादर्शनादीनि येनासौ छिन्नस्रोताः।

६–वही, पत्र ४८५।

अध्ययन २२

श्लोक ५

१–(लक्खणस्सरसंजुओ ख) :

आर्ष प्राकृत के अनुसार-'सर' और 'लक्खण' का व्यत्यय है। 'सर लक्खण' के स्थान में 'लक्खण स्सर' पाठ है।[1]

श्लोक ७

२–(विज्जुसोयामणिप्पभा घ) :

शान्त्याचार्य ने 'विद्युत सौदामिनी' का अर्थ 'चमकती हुई बिजली' अथवा 'अग्नि व बिजली' किया है।

मतान्तर के अनुसार सौदामिनी का अर्थ 'प्रधान मणि होता है'।[2]

श्लोक १६

३–(एए ख) :

शान्त्याचार्य के अनुसार दूसरी बार सर्वनाम का प्रयोग यह बताने के लिए हुआ है कि वे अत्यन्त दयार्द्र-हृदय थे और उनके मन में उन प्राणियों का चिन्तन बार-बार उत्पन्न होता था।[3]

नेमिचन्द्र ने बताया है कि इसका प्रयोग घबड़ाहट बताने के लिए हुआ है।[4]

श्लोक १८

४–(साणुक्कोसे जिएहि उ घ) :

शान्त्याचार्य और नेमिचन्द्राचार्य ने इसका अर्थ 'जीवों में दया-सहित' किया है। 'उ' (तु) पाद-पूर्ति के लिए है।[5]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ४८६ ;

'लक्खणसरसंजुतो' त्ति प्राकृतत्वात्स्वरस्य यानि लक्षणानि—सौन्दर्यगाम्भीर्यादीनि तैः संयुतः स्वरलक्षणसंयुतः।

२–वही, पत्र ४९० :

'विज्जुसोयामणिप्पहू' त्ति विशेषेण द्योतते—दीप्यत इति विद्युत् सा चासौ सौदामनी च विद्युत्सौदामनी, अथवा विद्युदग्निः सौदामिनी च तडित्, अन्ये तु सौदामिनी प्रधानमणिरित्याहुः।

३–वही, पत्र ४९१ :

एते इति पुनरभिधानमतिसार्द्रहृदयतया पुनः पुनस्त एव मनसो हृदि विपरिवर्त्तन्त इति ख्यापनार्थम्।

४–सुखबोधा, पत्र २८२ :

'एते' इति पुनरभिधानं सम्भ्रमख्यापनार्थम्।

५–(क) बृहद् वृत्ति, पत्र ४९१ :

'सानुक्रोशः' सकरुणः, केषु ?—'जिएहि उ' त्ति जीवेषु 'तु' पूरणे।

(ख) सुखबोधा, पत्र २८२ :

'सानुक्रोशः' सकरुणो जीवेषु 'तुः' पूरणे।

श्लोक २०

५–(पणामए घ) :

यहाँ 'अर्प' धातु को 'पणाम' आदेश हुआ है[1] और इसका अर्थ है 'देना'।[2]

श्लोक २१

६–(जे घ) :

'जे' शब्द निपात है और पाद-पूर्ति के लिए है।[3]

श्लोक ३१

७–(लहुं लहुं घ) :

यहाँ संभ्रम स्थापन के लिए 'लघु' का दो बार प्रयोग किया गया है।[4]

अध्ययन २७

श्लोक २

१–(वहमाणस्स ग) :

नेमिचन्द्र ने इसको 'णिजन्त' का रूप मान कर इसका संस्कृत रूप 'वाहयमानस्य' किया है और शान्त्याचार्य ने 'वहत'—ऐसा किया है।[5] यही अधिक संगत लगता है।

श्लोक ३

२–(विहम्माणो ख) :

शान्त्याचार्य ने इसका संस्कृत रूप 'विघ्नन्'[6], नेमिचन्द्र ने 'विध्यमान'[7] और सरपेन्टियर ने 'विधूयमान'[8] किया है। उन्होंने टिप्पण करते हुए इस शब्द के स्थान पर 'विहम्ममाण' शब्द को स्वीकार करने का मत प्रकट किया है। 'हन्' धातु का 'हम्मइ' रूप बनता है। विहम्माण को आर्ष प्रयोग मान कर उसका संस्कृत रूप 'विघ्नन्' किया जा सकता है। जेकोबी ने भी यही अर्थ किया है।[9]

१–हेमशब्दानुशासन, ८।४।३९ :
अर्पेरल्लिव-चच्चुप्प-पणामाः।

२–बृहद् वृत्ति, पत्र ४९२।

३–वही, पत्र ४९२ :
'जे' इति निपातः पूरणे।

४–वही, पत्र ४९३ :
'लहुं लहुं' त्वरितं त्वरितं, संभ्रमे द्विर्वचनम्।

५–(क) सुखबोधा, पत्र ३१६ :
"वहमाणस्स" त्ति अन्तर्भावितण्यर्थतया वाहयमानस्य ··'वाहयमानस्य' प्रवर्त्तयतः।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ५५० :
'वहमाणस्य' सम्यक्प्रवर्त्तमानस्य।

६–बृहद् वृत्ति, पत्र ५५० :
'विहम्माणो' त्ति सूत्रत्वाद् विशेषेण 'घ्नन्' ताडयन्।

७–सुखबोधा, पत्र ३१६ :
'विहम्माणो' त्ति सूत्रत्वात् 'विध्यमानः' ताडयन्।

८–The Uttarādhyayan Sūtra, p. 373.

९–The Sacred Books of the East, Vol. XLV, Uttarādhyayana, p. 150.

श्लोक ४

३—(विन्धइ ख) :

इसका संस्कृत रूप है 'विध्यति'। सरपेन्टियर इस शब्द के स्थान पर 'छिदइ, भिदइ' मानने का मत प्रकट करते हैं।[१] यह अनावश्यक लगता है। 'विंधइ' का अर्थ ही यहाँ ठीक बैठता है। क्योंकि जब बैल आपस में लड़ते हैं, तब एक दूसरे को सींगों से बींधते हैं।

श्लोक ५

४—(उप्फिडई ग) :

हेमचन्द्राचार्य के अनुसार भ्रंश धातु को 'फिड' आदेश होता है।[२] शान्त्याचार्य ने इसका अर्थ 'मण्डूकवत्प्लवते'—मण्डूक की तरह फुदकना—किया है।[३] स्खलित होना और फुदकना—ये दोनों अर्थ भिन्न अपेक्षाओं से यहाँ संगत हो सकते हैं।

श्लोक १०

५—(अणुसासम्मी ग) :

कई प्रतियों में 'अणुससम्मि' पाठ मिलता है।[४] जेकोबी ने इस पाठ का समर्थन किया है।[५] डॉ० पिशल ने जेकोबी के मत को भ्रामक कहा है।[६] नेमिचन्द्र इस शब्द का कोई ऊहापोह प्रस्तुत नहीं करते। वे इसका संस्कृत रूप 'अनुशास्मि' देते हैं।[७] शान्त्याचार्य ने इसके संस्कृत रूप दो माने हैं—(१) अनुशास्ति, और (२) अनुशास्मि।[८] 'अनुशास्ति' रूप प्रकरण संगत लगता है।

अध्ययन ३४

श्लोक ३

१—(पम्हा ख) :

इसका संस्कृत रूप 'पक्ष्म' होगा। यहाँ 'पउम' या 'पम्म' (सं० पद्म) शब्द का प्रयोग होना चाहिए था।

१—The Uttarādhyayana, p. 373.

२—हेमशब्दानुशासन, ८।४।१७७ :
भ्रंशेः फिड-फिट्ट-फुड-फुट्ट-चुक्क-भुल्लाः।

३—बृहद् वृत्ति, पत्र ५५१ :
'उप्फिडइ' त्ति मण्डूकवत्प्लवते।

४—उत्तराध्ययन, पृ० ३७४।

५–The Sacred Books of the East, Vol. 45, Uttarādhyayana, p. 151, Foot note 1.

६—प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, अनुवादक डॉ० हेमचन्द्र जोशी, पृ० ७३२।

७—सुखबोधा, पत्र ३१७ :
'अणुसासम्मि' त्ति अनुशास्मि।

८—बृहद् वृत्ति, पत्र ५५२ :
'अणुसासंमि' त्ति आर्षत्वादनुशास्ति गुरुरिति गम्यते, यद्वा स्वाचार्य आत्मनः समाधिं प्रतिसंधत्ते इति व्याख्या तदाऽनुशास्मीति व्याख्येयम्।

श्लोक २८

२—(वज्जभीरू ख) :

'वज्ज' और 'अवज्ज'—ये दो शब्द हैं। 'वज्ज' का संस्कृत रूप 'वर्ज्य' और 'अवज्ज' का 'अवद्य' है। दोनों का अर्थ एक-सा है। टीकाकार ने 'वज्ज' को 'अवज्ज' मान उसके आकार का लोप माना है।[1] किन्तु इसकी कोई आवश्यकता नहीं थी। 'वज्ज' (वर्ज्य) ही अपने अर्थ की अभिव्यक्ति में सक्षम है।

अध्ययन ३६

श्लोक ७७

१—(एगविहमणाणत्ता ग) :

यहाँ मकार अलाक्षणिक है और 'एकविह' में बहुवचन होना चाहिए था, उसके स्थान पर विभक्ति का लोप है।

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ६५६-६५७।

परिशिष्ट-२

पाठान्तर-विमर्श

अध्ययन १

श्लोक २०

१—(वाहिन्तो [क] ···पसायपेही [ग]) :

वाहिन्तो—चूर्णि और दोनों वृत्तियों में 'वाहिन्तो' पाठ है। उसका संस्कृत रूप 'व्याहृत' है।[1] उत्तरवर्ती प्रतियों में यह पाठ 'वाहितो' के रूप में प्राप्त है। इसी आधार पर पिशेल ने इसका संस्कृत रूप 'व्याक्षिप्त' किया है।[2] पर 'व्याक्षिप्त' का प्राकृत रूप 'वक्खित्त' होता है। अतः शब्द और अर्थ दोनों दृष्टियों से यह उचित नहीं है।

'पसायपेही'—शान्त्याचार्य ने इसके स्थान पर 'पसायट्ठी' (प्रसादार्थी) पाठान्तर माना है और उसका अर्थ 'गुरु की प्रसन्नता का अभिलाषी' किया है।[3]

अध्ययन २

श्लोक ४

१—(लज्जसंजए [ख]) :

चूर्णिकार और शान्त्याचार्य ने मूल पाठ 'लद्धसंजमे' मान कर उसका अर्थ 'जिसने संयम प्राप्त कर लिया है' किया है।[4]

चूर्णिकार ने 'लज्जसंजते' पाठान्तर माना है और उसका अर्थ 'लज्जा से संयम करने वाला' किया है।[5]

शान्त्याचार्य ने दो वैकल्पिक पाठ माने हैं—(१) 'लज्जसंजमे' और (२) 'लज्जसंजए'। क्रमशः इनका अर्थ—लज्जा और संयम के द्वारा आत्मस्थ तथा लज्जा से सम्यग् यत्न करने वाला—किया है।[6]

१—(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पत्र ३५ :
वाहितो णाम सद्दितो ।
(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ५५ :
'वाहितो' त्ति व्याहृतः—शब्दितः ।
(ग) सुखबोधा, पत्र ८ ।

२—पिशेल, प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, पेरा २८९, पृ० ४०९ ।

३—बृहद् वृत्ति, पत्र ५५ :
'प्रसादार्थी' वा गुरुपरितोषाभिलाषी ।

४—(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ५४ :
लद्धो संजमो जेण स भवति लद्धसंजमः :
(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ८६ :
लब्धः—अवाप्तः संयमः—पञ्चाश्रवादिविरमणात्मको येन ।

५—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ५४ :
पठ्यते च 'लज्जसंजते' लज्जा एव संजमो, लज्जाते वा असंजमं काउं, तथा लज्जया संजमतीत्यर्थः ।

६—बृहद् वृत्ति, पत्र ८६ :
पाठान्तरं वा 'लज्जसंजमेत्ति' लज्जा—प्रतीता संयमः—उक्तरूपः एताभ्यां स्वस्थस्तथा सात्मीभावमुपगताभ्यामनन्य इति स एव लज्जासंयमः, पठ्यते च 'लज्जासंजए'त्ति, तत्र लज्जया सम्यग्यतते—कृत्यं प्रत्यादृतो भवतीति लज्जासंयतः ।

श्लोक ३५

२–(तन्तुजं ^घ^) :

चूर्णिकार और शान्त्याचार्य ने वैकल्पिक पाठ 'तंतजं' मान कर उसका अर्थ 'करघा, तकली आदि उपकरणों से होने वाला वस्त्र, कंबल आदि' किया है।[1] तात्पर्यार्थ में 'तंतुजं' और 'तंतजं' दोनों एक हैं।

श्लोक ३६

३–(रसेसु ^ग^) :

चूर्णिकार ने मूल में 'रसिएसु'[2] और शान्त्याचार्य ने 'सरसेसु'[3] पाठ माना है। दोनों का अर्थ 'रस वाले पदार्थ' होता है।

अध्ययन ३

श्लोक ६

१–(कम्मसंगेहिं ^क^) :

चूर्णि ने मूल पाठ 'कामसंगेहिं' मान कर व्याख्या की गई है।[4]

श्लोक १०

२–(नो एणं ^घ^)

शान्त्याचार्य ने 'णो य णं'—पाठ मान कर उसके दो अर्थ किए हैं। पहला 'नो'—नहीं, 'य'—च और 'णं' को वाक्यालंकार माना है। दूसरा 'नो'—नहीं, 'एतम्'—उसे, किया है।[5]

नेमिचन्द्र ने दूसरा अर्थ ही स्वीकार किया है।[6]

१–(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ७६ :

तनोत्यसौ तन्यते वा तन्तु, तन्तुभ्यो जातं 'तंतुजं', अथवा तन्यत इति तंत्रं— वेमविलेखछनिकादि तत्र जातं तंत्रजं, तनुवस्त्रं कंबलो वा।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र १२२ :

पठ्यते च—'तंतयं' ति तत्र तन्त्रं—वेमविलेखन्याठछनिकादि तस्माज्जातं तन्त्रजम्, उभयत्र वस्त्रं कम्बलो वा।

२–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ८१ :

रससहिताणि रसियाणि तेसु रसिएसु।

३–बृहद् वृत्ति, पत्र १२५ :

सरसेषु—रसवत्स्वोदनादिषु, पाठान्तरतो—'रसेषु वा' मधुरादिषु।

४–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ९७ :

सज्यते यत्र स संगः, पंकादयो द्रव्यसंगः, कामसंगस्तु कामभोगाभिलाषः।

५–बृहद् वृत्ति, पत्र १८५ :

नो चेति च शब्दस्यैवकारार्थत्वान्नैव 'ण' मिति वाक्यालङ्कारे अथवा 'णो य णं' ति सूत्रत्वान्नो एतम्।

६–सुखबोधा, पत्र ७६।

अध्ययन ४

श्लोक २

१—(अमइं ^ख^) :

चूर्णिकार और शान्त्याचार्य ने विकल्प में 'अमयं' पाठ मान कर उसका अर्थ 'नास्तिक आदि मत' किया है ।[1]

श्लोक ३

२—(पेच्च ^ग^) :

चूर्णिकार और नेमिचन्द्र ने इसका अर्थ 'परलोक' किया है ।[2] शान्त्याचार्य ने यहाँ 'पेच्छ' पाठ मान कर उसका अर्थ 'देखो' किया है ।[3]

अध्ययन ५

श्लोक १८

१—(विप्पसण्णमणाघायं ^ग^) :

चूर्णिकार ने 'सुप्पसन्नेहिं अक्खातं' और शान्त्याचार्य ने 'सुप्पसण्णमणक्खायं' मूल पाठ माना है ।

'सुप्पसन्नेहिं अक्खातं'— इसका अर्थ है 'वीतराग के द्वारा आख्यात' ।[4]

'सुप्पसण्णमणक्खायं'—इसका अर्थ है 'सुप्रसन्न मन वाले मुनियों के वह ख्यात है—स्वसवेदन से प्रसिद्ध है' ।[5]

स्वीकृत पाठ 'विप्पसण्णमणाघायं' है । चूर्णि और बृहद् वृत्ति में इसे पाठान्तर माना गया है । सुखबोधा मे यह मूल पाठ के रूप में व्याख्यात है । आदर्शों से भी प्राय यही पाठ मिलता है ।

'विप्पसणमणाघायं'—इसका आशय यह है, पंडित मुनि मरण-काल में भी अनाकुलित-चित्त और मोह-रहित होते हैं । विविध भावनाओं से प्रसन्न होते हैं, इसलिए उनका मरण विप्रसन्न होता है ।[6] पण्डित-मरण में अपने व दूसरे के प्राणों का आघात नहीं होता, इसलिए वह अनाघात होता है ।[7]

१-(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ११० :
पठ्यते च 'अमयं गहाय' अशोभनं मतं अमतं अवचनवत् ।
(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र २०६ :
पठ्यते च—'अमयं गहाय' त्ति अशोभनं मतममत—नास्तिकादिदर्शनम् ।

२-(क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १११ ।
(ख) सुखबोधा, पत्र ८१ ·
'प्रेत्य' परलोके ।

३-बृहद् वृत्ति, पत्र २०८ :
'पेच्छ' त्ति प्रेक्षध्वं, प्राकृतत्वाद्वचनव्यत्यय ।

४-उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १३६ :
सुट्ठु प्रसन्नाः सुप्रसन्ना वीतरागा इत्यर्थः, अजातवधकामा द्रावश ह्रदा इव सुप्रसन्ना, ततोऽनंतरागतमर्थं गणधराः सूत्रीकुर्वतः एवमाहुः, सुप्पसन्नेहिं अक्खातं ।

५-बृहद् वृत्ति, पत्र २४८ :
सुष्ठु प्रसन्नं मरणसमयेऽप्यकलुषं कषायकालुष्यापगमात् मनः—चेतो येषां ते सुप्रसन्नमनस महामुनयस्तेषां ख्यातं—स्वसंवेदनतः प्रसिद्धं सुप्रसन्नमनःख्यातम् ।

६-सुखबोधा, पत्र १०५ :
विविधैर्भावनादिभिः प्रकारैः प्रसन्नाः—मरणेऽपि अपगतमोहतया अनाकुलचेतसो विप्रसन्ना, तत्सम्बन्धि मरणमपि विप्रसन्नम्

७-वही, पत्र १०५ :
न विद्यते आघातः तथाविधयतनयाऽन्यप्राणिनामात्मनश्च विविधसंलिखितशरीरतया यस्मिंस्तद् अनाघातम् ।

अध्ययन ७

श्लोक ५

१–(कण्हुहरे घ) :

चूर्णि में पाठ है 'किन्नुहरे', बृहद् वृत्ति में 'कण्हुहरे' और सुखबोधा में 'कन्नुहरे'। तीनों का अर्थ एक है—'किसका धन हरण करूं ? या करूंगा ? इस प्रकार सोचने वाला'। 'किण्णु' अव्यय है। इसके अर्थ हैं—प्रश्न, वितर्क, विकल्प, स्थान-स्वरूप और सादृश्य। 'कण्हु' कोई शब्द नहीं है। संभव है यह 'कण्हुइ' (क्वचित्) का संक्षिप्त रूप हो।

उक्त तीनों शब्द कोई विशेष अर्थ नहीं देते हैं। उनका अर्थ— तेणे' स्तेन में समा जाता है।[1] यह पाठ 'किण्हहरे' या 'कन्नहरे' हो तो एक विशेष अर्थ प्राप्त होता है। 'किण्ह' का अर्थ है—'सूक्ष्म' या 'बढिया वस्त्र'।[2] 'किण्हहर' अर्थात् वस्त्र-चोर, 'कन्नहर' अर्थात् कन्याओं को उडाने वाला।

राजगृह में एक परिव्राजक था। वह विद्या-शक्ति सम्पन्न था। वह जिस सुन्दरी को देखता था, उसका अपहरण कर लेता था।[3]

अध्ययन ८

श्लोक २

१–(दोसपओसेहिं) :

शान्त्याचार्य ने इसके स्थान पर 'दोसपएहिं' (सं० दोषपदैः) पाठ माना है। दोष-पद का अर्थ है—'अपराध पद'।[4]

अध्ययन १२

श्लोक २३

१–(महाणभागो क) :

'भाग' का अर्थ है—'अचिन्त्य-शक्ति'। जिसे महान् अचिन्त्य-शक्ति प्राप्त हो, उसे 'महाभाग' (महाप्रभावशाली) कहा जाता है।[5] चूर्णिकार के अनुसार यह पाठ 'महाणुभावो' है और इसका अर्थ है, 'अनुग्रह और निग्रह करने में समर्थ'।[6]

१–सुखबोधा, पत्र ११७ :
'स्तेन' चौर्येणैवोपकल्पितवृत्तिः

२–देशीनाममाला, २।५९ :
कासिअकिण्हा सण्हे वत्थे तह सेअवण्णम्मि।

३–सूत्रकृतांग, २।२।३९, वृत्ति।

४–बृहद् वृत्ति, पत्र २९० :
'दोषपदैः' अपराधस्थानैः।

५–(क) विशेषआवश्यक भाष्य, १०६३ :
भागोऽचिंतासत्ती, स महाभागो महप्पभावोत्ति।

(ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ३६५ :
महानुभागः—अतिशयचिन्त्यशक्तिः।

६–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २०८ :
अणुभाव णाम शापानुग्रहसामर्थ्यम्।

श्लोक ३२

२–(पुव्विं च इण्हिं च अणागयं च क) :

बृहद् वृत्ति के अनुसार इसका पाठान्तर 'पुव्विं च पच्छा व तहेव मज्झे' है। इसका अर्थ है 'प्रताडन के पहले, पीछे या प्रताडन के समय'।[1]

श्लोक ३७

३–(सोवागपुत्तं हरिएससाहुं ग) :

बृहद् वृत्ति के पाठान्तर में 'सोवागपुत्तं हरिएससाहु' को कर्म मान कर 'पश्यत' क्रिया को शेष माना है।[2]

श्लोक ४६

४–(सुसीइभूओ घ) :

बृहद् वृत्ति के अनुसार इसका पाठान्तर 'सुसीलभूओ' है। राग आदि की उत्पत्ति रुक जाने से जो शीतल बन गया हो, वह 'सुशीतीभूत' कहलाता है और अच्छे चारित्र वाला 'सुशीलभूत' कहा जाता है।[3]

अध्ययन १३

श्लोक १३

१–(चित्त ग) :

सुखबोधा में 'चित्त' पाठ माना है। चूर्णि में 'वित्त' पाठ है।

बृहद् वृत्ति में मूल पाठ 'वित्त' है और 'चित्त' पाठान्तर।

चित्त का अर्थ—'आश्चर्य' या 'अनेक प्रकार' है।[4]

चूर्णि के अनुसार 'वित्त' का अर्थ है 'सब लोगों के उपभोग में आने योग्य नौ महानिधियों से लाया हुआ'।[5]

बृहद् वृत्ति में 'वित्त' का अर्थ है 'प्रतीत'। यहाँ प्रभूत शब्द का पूर्व निपात हुआ है।[6]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ३६८ :
पठन्ति च 'पुव्विं च पच्छा व तहेव मज्झे' तत्र च पूर्वं वा पश्चाद्वेति विहेठनकालापेक्षं तथैव मध्ये विहेठनकाल एव, न च कुमाराविहेठनादिदर्शनात्प्रत्यक्षविरुद्धता शङ्कनीया।

२–वही, पत्र ३७० :
पठ्यते च—'सोवागपुत्तं हरिएससाहु'न्ति, अत्र च पश्यतेति शेषः।

३–वही, पत्र ३७३ :
'सुसीतीभूओ' त्ति सुशीतीभूतो रागाद्युत्पत्तिविरहतः सुष्ठु शैत्यं प्राप्तः, पठ्यते च—'सुसीलभूओ' त्ति सुष्ठु—शोभनं शीलं—समाधानं चारित्रं वा भूतः—प्राप्तः सुशीलभूत.।

४–सुखबोधा, पत्र १९९ :
चित्रम्—अनेकप्रकारम्।

५–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २१६ :
वित्तं तदेव सर्वलोकोपभोज्यं नवभ्यो महानिधिभ्यो आनीतम्।

६–बृहद् वृत्ति, पत्र ३८६ :
वित्तं—प्रतीतं तच्च तद्धनं च—हिरण्यादि तेनोपेतं—युक्तं वित्तधनोपेतं, पठन्ति च 'चित्तधणप्पभूयं' ति, तत्र प्रभूतं—बहु चित्रम्—आश्चर्यमनेकप्रकारं वा धनमस्मिन्निति प्रभूतचित्रधनं, सूत्रे तु प्रभूतशब्दस्य परनिपातः।

श्लोक १४

२–(परिवारयन्तो [ग]) :

बृहद् वृत्ति में 'पवियारियन्तो' पाठान्तर का उल्लेख है और इसका अर्थ है 'सेवन करता हुआ'।[1]

३–(श्लोक १७) :

इस श्लोक की चूर्णिकार ने व्याख्या नहीं की है।

शान्त्याचार्य को यह श्लोक कुछ प्रतियों में उपलब्ध हुआ, इसलिए उन्होंने इसकी व्याख्या की है।[2]

श्लोक २०

४–(आयाणहेउं अभिणिक्खमाहि [घ]) :

चूर्णि के अनुसार 'आदानमेवं अणुचिंतयाहि' मूल पाठ है और यह वैकल्पिक पाठ है।[3] 'आदानहेतु' का अर्थ है 'चारित्र के लिए'।

श्लोक २७

५–(अहं पि जाणामि जहेह साहू [क]) :

बृहद् वृत्ति के अनुसार इसका पाठान्तर 'अहंपिजाणामि जो एत्थ सारो' है और इसका अनुवाद है—'मैं भी जानता हूँ कि मनुष्य-जीवन में चारित्र-धर्म ही सार है'।[4]

अध्ययन १४

श्लोक १०

१–(लोलुप्पमाणं [घ]) :

शान्त्याचार्य ने यहाँ 'लोलुप्पमाण' पाठ और इसका संस्कृत रूप 'लोलुप्यमान' मान कर व्याख्या की है और चूर्णिकार ने इसका संस्कृत रूप 'लालप्यमान' दिया है—ऐसा उन्होंने उल्लेख किया है।[5] 'लोलुप्यमान' अर्थात् वियोग की शंका से छिन्न होता हुआ। 'लालप्यमान' अर्थात् बहुत बोलता हुआ।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ३८६ .
'परिवारयन्' परिवारीकुर्वन्, पठ्यते च—'पवियारियंतो' त्ति प्रविचारयन् सेवमानो: ।

२–वही, ३८७ :
बालेत्यादिसूत्रं चूर्णिकृता न व्याख्यातं, क्वचित्तु दृश्यत इत्यस्माभिरुन्नीतम् ।

३–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २१८ :
आदाणमेवं अणुचिंतयाहि, अथवा आदाणहेउं अभिणिक्खमाहि, आदाणं णाम चारित्तं, तद्धेतुम् ।

४–बृहद् वृत्ति, पत्र ३९० ।

५–वही, पत्र ३९९-४०० :
लोलुप्यमानं तद्वियोगशङ्कावशोत्पन्नदुःखपरशुभिरतिशयेन हृदि छिद्यमानं, वृद्धास्तु व्याचक्षते—'लोलुप्पमाणं' ति लालप्यमानं—भरणपोषणकुलसंताणेसु य तुब्भे 'भविस्सह' त्ति ।

श्लोक ४३

२–(एवमेव क) :

शान्त्याचार्य ने 'एवमेवं' पाठ स्वीकृत किया है और बिन्दु को अलाक्षणिक माना है ।[1]

श्लोक ५१

३–(धम्मपरायणा ख) :

शान्त्याचार्य ने 'धम्मपरंपरा'—इस पाठान्तर का उल्लेख किया है । इसका आशय यह है कि इन छहों व्यक्तियों को धर्म की प्राप्ति परम्परा से हुई थी । साधुओं को देख कर दोनों कुमारों को प्रतिबोध मिला, उनके सम्वादों से पुरोहित और उसकी पत्नी, फिर कमलावती और उसके पश्चात् इषुकार को प्रतिबोध मिला ।[2]

अध्ययन १७

श्लोक ११

१–(पमुहरे क) :

प्रथम अध्ययन के चतुर्थ श्लोक में 'मुहरी' तथा आठवें श्लोक में 'अमुहरी' शब्द प्रयुक्त हुआ है । यहाँ कुछ प्रतियों में 'पमुहरी' शब्द मिलता है, किन्तु अधिकतः 'पमुहरे' मिलता है । 'पमुहरे' मुहरी या पमुहरी की अपेक्षा संस्कृत के 'मुखर' या 'प्रमुखर' शब्द के अधिक निकट है । 'मुहरी' और 'पमुहरे' इन दोनों का अर्थ 'मुखर,—वाचाल' है ।[3]

चूर्णिकार ने 'पमुहरे' का अर्थ 'ऐसा बोलने वाला, जिसकी वाणी सुनने मात्र से सभी शत्रु बन जाए' किया है ।[4]

अध्ययन १८

श्लोक ४४

१–[नमी नमेइ अप्पाणं सक्खं सक्केण चोइओ । चइऊण गेहं वइदेही सामण्णे पज्जुवट्ठिओ ॥] :

यह श्लोक प्रक्षिप्त मालूम पड़ता है । इस निर्णय के अनेक कारण हैं—

(१) यह नौवें अध्ययन (९।६१) में आ चुका है ।

(२) शान्त्याचार्य ने अपनी टीका में इसकी व्याख्या नहीं की है ।

(३) इससे अग्रवर्ती श्लोक में नमीराज का उल्लेख आया है ।

(४) शान्त्याचार्य ने 'सूत्राणि सप्तदश'—ऐसा उल्लेख किया है ।

'एय पुण्णपयं सोच्चा' (३४) से 'तहेवुग्गं तवं किच्चा' (५०) तक १७ श्लोक होते हैं । उनमें 'नमि नमेइ अप्पाणं' तथा 'करकंडू

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ४०९ :
'एवमेवं' ति बिन्दोरलाक्षणिकत्वादेवमेव ।

२–वही, पत्र ४११ :
पठ्यते च—'धम्मपरंपर' त्ति परम्परया धर्मो येषां तानि परम्पराधर्माणि, प्राकृतत्वाच्च परम्पराशब्दस्य परनिपातः, तथा हि— साधुदर्शनात्कुमारकयोः कुमारकवचनात्पित्रोस्तद्वचनात्कमलावत्यास्ततोऽपि च राज्ञ इति परम्परयैव धर्मप्राप्तिः ।

३–वही, पत्र ४३४ :
प्रकर्षेण मुखरः प्रमुखरः ।

४–उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २४५ :
प्रकर्षेण मुखेन अरिमावहतीति मुखरी, तादृशं भाषते येन सर्व एव अरिर्भवति ।

कलिंगेसु' श्लोकों की व्याख्या बृहद् वृत्ति में नहीं है। दोनों को प्रक्षिप्त मानने से 'सूत्राणि सप्तदश' की बात नहीं बैठती और 'करकंडू कलिंगेसु' को प्रक्षिप्त मानना भी युक्तियुक्त नहीं लगता। क्योंकि 'नमि नमेइ अप्पाणं' इसकी तो पुनरावृत्ति हुई है और 'करकंडू कलिंगेसु' यह श्लोक पहली बार आया है। अतः 'नमी नमेइ अप्पाणं' को ही प्रक्षिप्त मानना चाहिए।[1]

श्लोक ५०

२–(अद्दाय सिरसा सिरं ^घ) :

शान्त्याचार्य ने यहाँ 'आदाय सिरसो सिरिं' इस पाठान्तर का उल्लेख किया है। इसका अर्थ होता है 'सिर की श्री' अर्थात् सर्वोत्तम केवल-लक्ष्मी (केवल ज्ञान) को प्राप्त कर। यहाँ परिनिर्वृत को उन्होंने शेष माना है।[2] इसका अर्थ होगा—वे परिनिर्वाण को प्राप्त हुए।

अध्ययन १९

श्लोक ८

१–श्लोक ८ :

कई आदर्शों में निम्न श्लोक भी है—

देवलोग चुओ संतो, माणुसं भवमागओ।
सन्निनाणे समुप्पण्णे, जाइं सरइ पुराणयं॥

परन्तु शान्त्याचार्य ने "जाई-सरणे समुप्पण्णे···"—इस श्लोक की टीका की है। "देवलोग चुओ···" यह श्लोक या तो प्रक्षिप्त है या दूसरी परम्परा का है। दोनों श्लोकों का वाच्य एक-सा ही है। कहीं-कहीं पर शब्द साम्य भी है। जैसे—

जाइं सरइ पुराणयं— सरई पोराणियं जाइं।
सन्निनाणे समुप्पण्णे— जाई-सरणे समुप्पन्ने॥

अध्ययन २०

श्लोक ४४

१–(पीयं ^क) :

शान्त्याचार्य ने 'पिबन्ति' पाठ मान कर आर्ष प्राकृत के अनुसार उसका अर्थ 'पीत'—पिया किया है।[3]

अध्ययन २१

श्लोक ६

१–(संविग्गो ^क) :

'संविग्गो' यह समुद्रपाल का विशेषण है। बृहद् वृत्ति में 'संवेगं' पाठ है और वह चोर के लिए प्रयुक्त है।

'संवेग' का अर्थ है 'संसार के प्रति उदासीनता और मोक्ष की अभिलाषा' अर्थात्—वैराग्य। यहाँ वैराग्य के हेतुभूत वध्य पुरुष को संवेग माना है।[4]

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ४४७-४४८।

२–वही, पत्र ४४९ :

पठ्यते च—'आदाय सिरसो सिरिं' ति, अत्र च 'आदाय' गृहीत्वा 'शिरःश्रियं' सर्वोत्तमां केवललक्ष्मीं परिनिर्वृत इति शेषः।

३–वही, पत्र ४७८ :

पियं पिबन्तीति आर्षत्वात् पीतम्।

४–वही, पत्र ४८३ :

संवेगः—संसारवैमुख्यतो मुक्त्यभिलाषस्तद्धेतुत्वात्सोऽपि संवेगस्तम्।

श्लोक ११

२–(संगं क) :

शान्त्याचार्य ने मूल में 'सगंथ' शब्द मान कर प्राकृत के अनुसार बिन्दु का लोप माना है और विकल्प में 'संगं' पाठ स्वीकार किया है ।[1]

हमने विकल्प का पाठ मान्य किया है ।

श्लोक १६

३–(इह क) :

शान्त्याचार्य ने यहाँ 'मिह' मान कर मकार को अलाक्षणिक माना है ।[2]

अध्ययन २२

श्लोक ४५

१–(भण्डवालो क) :

बृहद् वृत्ति में इसका पाठान्तर 'दण्डपाल' है । उसका अर्थ है 'कोट्टपाल' ।[3]

अध्ययन २३

श्लोक ४५

१–(विसभक्खीणि ग) :

टीकाकार ने यहाँ 'विसभक्खीणं' पाठ माना है । आर्ष वचन के अनुसार उसका अर्थ 'विषभक्ष्य'—विषोपम दिया है ।[4]

अध्ययन २५

श्लोक १८

१–(गूढा सज्झायतवसा ग) :

बृहद् वृत्तिकार ने 'मूढा सज्झायतवसा' पाठ माना है । उन्होंने 'सज्झायतवसा' को सप्तमी विभक्ति मान कर उसका अर्थ 'स्वाध्याय और तप में मूढ' किया है ।[5] 'गूढा सज्झायतवसा'—यह उनके अनुसार पाठान्तर है ।

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ४८५ :
संग्रथासो ग्रन्थश्च सद्ग्रन्थः, प्राकृतत्वाद्बिन्दुलोपस्तं, पठन्ति च—'अहित्तु संगं चत्ति जहाय संगं च' ।

२–वही, पत्र ४८६ :
'मिह' त्ति मकारोऽलाक्षणिकः ।

३–वही, पत्र ४९५ :
'भाण्डपालो वा' यः परकीयानि भाण्डानि भाटकादिना पालयति, पठ्यते च—'दण्डपालो वा' नगररक्षको वा ।

४–वही, पत्र ५०६ :
'विसभक्खणं' ति सुब्व्यत्ययाद् विषभक्षणाद्—विषफलाभ्यवहारोपमात् ।

५–वही, पत्र ५२६ :

श्लोक ३४

२–(समुदाय तयं तं तु ग) :

बृहद् वृत्तिकार ने इसके स्थान पर—'संजाणंतो तओ तं तु'—यह पाठान्तर माना है। इसका अर्थ है 'यह वही मेरा भाई है, ऐसे पहचानता हुआ'।[1]

अध्ययन २८

श्लोक ३५

१–(निगिण्हाइ ग) :

बृहद् वृत्तिकार ने यहाँ 'न गिण्हाइ' को पाठान्तर मान कर उसका अर्थ 'वह कर्मों को ग्रहण नहीं करता' किया है।[2]

अध्ययन २६

सूत्र २०

१–(अणासायणाए वट्टए) :

यहाँ बृहद् वृत्तिकार ने 'अणुसज्जणाए वट्टइ' को पाठान्तर मान कर उसका अर्थ—'(श्रुत का) 'अनुवर्तन करता है' अर्थात् उसका अव्यवच्छेद करता है—किया है।[3]

सूत्र २३

२–(असायावेयणिज्जं च णं कम्मं नो भुज्जो भुज्जो उवचिणाइ) :

शान्त्याचार्य ने यहाँ—'साया वेयणिज्जं च णं कम्मं भुज्जो भुज्जो उवचिणाइ' पाठान्तर माना है। इसका अर्थ है 'सात-वेदनीय का बार-बार उपचय करता है'। मूल पाठ निषेधात्मक और यह विध्यात्मक है।[4]

सूत्र ३४

३–(नो आसाएइ) :

बृहद् वृत्तिकार को यह पाठ नहीं मिला। उन्होंने लिखा है—'जब इसी सूत्र में आगे 'अणासायमाणे' है तथा स्थानाङ्ग में दूसरी

१–बृहद् वृत्ति, पत्र ५२९ :

केचित्त्वनन्तरसूत्रे तृतीय पादमेवं पठन्ति—'संजाणंतो तओ तं तु' अत्र च 'संजानन्' स एवायं मम सौदर्य इति प्रत्यभिजानन्।

२–वही, पत्र ५६९ :

पठ्यते च—'न गिण्हति' त्ति, तत्र 'न गृह्णाति' नादत्ते कर्मेति गम्यते।

३–वही, पत्र ५८४ :

पठन्ति च—'अणुसज्जणाए वट्टइ' तत्रानुषङ्ग (अ)-मनुवर्त्तनं तत्र वर्त्तते।

४–वही, पत्र ५८५ :

सुखशय्या के वर्णन में 'नो आसाए'ति पाठ है तो यहाँ भी 'नो आसाएइ' पाठ होना चाहिए। किन्तु वह नहीं है। सम्भव है गम्यमान होने के कारण उसका निर्देशन न किया हो या लेखक की दृष्टि-दोष के कारण वह छूट गया हो, पता नहीं है।'[1]

सूत्र ३६

२—(जीवियासंसप्पओगं) :

बृहद् वृत्तिकार ने 'जीवियास विप्पओगं' पाठान्तर माना है। इसका अर्थ है—'जीवन की आशा से किए जाने वाले विविध प्रयोगों को'[2]।

सूत्र ७४

३—सूत्र ७४ :

बृहद् वृत्तिकार का अभिमत है—'कई एक प्रतियों में कुछ पाठ भेदों के साथ थोड़े ही प्रश्न मिलते हैं, किन्तु बहुत सारी प्रतियों में इतने सारे प्रश्न मिले हैं। अतः इन सब की व्याख्या की गई है'।

वे लिखते हैं—'चूर्णिकार ने यहाँ एक पाठ और माना है—'सेलेसीएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? अकम्मयं जणति, अकम्मयाए जीवा सिज्झन्ति'। दूसरा अर्थ है—'भन्ते ! शैलेशी से जीव क्या प्राप्त करता है ? जीव अकर्मता उत्पन्न करता है। उससे जीव सिद्ध होते हैं'[3]।

चूर्णि में यह पाठ इस प्रकार है—'सेलेसी णं भंते ! किं जणयति ?, अकम्मताए जोवा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिनिव्वायंति सव्व-दुक्खाणं अंतं करेंति'[4]।

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ५८८ :

नो आसाएत्ति णो तक्केइ णो पीहेइ णो पत्थेइ नो अभिलसेति, से णं परस्स लाभं अणासाएमाणे अतक्केमाणे अपीहेमाणे अपत्थेमाणे अणभिलसमाणे णो मणं उच्चावयं नियच्छति णो विणिघायमावज्जइ' त्ति इह च 'अणासाएमाणे' इत्युत्तरत्र वचनात् स्थानाङ्गे च दर्शनात्, पूर्वत्रापि 'णो आसाएइ' इति वचनमनुमीयते, तच्च गम्यतया न निर्दिष्टं लेखकदोषेण वा न दृश्यत इति न विद्मः।

२—वही, पत्र ५८८।

३—वही, पत्र ५९७-५९८ :

इह च चूर्णिकृता—"सेलेसीए णं भंते ! जीवे किं जणइ ?, अकम्मयं जणति, अकम्मयाए जीवा सिज्झन्ति" इति पाठः, पूर्वत्र च क्वचित्किञ्चित्पाठभेदेनाल्पा एव प्रश्ना आश्रिताः, अस्माभिस्तु भूयसीषु प्रतिषु यथाव्याख्यातपाठदर्शनादित्थमुन्नीतमिति।

४—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० २७३।

अध्ययन ३२

श्लोक १०७

१–(अत्थे य संकप्पयओ ग) :

बृहद् वृत्तिकार ने 'अत्थे असकप्पयतो' पाठान्तर माना है । इसका अर्थ होगा—'जो विषयों का सकल्प नही करता, उसके ।[1] प्रकरण की दृष्टि से पाठान्तर मल पाठ की अपेक्षा अधिक संगत है ।

१–बृहद् वृत्ति पत्र ६२९ ।

प्रयुक्त ग्रन्थ-सूची

ग्रन्थ-नाम	लेखक, सम्पादक, अनुवादक	संस्करण	प्रकाशक
अंगविज्जा	सं० मुनि श्री पुण्यविजयजी अंग्रेजी अनु० डॉ० मोतीचन्द्र	प्रथम	प्राकृत टेक्सट सोसाइटी, बनारस
अंगुत्तरनिकाय (१-४)	सं० भिक्खु जगदीस कस्सपो	सन् १९६०	पालि पकाशन मण्डल, बिहार राज्य
अंगुत्तरनिकाय (भाग १-३)	अनु० भदन्त आनन्द कौसल्यायन	सन् १९५७,६३,६६	महाबोधि सभा, कलकत्ता
अगस्त्य चूर्णि (दशवैकालिक)	मुनि अगस्त्यसिंह	अप्रकाशित	
अनगार धर्मामृत	पं० आशाधर	सं० १९७६	माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, बम्बई
अनुयोगद्वार	आर्यरक्षितसूरि	सं० १९८०	आगमोदय समिति, मेहसाणा
अनेकार्थ कोष	आचार्य हेमचन्द्र सूरि		
अन्तकृद्दशा (अंतगडदसाओ)	सं० एम.सी. मोदी एम.ए एल.एल-बी	सन् १९३२	गुर्जर ग्रन्थ रत्न कार्यालय, अहमदाबाद
अन्तकृद्दशा (अंतगडदसाओ) वृत्ति	"	सन् १९३२	" " "
अभिधान चिन्तामणि	हेमचन्द्राचार्य , विवेचनकार- आचार्य श्री विजयकस्तूर सूरि	सं० २०१३	जैन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद
अभिधानप्पदीपिका	सं० मुनि जिनविजयजी	प्रथम	गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद
अमितगति श्रावकाचार	आचार्य अमितगति	सन् १९७९	मुनि श्री अनन्तकीर्ति दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, कालबादेवी रोड, बम्बई
अष्टांगहृदय	वाग्भट , सं० वैद्य लालचन्द	प्रथम	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
अहिर्बुध्न्यसंहिता			
आचारांग		सं० १९९१	सिद्धचक्र साहित्य समिति, बम्बई
आचारांग चूर्णि	जिनदासगणि	सं० १९९८	ऋषभदेवजी केसरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रत्नपुर (मालवा)
आचारांग निर्युक्ति	भद्रबाहु	सं० १९९१	सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति, बम्बई
आचारांग वृत्ति	शीलांकाचार्य	सं० १९९१	सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति, बम्बई
आचार सार			
आवश्यक निर्युक्ति	भद्रबाहु	सन् १९२८	आगमोदय समिति, बम्बई
आवश्यक वृत्ति	मलयगिरि	सन् १९२८	आगमोदय समिति, बम्बई
इतिवुत्तक (खुद्दकनिकाय)	सं० भिक्खु जगदीस कस्सपो	सन् १९५९	पालि पकाशन मण्डल, बिहार-राज्य
इतिवुत्तक (अनुवाद)	अनु० भिक्षु धर्मरक्षित	सन् १९५६	महाबोधि सभा, सारनाथ
उत्तरपुराण	जिनसेनाचार्य सं० पन्नालाल जैन	सं० २००८	भारतीय ज्ञानपीठ काशी, वाराणसी
उत्तराध्ययन चूर्णि (उत्तराज्झयणाणि)	श्री गोपालगणि महत्तर शिष्य	सं० १९८९	ऋषभदेवजी केसरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रत्नपुर (मालवा)

ग्रन्थ-नाम	लेखक, सम्पादक, अनुवादक	संस्करण	प्रकाशक
उत्तराध्ययन जोड़	आचार्य जीतमलजी	अप्रकाशित	
उत्तराध्ययन निर्युक्ति (भाग १-३)	भद्रबाहु	सं० १९७२, ७३	देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार भाण्डागार संस्था, बम्बई
उपवास के लाभ	बिट्ठलदास मोदी	सन् १९४७	नवयुग साहित्य सदन, इन्दौर
उपासकदशा (वृत्ति सहित)	सं० पं० भगवानदास	सं० १९९२	जैन सोसाइटी, नं० १५, अहमदाबाद
ऋग्वेद (भाग १-५)	भा० सायण	सन् १९२६,४१,४६,५१	तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना
ऐतरेय आरण्यकम् (सभाष्य)	भा० सायण	सन् १९५९	आनन्दाश्रम, पूना
ऐतरेय ब्राह्मण			
ओघनिर्युक्ति	भद्रबाहु	सं० १९७५	आगमोदय समिति, मेहसाणा
ओघनिर्युक्ति भाष्य	पूर्वाचार्य	सं० १९७५	आगमोदय समिति, मेहसाणा
औपपातिक		सं० १९९४	पं० भूरालाल कालीदास, सूरत
औपपातिक	सं० ल्यूमेन	सन् १८८३	Leipzig
औपपातिक वृत्ति	अभयदेव सूरि (द्रोणाचार्य द्वारा शोधित)	सं० १९९४	पं० भूरालाल कालीदास, सूरत
ओववाइय सुत्तं	सं० एन. जी. सुरु एम. ए.	सन् १९३१	अर्हत् मत प्रभाकर कार्यालय, पूना
कल्पसूत्र	भद्रबाहु	सं० २००८	साराभाई मणिलाल नवाब, अहमदाबाद
कल्पसूत्र चूर्णि (कल्पसूत्र)	पूर्वाचार्य ; सं० श्री पुण्यविजयजी	सं० २००८	साराभाई मणिलाल नवाब, अहमदाबाद
कल्पसूत्र टिप्पणक (कल्पसूत्र)	श्री पृथ्वीचन्द्र सूरि सं० श्री पुण्यविजयजी	सं० २००८	,,　　,,
कालीदास का भारत (भाग १-२)	श्री भगवतशरण उपाध्याय	प्रथम संस्करण	भारतीय ज्ञानपीठ काशी, बनारस
कौटिलीयम् अर्थशास्त्र (भाग १-३)	कौटिल्याचार्य सं० आर. पी. कांगले	सन् १९६०	बम्बई विश्वविद्यालय, बम्बई
गच्छाचारपयन्ना ,,　(वृत्ति)	पूर्वाचार्य	सन् १९४५	श्री भूपेन्द्र सूरि जैन साहित्य समिति, आहोर (मारवाड़)
गीता	महर्षि वेदव्यास	सं० २०१६	गीताप्रेस, गोरखपुर
गीता रहस्य (कर्मयोग शास्त्र)	लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक अनु० माधवराव जी सप्रे	सन् १९५५	लोकमान्य तिलक मन्दिर, गायकवाड़वाड़ा, पूना-२
चन्द्रप्रज्ञप्ति		हस्तलिखित	
चरक संहिता (भाग १-२)	महर्षि अग्निवेश एवं चरक	सन् १९५४	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
चारित्र भक्ति	पूज्यपाद		
छान्दोग्योपनिषद्	भा० शङ्कर	सं० २०१३	गीताप्रेस, गोरखपुर
जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति		सं० १९७६	देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, बम्बई
जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति वृत्ति	वृत्तिकार शान्तिचन्द्र	सं० १९७६	,,　　,,
जयन्तन्यायमञ्जरी			

ग्रन्थ-नाम	*लेखक, सम्पादक, अनुवादक*	*संस्करण*	*प्रकाशक*
जातक	सं० भिक्खु जगदीस कस्सपो	सन् १९५९	पालि पब्लिकेशन बोर्ड (बिहार गवर्नमेन्ट)
जातक (१-६)	अनु० भदन्त आनन्द कौसल्यायन	प्रथम संस्करण	हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
जैन तर्क भाषा	महोपाध्याय श्री यशोविजयगणि सं० पं० सुखलालजी संघवी	सं० १९९४	सिंघी जैन ग्रन्थमाला
ज्योतिषकरण्डकानि		सन् १९२८	श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम
तत्त्व-ज्ञान	डॉ० दीवानचन्द	सन् १९५६	प्रकाशन ब्यूरो, उत्तर प्रदेश सरकार, लखनऊ
तत्त्व प्रदीपिका (चित्सुखी)			
तत्त्वसंग्रह पञ्जिका			
तत्त्वत्रय	लोकाचार्य, भाष्य० श्रीमद् वरवर मुनि		चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी
तत्त्वार्थ भाष्यानुसारी टीका	सिद्धसेन गणी सं० हीरालाल रसिकलाल कापडिया	सन् १९२६	देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, बम्बई
तत्त्वार्थ राजवार्तिक (भाग १-२)	भट्ट अकलंकदेव सं० पं० महेन्द्रकुमार जैन एम.ए.	सं० २००९, सं० २०१४	भारतीय ज्ञानपीठ काशी, दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस-४
तत्त्वार्थवृत्ति (श्रुतसागरीय)	श्रुतसागर सूरि सं० प्रो० महेन्द्रकुमार जैन	सं० २००५	,, ,, ,,
तत्त्वार्थ सूत्र(सभाष्य तत्त्वार्थाधिगमसूत्र)	उमास्वाति	सं० १९८९	सेठ मणीलाल रेवाशंकर जगजीवन जौहरी, बम्बई-२
दर्शन संग्रह	डॉ० दीवानचंद		
दशवैकालिक चूर्णि	अगस्त्यसिंह स्थविर	अप्रकाशित	
दशवैकालिक चूर्णि	जिनदास महत्तर	सं० १९८४	श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी पेढी, रतलाम
दशवैकालिक टीका	हरिभद्र सूरि	सं० १९१८	देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार भण्डागार संस्था, बम्बई
दशवैकालिक निर्युक्ति	भद्रबाहु	सन् १९१८	देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार भण्डागार संस्था, बम्बई
दशवैकालिक सार्थ सटिप्पण	वाचना प्रमुख आचार्य तुलसी सम्पा० मुनि नथमल	सं० २०२०	श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता-१
दसवेआलियं तह उत्तरज्झयणाणि	वाचना प्रमुख आचार्य तुलसी सम्पा० मुनि नथमल	सं० २०२३	श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता-१
दशाश्रुतस्कंध		सं० २०११	श्री मणिविजय गणि ग्रंथमाला, भावनगर
दीघनिकाय	सं० भिक्खु जगदीस कस्सपो		पालि पकासन मण्डल, बिहार राज्य
दीघनिकाय	अनु० राहुल सांकृत्यायन	सन् १९३६	महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस
देशीनाममाला	आचार्य हेमचन्द्र	सन् १९३८	बम्बई संस्कृत सिरीज
द्रव्यसंग्रह	नेमिचन्द्र आचार्य	सन् १९२६	जैन साहित्य प्रसारक कार्यालय
धनञ्जय नाममाला	महाकवि धनञ्जय भाष्यकार अमर कीर्ति	सन् १९५०	भारतीय ज्ञानपीठ काशी, बनारस

ग्रन्थ-नाम	*लेखक, सम्पादक, अनुवादक*	*संस्करण*	*प्रकाशक*
धम्मपद	अ० धर्मानंद कोसम्बी अ० रामनारायण वि० पाठक	सन् १९२४	गुजरात पुरातत्त्व मंदिर, अहमदाबाद
धर्म संग्रहणी	हरिभद्र सूरि	सन् १९२८	श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम
ध्यान शतक (सस्कृत टीका सह)	जिनभद्र गणि		
नवतत्त्व-साहित्य संग्रह	संयोजक उदयविजय गणि	सं० १९७८	माणकलाल मनसुखभाई, अहमदाबाद
नन्दी सूत्र (चूर्णि हारिभद्रीय वृत्तियुक्त)	देववाचक क्षमाश्रमण	सं० १९८८	रूपचन्द्र नवलमल, इन्दौर
नन्दी सूत्र (मलियगिरी वृत्ति युक्त)	" "	सं० १९८०	आगमोदय समिति
नय प्रदीप	गङ्गसहाय		
निदान-कथा (जातकअट्ठकथा)	सं० प्रो० एच० के० भागवत	सन् १९५३	बम्बई विश्वविद्यालय, बम्बई
निशीथ चूर्णि	जिनदास महत्तर	सन् १९५७	सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा
निशीथ भाष्य	जिनदास महत्तर	"	सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा
निश्चय द्वात्रिंशिका	सिद्धसेन दिवाकर		
नेमिनाथचरित	कीर्तिराज		
न्यायकारिका			
न्यायकुमुदचन्द्र (१ २)	सं० महेन्द्रकुमार		
न्याय दर्शन भाष्य	वात्स्यायन		
न्यायसूत्र	गौतम		
न्यायालोक (तत्त्वप्रभावृत्ति)	उपाध्याय यशोविजय		
पंचाध्यायी	कविवर पं० राजमल, टीकाकार देवकीनन्दन सिद्धान्तशास्त्री	वी० सं०२४७६	श्री गणेश वर्णी जैन ग्रन्थमाला, काशी
पंचाशक प्रकरण	हरिभद्राचार्य	सं० १९२८	श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम
पंचास्तिकाय	आचार्य कुन्दकुन्द सं० पन्नालाल बाकलीवाल	सं० १९७२	परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई
पद्मपुराण भाग (१-५)	कृष्णद्वैपायन व्यास	सन् १९५७, ५९	मनसुखराय मोर, ५ क्लाइव रो, कलकत्ता-१
पदार्थ-संग्रह			
पाइयसद्-महण्णवो	पं० हरिगोविन्ददास त्रिकमचन्द सेठ सं० डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल पं० दलसुखभाई मालवाणिया	द्वितीय संस्करण सन् १९६३	प्राकृत ग्रंथ परिषद, वाराणसी ५
पाणिनि अष्टाध्यायी	पाणिनी		निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
पाणिनिकालीन भारतवर्ष	वासुदेवशरण अग्रवाल	सं० २०१२	मोतीलाल बनारसीदास, बनारस
पाणिनि भाष्य			

ग्रन्थ-नाम	*लेखक, सम्पादक, अनुवादक*	*संस्करण*	*प्रकाशक*
पातञ्जल योगदर्शन	महर्षि पतञ्जलि, सं० व्या० यशोविजयजी	सन् १९२२	श्री आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल, आगरा
पातञ्जल योगदर्शन	पतञ्जलि	सं० २०१७	गीता प्रेस, गोरखपुर
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	अमृतचन्द्र सूरि, सं० अजितप्रसाद एम०, ए० एल० एल० बी०	सन् १९३३	सेन्ट्रल जैन पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ
पूर्वमीमांसा	महामहोपाध्याय डॉ० गंगानाथ झा	सन् १९६४	बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी, वाराणसी
प्रकरण पञ्जिका	शालिकनाथ, व्या० नारायण भट्ट		चोखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी
प्रज्ञापना (१-४)	श्यामाचार्य	सं० १९७४	आगमोदय समिति, मेसाणा
प्रज्ञापना वृत्ति (१-४)	मलयगिरि	सन् १९४४	आगमोदय समिति, मेसाणा
प्रमाणनयतत्त्वालोक	वादिदेव सूरि सं० हिमांशुविजय	सं० १९८९	विजयधर्म सूरि ग्रंथमाला, उज्जैन
प्रवचनसारोद्धार	नेमिचन्द्र सूरि	सं० १९७८	देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था
प्रवचनसारोद्धार वृत्ति	नेमिचन्द्र सूरि	सं० १९७८	देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था
प्रशस्तपाद भाष्य व्यामती टीका			
प्राकृत भाषाओं का व्याकरण	रिचर्ड पिशल, अनु० डॉ० हेमचन्द्र जोशी डी० लिट्	सं० २०१५	बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना
प्राचीन भारतीय अभिलेखों का संग्रह			
बुद्ध और बौद्ध साधक	भरतसिंह उपाध्याय	सन् १९५०	सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली
बुद्धचर्या	राहुल सांकृत्यायन	सन् १९५२	महाबोधि सभा (सारनाथ), बनारस
बौद्ध धर्म दर्शन	आचार्य नरेन्द्रदेव		
बौद्धायन धर्मशास्त्रम्	सं० F. E. Hultzsch, Ph. D.	सं० १९८४	Leipzig
भगवती सूत्र	अनु० बेचरदास दोशी	सन् १९२१	आगमोदय समिति, मेहसाणा
		सं० १९८८	जैन साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद
भगवती वृत्ति	अभयदेव सूरि		आगमोदय समिति, मेहसाणा
भागवत (महापुराण) दो खण्ड		सं० २०१८	गीता प्रेस, गोरखपुर
भारतीय इतिहास की रूपरेखा	डॉ० बलराम श्रीवास्तव	सं० १९४८	
	रत्तिभानु सिंह नाहर		हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई
भारतीय संस्कृति और अहिंसा	धर्मानन्द कोसम्बी अनु० विश्वनाथ दामोदर शोलापुरकर		
भास्कर भाष्य			
मज्झिमनिकाय	सं० भिक्खु जगदीस कस्सपो	सं० २०१५	बिहार राजकीयेन पालि पकासन मण्डल
मज्झिमनिकाय (अनुवाद)	अनु० राहुल सांकृत्यायन	सन् १९३३	महाबोधि सभा 'सारनाथ', बनारस

ग्रन्थ नाम	*लेखक, सम्पादक, अनुवादक*	*संस्करण*	*प्रकाशक*
मत्स्य पुराण	कृष्णद्वैपायण व्यास	सन् १९५४	नन्दलाल मोर, ६ क्लाइव रो, कलकत्ता-१
माधव सिद्धान्तसार			
मनुस्मृति	मनु० सं० नारायणराम आचार्य काव्यतीर्थ	सन् १९४६	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई,
महाभारत (१-६ खण्ड)			गीताप्रेस, गोरखपुर
महावस्तु	सं० राधागोविन्द वसाक		
माण्डूक्यकारिका			
माध्यमिककारिका	नागार्जुन		चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी
मानमेयोदय	नारायण		
मानव की कहानी			
मीमांसा श्लोकवार्तिक (न्यायरत्नाकराख्या टीका)	कुमारिल भट्ट, टीकाकार पारथ सारथी मिश्र		चौखम्बा संस्कृति सीरीज आफिस, वाराणसी
मूलाचार (सटीक)	वेट्टकेराचार्य, टीकाकार वसुनन्दि	सं० १९७७	माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रंथमाला समिति, बम्बई
मूलाचार	कुन्दकुन्दाचार्य, हि० अनु०- जिनदास पार्श्वनाथ फडकले, शास्त्री, न्यायतीर्थ	वीर सं० २४८४	श्रुत भाण्डार व ग्रन्थ प्रकाशन समिति, पलटन (उत्तर सितारा)
मूलाराधना	शिवार्य	सन् १९६५	शोलापुर
मूलाराधना	शिवार्य	सन् १९६५	शोलापुर
"	सं० अनु० अमितगति		
मूलाराधना-दर्पण	पं० आशाधर	सन् १९६५	शोलापुर
मूलाराधना (विजयोदया वृत्ति)	अपराजित सूरि		"
मेघदूत	टीकाकार मल्लिनाथ		
यतिपतिमतदीपिका	जनार्दन शास्त्री		मोतीलाल बनारसी दास
याज्ञवल्क्यस्मृति	महर्षि याज्ञवल्क्य	सन् १९४९	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
योगविंशिका	हरिभद्र सूरि, सं० प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलाल सिंघवी	सन् १९२२	श्री आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मंडल, आगरा
रत्नकरण्ड श्रावकाचार (सटीक)	स्वामी समन्तभद्र	सं० १९८२	माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रंथमाला समिति, बम्बई
रत्नाकरावतारिका	टीकाकार प्रभाचन्द्राचार्य		
राजनिघण्टु कोष			
राजप्रश्नीय वृत्ति	सं० एन० भी० वैद्य, एम० ए०	सन् १९३८	लादयत बुक डिपो, अहमदाबाद
राजवल्लभ कोष			
रामायणकालीन संस्कृति	डॉ०		
लोकप्रकाश भाग (१-२)	विनयविजय गणि, अनु०मोतीचन्द औधवजी शाह	सन् १९२९	आगमोदय समिति, बम्बई

ग्रन्थ-नाम	*लेखक, सम्पादक, अनुवादक*	*संस्करण*	*प्रकाशक*
लोकप्रकाश (भाग १-२)	विनयविजय गणि	सन् १९३२	देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था, बम्बई
वसुनन्दि श्रावकाचार	आचार्य वसुनन्दि, सं० पं० हीरालाल जैन, सिद्धान्तशास्त्री	सं० २००९	भारतीय ज्ञानपीठ काशी, दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस-४
वाक्यपदीय	भर्तृहरि, टीका० पुण्यराजा		चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी
वाल्मीकीय रामायण (१-२)	महर्षि वाल्मीकि	सं० २०१७	गीता प्रेस, गोरखपुर
वास्तुसार	ठक्कर फेरु, अनु० भगवानदास		
विधिविवेक न्यायकर्णिका			
विनयपिटक	अनु० राहुल सांकृत्यायन	सन् १९३५	महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस
विशुद्धिमग्ग दीपिका			
विशुद्धिमार्ग (भाग १-२)	आचार्य बुद्धघोष, अनु० त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित	सन् १९५६-५७	महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी
विशेषावश्यक भाष्य	जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण	वीर सं० २४८९	दिव्यदर्शन कार्यालय, अहमदाबाद
विष्णुपुराण	महर्षि वेदव्यास, अनु० गिरिजाशंकर मायाशंकर शास्त्री	सं० २०२०	सस्तु साहित्य वर्धक कार्यालय, अहमदाबाद
बृहत्कल्प भाष्य	भद्रबाहु, सं० पुण्यविजयजी	सन् १९३३ से १९३८	श्री जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर
बृहदारण्यकोपनिषद्		सं० २०१४	गीता प्रेस, गोरखपुर
बृहद् वृत्ति उत्तराध्ययन	वादिवेताल श्री शान्तिसूरि	सं० १९७२-७३	श्री देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार भाण्डागार संस्था, बम्बई
वेदान्तपारिजात सौरभ			
वैदिक संस्कृत का विकास	पं० लक्ष्मण शास्त्री		
वैदिक साहित्य	पं० रामगोविन्द त्रिवेदी	सन् १९५०	भारतीय ज्ञानपीठ काशी, बनारस
वैराग्यशतक	भर्तृहरि ; सं० डॉ० रामधन शर्मा शास्त्री	सं० १९५९	पब्लिकेशन्स डिवीजन, दिल्ली
वैशेषिक दर्शन	महर्षि कणाद		चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी
वैशेषिक सूत्र	सं० मुनि जम्बूविजय		
व्यवहार भाष्य	सं० मुनि माणेक	सं० १९९४	वकील केशवलाल प्रेमचन्द, भावनगर
व्यवहार सूत्र	भद्रबाहु द्वितीय	सं० १९८२	जैन श्वेताम्बर संघ, भावनगर
शतपथ ब्राह्मण	भा० सायण		चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी
शब्दार्णव चन्द्रिका	सोमदेव सूरि		भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशनी संस्था, काशी
शास्त्रदीपिका			
शेषनाममाला			
श्रावक धर्मविधि प्रकरण	हरिभद्र सूरि वृत्तिकार श्रीमान् देव सूरि	सन् १९२४	श्री जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर
संयुत्तनिकाय पालि (१-४)	भिक्खु जगदीश कस्सपो	सं० १९५९	पालि पकासन मण्डल, बिहार

ग्रन्थ नाम	लेखक, सम्पादक, अनुवादक	संस्करण	प्रकाशक
संयुत्तनिकाय अनुवाद (१-२)	भिक्षु जगदीश काश्यप	सं० १९५४	महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस
संस्कृत इंग्लिस डिक्शनरी	सर मोनियर विलियम्स एम. ए. के. सी. आ. ई.	सन् १९६३	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
संस्कृत साहित्य मां वनस्पति			गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद
समयसार	कुंदकुंदाचार्य, सं० ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद	वीर सं० २४४४	मूलचन्द किसनदास कापड़िया, सूरत
समवायांग	अनु० शास्त्री जेठालाल हीराभाई	सं० १९९५	श्री जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर
समवायांग वृत्ति	अभयदेव सूरि	सन् १९१८	आगमोदय समिति, मेहसाणा
सर्वदर्शन संग्रह	सायण माधवाचार्य, टीका० महामहोपाध्याय प्राच्यविद्या शास्त्री अभयंकर	सन् १९२४	संशोधन मंदिर, पूना
सर्वार्थसिद्धि	सं० आचार्य पूज्यपाद, सं० पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री	सं० २०१२	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, दुर्गाकुण्ड, बनारस
समुद्र के जीव-जन्तु			
सांख्यप्रवचन			
सांख्यकारिका (माठर वृत्ति)	ईश्वरकृष्ण, टीका० माठराचार्य		चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी
सागर धर्मामृत	पं० आशाधर ; टीका० देवकीनन्दन सिद्धान्तशास्त्री	वीर सं० २४६६	मूलचन्द किसनदास कापड़िया, सूरत
सिरिरयणपरिक्खा प्रकरण			
सुखबोधा (उत्तराध्ययन की टीका)	नेमिचन्द्राचार्य, सं० विजयोमंग सूरि	वीर सं० २४६७	पुष्पचन्द्र खेमचन्द्र वलाद, वाया अहमदाबाद
सुखबोधिका			
सूत्रकृतांग		सं० १९७३	आगमोदय समिति, मेहसाणा
सूत्रकृतांग चूर्णि	जिनदास गणि	सं० १९९८	ऋषभदेवजी केसरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम (मालवा)
सूत्रकृतांग वृत्ति		सं० १९७३	आगमोदय समिति, मेहसाणा
स्थानांग		सं० १९९४	शेठ मणिकलाल चूनीलाल, शेठ कान्तिलाल चूनीलाल, अहमदाबाद
स्थानांग वृत्ति		सं० १९९४	शेठ मणिकलाल चूनीलाल, शेठ कान्तिलाल चूनीलाल, अहमदाबाद
स्याद्वादमञ्जरी	मल्लिषेण सूरि अनु० जगदीश चन्द्र एम. ए.	सं० १९३५	परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई
षड्प्राभृत			
स्याद्वादरत्नाकर		वीर सं० २४५३	मोतीलाल लाधाजी, पूना
श्री गुह्य समाजतंत्र			
हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता	डॉ० बेणीप्रसाद		
हिन्दू सभ्यता	डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी, अनु० वासुदेवशरण अग्रवाल		
हेमशब्दानुशासन	आचार्य हेमचन्द्र,	सं० १९९२	शेठ मनसुखभाई पोरवाड़, अहमदाबाद
ज्ञाता धर्मकथा	टीकाकार अभयदेव सूरि	सं० १९१९	आगमोदय समिति, बम्बई

Ancient Indian Historical Tradition	F. E. Pargiter, M. A.	1962	Motilal Banarsidass, Delhi
India and Central Asia	P. C. Bagchi		
Mysterious Universe	Sir James Jeans		
Pūrva Mīmānsa	Mahāmahopādhyāya Dr. Sir Ganganath Jha	1966	Benaras Hindu university.
Sacred Books of the East, Vol. XLV	Translated by Hermann Jacobi	1895	Oxford.
– do – ,Vol. XXII	– do –	1884	Oxford.
The History of Science	Dempiyan		
The Nature of the Physical world	Eddington		
The Uttarādhyayana Sūtra	JARL. Charpentier, Ph. D.		

शुद्धि-पत्रम्

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५	१२	गा	या
६	४	चण्डालिय	चण्डालियं
६	१२	हो	ही
७	३	वाला—	वाला। गली—
७	१३	पट्	पट्ट
२४	६	शक्ति-योगज विभूति	शक्ति योगज-विभूति
२६	१२	देवों की	वैमानिक देवों की
४८	१४	समम	समय
५४	११	पञ्चेन्द्रिय,	पञ्चेन्द्रिय
५६	२	परिणामे	परिमाणे
६७	१२	बोच्चत्थे	बोच्चत्थे
६४	६	×	भाव-चपल...करने वाला।[१]
६४	१२	भाव-चपल...करने वाला[१]।	×
१४८	१७	अगणित	×
१६३	५	महाव्रत	महाव्रत
१६५	२	कहा	कहा है
१६८	१०	प्रसंसा	पसंसा
१७०	६	गया	×
१७२	६	'कौक्केटिक'	'कौक्कुटिक'
१७८	१४	आवश्क	आवश्यक
१८०	१२	था[५]।	था।
१८०	१४	था।	था[५]।
१८१	१०	२ घड़ी	२ घड़ी—
१८२	१५	अर्थ	अर्थ है—
१८६	१३	४$\frac{1}{2}$	४$\frac{1}{2}$ मुहूर्त
१८८	१२	जाती है।[२]	जाती है[२]।
१८६	१४	पात तिथि १	पात तिथि २
१६६	१४	आकस्मिक हो	आकस्मिक रोग हो
१६६	१२	तालवृन्त	तालवृन्त
२०३	२	उपोह	अपोह

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२०४	३	कमजा	कर्मजा
२०४	३	परिणाबकी	पारिणामिकी
२०८	२२	पर्याय लक्षण	पर्याय का लक्षण
२१०	७	अनन्त	संख्यात
२१०	१४ २३	×	ये पक्तियां पृ० २११ पर सातवें टिप्पण के अन्त में जुड़ेगी
२१२	६	लक्षण है	लक्षण
२१६	१२	अनुरूप	अणु रूप
२१८	२१	माया मृषा	मायामृषा
२२०	७	प्रायश्चित	प्रायश्चित्त
२३३	१३	अनन्त	आत्मा के अनन्त
२३३	१४	ज्ञानावर्ण	ज्ञानावरण
२३३	१५	दर्शनावण	दर्शनावरण
२३३	१५	प्रमाणुओं	परमाणुओं
२३३	१६	आवृत्त	आवृत
२३७	१५	काय-कारण	कार्य कारण
२४५	१८	करने	करण
२४५	१८	करने	करण
२४८	८	पुरुष-भेद	पुरुष-वेद
२५०	११	स्पर्श	अस्पर्श
२५४	१	आभ्यान्तर	आभ्यन्तर
२५४	६	चतुरमासिक	चातुर्मासिक
२५४	२६	१६	१६
२६०	१८	श्रणितप	श्रेणितप
२६१	५	चतुरमासिक	चातुर्मासिक
२८१	२	उपधि	उपाधि
२८१	१३	सक्रमण किया	संक्रमण नहीं किया
२८२	१	ध्युत्कर्ग	व्युत्सर्ग
२६२	३०	१६।४७-४३	१६।४३-४७
२६३	५	संयम	असंयम
३०२	२७	समवाय	समवायांग
३०५	१	तेंतीसा ..	तेतीसा' .
३०५	२	सविनय	अविनय

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३०६	२२	नही	कहीं
३०६	३१	ग्रहण करना	ग्रहण न करना
३१४	१७	ह्यलोकाख्येम्	ह्यलोकाख्यम्
३१६	१४	तथा	(८)
३१६	१४	अतन्त	अनन्त
३१६	१४	(८)	×
३१७	६	परीत	युक्त
३१७	६	परीत	असंख्य
३१७	१४	परीत	युक्त
३१७	१४	परीत	युक्त
३१८	२६,२७,२८	दिशा	लोक
३२३	१	इन्दनोले	इन्दनीले
३२४	४	कूर्म	कूर्प
३२४	५	प्रतिकूर्य	प्रतिकूर्प
३२४	७	क्षोरपक	क्षीरपक
३२६	१६	तथा	×
३२६	२०	जीव	×
३३०	७	वर्पन	दर्पण
३३०	१४	वञ्चचना	वञ्चना
३३१	१	सपथ	साथ
३३१	१७	स्वर्ग	स्वयं
३३२	५	विप्रतियत्ति	विप्रतिपत्ति

पाद-टिप्पण

पृष्ठ	पाद-टिप्पण संख्या	अशुद्ध	शुद्ध
४	१	श्रावस	श्रावक
६	८	णडली	मडली
१२	५	भुक्ते	भुक्ते
३८	४	पत्र २४२	पत्र २४३
५७	१	अरय	अस्य
६०	२ (ख)	ताम	ताम्
६५	५	तेर्सि	तेसिं
७१	२	विशुद्धिमाग	विशुद्धिमार्ग
१०७	१	पत्र ३६१	पत्र ३६०
११७	५	मुष्ठानरय	मुष्ठानस्य

पृष्ठ	पाद-टिप्पण संख्या	अशुद्ध	शुद्ध
१४१	१	पत्र ४४७	पत्र ४४६
१४२	६	चेतत्	चैतत्
१५०	५	कदाचितस्येत्	कदाचित् पश्येत्
१६१	१	दसाराणं	दसाराणं
१७१	५	त्वेनकतया	त्वनेकतया
१८०	५	अच्छणे······अवस्थाने	×
१८२	३	गाथा २६३	गाथा २६४
१८५	५	सिद्धयति	सिद्धयति
१८५	७	पौरषी,	पौरुषी
१८८	३	प्रविष्ठा	प्रविष्टा
१९३	८	प्रामाणं	प्रमाणं
१९४	१	रयतांणे	रयताणे
२००	४	तथाविधि···	तथाविध···
२१४	४	वेत्ति	वेति
२२४	५	एकान्तवाद्	एकान्तवाद
२२४	७	दशनाद्	दर्शनाद्
२२७	१	मादवादि	मार्दवादि
२५०	६	संस्पशन	संस्पर्शन
२५५	२	ईप्सिति	ईप्सित
२५८	६	कुषदि	कुणदि
२६८	७	अवमौदार्य	अवमौदार्यं
२६८	७	नैयतस्याभि	नैयतस्याभि
२७८	७	तात्पर्याथ.	तात्पर्यार्थः
२८२	१	·· सर्गाश्च	सर्गाश्च
२८३	३ (ख)	वषमुत्कृष्टः	वर्षमुत्कृष्टः
२८३	३ (ख)	भवति	भवन्ति
३१९	२	शतेभ्यो	शतेभ्यो
३२०	५	प्रकोणकं	प्रकीर्णकं
३२०	७	भ्राजिष्णु	भ्राजिष्णु
३२१	४	रक्त कंदश्च	रक्तकंदश्च
३२२	२	इचेति	इचेति
३२८	६	कंन्दर्प	कन्दर्प
३२९	१	प्रोग:	प्रयोग:
३२९	२ (क)	विधते	विधत्ते
३२९	३	पत्र ७०९ :	पत्र ७०९, ७१० :
३२९	३	परिशिस्मापक	परिविस्मापक
३२९	३	विविधो	विविधो
३२९	६	नयन	नयन्
३३०	१०	प्रवचनमारोद्धार	प्रवचनसारोद्धार
३३१	४	श्रमणाश्चपि	श्रमणावापि